स्वाध्यायसंहिता

अर्थात्

हिन्दुधर्मपुस्तकम्
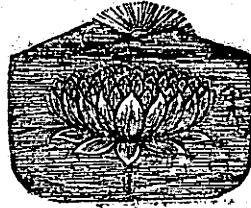
प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यनिखिलशास्त्रनिष्णात—

पण्डितस्वामिहरिप्रसादवैदिकमुनिः

प्र० [illegible] १] सम्वत् १९८४, सन १९२८ [प्रथमावृत्ति

मूल्यं ४)

मुद्रापयिता

मुन्शी विहारिलाल झींगन,

मैनेजर महेशौषधालय, पापड़मण्डी, लाहौर.

मुद्रक,

रामचंद्र येसू शेडगे, निर्णयसागर छापखाना, २६–२८ कोलभाट लेन, बंबई.

प्रस्तावना.

भारतं यस्य देशस्य, नाम प्राहुः मनीषिणः ।
सिन्धुनाम्ना तमेवाहुः, ऋषयो मन्त्रदर्शिनः ॥ १ ॥
सिन्धुहिन्दू समानार्थौ, मन्यन्ते वेदपण्डिताः ।
राजानः सिन्धुदेशस्य, सिन्धवो हिन्दवो मताः ॥ २ ॥
हिन्दूनां हिन्दुजातेर्वा,ऽलौकिकं धर्मपुस्तकम् ।
स्वाध्यायसंहितानाम, पठ्यतां प्रीतिपूर्वकम् ॥ ३ ॥

(१) हिन्दु] हिन्दु-देशसम्बन्धी नाम है। मन्त्रकालसे इस नामका उच्चारण दो प्रकारसे होताहै—एक सिन्धु और दूसरा हिन्दु । जैसे "श्री"का एक "श्री" (यजु० ३१।२२) और दूसरा "ह्री" (तै० आ० ३।१३।२)* । तथा "सिरा" का एक "सिरा" (अथर्व० १।१७।१) (ऋ० १।१२१।११) और दूसरा "हिरा" (अथर्व० १।१७।१) (अथर्व० ७।३६।२) । अथवा जैसे "सरितः" का एक "सरितः" और दूसरा "हरितः" (निघं० १।१३), तथा "सरस्वती" का एक "सरस्वती" और दूसरा "हरस्वती" (निघं० १।१३) यद्वा जैसे "सब्बे" का एक "सब्बे" और दूसरा "हब्बे" (पंजाब), तथा "स्वामी" का एक "स्वामी" और दूसरा "हामी" (मारवाड), तथा "सारा"का एक "सारा" और दूसरा "हारा" (गुजरात) ।

अब जिस देशका नाम "भारत" है, उसी देशका मन्त्रकालीन नाम† "सिन्धु" है । "दीर्घतमा"के पुत्र "कक्षीवान्"ने अपने मन्त्रों में‡ और अष्टाध्यायीके कर्ता दाक्षीपुत्र

---

* हिन्दुओं की बोलचाल में सनातनसे श, ष और स का बदल ह से होताहै । सहुरा(श्वशुरः), सोलह(षोडश), पोह(पौष), मांह(माष), साह (श्वास), विसाह (विश्वास), ये सब क्रमशः उसके उदाहरण हैं ।

† मन्त्रों में "भारत" नामका उल्लेख नही और नही "आर्यावर्त" नामका उल्लेख है । ब्राह्मणग्रन्थों तथा आरण्यकग्रन्थोंमें भी उल्लेख नही और नही पाणिनिमुनिके सूत्रोंमें उल्लेख है । केवल पुराणों तथा पुराणसमकक्ष दूसरे ग्रन्थोंमें "भारत" नामका और मनुस्मृति तथा महाभाष्यमें "आर्यावर्त" नामका उल्लेख पाया जाता है । परन्तु ये सब ग्रन्थ पाणिनि मुनिसे बहुत पीच्छे के हैं, पहले के नहीं ।

‡ अमन्दान् स्तोमान् प्रभरे मनीषा, सिन्धौ अधिक्षियतो भाव्यस्य ।
यो मे सहस्रम् अमिमीत सवान्, अतूर्तो राजा श्रवः इच्छमानः (ऋ० १।१२६।१) ।

अर्थ—मैं (कक्षीवान्) 'सिन्धु' देशमें अधीश्वर(राजाधिराज) होकर वसतेहुए(रहतेहुए) भावयव्यके पुत्र [स्वनय] के उत्तम स्तोत्रोंको बुद्धिसे बनाताहूं । जिस यशको चाहतेहुए, न जलदी करनेवाले (धैर्यवान्), राजाओंके राजा(सम्राट्)ने मेरे अनगिनित सोमयज्ञ(अग्निष्टोम यज्ञ) पूरे किये(मुझसे अनेक सोमयज्ञ कराये) ॥ १ ॥

"पाणिनि"ने अपने सूत्रों में* भारतदेशके सिन्धुनामका उल्लेख किया है। इस समय भारत (सिन्धु) देशकी पूर्वीय सीमा जैसे बहुत बढी हुई है, वैसे मन्त्रकालमें पश्चिमीय सीमा बहुत बढी हुई थी। प्रजापतिके पुत्र "हिरण्यगर्भ" ने अपने मन्त्रोंमें† तत्कालीन सिन्धु(भारत) देशकी सीमाका उल्लेख इसप्रकार किया है–उत्तरमें अपनी विभूतिके सहित हिमालयकी पर्वतमाला, पश्चिममें समुद्रान्ता "रसा" नदी(भारतसम्राट् और पणि(बनी) असुरपाल, दोनोंकी सीमान्त नदी) और दक्षिण तथा पूर्वमें समुद्र। इसी परमविशाल, महागौरवास्पद, परमपवित्र, दिव्यभूमि, सिन्धुदेशके साथ अटूट सम्बन्धवाला यह "सिन्धु" अथवा "हिन्दु" नाम है। सिन्धु नामका अर्थ पाणिनि मुनिके सूत्रसे‡ सिन्धुदेशका राजा होता है, वही हिन्दुनामका अर्थ है, अर्थात् भारतवर्षका राजा§।

---

* "सिन्धुतक्षशिलादिभ्यः" (अष्टा० ४।३।९३)। सिन्धुदेश और उसके प्रधान नगर तक्षशिला, तथा दूसरा कोई देश और उसके प्रधान नगरके वाची 'सिन्धु, तक्षशिला' आदि शब्दोंसे उस (देश वा नगर) का निवासी कहनेकेलिये अण् और अञ् (अ) प्रत्यय हो। सैन्धवः=सिन्धुदेशका निवासी, ताक्षशिलः=तक्षशिलाका निवासी (रहनेवाला) ॥ ९३ ॥

वर्तमान भारतदेशके पश्चिमोत्तर—प्रदेश (पंजाब) में जो लवण (लोन) खोद कर निकाला जाता है, वह भारतवर्ष में सर्वत्र सेन्धा नामसे प्रसिद्ध है। सेंधा सैन्धवका अपभ्रंश है, जो "तस्य इदम्"=उसका यह, इस अर्थमें अण् (अ) प्रत्यय हो(अष्टा० ४।३।१२०) सूत्रसे सिद्ध होता(बनता) है। उसका अर्थ है 'सिन्धुदेश का लवण'। यह सेंधा नामकी सर्वत्र भारतदेश में अखण्डनीय प्रसिद्धि भी 'भारत' के प्राचीनतम सिन्धुनाम होनेमें प्रबल प्रमाण है।

† यस्य[१] इमे[२] हिमवन्तो[३] महित्वा[४], यस्य[५] समुद्रं[६] रसया[७] सह[८] आहुः[९]।
यस्य[१०] इमाः[११] प्रदिशो[१२] यस्य[१३] बाहू[१४], कस्मै[१५] देवाय[१६] हविषा[१७] विधेम[१८] (ऋ० १०।१२१।४)।

अर्थ—अपनी महिमा (विभूति) के सहित ये (सामने स्थित) हिमवाले पर्वत जिसके हैं, रसा (समुद्रान्ता रसा) नदीके सहित दक्षिणीय और पूर्वीय समुद्र जिसका कहते हैं। ये चारों बड़ी दिशायें (सीमायें) जिसकी और जिन भुजाओंने ये चारों दिशा स्थिर की हैं, वे दोनों भुजायें, जिसकी हैं; हम उस देवों के देव प्रजापतिका श्रद्धाभक्तिपूर्वक हविर्यज्ञ(देवयज्ञ) से पूजन करतेहैं ॥ ४ ॥

‡ "द्व्यञ्मगधकलिंगसूरमसादण्" (अष्टा० ४।१।१७०)। देशवाची दो अचों(स्वरों)-वाले सिन्धु आदि शब्दोंसे, मगध, कलिंग और सूरमस शब्दसे उसका राजा कहनेके लिये अण् (अ) प्रत्यय हो। सिन्धुः=सिन्धुदेशका राजा। छान्दस(वैदिक) नाम होने के कारण अण् (अ) प्रत्ययका "तद्राजस्य लुक्"=उसका राजा कहनेवाले प्रत्ययका लुक् (निवृत्ति) हो (अष्टा० २।४।६२) सूत्रसे सब वचनों में लुक्(निवृत्ति) होजाता है। इसलिये आङ्गः, वाङ्गः की नाईं एकवचन में भी "सैन्धव" नही बनता, "सिन्धु" ही बनता है ॥ १७० ॥

§ जो विचारशील सज्जन, पारसी भाषा में हिन्दुनामका अर्थ काला तथा दास देख कर यह कहते और लिखते हैं कि 'हिन्दु' हमारा नाम आधुनिक है, मन्त्रकालीन नही, मन्त्रकालीन हमारा नाम 'आर्य' है, उनके पुनर्विचारके लिये नीचे दो प्रार्थनामन्त्र उद्धृत कियेजाते हैं, वे उन दोनों प्रार्थनामन्त्रोंको मन लगा कर पढें और विचारें कि इन मन्त्रों में जो प्रार्थना की गई है, वह आर्योंकी प्रार्थना है, अथवा हिन्दुओंकी प्रार्थना है। मन्त्रों का आकार इस प्रकार है—

त्वं तान् इन्द्र ! उभयान् अमित्रान्, दासा वृत्राणि आर्या च शूर ! ।
वधीः वना इव सुधितेभिः अत्कैः, आ पृत्सु दर्षि नृणां नृतम् ॥१॥ (ऋ० ६।३३।३)

अर्थ—हे इन्द्र ! हे महापराक्रमी ! तू उन दोनों अमित्रों (शत्रुओं) को जो पापात्मा दस्यु और आर्य हैं, और और हे नेताओंमें श्रेष्ठनेता ! बने(जंगल) जैसे कुल्हाडोंसे काटे जातेहैं, वैसे तू उनको सुधारे हुए (तेज किये हुए) शस्त्रोंसे युद्धों में अच्छीतरह काट ॥ १ ॥

यो नो दासः आर्यो वा पुरुष्टुत !, अदेवः इन्द्र ! युधये चिकेतति
अस्माभिः ते सुषहाः सन्तु शत्रवः, त्वया वयं तान् वनुयाम सङ्गमे ॥२॥ (ऋ० १०।३८।३

अर्थ—हे बहुतोंसे स्तुति कियेगये इन्द्र ! न तुझ देवका माननेवाला दस्यु अथवा आर्य, जो हमें युद्धके लिये चिताता(ललकारता) है, वे सब शत्रू हमसे अच्छीतरह दबायेगये(पराजित) हों, तुझ देवकी सहायता से हम उन्हें युद्धमें मारें ॥ २ ॥

मन्त्र बडे स्पष्ट हैं । उन्हें चित्त देकर पढने और विचारनेसे प्रत्येक बुद्धिमान्‌की समझमें आ सकता है कि इन मन्त्रोंमें जो प्रार्थना की गई है, वह निःसंदेह हिन्दुओंकी प्रार्थना है, आर्योंकी नहीं । क्योंकि आर्योंके लिये आर्योंकी ऐसी प्रार्थना नहीं हो सकती और नहीं होनी चाहिये । यदि हिन्दुओंकी ही प्रार्थना है, तो हिन्दु हमारा नाम आधुनिक है, मन्त्रकालीन नही, यह सर्वथा भ्रममात्र है, इसमें यत्किञ्चित् भी सार नहीं । इसलिये कहना और लिखना भूल है ।

पारसी भाषामें हिन्दु—शब्द(नाम) दो हैं—एक निस्बिती और दूसरा ग़ैरनिस्बिती । ग़ैरनिस्बिती हिन्दु शब्दका अर्थ काला तथा दास है, निस्बिती हिन्दुशब्दका अर्थ काला तथा दास नहीं, किन्तु हिन्दका रहनेवाला (सिन्धुदेशका निवासी) अर्थ है । विचारशील सज्जनोंको हिन्दुनामका अर्थ करते तथा लिखते समय यह भेद भी ध्यानमें रखनेयोग्य है ।

पाणिनि मुनिका कथन है कि सिन्धुदेशके निवासी(भारतवर्षमें रहनेवाले) दो भागोंमें विभक्त हैं—एक वे जो सिन्धुदेशके राजा (भारतवर्षके मालिक) हैं और दूसरे वे जो सिन्धुदेशके राजा नहीं, केवल सिन्धुदेशके निवासी हैं । जो सिन्धुदेशके राजा हैं, उनको **"सिन्धु"** और जो केवल सिन्धुदेशके निवासी हैं, उनको **"सैन्धव"** कहते हैं । पारसी भाषामें नाम (इस) का अन्तिम वकार नियमसे उ अथवा ओ पढाजानेसे, सकारका बदल हकारसे हो कर **"सैन्धव"** नाम ही हिन्दव लिखा जाकर हिन्दु पढा जाता और वकार(उ) को निस्बिती प्रत्यय मानकर उसका अर्थ हिन्दका रहनेवाला (सिन्धुदेशका निवासी) कियाजाता है । ग़ैरनिस्बिती हिन्दुनाम सैन्धवका अपभ्रंश नहीं, वह इस सैन्धवके अपभ्रंश निस्बिती हिन्दुनामसे अत्यन्त भिन्न है और हिन्दुओंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं ।

पारसी भाषामें वकार (उ) की नाईं ईकार (ई)भी निवासार्थक प्रत्यय माना जाता है, जो संस्कृतके ईय-प्रत्ययका संक्षेप है । इसलिये पारसी भाषामें निस्बिती हिन्दु नामका जो अर्थ है, हिन्दी नामका भी वही अर्थ है । इसीलिये भारतवर्षसे बाहर-पारस, तुर्कस्थान आदि देशोंमें भारतीय मुस्लमान भी अपने आपको हिन्दी न कह कर हिन्दु ही कहते और कहे जाते हैं । यदि हिन्दुनामका अर्थ काला तथा दास ही होता, तो भारतीय मुस्लमान भारतदेशसे बाहर अपने आपको हिन्दु न कहते, हिन्दी ही कहते और कहेजाते । परन्तु यहां (भारतवर्षमें) उनके हिन्दु न कहलानेका कारण और है, वह यह कि वे निसर्गसे (उत्पत्तिसे) सिन्धुदेश(भारतवर्ष) के राजा नहीं, केवल निवासी हैं और मन्त्रकालसे हिन्दु नाम सिन्धुदेशका राजा (भारतवर्षका स्वामी) अर्थमें प्रयुक्त होते होते हिन्दुओंकेलिये रूढ होगया है । अतएव वे (भारतीय मुस्लमान) यहां अपने आपको हिन्दु न कहकर हिन्दी ही कहते और लिखते हैं और यही उनकेलिये ठीक है ।

*

मन्त्रकालमें सब ऋषि और ऋषिपुत्र अपनेआपको बराबर हिन्दु कहते और कहे जातेथे, यह ऋग्वेदके मन्त्रोंसे स्पष्ट है। ऋग्वेदके मन्त्र "स्वाध्यायसंहिता" में यथास्थान सङ्ग्रह किये गये हैं, यहां उनका पुनः लिखना उचित नहीं समझा गया। स्वाध्यायशील स्वाध्यायसे उन सब मन्त्रोंके जाननेका स्वयं प्रयत्न करें।

(२) हिन्दुजाति] जिस मनुष्यजातिका(मनुष्यसमुदायका) मूल पैतृकदेश (फादर लैंड) भारतवर्ष और धार्मिक वाङ्मय साहित्यका मूलस्रोत साक्षात् अथवा परम्परासे देववाणी संस्कृत है, उसको "हिन्दुजाति" कहते हैं। वर्तमान कालमें जितनी मनुष्यजातियां प्राचीनतम मानी और समझी जाती हैं, उनमें हिन्दुजातिकी गणना सबसे पहले होती है। इस प्राचीनतम हिन्दुजातिने ही सबसे पहले समस्त भूमिमण्डल पर ज्ञानका प्रसार और सभ्यताका (धर्म तथा नीतिके तत्त्वोंका) प्रचार किया है। इस हिन्दुजातिने ही सबसे पहले अध्यात्मविद्याके अथाह समुद्र परमविशालहृदय कपिल, पतञ्जलि, गोतम, कणाद, व्यास और जैमिनिको उत्पन्न किया है। इसी हिन्दुजातिने सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी और विदुला–जैसी पतिव्रता, विदुषी तथा वीरस्त्रियोंको जन्म दिया है। विश्वविख्यात भगवान् बुद्ध और शङ्कराचार्य जैसे दार्शनिकशिरोमणि, इसी हिन्दुजातिकी लोकोत्तर उपज हैं। यही हिन्दुजाति भरत, युधिष्ठिर, जनमेजय, चन्द्रगुप्त, अशोक और समुद्रगुप्त आदि अनेक सार्वभौम वीर सम्राटोंकी जन्मदात्री है।

गुणनाम हो अथवा जातिनाम, दोनोंकी अपेक्षा देशसम्बन्धी नामका मूल्य बहुत अधिक माना-जाता है। उसका भारी कारण यह है कि वह उच्चारणमात्रसे स्वदेशप्रेम तथा स्वदेशाभिमान, जो ऐश्वर्यसुखकी प्राप्तिका मुख्यसाधन है, प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें जागृत करता है। जिस जातिके हृदयमें स्वदेशप्रेम तथा स्वदेशाभिमान प्रतिक्षण जागृत है, वह ऐश्वर्यसुखसे वञ्चित कदापि नहीं हो सकती और कदाचित् दैववशात् वञ्चित होजाने पर भी चिरकालतक वञ्चित नहीं रह सकती। प्रत्येक जातिका ऐहिक तथा आमुष्मिक ऐश्वर्य और सार्वदेशिक महत्त्व उसके स्वदेशप्रेम तथा स्वदेशाभिमानपर निर्भर है। जो जाति ईश्वरदत्त निजदेशके सम्बन्धको त्याग कर भूमिमण्डलके सब देशोंके साथ अपने सम्बन्धका दुःस्वप्न देखती और पलपल उसीप्रकारके निष्फल मनोराजमें लगी रहतीहै, उसके लिये कहीं ठिकाना नहीं, क्या लोक क्या परलोक, सर्वत्र उसकेलिये पराधीनताका विकराल भूत रात्रिन्दिवा सामने खडा है। हिन्दुओंको ऐसे दुःस्वप्न देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि उनका निजदेश विद्यमान है और सबजातियोंको स्वीकार है। परमविशाल दिव्यभूमि "भारत" जिसका मन्त्रकालीन नाम सिन्धु है, यही हिन्दुओंका निज देश है और ईश्वरदत्त है। स्वयं भगवान् वेदने उसकी महिमाको बखानाहै, उसकी परमपावनी नदियोंको वारंवार गाया है। इसी, भगवान् वेदसे वखानी गई महिमावाले, वारंवार गाई गई नदियोंवाले, परममनोहर बनों, पर्वतों और सरोवरोंवाले अतिविशाल सिन्धु(भारत) देश के साथ अटूट सम्बन्धवाला यह हिन्दु नाम है। परमपवित्र, अतिश्रद्धेय और सायंप्रातः स्मरण करने योग्य है। जो भद्र पुरुष अपने आपको हिन्दु कहते और कहाते हैं, वे भारतमाताके सच्चे पुत्र और ऋषियोंकी सच्ची सन्तान हैं, वे जातिके शुभचिन्तक और देशके संरक्षक हैं, वे शतशः धन्यवादके योग्य हैं। सिक्खोंके धर्मपुस्तक "गुरुग्रन्थ" में इन महाभाग्य हिन्दुओंके विषयमें यह वाक्य पढा है—"हिन्दू सालाहीं सालाह, दर्शनरूप अपार"। हिन्दवः श्लाघनीयेभ्यः श्लाघनीयाः, दर्शनीयरूपाः, बनेन विद्यया च अपाराः।

प्रातःस्मरणीय गुरु गोविन्दसिंह, राणा प्रताप और शिवाजी छत्रपति-पुरुषशार्दूलोंकी जननी भी यही हिन्दुजाति है। इसी हिन्दुजातिकी रामभक्ताग्रणी कबीर, * शान्तिस्वरूप गुरुनानक† और कृष्णमूर्ति चैतन्य, सर्वोत्तम विभूति हैं। महर्षि देवेन्द्रनाथ, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द, इसी हिन्दुजातिकी बहुमूल्य सम्पत्ति हैं। वर्तमान समयमें भी इस हिन्दुजातिके उत्पन्न कियेहुए जितने नररत्न भूमिमण्डलपर देदीप्यमान हैं, उनके समकक्ष दुसरी जातियोंमें विरले हैं।

(३) **हिन्दुजातिके सामयिक आधारस्तम्भ**] इस समय इस नानावर्णा, अनेकवंशा, विविधसूत्रबद्धा, अभिजातरन्ध्रा, निसर्गसुन्दरा, समृद्धा, वृद्धा, कूजितबाला, असंस्कृतभाला, अमृतशाला हिन्दुजातिके आधारस्तम्भ, जिनके सहारे इसका भविष्यमें ज्यों का त्यों खडे रहना सम्भव है, दो हैं—एक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र, और दूसरे आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र। जबतक हिन्दुजाति अपने इन दोनों सुरम्य तथा सुदृढ आधारस्तम्भोंके साथ अपना सम्बन्ध पूर्ववत् ज्योंका त्यों बनाये रखेगी, तबतक कोई व्यक्ति नहीं, जो इसको नष्ट कर सके, कोई शक्ति नहीं, जो इसको हिन्दुपनसे गिरा सके। प्रतिदिन नियमपूर्वक स्वाध्याय करना और मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र तथा आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका परमपावन नाम अहर्निश स्मरण रखना, हिन्दुजातिके अमृतमय जीवनकी अमोघ दिव्य ओषधि है। आशा है हिन्दुजाति इसको न भूलेगी।

(४) **हिन्दुधर्म**] जिसके मानने और यथाविधि अनुष्ठानमें लानेसे लोक तथा परलोक, दोनोंका सुख, जिसको दार्शनिक परिभाषामें अभ्युदय और निःश्रेयस कहते हैं, प्राप्त होता है, हिन्दुजाति उसको धर्म कहती है। इसीलिये यह धर्म "हिन्दुजातिधर्म" अथवा "**हिन्दुधर्म**" कहा जाता है।

(क) जब यह जडचेतन नानाविध जगत् नहीं था, तब (मूल आरम्भमें) एक अखंड, अद्वितीय, सत्, चित्, आनन्द, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, ईश्वर था। उसने अपनी सृष्टिनिर्माणशक्ति महामाया प्रकृतिसे इस जडचेतन नानाविध जगत्को "**एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय**" सङ्कल्पसे(ऋ० १०।१२९।३) उत्पन्न किया (बनाया)। वही, अपनी सृष्टिनिर्माणशक्ति महामाया प्रकृतिसे इस जडचेतन नानाविध जगत् का उत्पन्न करनेवाला, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, ईश्वर हिन्दुधर्ममें पूजनेयोग्य, स्तुति करनेयोग्य, प्रार्थना करनेयोग्य, उपासनेयोग्य और दर्शनकरने(साक्षात् करने) योग्य है।

---

* अयं श्रीमान् म्लेच्छधर्मं परित्यज्य हिन्दुधर्मे प्रविष्टः प्रजापतिपुत्राख्यामुपलेभे। तत्र तदाख्यानिर्वचनपथम् एतद् व्याहरन्ति—

प्रजापतिं कं मुनयो वदन्ति, वेदेषु दक्षाः सह षड्भिरङ्गैः।
तस्य यो वीरः खलु सत्यवीरः, लोके स नूनं कथितः कबीरः॥ १॥

† यः करोति प्रजाः नाना, गिरा वेदपथानुगाः।
तं गुरुं नानकं प्राहुः, शान्ताकारं महाधियः॥ १॥

(ख) इस जडचेतन नानाविध जगत्के उत्पन्न करनेवाले सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वरकी जो जो शक्तियां इस जडचेतन नानाविध जगत्में अनेक प्रकारके कार्योंको करती हैं, हिन्दुधर्ममें उन सब शक्तियोंको "देवता" कहते हैं । उनमेंसे अनेक शक्तियां अग्नि आदि दिव्य (अद्भुत) पदार्थोंके द्वारा प्रकटरूपसे कार्य करती हैं, इसलिये हिन्दुधर्ममें अग्नि आदि दिव्य पदार्थोंको भी देवता माना जाता है । इन सब ईश्वरीय शक्तियोंमेंसे सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिशक्ति, पालनशक्ति और संहारशक्ति, ये तीन शक्तियां मुख्य हैं । हिन्दुधर्ममें इन्हीं तीनों मुख्य शक्तियोंका नाम यथाक्रम ब्रह्मा, विष्णु और महेश है । शिव, शङ्कर और महादेव, ये महेशके ही नामान्तर हैं ।

(ग) शक्ति और शक्तिमान्का भेद न होनेसे (अभेद होनेसे) एक एक शक्तिकी पूजा और उपासना भी जगत्कर्ता ईश्वरकी ही पूजा और उपासना है, तथापि सर्वज्ञ सर्वशक्ति जगत्कर्ता ईश्वरकी पूजा और उपासनासे जिस फलकी प्राप्ति होतीहै, उस(फल)की प्राप्ति एक एक शक्तिकी पूजा तथा उपासनासे नहीं होती । इसलिये हिन्दुधर्ममें सर्वज्ञ सर्वशक्ति जगत्कर्ता ईश्वरकी ही पूजा और उपासना, सबकेलिये सर्वदा सर्वत्र कर्तव्य और मन्तव्य मानी जाती है ।

(घ) एकाकी(अकेले) जगत्कर्ता ईश्वरकी पूजा, स्तुति, प्रार्थना और उपासनाके करनेसे जो फल होताहै, उससे सहस्रगुना अधिक मिलकर करनेसे होता है । मिलकर करने में जितनी संख्या बढ़ती जाये, उससे सहस्रगुना अधिक फलकी मात्रा भी बढ़ती जाती है । इसलिये हिन्दुधर्ममें प्रतिदिन अथवा प्रतिसप्ताह, सायं अथवा प्रातः नियमपूर्वक यथासम्भव मिलकर ही दो हों अथवा तीन, दस हों अथवा बीस, पचास हों अथवा सौ, हजार हों अथवा लाख, पङ्क्तिवार सिद्धासनसे बैठकर अत्यन्त शान्तिके साथ मनको एकाग्र करके जगत्कर्ता ईश्वरकी उपासना करना और अङ्ग प्रत्यङ्ग—चालनसे रहित निश्चेष्ट खडे होकर मधुर स्वरसे बडे प्रेमके साथ स्तुति, प्रार्थना और पूजा करना, सबकेलिये अवश्य कर्तव्य* है ।

(ङ) हिन्दुधर्म प्रधानतः दो अंशोंमें विभक्त है । एकको मन्तव्यांश और दूसरेको अनुष्ठेयांश कहते हैं । वेद, ईश्वर, जीव, प्रकृति, बन्ध, मोक्ष आदिका नाम मन्तव्यांश और ज्ञान, उपासना तथा कर्मका अनुष्ठेयांश नाम है । मन्तव्यांशके यथारुचि माननेमें प्रत्येक व्यक्ति सर्वदा सर्वथा सर्वत्र स्वतन्त्र और अनुष्ठेयांशके यथाशास्त्र

---

* सहस्रं साकम् अर्चत, पुरिष्टोभत विंशतिः ।
शता एनम् अन्वनोनवुः, इन्द्राय ब्रह्म उद्यतम्, अर्चन् अनु स्वराज्यम् ॥१॥ (ऋ० १।८०।९)

अर्थ—हजार एकसाथ पूजा करो, बीस हजार एकसाथ पूजा करो । सौ हजार एकसाथ इसकी स्तुति करो, इस परम ऐश्वर्यवान्के लिये मंत्रों(स्तुति वाक्यों) को बोलो, जो प्रतिपूजन करता हुआ (अपने पूजकों का सत्कार करता हुआ) स्वराज्यको देता है ॥ ९ ॥

अनुष्ठान में प्रत्येक व्यक्ति सर्वदा सर्वथा सर्वत्र परतन्त्र है। क्योंकि मन्तव्यांशका मानना अपनी अपनी बुद्धिपर और अनुष्ठेयांशका अनुष्ठान धर्मशास्त्रपर निर्भर है। दूसरा मन्तव्यांशके माननेसे जो फल होता है, उसका सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्तिके अपने अपने मनके साथ और अनुष्ठेयांशके यथाशास्त्रानुष्ठानसे जो फल होताहै, उसका देश, जाति और व्यक्ति, तीनोंके साथ सम्बन्ध है। मन्तव्यांशके माननेमें स्वतन्त्रताको ही बुद्धिमान् धार्मिक स्वतन्त्रता कहते हैं। हिन्दुधर्ममें यह धार्मिक स्वतन्त्रता सर्वथा न्यायसङ्गत होनेसे कोई अपराध नहीं और नही इसकेलिये कोई व्यक्ति किसी देश अथवा किसी कालमें दण्डनीय मानी वा समझी जाती है। हिन्दुधर्ममें यही परममहत्त्वकी बात है और उसके ईश्वरीय होनेका यही अकाट्य प्रत्यक्ष चिन्ह है। इसीसे सूक्ष्मदर्शी विद्वान् और समझदार भद्रमनुष्य हिन्दुधर्मको परमोदार, महाविशाल और मनुष्यमात्रका आदरणीय धर्म कहते और मानते हैं।

कर्म] हिन्दुधर्ममें जो कर्म नियमसे देश, जाति तथा आत्मा, तीनों की उन्नति का साधन है और लोक तथा शास्त्रसे अनुमति पाया हुआ है, वह सब देशोंमें, सब कालोंमें और सब अवस्थाओंमें अनुष्ठेय अर्थात् कर्तव्य है, और जो कर्म सर्वथा व्यर्थ (निष्फल) है अथवा देश, जाति और आत्माके लिये हानिकारक है, लोक तथा शास्त्रसे निषिद्ध है, वह किसी देशमें, किसी कालमें, किसी अवस्थामें भी अनुष्ठेय नही।

उपासना] अष्टाङ्ग योगके अभ्याससे एकाग्रहुए मनकी जगत्कर्ता ईश्वरमें एकरस स्थितिका नाम उपासना है। इसके दो रूप हैं—एक पूर्व और दूसरा उत्तर। पूर्वरूप भावनामय (ख्याली) और उत्तररूप यथार्थ है। जिस अवस्थामें मन नितान्त अपने आपको भूलकर एक जगत्कर्ता ईश्वरके स्वरूपमें निमग्न हो जाताहै, हिन्दुधर्ममें मनकी इसी अवस्था को उपासनाका उत्तररूप कहते हैं। प्रतिदिन अभ्यासकी प्रकर्षतासे ज्यों ज्यों यह अवस्था उच्च तथा उच्चतर होती जातीहै, त्यों त्यों उपासक अपने उपास्य जगत्कर्ता ईश्वरके समीप पहुंचता जाताहै। इस अवस्थामें उपासकको जो आनन्द प्राप्त होताहै, योगियोंकी परिभाषामें उसीको मधु और अवस्थाको मधुमती कहते हैं। लगातार अभ्यासके करते रहनेसे ईश्वरके स्वरूपमें निमग्न हुआ मन, जब अपना आप खो बैठताहै, उपास्य, उपासक और उपासना, तीनोंके स्थानमें एक उपास्य ही शेष रहजाता है, तब उपासनाकी हद हो जातीहै, उसकी यही पराकाष्ठा है। अब इसके आगे जगत्कर्ता ईश्वरका साक्षात् दर्शन है, जो उपासकको अनायास स्वयमेव ईश्वरानुग्रहसे प्राप्त होता है। उसीके प्राप्त होनेसे सब कुछ देखा हुआ और सब कुछ जाना हुआ होताहै। हिन्दुधर्ममें जगत्कर्ता ईश्वरके साक्षात् दर्शनको ही "ब्रह्मज्ञान" कहते हैं।

ज्ञान] वास्तविक(असली) रूपसे वस्तुके जाननेका नाम ज्ञान है। उसके दो भेद हैं—एक पर और दूसरा अपर। प्रकृतिपर्यन्त सब पदार्थोंके वास्तविक रूपसे ज्ञानको अपर और

जगत्कर्ता ईश्वरके साक्षात् दर्शनको परज्ञान कहते हैं। उपनिषदोंकी परिभाषामें अपर-ज्ञानका अपरा विद्या और परज्ञानका परा विद्या नाम है। हिन्दुधर्ममें इसी ज्ञानके प्राप्त होनेसे मनुष्य मुक्तिको लभता और जन्ममरणके चक्रसे हमेशाके लिये छुटकारा पाता है।

(च) जैसे हिन्दुधर्ममें प्रतिदिन अथवा प्रतिसप्ताह, सायं अथवा प्रातः, अकेले अथवा मिलकर जगत्कर्ता ईश्वरकी पूजा, स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना सबके लिये याव-ज्जीव अवश्य कर्तव्य है, वैसे ही देशोन्नति, जात्युन्नति और आत्मोन्नतिके साधन कर्म-कलापका यथाविधि अनुष्ठान भी यथशक्ति 'ज्ञानी हो अथवा उपासक' सबके लिये परमावश्यक (यजु० ४०।२) है।

(५) **हिन्दुधर्म में वर्णविभाग**] हिन्दुधर्म में देशको धनधान्यसे समृद्ध और जातिको सब प्रकारसे सुखसम्पन्न बनानेके लिये मनुष्योंका चार श्रेणियोंमें विभाग किया है। ब्राह्मण-श्रेणी, क्षत्रियश्रेणी, वैश्यश्रेणी और शूद्रश्रेणी, ये उन चारों श्रेणियोंके नाम हैं। स्वयं अनेक-विध विद्याओंका यत्नपूर्वक सम्पादन करना १ जनताको उन सब विद्याओंसे सुसम्पन्न बनाना और उसको प्रमादी तथा विषयरत न होने देकर ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमके यथोचित पालन करनेमें तत्पर रखना २ जनतामें नीचऊचभाव न उत्पन्न होने देना, सबको भ्रातृभावके बन्धनमें सर्वथा सुबद्ध रखनेका प्रयत्न करना और राष्ट्रकी स्वतन्त्रताके सुखों तथा परतन्त्रताके दुःखोंका बखान रात्रिन्दिवा जनताके सामने यथाशास्त्र करते रहना ३ सबको सबके साथ समानभावसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने, आपसमें किसी प्रकारका द्वेष न रखने और राष्ट्ररक्षाके लिये प्राणोंतक अर्पण करदेनेका भाव सबमें सदा भरते रहना ४ स्वयं ब्राह्मण से शूद्रपर्यन्त सबको आत्मतुल्य देखना और सबके साथ नियमपूर्वक मधुर, कोमल (मृदु) तथा हितकर भाषण करना ५ ब्राह्मणश्रेणीका असा-धारण कर्म है।

अपने राष्ट्रको सुव्यवस्थित रखना और बाहरी तथा भीतरी राष्ट्रपीडकोंसे राष्ट्रकी रक्षा करना १ राष्ट्रकी सीमाओंको सुदृढ बनाना और प्रतिवर्ष उनको थोडा बहुत आगे बढ़ानेका विहित प्रयत्न करना २ परराष्ट्रोंके साथ मित्रताका सम्बन्ध यथासम्भव स्थापन करना और उनके ऊपर अपना आतङ्क बैठाये रखने में सदा सावधान रहना ३ आप यथाशक्य किसीकी अवज्ञा न करना और दूसरेके अवज्ञा करनेपर तुरत उसको यथोचित दण्ड देना ४ राष्ट्रकी समृद्धिके लिये नित्य नये उपायोंका अनुसन्धान कराते रहना और उन (उपायों)-के अनुष्ठान में धनकी आवश्यकता होने पर धनका यथेष्ट प्रदान करना ५ राष्ट्रमें हरएक प्रकारके विद्वानोंकी संख्याको बढ़ाना और संन्यासियों(साधुओं) तथा भीख-मंगोंकी संख्याको न बढ़ने देना ६ स्वयं प्रमादी, व्यसनी तथा व्यभिचारी न होना और राष्ट्रको प्रमादी, व्यसनी तथा व्यभिचारी ज्ञात होने पर घोर ताडना करना ७ प्रतिदिन

सज्जनोंको मान और दुर्जनोंको यथापराध विना पक्षपात दण्ड देना और समय समयपर अपनी दानशीलताका परिचय देते रहना ८ क्षत्रियश्रेणीका असाधारण कर्म है।

वाणिज्यसे, कृषिसे और पशुपालनसे देशको समृद्ध बनाना १ देशमें औषधालय, विद्यालय तथा अनाथालय, स्थापन करना २ देशके मुख्य मुख्य स्थानों, नगरों तथा तीर्थोंमें यात्रियोंके सुखावासकेलिये धर्मशालायें बनाना और सदावर्त जारी करना ३ विद्वानों तथा विद्वान् संन्यासियोंका यथावसर संग करना और उनसे विनयपूर्वक उपदेश लेना ४ राष्ट्राधिपतिके अनुनयानुसार सब व्यवहार करना और आवश्यकीय कार्योंमें उसका धन तथा जनसे सहायक होना ५ वैश्यश्रेणीका असाधारण कर्म है।

अनेक प्रकारके शिल्पसे देशकी अवश्यकताओंको पूरा करना १ रोगोंसे बचनेके लिये नगरों तथा ग्रामोंको स्वच्छ रखना और रात्रीमें चोरों तथा डाकुओंसे उनकी 'सावधानीके साथ, रक्षा करना २ मृतपशुओंके चमडोंको उपयोगमें लाना और उनके रंगने, मृदु (मुलायम) बनाने तथा कतरबौंत करनेमें निपुण होना ३ निजकार्योंमें सदा स्वतन्त्र और देशकार्यों तथा जातिकार्योंमें अहर्निश परतन्त्र रहना ४ श्रेणीमात्रकी आवश्यकतानुसार धर्मबुद्धिसे सब प्रकारकी सेवा करना और देशमें सबके समान अपना भाग मानना तथा उसकी स्वतन्त्रताके लिये पूर्णरूपसे योग देना ५ शूद्रश्रेणीका असाधारण कर्म है।

सदा सत्यनिष्ठ, न्यायपरायण और सच्चरित्र होना १ देशसेवा तथा जातिसेवाको सब-धर्मोंसे ऊंचा धर्म समझना २ देशगौरव और जातिगौरवको दृष्टिगोचर रखते हुए हर एक कर्म करना ३ समय उपस्थित होनेपर देशगौरव तथा जातिगौरवकी रक्षाकेलिये प्राणोंतक देदेनेसे न डरना ४ सदा आत्मसम्मानके साथ जीने और वीरगतिसे मरनेको महापुण्य मानना ५ देशद्रोह और जातिद्रोहको सब पापोंसे घोर पाप जानना ६ सबके सुखमें सुखका और सबके दुःखमें दुःखका अनुभव करना ७ प्रतिवर्ष जातिव्योहारों और जातिनायकोंके जन्मदिनोंको बडे उत्साहसे सजधज तथा धूमधामके साथ मनाना ८ क्या युवा क्या वृद्ध, क्या स्त्री क्या पुरुष, सबने प्रतिदिन नियमसे थोडा बहुत अपनी धर्मपुस्तकको श्रद्धापूर्वक पढ़ना ९ विद्यावृद्धों, शौर्यवृद्धों, धनवृद्धों तथा वयोवृद्धोंका यथा-योग्य मन, वाणी और शरीरसे सत्कार करना, उनके साथ नम्रतापूर्वक बोलना और उनके वचनोंको आदरपूर्वक सुनना १० चारों श्रेणियोंका साधारण कर्म है। ये चारों श्रेणियां असाधारण कर्मका भेद होने पर भी हिन्दुधर्ममें समान(बराबर) हैं, उनमें कोई उत्कृष्ट(ऊंच) अथवा निकृष्ट(नीच) नहीं। जैसे कर्मका भेद होने पर भी यदि एक समय शरीरके अङ्गोंमेंसे मस्तकपर परमपूज्यबुद्धिसे चन्दन लगाया जाता तथा सिरपर फूल चढाया जाता है, तो दूसरेसमय दोनों पाओं उसी परमपूज्य बुद्धिसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक धोये जाते और उनपर मस्तिकसहित सिर बडी नम्रताके साथ झुकाया जाता है। सचमुच वैसे ही यदि एकसमय हिन्दुजातिका अंग ब्राह्मण परमपूज्य है, तो

दूसरे समय शूद्र पूज्यतम है, ऐसे ही क्षत्रिय और वैश्य। इन सबमें पूज्यता अथवा अपूज्यता, स्पृश्यता अथवा अस्पृश्यता औत्पत्तिक(जन्मसिद्ध) नहीं। जो मलिन (मैला) है, अपवित्र है, वह अपूज्य है, अस्पृश्य है, जो निर्मल(स्वच्छ) है, पवित्र है, वह पूज्य और स्पृश्य है। बस हिन्दुधर्मका यही रहस्य है, यही निष्कर्ष(निचोड) है।

ऊपर मनुष्यमात्रकी जिन चार श्रेणियोंका संक्षेपसे निरूपण(बयान) हुआ है, हिन्दुधर्ममें इन्हीं चारों श्रेणियोंको चार वर्ण कहते हैं। मनुष्योंके भाग विशेष(खास हिस्से) का नाम वर्ण है और वर्णके पर्याय जातिशब्दका भी यही अर्थ है।

(६) हिन्दु धर्ममें आश्रमविभाग] जैसे हिन्दुधर्ममें मनुष्यमात्रका विभाग चार श्रेणियोंमें मानाहै, वैसे ही मनुष्यमात्रकी आयुका विभाग चार आश्रमोंमें मानाहै। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, ये उन चारों आश्रमोंके यथाक्रम नाम हैं। ब्रह्मचर्याश्रममें सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर अनेक प्रकारकी विद्याओंका सम्पादन(हासिल) करना और गार्हस्थ्याश्रममें अपने अनुरूप पत्नी(स्त्री) का यथाविधि पाणिग्रहण करके अच्छी सन्तान उत्पन्न करना और अपने, अपनी धर्मपत्नी तथा अपनी सन्तानके सुखपूर्वक जीवनयात्रानिर्वाहके लिये अनेक सदुपायों तथा व्यवसायोंसे अनेक प्रकारका धन सङ्ग्रह करना होताहै। वानप्रस्थाश्रममें तपस्वी जीवन बनाना और संन्यासाश्रममें आध्यात्मिक योग्यताका बढाना तथा सांसारिकसुखसम्भोगसे वञ्चित रहना होता है। अथवा किसी नियत सार्वजनिक कार्यका करना अथवा सभी सार्वजनिक कार्योंमें यथासामर्थ्य भाग लेना होता है।

इन चारों आश्रमोंमें ब्रह्मचर्याश्रम तथा गार्हस्थ्याश्रम, दोनों मन्त्रप्रतिपाद्य(मन्त्रोंमें कहे गये) होनेसे सबकेलिये यथासमय अवश्य कर्तव्य हैं। वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम, दोनों मन्त्रप्रतिपाद्य न होनेसे सबके लिये अवश्य कर्तव्य नहीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्याश्रम और गार्हस्थ्याश्रममें जैसे सबका अधिकार है, वैसे वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रममें सबका अधिकार नहीं, किन्तु एकमात्र विद्वान्का ही अधिकार है, यह विशेष है।

(७) हिन्दुधर्ममें हिंसा अहिंसा] हिन्दुधर्ममें जैसी आत्मा मनुष्यमें है, पशु पक्षी, कीट पतंग, वृक्ष ओषधि, गुल्म लता आदिमें भी वैसी ही आत्मा है। इस अवस्थामें मनुष्यके मारनेमें जो हिंसादोष है, पशु पक्षी, कीट पतंग, वृक्ष ओषधि, गुल्म लता आदिके मारने तथा काटनेआदिमें भी वही हिंसादोष होना चाहिये, यह अनुभव करते हुए प्रत्येकश्रेणीके हिन्दुव्यक्तिको 'गृहस्थ हो अथवा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ हो अथवा संन्यासी, अपने लौकिक तथा पारलौकिक कर्मोंके करनेमें हिंसादोषसे बचनेके लिये अन्ततो गत्वा* अपनी धर्मपुस्तकका ही आश्रय लेना पडताहै। हिन्दुधर्मपुस्तकके हिंसा

* कईएक हिंसादोषसे बचनेकेलिये यह मानते हैं कि जैसी आत्मा मनुष्यमें है, पशु पक्षी, कीट पतंग, आदियोंमें वैसी आत्मा नहीं है। इसलिये उनके मारने तथा काटने आदि में हिंसादोष नहीं होता ॥१॥

अहिंसा-सम्बन्धी उपदेशका निष्कर्ष(निचोड) यह है कि जो हिंसा अनिवार्य है, जो देश अथवा कालकी दृष्टिसे अवश्य कर्तव्य है, जो धर्मरूपसे प्राप्त है और परम्परागत-सदाचारसे अनुमति पायेहुई है, जो प्रकृतिसिद्ध है और शास्त्रसे निषिद्ध नहीं, वह अहिंसा है, हिंसा नहीं। इसलिये ऐसी हिंसाके करनेसे कोई कभी हिंसादोषका भागी नहीं होसकता। इसके अतिरिक्त जो हिंसा है, वह पाप है और उसके करनेसे प्रत्येक हिन्दु अवश्यमेव हिंसादोषका भागी होताहै। सम्पूर्ण धर्मसूत्रों तथा मन्वादिस्मृतियोंका निर्णीत अर्थ यही है, यही ब्रह्मासे लेकर जैमिनिपर्यन्त ऋषियों तथा मुनियोंका निश्चित मत है और "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का रहस्य भी यही है।

(८) हिन्दुधर्म में पुनर्दान] किसी वस्तुपर अपने स्वत्वको निवृत्त करके दूसरेके स्वत्वको उत्पन्न करना दानशब्दका अर्थ है। जैसे लोकमें प्रायः समय समयपर अनेक वस्तुओंके दान होते हैं, वैसे ही विवाहसंस्कारमें माता, पिता अथवा भाईओंकी ओरसे कन्याका भी दान होताहै। परन्तु दूसरी वस्तुओंके दानमें और कन्याके दानमें कुच्छ भेद है। दूसरी वस्तुओंके दानमें दानकर्ता(दाता) का स्वत्व सर्वथा निवृत्त होजाता है और कन्यादानमें वह(स्वत्व) आंशिक बना रहता है, सर्वथा निवृत्त नहीं होता। इसीलिये पराशर आदि ऋषियोंने विधवा हुई कन्याके* पुनर्दानका विधान किया है, जिसका अर्थ पुनर्विवाह होताहै। पुनर्विवाहका ही दूसरा नाम पुनःसंस्कारहै। हिन्दुधर्ममें यह पुनर्विवाह दो प्रकारका है—एक अक्षतयोनिपुनर्विवाह और दूसरा क्षतयोनिपुनर्विवाह। जिस विधवाको पतिका सम्बन्ध नहीं हुआ, जो शरीरसे विवाहके योग्यहै और अपने माता पिताके घरमें ही रहती हुई कष्टसे जीनेके दिन पूरे करतीहै, उस अतिदीना,

---

दूसरे यह कहते हैं कि पशु पक्षी, कीट पतंग आदियोंमें तो मनुष्यजैसी ही आत्मा है, वृक्ष ओषधि आदियोंमें मनुष्यजैसी आत्मा नहीं है। इसलिये वृक्ष ओषधि आदियोंके काटने आदिसे हिंसादोष नहीं होता ॥ २ ॥ तीसरे यह कहते हैं कि पशु पक्षी आदियोंकी नाईं वृक्ष ओषधि आदियोंमें भी मनुष्य-जैसी ही आत्मा है, परन्तु क्लोरोफार्मसे मूर्च्छित मनुष्यकी नाईं वृक्ष ओषधि आदियोंको सुखदुःखका ज्ञान नहीं होता। इसलिये उनके काटने आदिमें हिंसादोष नहीं है ॥ ३ ॥ ये सब मत तथा कथन, केवल मनुष्यबुद्धिका आश्रय लियेहुए हैं और हिंसादोषसे बचनेका बहानामात्र हैं। इसलिये वे धार्मिक हिन्दुओंको ग्रहणीय नहीं और नहीं आदरणीय हैं ॥

* हिन्दुधर्मके व्यवस्थापक ऋषियों और मुनियोंने मनुष्योंके प्रजातन्तुके अविच्छेद(न टूटने)केलिये कन्याशब्दका अर्थ दोप्रकारका माना है-एक यौगिक और दूसरा पारिभाषिक। कमनीया=चाहने योग्य अर्थात् सुन्दरी, अथवा जो सुन्दरपुरुषसे विवाहमें लाई जाती है अर्थात् शरीरमें विवाहकी योग्यता-वाली (निरु० ४।१५) यह कन्याशब्दका यौगिक और अक्षतयोनिका नाम कन्या, यह कन्याशब्दका पारिभाषिक अर्थ है। दोनों अर्थ यथासमय आदरणीय और उपयोगमें लानेयोग्य हैं। कन्याके प्रथम विवाहमें प्रायः पारिभाषिक अर्थका और पुनर्विवाह में यथासम्भव यौगिक और पारिभाषिक, दोनों अर्थोंका उपयोग है। प्रथमविवाहमें कन्याकी आयु चौदह १४ बरससे और वरकी आयु बाईस २२ बरससे न्यून न होनी चाहिये। वेद (मन्त्र, ब्राह्मण) और उपवेदके मतसे तो सोहलवें १६ बरसके अन्तमें कन्याका और चौबीसवें २४ बरसके अन्तमें वरका जो विवाह होता है, वह उत्तम है और वही विवाह वैदिक है।

दुःखिया, चिन्तामूर्त्ति विधवाका माता, पिता अथवा भाईओंकी अनुमतिसे किसी योग्य पुरुषके साथ, जिसके हां पहले कोई स्त्री नहीं है और शरीरसे स्वस्थ है, पूर्वविवाहकी नाई जो यथाविधि पुनर्विवाह होताहै, उसको अक्षतयोनिपुनर्विवाह कहतेहैं। जिस विधवाको पतिका सम्बन्ध हुआ है, जिसके कोई सन्तान नहीं, अथवा एक दो सन्तान होनेपरभी शरीरमें विवाहकी पूरी योग्यता है, जो यावदायु ब्रह्मचारिणी रहकर अपने जीनेकेदिन पूरा करना नहीं चाहती, जिसके मनमें सांसारिकसुखसम्भोगकी कामना तीव्र है और इसी चिन्ताचितामें सदा जलतीसी रहती है, उस पुनर्विवाहकामा विधवाका माता पिता, सासू ससुरा अथवा दूसरे कुटुम्बियोंकी अनुमतिसे किसी विशिष्ट पुरुषके साथ जो स्त्रीसे रहित है, पूरा विवेकी और धर्मभीरु है, शरीरसे स्वस्थ और दर्शनीय है, यथालोक अथवा यथाशास्त्र जो पुनर्विवाह होताहै, उसको क्षतयोनिपुनर्विवाह कहते हैं। हिन्दु-धर्मशास्त्रमें दोनों प्रकारके पुनर्विवाहका विधान है और दोनों ही सदाचारसे पूरी पूरी अनुमति पायेहुए हैं। इसलिये वे सर्वथा सर्वतः सर्वदा निर्दोष हैं और यथासमय अनु-ष्ठानके योग्य हैं।

जैसे हिन्दुधर्ममें पुनर्विवाहके दो भेदहैं, वैसे प्रथमविवाहके भी दो भेद हैं—एक सव-र्णाविवाह और दूसरा असवर्णाविवाह। जो विवाह गुण, कर्म तथा जन्म, तीनोंकी सम-तासे होताहै, उसको सवर्णाविवाह और जो केवल गुण तथा कर्म, दोनोंकी समतासे होताहै, उसको असवर्णाविवाह कहतेहैं। हिन्दुधर्ममें सवर्णाविवाह मुख्य और अस-वर्णाविवाह गौण माना जाताहै। परन्तु असवर्णाविवाह हिन्दुधर्मशास्त्रसे निषिद्ध नहीं और नहीं सदाचारसे अनुमति न पाया हुआ है। इसलिये सवर्णाविवाहकी नाई असवर्णा-विवाह भी यथासम्भव स्पृहणीय है, गर्हणीय नही॥

(९) हिन्दुधर्ममें शुभप्रवेश] जो मनुष्य किसी लोभवश हिन्दुधर्मसे पतित होगया है, अथवा छलसे, किंवा बलसे पतित किया गया है और जो स्वतः वंशपरम्परासे किसी दूसरे धर्मका माननेवाला है, उन दोनोंके शुभ प्रवेशकेलिये हिन्दुधर्मका द्वार सदा खुला है, एक क्षणकेलिये भी बन्द नहीं, किन्तु प्रवेशसे पहले बुद्धिकी शुद्धि परम आव-श्यक है। क्योंकि हिन्दुधर्ममें आत्मा सदा स्वरूपसे शुद्ध(निर्मल) है, किसी कालमें भी अशुद्ध(मलिन) नहीं होती, केवल आत्माकी सहयोगिनी बुद्धि, जो मनकी एक अवस्था-विशेष है, संसर्गादि दोषोंसे अशुद्ध होती है और उसकी अशुद्धिका आरोप(मिथ्या भान) आत्मामें हो जानेसे आत्मा अशुद्ध मानी जाती है, जैसे स्फटिकमणि अपने सह-योगी रक्त पुष्प(लाल फूल) की रक्तिमा(लाली)के आरोपसे रक्त मानी और कही जाती है। हिन्दुधर्मशास्त्रमें बुद्धिकी शुद्धिका उपाय सदसद्विवेक, हार्दिकपश्चात्ताप, जगत्कर्ता ईश्वरसे शुद्धिकी प्रार्थना और गुरुमन्त्रका यथाविधि उच्चारण, कथन किया है। उसके ठीकठीक अनुष्ठानसे बुद्धि तुरत शुद्ध होजाती है। बस आत्माकी सहयोगिनी

बुद्धिके शुद्ध होजानेसे आत्मामें उसकी अशुद्धिका आरोप स्वयमेव निवृत्त होजाता है और मनुष्य अब सबप्रकारसे शुद्ध हुआ हिन्दुधर्ममें शुभप्रवेशके नितरां योग्य बनजाताहै। अत एव हिन्दुधर्ममें शुभप्रवेशकी इच्छावाले प्रत्येक मनुष्यकी, स्त्री हो चाहे पुरुष, शुभ-प्रवेशसे पहले बुद्धिकी शुद्धिका होना परमावश्यक माना गया है। स्त्रियोंमें स्नान तथा वेषपरिवर्तन और पुरुषोंमें उपवास, मुण्डन, उपमुण्डन तथा स्नान आदि, इसी आभ्यन्तर शुद्धिके बाह्य चिन्ह हैं। हिन्दुधर्मपुस्तकमें शुद्धिका विधान(हुक्म) बडा स्पष्ट है, उसमें संशय अथवा भ्रमकी कोई जगह नहीं। इसलिये अपनी धर्मपुस्तकके विधानका यावदायु यथाशक्ति कर्तव्यबुद्धिसे अच्छीतरह पालन करना हिन्दुमात्रका परमधर्म है।

(१०) **हिन्दुधर्मपुस्तक]** हिन्दुधर्ममें धर्मका आदि मूलस्रोत भगवान् वेद है। ईश्वरकी अपार दयासे हिन्दुजातिके पूर्वज अनेक महानुभाव ऋषियोंके स्वच्छ अन्तःकरण (निर्मल मन) में जिन मन्त्रोंका दर्शन(स्फुरण) हुआ, उन सब मन्त्रोंके सङ्ग्रहविशेष (संहिता) का नाम वेद है।

जब वे मन्त्र मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपने पुत्रों, पौत्रों अथवा शिष्यों, प्रशिष्योंको कण्ठ कराये, तब साथ ही उनके वैनियोगिक तथा नैसर्गिक अर्थ भी बतलाये और उनके विनि-योग, प्रयोग(अनुष्ठान) तथा सदाचारका उपदेश किया। अर्थसहित उपदेश किया हुआ विनियोग, प्रयोग और सदाचार, जब कुछ विवादग्रस्त होता देख पडा, तब सामयिक ऋषिसन्तानों(ऋषियों) ने उसको यथावत् ग्रन्थरूपमें लिख दिया। वर्तमान कालमें उन्हीं सब ग्रन्थोंको "ब्राह्मण" कहते हैं। मन्त्रोंका नाम ब्रह्म (शत० ७।१।१।५) है, इसलिये ब्राह्मणका अर्थ 'मन्त्रसम्बन्धी पुस्तक, माना जाता है।

ब्राह्मणों(ब्राह्मणग्रन्थों)के अन्तिम भागको "आरण्यक" कहते हैं। ईशोपनिषद्को छोडकर शेष जितनी प्रामाणिक उपनिषदें हैं, वे सब आरण्यकका ही भाग विशेष हैं। इन सब उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञान(आत्मज्ञान) का जो वर्णन हुआ है, वह इतना मनोरम और अपूर्व है कि संसारभरके किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। हिन्दुधर्ममें मन्त्र और ब्राह्मण, जितने मान्य हैं, उपनिषदेंभी उतनी ही मान्य हैं। वेदान्त और रहस्य, ये दोनों उपनिषदोंके ही नामान्तर हैं।

अनेक आचार्योंका मत है कि मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद, तीनोंकी संज्ञा "वेद" समान है। कई एकका कथन है कि मन्त्र व्याख्येय और ब्राह्मण तथा उपनिषद, उनके व्याख्यान हैं। व्याख्येय और व्याख्यानमें भेद होना आवश्यक है। इसलिये मन्त्रोंकी संज्ञा वेद मुख्य और ब्राह्मण तथा उपनिषदोंकी संज्ञा वेद अमुख्य अर्थात् गौण है। श्रुति—संज्ञा मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद, तीनोंकी समान है।

मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषदों के समान "गीता" भी हिन्दुधर्ममें परम मान्य है। उसका प्रत्येक उपदेश हृदयङ्गम और चित्ताकर्षक है। उसमें मन्त्र, ब्राह्मण और उपनि-

षदोंके मुख्य मुख्य उपदेशोंका समावेश बहुत ही अलौकिक तथा सरस दार्शनिक पद्धतिसे किया है। और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका साक्षात् वचनामृत होनेसे गीताका माहात्म्य और भी बढ़ गया है। इसलिये मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषदोंके समान "गीता" भी हिन्दुधर्मका मुख्य ग्रन्थ सर्वमान्य है।

स्वाध्यायसंहिता—में मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद् और गीता, बस इन्हीं चारों मुख्यधर्मग्रन्थों का क्रमबद्ध सुसम्बद्ध सङ्ग्रह किया गया है। पुस्तकाकार सङ्ग्रहविशेषको **संहिता** और प्रतिदिन नियमपूर्वक अपने पढनेको **स्वाध्याय** कहते हैं। प्रतिदिन नियमपूर्वक अपने पढ़नेकी पुस्तक, यह समस्त 'स्वाध्यायसंहिता' नामका अर्थ है। हिन्दुधर्मके मुख्य धर्मग्रन्थोंका क्रमबद्ध सुसम्बद्ध सङ्ग्रहविशेष होनेसे स्वाध्यायसंहिताका दूसरा नाम **हिन्दुधर्मपुस्तक** है। इस हिन्दुधर्मपुस्तकमें ब्राह्मणसे शूद्रपर्यन्त क्या स्त्री क्या पुरुष, सभी हिन्दुओंका अधिकार समान है। इसलिये स्त्री हो अथवा पुरुष, प्रत्येक हिन्दुका धर्म है कि वह अपनी इस धर्मपुस्तकका प्रतिदिन नियमसे प्रीतिपूर्वक पाठ करे और सबप्रकारसे निष्पाप हुआ लोकमें अभ्युदयसुख तथा परलोकमें निःश्रेयससुखका भागी बनकर अपने मनुष्यजन्मको सफल करे॥

स्वाध्यायसंहितां प्रातः, श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
नित्यं पठति शुद्धात्मा, सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १॥
प्रमुक्तः सर्वपापेभ्यः, श्रियं प्राप्नोत्यनुत्तमाम्।
पुत्रपौत्रसमायुक्तो, मुक्तिं चानन्दलक्षणाम्॥ २॥

वैदिकमुनि.

"विशेषसूचना"

ऋचा आदि मन्त्रोंका पाठ चिरकालसे दोप्रकारका लिखा और पढ़ा जाता है। एकका नाम संहितापाठ और दूसरेका पदपाठ नाम है। जिस पाठमें पदोंको एक दूसरेके साथ मिलाकर(सन्धि करके) मन्त्र लिखे अथवा पढ़े जाते हैं, उसको संहितापाठ और जिस पाठ में पदोंको एक दूसरे के साथ न मिलाकर मन्त्र लिखे अथवा पढ़े जाते हैं, उसको पदपाठ कहते हैं। पदपाठ पढ़नेमें बहुत सुगम(आसान) होता है। व्याकरणका जाननेवाला और न जाननेवाला, दोनों उसको बडी सुगमता(आसानी) से ठीक ठीक पढ़ सकते हैं। संहितापाठका ठीक ठीक पढ़ना बहुत कठिन है। साधारणरूपसे व्याकरणका जाननेवाला उसको ठीक ठीक नहीं पढ़ सकता। स्वाध्यायसंहिता व्याकरण जाननेवाले और न जाननेवाले, दोनोंके स्वाध्यायकी पुस्तक है। इसलिये स्वाध्यायसंहितामें स्वाध्याय करनेवालोंके सुभीते(सुविधा) के लिये प्रायः पदपाठका ही आदर किया है। और जहां पदपाठसे मन्त्रोंका उच्चारण ठीक ठीक होता नहीं देख पडा, वहां संहितापाठ ही रखा है। स्वाध्याय करनेवाला मन्त्रोंका अर्थ बडी सुगमतासे ठीक ठीक समझ सके, उच्चारण ठीक ठीक कर सके, यही पदपाठ और संहितापाठ, दोनोंके रखनेका प्रयोजन है। स्वाध्याय करनेमें दोनों पाठ उपयोगी हैं और आर्षहोनेसे दोनोंके स्वाध्यायका माहात्म्य भी एकसा है।

इस समय जितने ब्राह्मणग्रन्थ पाये जाते हैं, उन सबमें जैसा दर्शपूर्णमास आदि यज्ञोंका क्रमबद्ध और सविस्तर निरूपण है, वैसा मनुष्यजातिकी शिक्षाविशेषका निरूपण नहीं है। उसका निरूपण भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें केवल प्रसंगवश हुआ है। उन सब ब्राह्मणवाक्योंका, जिनमें मनुष्यजातिकी शिक्षाविशेषका निरूपण है, क्रमबद्ध, सुसम्बद्ध सङ्ग्रह करते समय कहीं वाक्यपूर्ति और कहीं वाक्योंकी परस्पर सङ्गतिके लिये बीचमें पद अथवा पदसमूहकी योजना आवश्यक(जरूरी) समझी गई है। परन्तु वह निराधार नहीं की, किन्तु मन्त्रों, श्रौतसूत्रों और मीमांसासूत्रोंके आधार पर की है। और जहां जिस पद अथवा पदसमूहकी योजना की है, वहां [ ] यह चिन्ह किया है। मन्त्रोंका व्याख्यान ब्राह्मण सर्वसम्मत हैं। इसलिये ब्राह्मणवाक्योंका सङ्ग्रह करते समय जिनमन्त्रों अथवा प्राचीनश्लोकोंका सम्बन्ध उनके साथ अर्थसे अथवा पूर्वाचार्योंके लेखसे ज्ञात हुआ है, उन सबको भी यथास्थान उद्धृत कियाहै।

जैसे धर्मकी दृष्टिसे मन्त्रों और ब्राह्मणग्रन्थोंका महत्त्व बहुत बडा है, वैसे ज्ञानकी दृष्टिसे उपनिषदोंका महत्त्व बहुत बडा है। उपनिषदोंमें जिस आत्मज्ञान(ब्रह्मज्ञान)का उपदेश किया है, जिस ज्ञानामृतका अविच्छिन्न स्रोत बहाया है, उसको पूर्वाचार्योंने सब धर्मोंसे ऊंचा धर्म(परमधर्म) माना है। औपनिषद(उपनिषदोंमें उपदेश किये गये)

आत्मज्ञानको सब धर्मोंसे ऊंचा धर्म माननेका तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य ब्रह्मचर्याश्रममें अनेकविध विद्याओंको सम्पादन करके गृहस्थाश्रममें यथाविधि प्रविष्ट होकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करताहुआ अन्तिम अवस्थातक पहुंच जाता है और सांसारिक पदार्थोंके रसोंको लेते लेते उसका अन्तरात्मा ऊभ जाता है और अपने समकक्ष पुत्र, पौत्रोंको अपना प्रतिनिधि बनाकर पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे ऊपर होजाता है, तब वह औपनिषद आत्मज्ञानका अधिकारी होता है, इससे पहले नहीं । क्योंकी पहले वह अपने धार्मिक कर्तव्योंको साङ्गोपाङ्ग पूरा किया हुआ नहीं है और नहीं उसका अन्तरात्मा सांसारिक पदार्थोंके रसोंको लेते लेते अलं अलं(बस बस) हुआ है और नहीं अपने समकक्ष पुत्र, पौत्रोंको अपना प्रतिनिधि बनाकर तीनों एषणाओंसे ऊपर हुआ है । जो मनुष्य अपने धार्मिक कर्तव्योंको सांगोपांग पूरा किया हुआ नहीं, जिसका अन्तरात्मा सांसारिक पदार्थोंके रसोंसे नीरस हुआ नहीं, जो पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाकी खींचसे ऊपर हुआ नहीं है, वह औपनिषद आत्मज्ञानका अधिकारी नहीं । यदि कोई अज्ञानवश निज धार्मिककृत्योंको सांगोपांग पूरा किये विना अपने आपको औपनिषद आत्मज्ञानका अधिकारी मानकर अकर्मण्य हुआ अलग होजाता है और लोकप्रतीतिके लिये अपना वेष पहलेसे कुछ विलक्षण बना लेता है, तो उसको तीनों एषणाओंकी खींचसे खींचे जाकर बलात् वापस आना पडता है । हिन्दुधर्माचार्योंने इस वापस आनेवाले मनुष्यापसदको पतित(गिरा हुआ) कहा है । जिस देशमें ऐसे मनुष्योंकी संख्या बढ़ जाती है, वह देश श्रीहीन होकर सभ्य देशोंकी कक्षासे गिर जाता है । मनुष्यको यावदायु किसी अवस्थामें भी अपना देश श्रीहीन करके सभ्यदेशोंकी कक्षासे गिराना उचित नहीं ।

औपनिषद आत्मज्ञान निःसन्देह अमृत है, परन्तु अनधिकारीके लिये वह पूरा विष है । जो लोग अधिकारी, अनधिकारीका विवेक किये विना उन बालकों, युवकों, स्त्रियों और गृहस्थोंको, जिन्होंने अभी अपने धार्मिक कृत्योंको सांगोपांग पूरा नहीं किया, औपनिषद आत्मज्ञानका उपदेश करते हैं और "अहं ब्रह्म अस्मि" का उद्दण्डभूत चढाकर सदाके लिये अकर्मण्य बनाते हैं, वे अपनेलिये ही नहीं, देश, जाति और समाजकेलिये भी अत्यन्त हानिकारक हैं । उन्हें ऐसा न करना चाहिये ।

जो भद्रपुरुष अपने सभी धार्मिक कृत्योंको सांगोपांग समाप्त किये हुए हैं, जिनके अन्तरात्मामें संसारिक पदार्थोंके रसका फुरना स्वप्नमें भी नहीं फुरता, जो तीनों एषणाओंकी खींचसें ऊपर हैं, जिनको अरण्य और घर, दोनों बराबर हैं, वे सच्चे औपनिषद आत्मज्ञानके अधिकारी हैं, वे इस सब धर्मोंसे ऊंचे धर्मके सचमुच पात्र हैं, वे महापुरुष हैं, वे सबको आदरणीय हैं, उनको सदा नमस्कार है ।

इस समय जितनी उपनिषदें पाई जाती हैं, उन सबमें प्रामाणिक उपनिषदें केवल दस १० हैं और इन्हींपर माननीय श्रीशङ्कराचार्यका भाष्य है । ईश, केन, कठ, प्रश्न,

मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक, ये इन प्रामाणिक दस उपनिषदोंके नाम हैं। कौषीतकी-ब्राह्मणोपनिषद्में इन्द्रप्रतर्दनसंवाद ऐतरेयोपनिषद्के समकक्ष, प्रामाणिक और पुरातन है। श्वेताश्वतर, कैवल्य और जाबालोपनिषद्के वाक्य भी शाङ्करभाष्यमें प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। इसलिये स्वाध्यायसंहितामें ईशादि दस उपनिषदोंका सङ्ग्रह करते हुए इन चारों उपनिषदोंका भी यथास्थान क्रमबद्ध सुसम्बद्ध सङ्ग्रह किया है।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें प्रधानतः कर्मका और उपनिषदोंमें प्रधानतः ज्ञानका उपदेश है। मनुष्यको अपने पूर्ण सुखकी प्राप्तिके लिये कर्म और ज्ञान, दोनों ही सदा अपेक्षित हैं। क्योंकि ज्ञानके विना केवल कर्मसे और कर्मके विना केवल ज्ञानसे मनुष्यको पूर्ण सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। बाह्य सुख(अभ्युदय सुख) और आन्तरिक सुख(नैःश्रेयस सुख), दोनोंको मनुष्यका पूर्णसुख कहते हैं। कर्म केवल बाह्य सुखकी प्राप्तिका और ज्ञान केवल आन्तरिक सुखकी प्राप्तिका साधन है, दोनों अलग अलग दोनोंकी प्राप्तिके साधन नहीं। मनुष्यका जन्म दोनों प्रकारके सुखकी प्राप्तिसे सार्थक(सफल) होता है, एकएककी प्राप्तिसे नहीं। जिस मनुष्यने अपने मनुष्यजन्मको सार्थक नहीं किया अथवा नहीं करना चाहता, उसको मनुष्यजन्मका मूल्य ज्ञात नहीं, वह ईश्वरीय पथसे सर्वथा अपरिचित है। मन्त्रोंमें और ब्राह्मणोंमें मनुष्यके लिये किसी अवस्थामें भी कर्मका त्याग नहीं कहा। उपनिषदोंमें जहां कर्मकी निन्दा की है और कर्मका त्याग कहा है, वहां सब प्रकारके कर्मकी निन्दा और सब प्रकारके कर्मका त्याग विवक्षित नहीं, किन्तु काम्यकर्मकी ही निन्दा और काम्यकर्मका ही त्याग अभिप्रेत है। क्योंकि हिन्दुधर्मशास्त्रमें ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, सबके लिये फलकी कामनाके विना केवल कर्तव्यबुद्धिसे अथवा लोकसङ्ग्रहबुद्धिसे यथाविधि कर्मका करना परमावश्यक कथन किया है, यही सर्वतन्त्रसिद्धान्त और यही परमपुनीत हिन्दुधर्मका रहस्य है। इसीका स्पष्टीकरण भगवद्गीतामें किया है। भगवद्गीताका पढ़नेवाला इस हिन्दुधर्मके रहस्यको बहुत शीघ्र पा लेता है, वह आत्मज्ञानके रंगमे रंगाजाकर कर्तव्य बुद्धिसे कर्मका करना सीख जाता है, ईश्वरभक्तिमें निमग्न हुआ दूसरेके सुख दुःखको अपना सुख दुःख बना लेता है। निःसन्देह व्यक्तिकी कर्तव्यता, आत्माकी स्वतन्त्रता और परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग मनुष्यको भगवद्गीतासे ही मिलता है। भगवद्गीता हिन्दुमात्रके लिये वैसे ही नित्य पाठ्य पुस्तक है, जैसे मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषदें पाठ्य पुस्तक हैं। इसलिये स्वाध्यायसंहितामें उपनिषदोंके पीछे भगवद्गीताका सङ्ग्रह किया है।

स्वाध्यायसंहिता चार काण्डोंमें विभक्त है। पहले काण्डका नाम **मन्त्रकाण्ड**, दूसरे काण्डका **ब्राह्मणकाण्ड**, तीसरे काण्डका **उपनिषत्काण्ड** और चौथे काण्डका **गीताकाण्ड** नाम है। मन्त्रकाण्डका अवान्तर विभाग अध्याय, सूक्त और मन्त्रमें, ब्राह्मणकाण्डका अवान्तर विभाग अध्याय, अनुवाक और कण्डिकामें, उपनिषत्काण्डका अवान्तर विभाग

अध्याय, खण्ड और श्रुतिमें, गीताकाण्डका अवान्तर विभाग अध्याय, वर्ग और श्लोकमें किया है। जैसे प्रतिअध्याय सूक्त, अनुवाक, खण्ड और वर्ग अनेक हैं, वैसे प्रतिसूक्त मन्त्र, प्रतिअनुवाक कण्डिका, प्रतिखण्ड श्रुतियां और प्रतिवर्ग श्लोक भी अनेक हैं। मन्त्रकाण्डमें दस १० अध्याय, ब्राह्मणकाण्डमें आठ ८ अध्याय, उपनिषत्काण्डमें अठारह १८ अध्याय और गीताकाण्डमें भी अठारह १८ अध्याय हैं। इन चारों काण्डोंके आरम्भ में एक उपक्रमाध्याय और अन्तमें एक उपसंहाराध्याय है। उपक्रमाध्यायमें स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ, शिवसङ्कल्प आदि अनेक कर्मकाण्डके उपयोगी मन्त्रोंका, उपसंहाराध्यायमें भाष्यसहित हिन्दुसंगठनके पांच ५ उद्देशों और बाईस २२ नियमोंका सङ्ग्रह है। उपक्रमाध्याय और उपसंहाराध्याय, दोनोंको मिलाकर "स्वाध्यायसंहिता" के सब अध्याय छप्पन ५६ हैं, छप्पन ५६ हैं॥

वैदिकमुनि.

ओ३म्

अथ स्वाध्यायसंहिताध्ययननामानि

श्रीमन्निखिलशास्त्रनिष्णात—पण्डित—स्वामी हरिप्रसाद-वैदिकमुनिजीकी बनाई हुई पुस्तकें.

१	वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः	५।)
२	न्यायसूत्रवैदिकवृत्तिः	२॥=)
३	वैशेषिकसूत्रवैदिकवृत्तिः	१॥=)
४	सांख्यसूत्रवैदिकवृत्तिः	१)
५	योगसूत्रवैदिकवृत्तिः	।॥)
६	वैदिकसन्ध्यावैदिकभाष्यम्	॥)

७	वेदसर्वस्व—प्रथमभाग	१)
८	सामवेद—भाषानुवादसहित	।)
९	हिन्दुजातिका परमधर्म	।-)
१०	वैदिकसन्ध्या, शिवसङ्कल्पमन्त्र, प्रार्थनामन्त्र तथा हवनमन्त्र—भाषानुवादसहित	-)
११	स्वाध्यायसंहिता	४।)

मिलनेका पता—

मैनेजर—महेशौषधालय,

पोस्टबॅक्स नं० १४

पापड़मण्डी—शाहआल्मी दरवाजा,

लाहौर, (पंजाब.)

स्वाध्यायसंहिता ।

उपक्रमाध्यायः ।

अथ स्वस्तिवाचनम् ।

ॐ स्वस्ति नो मिमीताम् अश्विना* भगः, स्वस्ति देवी अदितिः अनर्वणः† । स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः, स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥ १ ॥ (ऋ० ५।५१।११)

अर्थ—हे अनन्तशक्ति परमात्मा! आपकी अरोगता तथा नीरोगताकी बनानेवाली दोनों शक्तियें, हमारेलिये अरोगता तथा नीरोगताके प्रदानसे सुखको बनायें, आपकी ऐश्वर्य-शक्ति, हमारेलिये ऐश्वर्यके प्रदानसे सुखको बनाये, किसीसे न रुकनेवाली, तुझ देवकी अखण्डनीय देवजननी शक्ति, हमारेलिये देवतुल्य पुत्र पौत्र आदि प्रजाके प्रदानसे, सुखको बनाये । सबसे बलिष्ठ आपकी जगत्पोषक (निरन्तर जगत्को बढानेवाली) शक्ति हमें ऐश्वर्य तथा प्रजाकी प्रतिदिन पुष्टि(बढती)से सुखको दे, उत्तमविचारोंवाले सज्जन पुरुषोंके निवाससे युक्त हुए, द्युलोक और पृथिवीलोक हमें निर्भय निवाससे सुखको दें ॥१॥

स्वस्तये वायुम् उपब्रवामहै, सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः । बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये, स्वस्तये आदित्यासो भवन्तु नः ॥ २ ॥ (ऋ० ५।५१।१२)

अर्थ—हम सुखकेलिये वायुका आह्वान (बुलाना) करते हैं, हम चन्द्रमाका, जो रसप्रदानसे सब जगत्का पालक है, सुखकेलिये आह्वान करते हैं । हम वर्षा लानेवाली सब वायुओं(मरुतों)के सहित बडी बाणीके स्वामी मेघका, सुख(वृष्टिसुख)केलिये, आह्वान करते हैं, हे ईश्वर! आदित्य(सूर्य)के पुत्र-बारह मास (महीने) हमारे सुखकेलिये हों ॥ २ ॥

विश्वे देवाः नो अद्या स्वस्तये, वैश्वानरो वसुः अग्निः स्वस्तये । देवाः अवन्तु ऋभवः स्वस्तये, स्वस्ति नो रुद्रः पातु अंहसः ॥ ३ ॥ (ऋ० ५।५१।१३)

अर्थ—हे सबके नियन्ता! आपकी सब शक्तियें आज (अद्य) हमारे सुखकेलिये हों, आपकी अग्रणी ज्ञानशक्ति, जो धनकी देनेवाली और सबसे पहले सब मनु-

* "अश्विनौ वै देवानां भिषजौ" अश्वी निश्चय देवताओं में वैद्य हैं (तै० ब्रा० १६।१८)। † प्रथमार्थे पञ्चमी।

क्योंकी पूज्य देवता है, हमारे सुखकेलिये हो । शिल्पविद्यामें निपुण विद्वान् सुखकेलिये हमारी रक्षा करें और दुष्टोंको दण्ड देकर रुलानेवाले आप हमारे सुखकेलिये हमें पाप कर्मसें बचायें (रक्षा करें) ॥ ३ ॥

स्वस्ति मित्रावरुणा* स्वस्ति पथ्ये! रेवति! । स्वस्ति नः इन्द्रश्च अग्निश्च, स्वस्ति नो अदिते! †कृधि ॥ ४ ॥ (ऋ० ५।५१।१४)

अर्थ—हे जगदीश! दिनेमें कष्टोंसे रक्षाकरनेवाली और रात्रीमें कष्टोंका निवारण-करनेवाली आपकी दोनों शक्तियें, हमारेलिये सुखकारी हों, हे पुरुषार्थ-पथमें चलनेवालोंका हितकरनेवाली, और बहुत धनवाली ईश्वरीय शक्ति!, हमारेलिये सुखकारी हो । हे स्वामिन्! आपकी परम ऐश्वर्य-शक्ति और सबसे अग्रणी ज्ञान-शक्ति दोनों, हमारेलिये सुख-कारी हों, हे अक्षय-उपजाऊ-शक्तियोंवाली भारतभूमि! आप, हमारेलिये सुखको बनायें ॥४॥

स्वस्ति पन्थाम् अनुचरेम सूर्याचन्द्रमसौ इव । पुनर्ददता अघ्नता जानता सङ्गमेमहि ॥ ५ ॥ (ऋ० ५।५१।१५)

अर्थ—हे ईश्वर! हम सूर्य्य और चन्द्रमाकी नाई, आपके आज्ञापथमें सुखपूर्वक चलें । और बार बार देनेवाले, अपनेसे विमुखोंको भी न मारने(न दुःखदेने)वाले, तथा सबके हृदयकी जाननेवाले तुझ अन्तर्यामीके साथ, सम्बन्धवाले होवें ॥ ५ ॥

येभ्यो माता‡ मधुमत् पिन्वते पयः, पीयूषं द्यौः अदितिः अद्रिबर्हाः । उक्थशुष्मान् वृषभरान् स्वप्नसः, तान् आदित्यान् अनुमदा स्वस्तये ॥६॥ (ऋ० १०।६३।३)

अर्थ—भूमि माता जिनकेलिये मीठे दूधको बहाती है, और मेघोंसे बढा हुआ अपरिच्छिन्न (बेहद) द्यौ, अमृत(जल)को बरसता है । जो स्तुत्य (प्रशंसनीय) बलवाले हैं, जो धर्मके पालनेवाले हैं, जो अच्छे कर्मोंवाले हैं, उन अदिति(भारतभूमि)के पुत्रोंको, हम सुखकेलिये उत्साहित करते हैं ॥ ६ ॥

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद् देवासो अमृतत्वम् आनशुः । ज्योती-रथाः अहिमायाः अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥७॥ (ऋ० १०।६३।४)

अर्थ—सदा मनुष्यों'के हित'को देखनेवाले, अपने कर्तव्य कर्मोंमें निमेष न लेने-वाले (पलक न झपकनेवाले) जो विद्वान् अपनी योग्यतासे बडे अमरभाव(देवभाव)को प्राप्तहुए हैं । जो ज्ञान-ज्योति-रूप-रथवाले, सदा अचल कर्तव्यबुद्धिवाले, निष्पाप और प्रकाशमय लोकके शिखर पर वसते (रहते) हैं, वे हमारे सुखकेलिये हों ॥ ७ ॥

---

* "मैत्रं वै अहः वारुणी रात्रिः" (तै० ब्रा० १।७।१०) । † "इयं वै अदितिः" (तै० ब्रा० ३।२।६) (शत० १।३।४।१५) । ‡ "पृथिवी माता" (तै० ब्रा० ३।७।५) ।

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञम् आययुः अपरिह्वृताः दधिरे दिवि क्षयम् । तान् आविवास नमसा सुवृक्तिभिः महो आदित्यान् अदितिं स्वस्तये ॥ ८ ॥
(ऋ० १०।६३।५)

अर्थ—जो साम्राज्य सुखको प्राप्त, और अपने ज्ञान तथा कर्मोंसे बहुत बढेहुए, यज्ञमें आते हैं, और किसीसे नदबतेहुए, ज्ञानरूप ज्योतिसे चमकते लोकमें, निवास करते हैं । उन गुण तथा कर्मोंसे महान्, भारतभूमिके पुत्रों, और भारतभूमिको, अपने सुखकेलिये, नमस्कारसे और सुन्दर स्तुतियोंसे, हम यथायोग्य सेवते हैं ॥ ८ ॥

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ, विश्वे देवासो! मनुषो यति ष्ठन । को वो ऽध्वरं तुविजाताः! अरंकरद्, यो नः पर्षद् अति अंहः स्वस्तये ॥९॥
(ऋ० १०।६३।६)

अर्थ—हे मनुष्य के 'हितकारी' सब देवताओ! (ईश्वरीय शक्तियो!) आप जितने हैं, उन सब आपकी कौन स्तुति करता है, जिस(स्तुति)को आप सेवन करते (स्वीकार करते) हैं। हे बहुतों(सब)केलिये उत्पन्न (प्रकट)! आप सबकेलिये कौन ऐसे यज्ञको सजाता है, जो (यज्ञ) हमको सुखकेलिये पापसे बहुत दूर लेजाता है ॥ ९ ॥

येभ्यो होत्रां प्रथमाम् आयेजे मनुः समिद्धाग्निः मनसा सप्त होतृभिः । ते आदित्याः! अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥ १० ॥
(ऋ० १०।६३।७)

अर्थ—जिनकेलिये प्रदीप्त-अग्नि (आहिताग्नि) हुए मनुने श्रद्धा-भक्ति युक्त मनसे सात ऋषियोंके साथ सबसे मुख्य कर्म (श्रेष्ठतम कर्म) यज्ञको यथाविधि किया । हे अदिति-माताके पुत्रो! (भूमि माताका सब प्रकारके दुःखोंसे त्राणकरनेवाले सब देवताओ!) वे आप, हमें निर्भय आश्रय (रहने का घर) दें, और हमारे सुखकेलिये शुभ मार्गोंको सुगम करें ॥ १० ॥

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसः, विश्वस्य स्थातुः जगतश्च मन्तवः । ते नः कृताद् अकृताद् एनसः परि अद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥११॥ (ऋ० १०।६३।८)

अर्थ—जो उत्तम ज्ञानवाले, सब जगत्के राजा हैं, सब स्थावर और जंगमके जाननेवाले हैं । वे सब देवता आज हमको सुखकेलिये, कियेहुए (शरीर तथा बाणीसे कियेहुए) और न कियेहुए (शरीर तथा बाणीसे न कियेहुए, किन्तु केवल मनसे कियेहुए) पापसे पार करें ॥ ११ ॥

भरेषु इन्द्रं सुहवं हवामहे अंहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् । अग्निं मित्रं वरुणं* सातये भगं, द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥ १२ ॥ (ऋ० १०।६३।९)

---

* "मैत्रं वै अहः, वारुणी रात्रिः" (तै० ब्रा० १।७।१०)।

अर्थ—हम कुटुम्बके धारण पोषणकेलिये किये जानेवाले व्यवहारोंमें, परम ऐश्वर्य शक्ति परमात्माको पुकारते (प्रार्थनापूर्वक बुलाते) हैं, जो अच्छा पुकार सुननेवाला, पापसे छुडानेवाला, अच्छे कर्मोंवाला (पुण्यात्मा), देवों(विद्वानों)का हितकारी और सबका जननेवाला (उत्पन्न करनेवाला) है । हम परमात्माकी अग्रणी ज्ञान-शक्ति, दिनकी रक्षक शक्ति, रात्रीकी रक्षक शक्ति और ऐश्वर्य-शक्तिको अभ्युदयसुख-प्राप्तिकेलिये, हम द्युलोक, पृथिवीलोक और वर्षालानेवाली वायुओंको, सुखकेलिये, प्रार्थनापूर्वक बुलाते हैं ॥ १२ ॥

सुत्रामणं पृथिवीं द्याम् अनेहसं, सुशर्माणम् अदितिं सुप्रणीतिम् । दैवीं नावं स्वरित्राम् अनागसम्, अस्रवन्तीम् आरुहेमा स्वस्तये ॥ १३ ॥

(ऋ० १०।६३।१०)

अर्थ—संसारयात्रासागरसे अच्छी तारनेवाली (आसानीसे पार करनेवाली) भूमिकी नाई फैली हुई (बहुत लम्बी चौडी), द्युलोककी नाई प्रकाशसे युक्त (रोशन) अत्यन्त निर्मल, पूर्णरूपसे आश्रय देनेवाली (सुखयुक्त घर), न टूटनेवाली, अच्छीतरह बनी हुई, दिन और रात दोनों सुन्दर चप्पोंवाली, निर्दोष और न रिसने(चूने)वाली, देवताओंकी कृपा-रूपी नौका पर, सुखकेलिये हम चढते हैं ॥ १३ ॥

विश्वे यजत्राः ! अधिवोचत ऊतये, त्रायध्वं नो दुरेवायाः अभिह्रुतः । सत्यया वो देवहूत्या हुवेम, शृण्वतो देवाः ! अवसे स्वस्तये ॥ १४ ॥

(ऋ० १०।६३।११)

अर्थ—हे पूजनीय सब देवताओ ! हमें रक्षाकेलिये, अधीश्वर होनेका वचन (आशीर्वाद) दें, और प्रतिपल सब ओरसे पीडा देनेवाली दुर्गति(पराधीनता)से हमारी रक्षा करें । हम सच्ची, देवताओंके योग्य प्रार्थनाभरी पुकार(ऊंची वाणी)से, प्रार्थनाओंके सुननेवाले आप सबको, हे देवताओ ! अपनी रक्षाकेलिये, सुखकेलिये, बुलाते हैं ॥ १४ ॥

अप अमीवाम् अप विश्वाम् अनाहुतिम्, अप अरातिं दुर्विदत्राम् अघायतः । आरे देवाः ! द्वेषो अस्मद् युयोतन, उरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥ १५ ॥

(ऋ० १०।६३।१२)

अर्थ—हे देवताओ ! (ईश्वरीय शक्तियो !) आप, हमारे सब रोगोंको दूर करें, हमारी सब अप्रार्थना बुद्धि(नास्तिक्यबुद्धि)को दूर करें, हमारी अदानबुद्धि(लोभबुद्धि)को दूर करें, पापीकी दुष्टबुद्धिको हमसे दूर करें । हमसे सब द्वेषियोंको आडमें करें, दूर करें और हमको सुखकेलिये महान् (बहुत बडा) आश्रय (रहनेका सुन्दर घर) दें ॥ १५ ॥

अरिष्टः सः मर्तो विश्वः एधते, प्र प्रजाभिः जायते धर्मणः परि । यम् आदित्यासो ! नयथा सुनीतिभिः, अति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥ १६ ॥

(ऋ० १०।६३।१३)

अर्थ—वह हर एक मनुष्य, दुःखी (अधर्मसे पीडित) न हुआ, सर्व ओरसे वृद्धि (बढती)को प्राप्त होता है, और धर्म(धर्मानुष्ठान)से, पुत्र पौत्र आदि प्रजाओंके द्वारा सर्व प्रकारसे फलता है। हे अदिति(भूमि माता)के पुत्रो सब विद्वानो! जिसको आप धर्म और नीतिके मार्गोंमें विवेकपूर्वक चलनेवाली सुन्दर बुद्धियोंसे, सब बुराईओंको छुडाकर सुखकेलिये भलाईकी ओर लेजाते हैं ॥ १६ ॥

यं देवासो! अवथ वाजसातौ, यं शूरसाता मरुतो! हिते धने। प्रातर्यावाणं रथम् इन्द्र! सानसिम्, अरिष्यन्तम् आरुहेमा स्वस्तये ॥ १७ ॥

(ऋ० १०।६३।१४)

अर्थ—हे विद्वानों! आप, जिस(शरीररूपी रथ)की, अन्नों(भोग्य प्रदार्थों)की प्राप्तिकेलिये किये जानेवाले हरएक कर्ममें, 'अपने सदुपदेशोंसे रक्षा करते हैं, हे मरुतों (वर्षालानेवाली वायुओं)की नाई मापी हुई (एक जैसी) गति(चाल)वाले शूरवीरो! आप, जिस(शरीररूपी रथ)की, अनुकूल धने(धन आदि पदार्थों)की प्राप्तिकेलिये किये जानेवाले शूरोंसे सेवनीय युद्ध कर्ममें, अपनी उचित सहायतासे रक्षा करते हैं। हे परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा! जो रथ (शरीररूपी रथ) प्रतिदिन प्रातः (सवेरे) चलता (विहार, आहार और व्यवहारमें प्रवृत्त होता) है, सेवनयोग्य है, और शीघ्र पीडित होनेवाला (विगडनेवाला) नही है, हम आपके दिये उस रथपर (शरीररूपी रथपर) सुख(लोक परलोक सुख)केलिये चढते हैं ॥ १७ ॥

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्ति अप्सु वृजने स्वर्वति। स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु, स्वस्ति राये मरुतो! दधातन ॥ १८ ॥ (ऋ० १०।६३।१५)

अर्थ—हे मरुतोंकी नाई मापी हुई गतिवाले शूरो और वीरो! आपकी सहायतासे मार्गयोग्य भूमियों(उर्वर देशों)में और निर्जल भूमियों(मरु देशों)में, हमको सुख हो, जलमें (समुद्र-यात्रामें) और स्वर्गफलवाले युद्ध-कर्ममें हमको सुख हो (विजय-सुख प्राप्त हो)। हमारी पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्रियोंमें सुखको दें, और हमें धन प्राप्तिकेलिये किये गये कर्ममें सुखको दें ॥ १८ ॥

स्वस्तिः इद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वती अभि या वामम् एति। सा नो अमा सो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥१८॥ (ऋ० १०।६३।१६)

अर्थ—सुखकी देवी (लक्ष्मी देवी) जो सबसे श्रेष्ठ है, धनकी स्वामिनी है, और सदा सेवनयोग्य उद्योगी पुरुषकी ओर जाती है, अवश्य ही लम्बे मार्ग(लम्बी यात्रा)में हमारी रक्षा करे। वह हमारी घरमें और वह हमारी बनमें रक्षा करे, और देवताओंसे सुरक्षित हुई शुभागमनवाली होवे ॥ १८ ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो अदब्धासो अपरीतास उद्भिदः । देवा नो यथा सदम् इद् वृधे असन् अप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ २० ॥

(ऋ० १।८९।१)

अर्थ—हे ईश्वर! हमको सब ओरसे कल्याण करनेवाले ज्ञानबल और क्रियाबल प्राप्त हों, जिनको कोई न दबा सके, न रोक सके, और जो प्रतिदिन बढनेवाले हों। जिससे सब देवता सदा ही हमारी वृद्धिके लिये हों, और अप्रमादी हुए (प्रमाद न करते हुए) दिन दिन (हरएक दिन) हमारी रक्षाकरनेवाले हों ॥ २० ॥

देवानां भद्रा सुमतिः ऋजूयतां, देवानां रातिः अभि नो निवर्तताम् । देवानां सख्यम् उपसेदिमा वयं, देवाः नः आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥२१॥

(ऋ० १।८९।२)

अर्थ—सरल (सरल और सत्यभाषी) मनुष्यको चाहनेवाले देवताओं(सब देवताओं)की कल्याणी श्रेष्ठ बुद्धि (अनुग्रह बुद्धि) और देवताओंके दान, हमारे सामने (हमारी ओर) लौटें। हम देवताओंकी मित्रताको प्राप्त हों, और देवता हमारी आयुको चिरकाल जीनेके लिये बढायें ॥ २१ ॥

तम् ईशानं जगतः तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वम् अवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसाम् असद् वृधे, रक्षिता पायुः अदब्धः स्वस्तये ॥२२॥ (ऋ० १।८९।५)

अर्थ—हम उस ईश्वरको, जो जङ्गम और स्थावरका स्वामी है, और सदाचारियोंकी बुद्धिको ज्ञानसे तृप्तकरनेवाला (भरनेवाला) है, अपनी रक्षाकेलिये बुलाते हैं। जिससे वह सबका पालन पोषण करनेवाला, हमारे धनोंकी वृद्धि(बढती)केलिये रक्षाकरनेवाला हो, और किसीसे नदबनेवाला, हमारे सुखकेलिये रक्षक हो ॥ २२ ॥

स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नः तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिः दधातु ॥ २३ ॥ (ऋ० १।८९।६)

अर्थ—बढे हुए यशवाला इन्द्र (परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा) हमें सुखको दे, सब धनोंवाला पूषा (सबका पालन-पोषणकरनेवाला परमात्मा) हमें सुखको दे। अटूट तथा अकुण्ठित वज्र(असि)वाला तार्क्ष्य (भक्तोंकी रक्षाकेलिये तुरत पहुंचनेवाला ईश्वर) हमें सुखको दे, बडी वाणी(वेदवाणी)का स्वामी परमात्मा हमें सुखको दे ॥ २३ ॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः! भद्रं पश्येम अक्षभिः यजत्राः! । स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः॥२४॥ (ऋ० १।८९।८)

हे विद्वानो! हम आपके कल्याणकारी वचनको कानोंसे सुनें, हे यजनशीलो पितरो! हम आपके कल्याणकारी श्रेष्ठतम कर्मको आंखोंसे देखें। और कर चरण आदि दृढ अङ्गों,

तथा स्वस्थ शरीरोंसे आप दोनोंको प्रसन्न करते हुए हम, ईश्वरदत्त जो आयु है, उसको सुखपूर्वक भोगें ॥ २४ ॥

शतम् इत् नु शरदो अन्ति देवाः! यत्रा नः चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति, मा नो मध्या रीरिषत आयुः गन्तोः ॥२५॥ (ऋ० १।८९।९)

हे देवताओ! लगभग सौ ही तो बरस मनुष्यकी आयुके होते हैं, जिनमें आप हमारे शरीरोंको जीर्ण (अतिवृद्ध) करते हैं, और जिनमें हमारे पुत्र पिता (पुत्रोंवाले) हो जाते हैं, इसलिये आपने हमारी अपनेआप जानेवाली (बीतनेवाली) आयुको बीच में ही न काटना ॥ २५ ॥

स्वस्ति मात्रे, उत पित्रे नो अस्तु, स्वस्ति गोभ्यः, जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु, ज्योग् एव दृशेम सूर्यम् ॥२६॥ (अथर्व० १।३१।४)

अर्थ—हे देवताओ! हमारी माताको सुख हो, और हमारे पिताको सुख हो, हमारे घोडों और गौओंको, हमारे सब बान्धवोंको और सब जगत्को सुख हो। हमारा सब धन, बहुत बढा हुआ हो, और हम चिरकाल निश्चय सूर्यको देखें (जियें) ॥ २६ ॥

स्वस्ति नो दिवो अग्ने! पृथिव्याः, विश्वायुः धेहि यजथाय देव!। सचेमहि तव दस्म! प्रकेतैः उरुष्या णः उरुभिः देव! शंसैः ॥ २७॥ (ऋ० १०।७।१)

हे सबके अग्रणी (जगद्गुरु) परमात्मा! हमको, द्युलोकसे सुख हो, पृथिवी-लोकसे सुख हो, हे सबके उपास्य देव! हमको श्रेष्ठतम कर्म करनेकेलिये सब आयु (पूरी आयु) दें। हे दुष्टोंको दण्ड देनेवाले! हम आपको, उत्तम ज्ञानों (विचारों)के साथ सदा सेवें, हे देव! हमको, महान् प्रशंसनीय कर्मोंसे बडा बना ॥ २७ ॥

स्वस्ति नो अस्तु, अभयं नो अस्तु। नमो अहोरात्राभ्याम् अस्तु ॥ २८ ॥ (अथर्व० १९।८।७)

अर्थ—हे त्रिलोकीनाथ! हमको सुख हो, हमको अभय हो। और सुख तथा अभयके साथ बीतनेवाले दिनरातको नमस्कार हो ॥ २८ ॥

अथ शान्तिपाठः।

शं नः इन्द्राग्नी भवताम् अवोभिः, शं नः इन्द्रावरुणा रातहव्या। शम् इन्द्रासोमा सुविताय शं योः, शं नः इन्द्रापूषणा* वाजसातौ (ऋ० ७।३५।१)

अर्थ—हे इन्द्र! (परम ऐश्वर्य्यवान् परमात्मा!) आप और आपकी सबसे अग्रणी ज्ञानशक्ति, दोनों, अपनी रक्षाओं (रक्षाविधियों)से हमारी शान्ति (दुःखनिवृत्ति)केलिये

* "पुष्टिः वै पूषा" (शत० ३।१।४।१४)।

हों, हव्य पदार्थों(देवान्नों)के देनेवाले, आप और आपकी वर्षाकर्मसे अकाल आदि कष्टोंकी निवारण-शक्ति, दोनों, हमारी शान्ति(दुःखनिवृत्ति)केलिये हों । आप और आपकी आह्लाद-कारिणी (हर्षदायिनी) शक्ति, दोनों, हमारी शान्ति(दुःखनिवृत्ति)केलिये हों, हमारी प्रजाकेलिये रोगोंकी निवृत्ति और भयों(डरों)की अप्राप्ति हो, आप और आपकी पोषण-शक्ति, दोनों, भोग्य पदार्थों(अन्नों)की प्राप्तिकेलिये कियेगये उद्योगोंमें, हमारी शान्ति(दुःखनिवृत्ति)केलिये हों ॥ १ ॥

शं नो भगः शम् उ नः शंसो अस्तु, शं नः पुरन्धिः शम् उ सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः, शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २ ॥
(ऋ० ७।३५।२)

अर्थ—घरका ऐश्वर्य्य हमारी शान्तिकेलिये हो, और ऐश्वर्य्यसम्बन्धी लोगोंका प्रशंसावचन, हमारी शान्तिकेलिये हो, बड़ी-बुद्धिवाली स्त्री, हमारी शान्तिकेलिये हो, और सब धन हमारी शान्तिकेलिये हों । सत्य और जितेन्द्रियताका प्रशंसावचन हमारी शान्तिकेलिये हो, बहुत रूपोंसे प्रसिद्ध कर्मफलदाता ईश्वर, हमारी शान्तिकेलिये हो ॥२॥

शं नो धाता शम् उ धर्ता नो अस्तु, शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः, शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ३ ॥
(ऋ० ७।३५।३)

अर्थ—जगत्कर्ता हमारेलिये शान्तिकारक (दुःखोंकी निवृत्ति करनेवाला) हो, और जगत्+धर्ता हमारेलिये शान्तिकारक हो, बड़ी विस्तृत (लम्बी चौड़ी) भारत-भूमि, गेहूं जौ आदि सब अन्नोंके साथ हमारेलिये शान्तिकारक हो । महान् (बहुत बड़े) पृथिवीलोक और द्युलोक दोनों, हमारेलिये शान्तिकारक हों, पहाड़ हमारेलिये शान्तिकारक हों, विद्वानोंके आदरपूर्वक आह्वान (बुलावे) हमारेलिये शान्तिकारक हों ॥ ३ ॥

शं नो अग्निः ज्योतिरनीको अस्तु, शं नो मित्रावरुणौ* अश्विना† शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु, शं नः इषिरो अभिवातु वातः ॥४॥ (ऋ० ७।३५।४)

अर्थ—प्रकाशरूप मुखवाला अग्नि हमारेलिये शान्तिकारक हो, दिन और रात हमारेलिये शान्तिकारक हों, सूर्य्य और चन्द्रमा हमारेलिये शान्तिकारक हों । पुण्यात्माओंके पुण्यकर्म, हमारेलिये शान्तिकारक हों, गतिशील वायु हमारेलिये शान्तिकारक हुआ सामने बहे (चले) ॥ ४ ॥

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शम् अन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु । शं नः ओषधीः वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिः ‡अस्तु जिष्णुः ॥५॥ (ऋ० ७।३५।५)

* "अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ" (तै० सं० २।४।१०) । † सूर्याचन्द्रमसौ (निरु० १२।१) । ‡ "इमे वै लोकाः रजांसि" (शत० ६।३।१।१८) ।

अर्थ—पहले बुलावे (प्रार्थनापूर्वक आह्वान) में ही द्युलोक और पृथिवीलोक हमारेलिये शान्तिकारक हों, अन्तरिक्षलोक (आकाश) हमारे और हमारी दृष्टिकेलिये शान्तिकारक हो। सब ओषधियें (अन्न) और वृक्ष (वनस्पतियें) हमारेलिये शान्तिकारक हों, जयशील (सदा विजयी) लोकमात्र (सब जगत्) का स्वामी परमात्मा हमारेलिये शान्तिकारक हो ॥ ५ ॥

शं नः इन्द्रो वसुभिः देवो अस्तु, शम् आदित्येभिः वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिः जलाषः, शं नः त्वष्टा ग्नाभिः इह शृणोतु॥६॥ (ऋ० ७।३५।६)

अर्थ—परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा जो देवोंका देव है, धनवानोंके साथ हमारेलिये शान्तिकारक हो, दुःखोंकानिवारणकरनेवाला वरणीय परमात्मा, जो बडी प्रशंसा (तारीफ) वाला है अदिति माताके पुत्रों (भूमिमाताके पुत्रों) विद्वानोंके साथ हमारेलिये शान्तिकारक हो। दुष्टोंका रुलानेवाला ईश्वर जो जलकीनाईं शान्त (शान्तस्वरूप) है, दुष्टोंको रुलानेवाले वीरोंके साथ हमारेलिये शान्तिकारक हो, रूपका (पदार्थोंके सुन्दर आकारका) बनानेवाला परमात्मा रूपवती दिव्य स्त्रियोंके साथ हमारेलिये शान्तिकारक हुआ इन यज्ञकर्मोंमें, हमारी प्रार्थनाको सुने ॥ ६ ॥

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः, शं नो ग्रावाणः शम् उ सन्तु यज्ञाः ।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम् उ अस्तु वेदिः ॥ ७ ॥
(ऋ० ७।३५।७)

अर्थ—सोम (यज्ञिय सामग्री) हमारी शान्तिकेलिये हो, मन्त्र (यज्ञमें बोलाजानेवाला मन्त्रसमूह) हमारी शान्तिकेलिये हो, सोमकूटने (यज्ञिय सामग्री तेयार करने) के पत्थर (सिल वट्टा) हमारी शान्तिकेलिये हो, और यज्ञ (सोमयज्ञ हविर्यज्ञ महायज्ञ) हमारी शान्तिकेलिये हों। यज्ञस्तम्भों (यज्ञस्तम्भों तथा विजयस्तम्भों) के माप (यज्ञस्तम्भों तथा विजयस्तम्भोंका मापकर गाडना) हमारी शान्तिकेलिये हों, कुशा (वेदि पर बछानेका घास) हमारी शान्तिकेलिये हो और वेदि (यज्ञभूमि) हमारी शान्तिकेलिये हो ॥ ७ ॥

शं नः सूर्यः उरुचक्षाः उदेतु, शं नः चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । शं नः पर्वताः ध्रुवयो भवन्तु, शं नः सिन्धवः शम् उ सन्तु आपः ॥ ८ ॥ (ऋ० ७।३५।८)

अर्थ—बडीदृष्टिवाला सूर्य्य हमारेलिये शान्तिकारक हुआ उदय हो, चारों दिशायें और उपदिशायें हमारेलिये शान्तिकारक हों। निश्चल (अपनी मर्य्यादामें स्थित) हुए पर्वत हमारेलिये शान्तिकारक हों, सिन्धु आदि नदियें हमारेलिये शान्तिकारक हों, और सब जल हमारेलिये शान्तिकारक हों ॥ ८ ॥

शं नो अदितिः भवतु व्रतेभिः, शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः । शं नो विष्णुः शम् उ पूषा नो अस्तु, शं नो भवित्रं शम् उ अस्तु वायुः ॥९॥

अर्थ—भूमि अपने कर्मों (अन्न उत्पन्नकरनेवाली अपनी शक्तियों) के साथ हमारेलिये शान्तिकारक हो, सत्कार (पूजा) केयोग्य वर्षा लानेवाली वायुएं हमारेलिये शान्तिकारक हों। सूर्य्य हमारेलिये शान्तिकारी हो और रसप्रदानसे ओषधियों (अन्नों) का पुष्टकरनेवाला=चन्द्रमा हमारेलिये शान्तिकारी हो, जल हमारेलिये शान्तिकारी हो और वायु हमारेलिये शान्तिकारी हो ॥ ९ ॥

शं नो देवः सविता त्रायमाणः, शं नो भवन्तु उषसो विभातीः। शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः, शं नः क्षेत्रस्य पतिः अस्तु शम्भुः ॥ १० ॥
(ऋ० ७।३५।१०)

अर्थ—प्रकाशमान सविता (उदयकालका सूर्य्य) सब प्रकारसे (भय और रोगोंसे) रक्षाकरताहुआ हमारेलिये शान्तिकारी हो, चमकती हुई प्रभातें हमारेलिये शान्तिकारी हों। वर्षासे तृप्तकरनेवाला मेघ हमारेलिये, सब प्रजाकेलिये, शान्तिकारी हो, सुखका स्रोत खेतका स्वामी (किसान) हमारेलिये शान्तिकारी हो ॥ १० ॥

शं नो देवाः विश्वदेवाः भवन्तु, शं सरस्वती सह धीभिः अस्तु। शम् अभिषाचः शम् उ रातिषाचः, शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥११॥
(ऋ० ७।३५।११)

अर्थ—अपनेअपनेअसाधारणगुणोंसेचमकनेवाले सबविद्वान् हमारेलिये शान्तिकारी हों, विद्यादेवी अनेकविधक्रियाओंके साथ हमारेलिये शान्तिकारी हो। सब ओरसे सबप्रजाके साथ सम्बन्ध रखनेवाले राष्ट्रीयपुरुष हमारेलिये शान्तिकारी हों, और देश तथा जातिकेलिये दानक्रियाकेसाथ सम्बन्ध रखनेवाले दानी पुरुष हमारेलिये शान्तिकारी हों, द्युलोकमें होनेवाले, पृथिवीलोकमें होनेवाले, सब पदार्थ हमारेलिये शान्तिकारी हों, और अन्तरिक्ष (मध्यमलोक) में होनेवाले सब पदार्थ हमारेलिये शान्तिकारी हों ॥ ११ ॥

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु, शं नो अर्वन्तः शम् उ सन्तु गावः। शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः, शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥१२॥ (ऋ० ७।३५।१२)

अर्थ—सत्य (सच) के पालनेवाले (सदा सत्य बोलनेवाले) स्त्रीपुरुष हमारेलिये शान्तिकारी हों, घोडे हमारेलिये शान्तिकारी हों, और गौएं हमारेलिये शान्तिकारी हों। अच्छी वस्तुओंके बनानेवाले कुशलहस्त (शिल्पक्रियाओंमें चतुर) शिल्पी हमारेलिये शान्तिकारी हों, देशके वृद्ध और विद्वान् जन, हमारी प्रार्थनाओं पर पधारकर हमारेलिये शान्तिकारी हों ॥ १२ ॥

शं नो अजएकपाद् देवो अस्तु, शं नो अहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः। शं नो अपांनपात् पेरुः अस्तु, शं नः पृश्निः भवतु देवगोपा ॥१३॥ (ऋ० ७।३५।१३)

अर्थ—अजन्मा हुआ एक पाद (अंश) से सबमें पूर्ण, देवोंका देव परमात्मा हमारेलिये शान्तिकारी हो, अचल (निर्विकार) हुआ सबका मूल (आदिकारण) परमात्मा, हमारे-

लिये शान्तिकारी हो, जलका समुद्र सूर्य्य हमारेलिये शान्तिकारी हो । सबरोगोंसे पार-करने(बचाने)वाला जलकापौत्र (नाती) अग्नि हमारेलिये शान्तिकारी हो, विद्वानोंसे सुरक्षित भूमि हमारेलिये शान्तिकारी हो ॥ १३ ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः, शं नो भवतु अर्य्यमा । शं नः इन्द्रो बृहस्पतिः, शं नो विष्णुः उरुक्रमः ॥ १४ ॥ (ऋ० १।९०।९)

अर्थ—सबसे स्नेह (प्रेम) करनेवाला परमात्मा हमारेलिये शान्तिकारी हो, कष्टों-(दुःखों)का निवारणकरनेवाला ईश्वर हमारेलिये शान्तिकारी हो, कर्मफलदाता हमारेलिये शान्तिकारी हो। परम ऐश्वर्य्यवान् हमारेलिये शान्तिकारी हो, ब्रह्माण्डका स्वामी हमारेलिये शान्तिकारी हो, बड़ी पहुंचवाला व्यापक परमात्मा हमारेलिये शान्तिकारी हो ॥ १४ ॥

शं नो वातः पवतां, शं नः तपतु सूर्य्यः । शं नः कनिक्रदद् देवः, पर्जन्यो अभिवर्षतु ॥ १५ ॥ (यजु० ३६।१०)

अर्थ—वायु हमारेलिये शान्तिकारी हुआ बहे (चले), सूर्य्य हमारेलिये शान्तिकारी हुआ तपे । अत्यन्त ऊंचा शब्द करताहुआ (गर्जताहुआ) बड़ीचमकवाला मेघ हमारेलिये शान्तिकारीहुआ सबओर बरसे ॥ १५ ॥

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी, शान्तम् इदम् उ अन्तरिक्षम् । शान्ताः उदन्वतीः आपः, शान्ताः नः सन्तु ओषधीः ॥ १६ ॥ (अथर्व० १९।९।१)

अर्थ—द्युलोक शान्तिकारी हो, पृथिवीलोक शान्तिकारी हो और यह मध्यमलोक शान्तिकारी हो । वृष्टिद्वारा प्राप्तहुए समुद्रकेपानी हमारेलिये शान्तिकारी हों, गेहूं जौ चावल आदि सब अन्न हमारेलिये शान्तिकारी हों ॥ १६ ॥

शान्तानि पूर्वरूपाणि, शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् । शान्तं भूतं च भव्यं च, सर्वम् एव शम् अस्तु नः ॥ १७ ॥ (अथर्व० १९।९।२)

अर्थ—हमारे कर्मोंके पूर्वरूप (इरादे) शान्तिकारी हों, हमारा पूरा कियाहुआ तथा पूरा न कियाहुआ कर्म, शान्तिकारी हो । हमारा भूत और भविष्यत् दोनों शान्तिकारी हों, हमारा सब ही कुछ शान्तिकारी हो ॥ १७ ॥

अहानि शं भवन्तु नः, शं रात्रीः प्रतिधीयताम् । (यजु० ३६।११) **इन्द्रो विश्वस्य राजति, शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १८ ॥** (यजु० ३६।८)

अर्थ—दिन हमारेलिये शान्तिकारी हों, रातें हमारेलिये शान्तिकारी हुई बीतें । परम-ऐश्वर्य्यवान् परमात्मा जो सबका राजा है, हमारे दोपायोंकेलिये शान्तिकारी हो, हमारे चौपायोंकेलिये शान्तिकारी हो ॥ १८ ॥

यानि कानि चित् शान्तानि, लोके सप्त ऋषयो विदुः । सर्वाणि शं भवन्तु मे, शं मे अस्तु अभयं मे अस्तु ॥ १९ ॥ (अथर्व० १९।९।१३)

अर्थ—लोकमें जो कोई भी शान्तिके साधन कर्म, सातों ऋषयों (हमारेपूर्वज सातों ऋषयों)ने जाने हैं (जानकर निश्चय कियेहैं), वे सब, यथाविधि कियेहुए हमारेलिये शान्तिकारी हों, हमको शान्ति हो, हमको सदा अभय हो ॥ १९ ॥

यद् इह घोरं यद् इह क्रूरं यद् इह पापं, तत् शान्तं, तत् शिवं, सर्वम् एव शम् अस्तु नः ॥ २० ॥ (अथर्व० १९।९।१४)

अर्थ—जो यहां शास्त्रविरुद्ध (विषयसेवन आदि) कर्म, जो यहां निर्बल-ताडन-मारन आदि कर्म और जो यहां अनृतभाषण (झूठ बोलना) आदि कर्म, हमने किया है, वह सब क्षमाकियाहुआ हो, वह सब मङ्गलरूप हो (अमङ्गलरूप न हो), वह सब ही हमारेलिये शान्तिकारी हो ॥ २० ॥

द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः विश्वे देवाः शान्तिः ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः, शान्तिः एव शान्तिः, सा मा शान्तिः एधि, सा मा शान्तिः एधि ॥ २१ ॥ (यजु० ३६।१७)

अर्थ—द्यौ शान्तिकारी हो, अन्तरिक्ष (आकाश) शान्तिकारी हो, पृथिवी शान्तिकारी हो, जल शान्तिकारी हों, अन्न शान्तिकारी हों, वृक्ष शान्तिकारी हों, सब विद्वान् शान्तिकारी हों, वेदआदि सब ही सत्यविद्यायें शान्तिकारी हों, सब वस्तु जो विद्यासे जानीजाती है, शान्तिकारी हो, निरन्तर शान्ति ही शान्ति हो, वह निरन्तर शान्ति मुझे हो, वह निरन्तर शान्ति मुझे हो ॥ २१ ॥

अथ स्वाध्यायमाहात्म्यम्।

यः पावमानीः अध्येति ऋषिभिः संभृतं रसम्। सर्वं सः पूतम् अश्नाति स्वदितं मातरिश्वना* ॥ १ ॥ (ऋ० ९।६७।३१)

अर्थ—जो (स्त्रीपुरुष) पवमान (परमपवित्र) परमात्माकी ऋचाओंको (उपदेशोंसे-पूर्ण-मन्त्रों कण्डिकाओं श्रुतियों श्लोकों और सूत्रोंको) पढताहै, जो (ऋचायें) सब विद्याओं- (मन्त्रों ब्राह्मणों उपनिषदों स्मृतियों और दर्शनों)का सार हैं और ऋषियों (मुनियों)ने जिनका संहितारूपमें सङ्ग्रह किया है। वह (पढनेवाला स्त्रीपुरुष) पवित्र (अमृत) सब अन्न खाता है, जो सबके प्राण (समष्टिजीवन) परमात्माने अच्छा खानेयोग्य बनाया है ॥१॥

पावमानीः यो अध्येति ऋषिभिः संभृतं रसम्। तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिः मधूदकम् ॥ २ ॥ (ऋ० ९।६७।३२)

अर्थ—पवमान-परमात्माकी ऋचाओंको (मन्त्रों कण्डिकाओं श्रुतियों श्लोकों और

---

*"प्राणमाहुः मातरिश्वानम्" (अथर्व० ११।४।१५)

सूत्रोंको) जो (स्त्रीपुरुष) पढताहै, जो (पावमानी ऋचायें) सब विद्याओं(मन्त्रों ब्राह्मणों उपनिषदों स्मृतियों और दर्शनों)का सार हैं, और ऋषियों(मुनियों)ने जिनका संहिता रूपमें सङ्ग्रह किया है । उस (स्त्री पुरुष)केलिये वाग् देवता (विद्याशक्ति ईश्वर)दूध घी शहत और शहतसमान मधुर शीतल जल दोहती (प्रतिदिन उसको दूध आदि सब पदार्थ पूर्णरूपसे देती) है ॥ २ ॥

पावमानीः स्वस्त्ययनीः, सुदुघाः हि घृतश्चुतः । ऋषिभिः संभृतो रसः, ब्राह्मणेषु अमृतं हितम् ॥ ३ ॥ (सा० उ० १०।७।३)

अर्थ—पवमान(परमात्मा)की ऋचायें (मन्त्र कण्डिका श्रुतियें श्लोक और सूत्र) निश्चय कल्याणकी देनेवाली सुन्दरदोहों(पदार्थों)की दोहनेवाली और घीआदि स्निग्ध पदार्थोंकी झरनेवालीं हैं । जो सब विद्याओं(मन्त्रों ब्राह्मणों उपनिषदों स्मृतियों और दर्शनों)का सार हैं, और जिनका ऋषियों(मुनियों)ने संहितारूपमें सङ्ग्रहकियाहै और यह अमृत (रस) स्वाध्यायकरनेवाले स्त्रीपुरुषोंमें धरोहड के तौरपर रखागयाहै ॥ ३ ॥

येन देवाः पवित्रेण आत्मानं पुनते सदा । तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥ ४ ॥ (सा० उ० १०।७।५)

अर्थ—जिस पवित्र कर्म(पवित्रकरनेवाले स्वाध्याय कर्म)से विद्वान् आत्माको सदा (प्रतिदिन) पवित्र करते हैं। उस अनन्तधारोंवाले (पदार्थोंकीप्राप्तिके अनेक-द्वारोंवाले) स्वाध्यायकर्मसे पावमानी ऋचायें (परमपवित्रपरमात्माकेउपदेशसेपूर्ण मन्त्र कण्डिका श्रुतियें श्लोक और सूत्र) हमको पवित्र करें ॥ ४ ॥

पावमानीः स्वस्त्ययनीः ताभिः गच्छति नान्दनम् । पुण्यान् च भक्षान् भक्षयति, अमृतत्वं च गच्छति ॥ ५ ॥ (सा० उ० १०।७।६)

अर्थ—पावमानी ऋचायें कल्याणकी देनेवाली हैं, उनसे (उनके स्वाध्यायसे) स्त्री पुरुष आनन्दकेस्थान(सबओरसेप्रफुल्लित गृहस्थाश्रम)को प्राप्त होता है। और यावदायु (जीवनभर) उत्तम भोगोंको भोगता है, और अन्तमें अमृतत्व(मोक्ष)को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अथ स्वाध्यायाङ्गप्रार्थना ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव! वयुनानि विद्वान् । युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनो, भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१॥ (ऋ० १।१८९।१)

अर्थ—हे सबकेअग्रणी! (जगद्गुरु परमात्मा!) हमको धन(लोकसुख तथा परलोक-सुख)केलिये शुभमार्गसे(नेकीके रस्तेसे)चला, हे देवोंके देव! हमारे सब कर्मों और अध्यवसायों(निश्चयों)का तू जाननेवाला है। हमसे कुटिल (शुभ मार्गपर चलनेमें रुकावट डालनेवाले बडे जबरदस्त) पापको अलग कर, हम बहुत बहुत (बार बार) तुझे नम्रवचन (प्रार्थनावाक्य) भेंट करते हैं ॥ १ ॥

अग्नेः वयं प्रथमस्य अमृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम । सः नो मह्यै अदितये पुनः दात्, पितरं च दृशेयं मातरं च ॥ २ ॥ (ऋ० १।२४।२)

अर्थ—हम देवताओंमें प्रधान देवोंके देव सबके अग्रणी जगद्गुरु परमात्माका, सुन्दर नाम वारंवार उच्चारणकरते हैं । वह हमें वन्दनीय (पूजार्ह) मातृभूमि (भारतवर्ष)को फिर दे, जिससे हम जन्मदाता पिताको और भोगदाता माताको देखें ॥ २ ॥

प्रातः देवीम् अदितिं जोहवीमि, मध्यंदिने उदिता सूर्य्यस्य । राये मित्रा-वरुणा* सर्वताता ईडे तोकाय तनयाय शंयोः ॥ ३ ॥ (ऋ० ५।६९।३)

अर्थ—मैं देवजननी भूमि(भारतभूमि)को प्रभातसमय वारंवार पुकारताहूं, मैं सूर्य्यके उदयकालमें मध्याह्नकालमें और सायंकालमें वारंवार पुकारताहूं । मैं सबकेजनक दिन और रातकी धनकेलिये पुत्रकेलिये पौत्रकेलिये सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिकेलिये स्तुति करताहूं ॥ ३ ॥

अग्निः मा गोप्ता परिपातु विश्वतः, उद्यन् सूर्य्यो नुदतां मृत्युपाशान् । व्युच्छन्तीः उषसः पर्वताः ध्रुवासः, सहस्रं प्राणाः मयि आयतन्ताम् ॥४॥ (अथर्व० १७।१।३०)

अर्थ—घरका रक्षक अग्नि (अग्निहोत्रकी अग्नि) मेरी सबभयोंसे रक्षाकरे, उदय होताहुआ सूर्य्य मृत्युकीफांसों(रोगों)को दूरकरे । रात्रीके अन्धेरेको निवृत्त करती हुई उषायें (प्रभातें) और अपनी मर्य्यादामें स्थित हुए पर्वत, मेरे स्वास्थ्यको बढायें और हजार गुना शक्तिवाली हुई इन्द्रियें मुझमें (मेरे शरीरमें) स्वस्वविषयग्रहणरूप-चेष्टाको करें ॥ ४ ॥

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये, साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः† श्रोत्रं प्रपद्ये । वाग्+ओजः सह+ओजः, मयि प्राणापानौ ॥ ५ ॥ (यजु० ३६।१)

अर्थ—हे ईश्वर! मैं उच्चारणपटुवागिन्द्रियसे ऋचामन्त्रोंको प्राप्तहोवूं, अव्यग्र मन-(विषयान्तरमें न लगेहुए मन)से यजुर्मन्त्रोंको प्राप्तहोवूं, स्वस्थ-श्वास-प्रश्वाससे साममन्त्रोंको प्राप्तहोवूं, आरात्-श्रुति(दूरसे समीपसे सुननेकी शक्तिवाले)कानोंसे अथर्वमन्त्रोंको प्राप्तहोवूं । वाग्इन्द्रिय और वाग्इन्द्रियका तेज (वाग्मिता), बल और बलका तेज (प्रगल्भता) मुझमें हो, प्राण (श्वास) और अपान (प्रश्वास) स्वस्थ मुझमें हों ॥ ५ ॥

अथ स्वाध्यायकर्मसमर्पणम् ।

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ १ ॥ (ऋ० १०।१४।१५)

अर्थ—यह (स्वाध्यायकर्म) नमस्कारसहित अर्पण है उन सब ऋषियोंको, जो हमारे पूर्वज हैं, और जो उनसे भी पूर्व (उनके भी पूर्वज) हैं, और जो वैदिक-पथ(पन्थ) के प्रवर्तक हैं ॥ १ ॥

---

*"अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ" (तै० सं० २।४।१०)। †"चक्षुः अङ्गिरसोऽभवन्" (अथर्व० १०।७।१८-३४)।

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः, श्यावाश्वः सोभरिः अर्चनानाः।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः अत्रिः, अवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥ २॥
(अथर्व० १८।३।१५)

अर्थ—कण्व कक्षीवान् पुरुमीढ अगस्त्य श्यावाश्व सोभरि अर्चनाना विश्वामित्र, जमदग्नि अत्रि कश्यप वामदेव यह सब स्वाध्यायकर्मसे प्रसन्नहुए हमारी रक्षाकरें॥ २॥

विश्वामित्र! जमदग्ने! वसिष्ठ! भरद्वाज! गोतम! वामदेव!। शर्दिः नो अत्रिः अग्रभीत् नमोभिः, सुशंसासः पितरो मृडता नः॥३॥ (अथर्व० १८।३।१६)

अर्थ—हे विश्वामित्र! हे जमदग्नि! हे वसिष्ठ! हे भरद्वाज! हे गोतम! हे वामदेव! आप सब और बलवान् अत्रि नमस्कार वचनोंसे उपस्थित हम सबको ग्रहण करें (अपनायें), और भलीप्रशंसावाले सब वृद्ध तथा विद्वान् प्रसन्नहुए हमको सुख दें (हमारे लिये सुखकारी हों)॥ ३॥

अथ शिवसङ्कल्पः।

यत् जाग्रतो दूरमुदेति दैवं, तदु (यत) उ सुप्तस्य तथैवं एति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिः एकं, तत् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ १॥ (यजु० ३४।१)

अर्थ—जो दिव्य (अलौकिक) शक्तिवाला (मन) जागते हुए पुरुषका दूर (शरीरसे बाहर) जाता है, और जो (वह) सोयेहुए पुरुषका वैसे ही (जैसे गयाथा वैसेही) लौट आता है। जो दूरपहुंचनेवाला और ज्योतियों(इन्द्रियों)में अद्वितीय ज्योति(इन्द्रिय)है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पवाला हो॥ १॥

येन कर्माणि अपसो मनीषिणः यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदु अपूर्वं यक्षम् अन्तः प्रजानां, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२॥ (यजु० ३४।२)

अर्थ—जिस(मन)से कर्मशील बुद्धिमान् यज्ञमें और धैर्य्यवाले शूर वीर युद्धों तथा राजसभाओंमें, अनेकविध कर्मोंको करतेहैं। जो सबप्राणियोंके भीतर अद्भुत (आश्चर्य्य) पूज्य वस्तु है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पवाला हो॥ २॥

यत् प्रज्ञानम् उत चेतो धृतिश्च, यत् ज्योतिः अन्तः अमृतं प्रजासु। यस्मात् न ऋते किं चन कर्म क्रियते, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३॥
(यजु० ३४।३)

अर्थ—जो ज्ञानका उत्तम साधन और चिन्तन (स्मरण) शक्तिवाला है, और जिसमें अगाध धैर्य्य है, जो सब प्राणियोंमें भीतर एक अमर ज्योति (प्रकाश) है, जिसके बिना कोई भी कर्म नही कियाजाता, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पवाला हो॥ ३॥

येन इदं भूतं भुवनं भविष्यत्, परिगृहीतम् अमृतेन सर्वम्। येन यज्ञः तायते सप्तहोता, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४॥ (यजु० ३४।४)

अर्थ—जिस अमर ज्योतिने यह सब भूत (अतीत) भविष्यत् और वर्तमान जगत् सबओरसे पकडाहुआ है, और जो सात होताओं(आत्माग्निमें बाह्यविषयोंकी आहुति देनेवाली दो आंख दो कान दो नासिका और जिह्वा, इन सात इन्द्रियों)वाले शरीरयज्ञको पूराकरता है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पवाला हो ॥ ४ ॥

यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन्, प्रतिष्ठिताः रथनाभौ इवाराः। यस्मिन् चित्तं सर्वम् ओतं प्रजानां, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥ (यजु० ३४।५)

अर्थ—जिस(मन)में सब ऋचायें सब साम, जिसमें सब यजुर्मन्त्र, रथ(रथचक्र) की नाभिमें अरोंकीनांई ठहरेहुए हैं (ऋग्वेद आदि सब विद्यायें जिसमें भरी हुई हैं)। जिसमें प्राणियोंका सब ज्ञान प्रोयाहुआ है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पवाला हो ॥ ५ ॥

सुषारथिः अश्वान् इव यत् मनुष्यान्, नेनीयतेऽभीशुभिः वाजिनः इव। हृत्प्रतिष्ठं यद् अजिरं जविष्ठं, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥(यजु० ३४।६)

अर्थ—अच्छा सारथि जैसे असील घोडोंको इशारेसे, जैसे बलवान् (तेज) घोडोंको रासोंसे चलनेके मार्गोंमें लेजाता है, वैसे जो (मन) मनुष्योंको सङ्कल्पसे, इन्द्रियोंसे, सांसारिक विषयोंमें लेजाता है। जो हृदयमें स्थित है, कभी बूढा नही होता, और अत्यन्त वेगवान् है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पवाला हो ॥ ६ ॥

अथ गुरुमन्त्रः ।

ओ३म् भूः भुवः स्वः, तत् सवितुः वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥ (यजु० ३६।३)

अर्थ—ईश्वर सत् चित् आनन्द है, हम उस देवोंके देव जगत्स्रष्टा ईश्वरके सबसे श्रेष्ठ तेजोमय (प्रकाशमय) स्वरूपका चिन्तन(हृदयमें ध्यान)करतेहैं। जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरे (भले कर्मोंमें लगाये) ॥ १ ॥

अथ गुरुमन्त्राङ्गोपस्थानम् ।

उद् वयं तमसः परि ज्योतिः पश्यन्तः उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्य्यम्, अगन्म ज्योतिः उत्तमम् ॥ १ ॥ (ऋ० १।५०।१०)

अर्थ—हम अज्ञानदृष्टिसे उत्कृष्ट (रमणीय) प्रकृति और प्रकृतिकार्य्य जगत् से परे अतिउत्कृष्ट (श्रेष्ठतर) चैतन्यज्योति(जीवात्मा)को देखतेहुए (साक्षात्करतेहुए) अत्यन्त उत्कृष्ट (श्रेष्ठतम) चैतन्यज्योतिको प्राप्तहुएहैं, जो देवोंका देव और सूरियों(विद्वानों)से प्राप्तहोनेयोग्य है ॥ १ ॥

उदू उ त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय* सूर्यम् ॥ २ ॥
(ऋ० १।५०।१)

अर्थ—निःसन्देह उस सबकेजाननेवाले (सर्वज्ञ) सबमें अन्तर्य्यामीरूपसे द्योतमान और सूरियों(विद्वानों)सेप्राप्तहोनेयोग्यको ज्ञानीपुरुष सबके देखनेकेलिये ऊंचा करते हैं ॥२॥

चित्रं देवानाम् उद्+अगात् अनीकं, चक्षुः मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः । आप्राः द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं, सूर्य्यः आत्मा जगतः तस्थुषश्च ॥३॥ (ऋ० १।११५।१)

अर्थ—आश्चर्यरूप विद्वानों(उपासकों)का बल, सूर्य्य चन्द्रमा और अग्निका पथदर्शक, हमारे भीतर और बाहर प्रकट हुआ है । उसने अपने प्रकाशसे द्युलोक पृथिवीलोक और अन्तरिक्षलोकको भरदिया है, वह सूरियों(विद्वानों)से प्राप्तहोनेयोग्य जंगमका और स्थावरका आत्मा (जीवन) है ॥ ३ ॥

तत् चक्षुः देवहितं पुरस्तात् शुक्रम् उच्चरत् । पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात् ॥ ४ ॥ (यजु० ३६।२४)

अर्थ—वह सबका पथदर्शक, विद्वानोंका प्यारा, परम पवित्र, सामने उदय को प्राप्त-(प्रकटकीनाईस्थित)है, हे देव ! हम आपकी कृपासे सौ बरस देखें, सौ बरस जीवें, सौ बरस सुनें, सौ बरस पढें पढायें, सौ बरस अदीन होवें (अदीन हुए जीवें), और सौ बरस से भी बहुतअधिक अदीनहुए जीवें ॥ ४ ॥

अथ नमस्कारः ।

नमः शंभवाय च मयोभवाय च, नमः शंकराय च मयस्कराय च । नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ १ ॥ (यजु० १६।४१)

अर्थ—नमस्कार है सांसारिक सुखके स्रोतको और नमस्कार है मोक्षसुखके स्रोतको, नमस्कार है शान्तिसुखके दाताको और नमस्कार है मोक्षसुखके दाताको । नमस्कार है कल्याण(सुख)स्वरूपको और नमस्कार है परम-कल्याणस्वरूपको ॥ १ ॥

नमः सायं नमः प्रातः, नमो रात्र्या नमो दिवा । भवाय च शर्वाय च, उभाभ्याम् अकरं नमः ॥ २ ॥ (अथर्व० ११।२।१६)

अर्थ—नमस्कार है सायंकालमें, नमस्कार है प्रातःकालमें, नमस्कार है रात्रीमें, नमस्कार है दिनमें । जगत्केउत्पादकको और जगत्केसंहारकको मैं दोनोंहाथोंसे नमस्कार करताहूं ॥ २ ॥

नमस्ते भगवन् ! अस्तु, नमस्ते भगवन् ! अस्तु ॥ ३ ॥ (यजु० ३६।२१)

अर्थ—हे परमपूज्य ! तुझको नमस्कार है, हे परमपूज्य तुझको नमस्कार है ॥ ३ ॥
(९।७६)

इति उपक्रमाध्यायः ।

---

*षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ।

अथ स्वाध्यायसंहिता ।

अथ मन्त्रकाण्डम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

(१) अग्निम् ईडे पुरोहितं, यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

(ऋ० १।१।१)

अर्थ—मैं सबके अग्रणी (जगद्गुरु) परमात्माकी स्तुति (तारीफ) करता हूं, जो सामनेस्थित (जिधर देखो उधर सामने मौजूद) है, सृष्टियज्ञका देवता (स्वामी) और ऋतु ऋतुमें उसका करनेवाला है । सबको अपनीओर बुलानेवाला और सबसे बढकर रमणीय पदार्थोंका देनेवाला है ॥ १ ॥

अग्निना रयिम् अश्नवत्, पोषम् एव दिवे दिवे । यशसं वीरवत्तमम् ॥२॥

(ऋ० १।१।३)

अर्थ—सबके अग्रणी (जगद्गुरु) परमात्मासे मनुष्य धनको प्राप्त होता है, जो (धन) निश्चय दिन प्रतिदिन बढनेवाला, यशवाला, और बढिया वीरों (पुत्रपौत्रों)-वाला है ॥ २ ॥

यद् अङ्ग ! दाशुषे त्वम्, अग्ने ! भद्रं करिष्यसि । तव इत् सत्यम् अङ्गिरः !* ॥३॥

(ऋ० १।१।६)

अर्थ—हे प्यारे ! हे जगद्गुरु ! तू जो दान देनेवालेका कल्याण करता (लोक परलोक सुधारता) है । हे सबके प्राण ! वह तेरा ही सच्चा व्रत है ॥ ३ ॥

उप त्वा अग्ने ! दिवे दिवे दोषावस्तः धिया वयम् । नमो भरन्तः एमसि ॥४॥

(ऋ० १।१।७)

अर्थ—हे जगद्गुरु ! हम दिन प्रतिदिन सायंप्रातः (सांझ सुवेरे) अपनी बुद्धिसे (अपनीबुद्धिकेअनुसार) नमस्कार (की भेंट) लियेहुए आपके समीप आतेहैं ॥ ४ ॥

सः नः पिता इव सूनवे, अग्ने ! सु+उपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥५॥

(ऋ० १।१।९)

अर्थ—वह तू हे जगद्गुरु ! पुत्रको पिताकी नाईं, हमको अच्छी तरह (प्यारपूर्वक) मिलनेवाला हो । और हमारे सुखकेलिये हमसे मिल ॥ ५ ॥

---

*"प्राणो वै अङ्गिराः" (शत० ६।५।२।३) ।

(२) असृग्रम् इन्द्र! ते गिरः, प्रति त्वाम् उद्+अहासत। अजोषाः वृषभं पतिम् ॥ १ ॥ (ऋ० १।९।४)

अर्थ—हे परम ऐश्वर्य्यवान्! मैंने जो आपकी स्तुतियें की हैं, वे आपके सामने गई होंगी। और धनकी वर्षाकरनेवाले तुझ स्वामी(मालिक)को प्रसन्नकिया होगा ॥ १ ॥

आ+श्रुत्कर्ण! श्रुधि हवं, नू चिद् दधिष्व मे गिरः। इन्द्र! स्तोमम् इमं मम, कृष्वा युजः चिद् अन्तरम् ॥ २ ॥ (ऋ० १।१०।९)

अर्थ—हे सब ओरसे सुननेवाले-कानोंवाले! हमारी पुकार(प्रार्थना)को सुन, और शीघ्रसे भी शीघ्र हमारी वाणियों(प्रार्थनावचनों)को मनमें जगह दे। हे परम ऐश्वर्य्यवान्! हमारे इस प्रार्थनाभरे–स्तुतिवचनको अङ्गीकार कर, और हमें अन्तरङ्गोंसे भी अन्तरङ्ग अपना मित्र कर (बना) ॥ २ ॥

विद्मा हि त्वा वृषन्+तमं, वाजेषु हवनश्रुतम्। वृषन्+तमस्य हूमहे, ऊतिं सहस्रसातमाम् ॥ ३ ॥ (ऋ० १।१०।१०)

अर्थ—हे इन्द्र! (परम ऐश्वर्य्यवान्!) हम निःसन्देह आपको जानते हैं, आप वाञ्छित पदार्थोंकी सबसे बढकर वर्षाकरनेवाले, धन तथा राष्ट्र–रक्षाकेलिये कियेजाने-वाले युद्धोंमें पुकारको सुननेवाले हैं। हम वाञ्छितपदार्थोंकी सबसेबढकर वर्षाकरनेवाले आपको, और सबसे बढकर अनन्तधनोंकी देनेवाली आपकी रक्षाको बुलाते हैं ॥ ३ ॥

सख्ये ते इन्द्र! वाजिनो मा भेम शवसस्पते!। त्वाम् अभि प्रणोनुमो, जेतारम् अपराजितम् ॥ ४ ॥ (ऋ० १।११।२)

अर्थ—हे इन्द्र! हे बलके स्वामी! आपकी मित्रतामें धनवान हुए हम, मत किसीसे भयभीत हों। सबके जीतनेवाले और स्वयं–किसी दूसरेसे न जीतेजानेवाले आपको हम सब ओरसे वारंवार नमस्कार करते (आपके सामने अपना सिर झुकाते) हैं ॥ ४ ॥

तव अहं शूर! रातिभिः प्रति+आयं, सिन्धुम् आ+वदन्। उपातिष्ठन्त गिर्वणः! विदुः ते तस्य कारवः ॥ ५ ॥ (ऋ० १।११।६)

अर्थ—हे महापराक्रमी! मैं आपके दानों(बखशशों)से आकर्षित हुआ (खैंचा हुआ) आपके सामने आता हूं, अपनेको सिन्धु (हिन्दु) पुकारता हुआ। हे स्तुतियोंसे सेवन योग्य! दूसरे मनुष्य भी आपके सामने उपस्थित (हाजिर) हों, और वे तुझ दानीको जानें ॥५॥

इन्द्रम् ईशानम् ओजसा अभि स्तोमाः अनूषत। सहस्रं यस्य रातयः, उतवा सन्ति भूयसीः ॥ ६ ॥ (ऋ० १।११।८)

अर्थ—अपने तेजोबलसे सबपर शासनकरनेवाले इन्द्रकी हमारे स्तुतिवचनोंने सब ओरसे स्तुति की है। जिस(इन्द्र)के दान (बखशशें) हजारों अथवा उससेभी बहुत अधिक हैं ॥ ६ ॥

(३) विष्णोः कर्माणि पश्यत, यतो* व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥१॥
(ऋ० १।२२।१९)

अर्थ—हे मनुष्यो ! तुम विष्णु (सर्वव्यापक परमात्मा) के उन कर्मोंको देखो, जो उसने मनुष्योंकेलिये अवश्यकर्तव्य निश्चित किये हैं । क्योंकि इन्द्रियोंके स्वामी जीवका एक वही योग्य मित्र है ॥ १ ॥

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः गोपाः अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ॥२॥
(ऋ० १।२२।१८)

अर्थ—विष्णु (सर्वव्यापक परमात्मा) जो सबका रक्षक और किसीसे न दबनेवाला है, अवश्यकर्तव्य–कर्मोंका निर्धारण (निश्चय) करताहुआ, इस जगत्से तीन पौओं ऊपर-गयाहुआ (तीन हिस्से ऊपर बढा हुआ) है ॥ २ ॥

इदं विष्णुः विचक्रमे, त्रेधा निदधे पदम् । समूढम् अस्य पांसुरे ॥ ३ ॥
(ऋ० १।२२।१७)

अर्थ—हे मनुष्यो ! विष्णुने इस जगत् (स्थूल सूक्ष्म तथा कारण-रूप जगत्) को पाओं (एक पाओं) से मापा, और वह पाओं (एक पाओं) तीन भाग करके इस (जगत्) में रखा† । इस (विष्णु) के जगत्रूपीधूलीवाले उस एक पाओंमें यह सब जगत् समागया (एक पाओंके बराबर भी न हुआ) ॥ ३ ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवि इव चक्षुः‡ आततम् ॥४॥
(ऋ० १।२२।२०)

अर्थ—उस विष्णुके उत्कृष्ट (ऊचे) स्वरूपको (जगत्के सम्बन्धसेरहित शुद्ध अव्यक्त स्वरूपको) विद्वान् सदा देखते हैं । जैसे द्युलोक (आकाश) में सब ओरसे विस्तार पायेहुए (खूब चढेहुए) सूर्य्यको (देखते हैं) ॥ ४ ॥

तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोः यत् परमं पदम् ॥५॥
(ऋ० १।२२।२१)

अर्थ—उसको बुद्धिमान् (ज्ञानी) जो व्यवहारी (फलकी कामनासे कर्म करनेवाले) नही और अज्ञान–निद्रासे जागेहुए हैं, अपने हृदय-मन्दिरमें, अच्छीतरह प्रकाशित करते (साक्षात् करते) हैं । जो विष्णुका सबसे उत्कृष्ट (ऊचा) पद (स्वरूप) है ॥ ५ ॥

(४) विष्णोः नु कं वीर्याणि प्रवोचं, यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कभायद् उत्तरं सधस्थं, विचक्रमाणः त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥ (ऋ० १।१५४।१)

अर्थ—मैं निश्चय विष्णुकी किन किन शक्तियोंको कहूं, जिसने पृथिवीके कन कन (रज रज) को मापा है । जिसने सबसे ऊंचे द्युलोकको सहित स्थानों (नक्षत्रों) के थांभाहुआ है, जो

---

* सार्वविभक्तिकः तसिः ।

† स्थूलमें वैश्वानरको, सूक्ष्ममें तैजसको और कारण-जगत्में प्राज्ञको रखा ।

‡ "चक्षुः आदित्यः" (शत० ३।२।२।१३)

अपने एक पाओं(चौथे हिस्से)को तीनप्रकारका (वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ, रूपसे तीनप्रकारका) करके इस जगत्(स्थूल सूक्ष्म तथा कारणरूप जगत्)का मापनेवाला (व्यापनेवाला) और बडी प्रशंसावाला है ॥ १ ॥

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि, अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति । यः उ त्रिधातु पृथिवीम् उत द्याम्, एको दाधार भुवनानि विश्वा ॥२॥ (ऋ० १।१५४।४)

अर्थ—जिस(विष्णु)के तीने पाओं (तीनभाग=हिस्से) आनन्दसे पूर्ण (भरे हुए) क्षीणहोनेवाले जगत्के सम्बन्धसे रहित, अपनीजगत्‌निर्माणशक्तिके साथ हर्षमें निमग्न (खुशीमें डूबे हुए) हैं । जो (विष्णु) अकेला ही त्रिगुण-अव्यक्तको पृथिवीको और द्यौको और सब प्राणियोंको धारण करता है ॥ २ ॥

तद् अस्य प्रियम् अभि पाथो अश्यां, नरो यत्र देवयवो मदन्ति । उरुक्रमस्य स हि बन्धुः इत्था, विष्णोः पदे परमे मध्वःउत्सः ॥ ३ ॥
(ऋ० १।१५४।५)

अर्थ—मैं इस(विष्णु)के उस प्यारे (आनन्दमय) धामको प्राप्त होवूं, जहां विष्णुदेवके प्यारे मनुष्यश्रेष्ठ हर्षमें निमग्न रहते हैं । यह ऐसा ही (सत्य) है कि वह (विष्णु) निश्चय हम सबका बन्धु है, और उस बडीगती(पहुच)वाले विष्णुके परम पद में आनन्दका स्रोत (चश्मा) है ॥ ३ ॥

तम् उ स्तोतारः! पूर्व्यं यथा विद, ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आ अस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन, महस् ते विष्णो! सुमतिं भजामहे ॥ ४ ॥ (ऋ० १।१५६।३)

अर्थ—हे स्तुतिकरनेवालो! उस (विष्णु) ही सनातनको जैसा है वैसा जानो, उस सत्यके ग्रहणकरनेवाले(सत्यकेपक्षपाती)को वीरप्रजाकीउत्पत्तिसे प्रसन्न करो। अर्थको जानते हुए इस(विष्णु)के नामको भी आ—मरणान्त (मरणतक) उच्चारण करो हे विष्णु! हम तुझ महान् की श्रेष्ठमति(शिक्षा)का सेवन करें ॥ ४ ॥

दिवो विष्णो! उतवा पृथिव्याः महो! विष्णो! उरोः अन्तरिक्षात् । हस्तौ पृणस्व बहुभिः वसव्यैः, आप्रयच्छ दक्षिणात् आ उत सव्यात् ॥५॥
(अथर्व० ७।२६।७)

अर्थ—हे विष्णु! द्युलोकसे अथवा पृथिवीलोकसे, हे महान् विष्णु! अथवा विस्तृत (फैलेहुए) अन्तरिक्षलोकसे, हमारे दोनों हाथोंको अनेक उत्तमधनोंसे भर, हमें अपने दहने हाथसे दे, और हमें अपने बायें हाथसे दे ॥ ५ ॥

(५) उरुं हि राजा वरुणः चकार, सूर्याय पन्थाम् अनु+एतवै उ । अपदे पादा प्रतिधातवे अकः, उतापवक्ता हृदयाविधश्चित् ॥ १ ॥ (ऋ० १।२४।८)

अर्थ—सबके राजा (सम्राट्) वरुण(दुःखोंका निवारण करनेवाले परमात्मा)ने

निश्चय सूर्य्यकेलिये और दूसरे ग्रहोंको उसकेअनुकूलचलनेकेलिये विस्तृत मार्गको बनाया है । पाओं जंहां (आकाशमें, पानीमें) नही टिकता वहां, पाओं टिकाने (रखने) केलिये साधन(व्योमयान, जलयान)को बनाया है, और वह हृदयको वींधनेवाले (दिलके दुःखानेवाले) अनृत कटु भाषणआदि कर्मोंका निःसन्देह निषेधकरनेवाला है ॥ १ ॥

शतं ते राजन्! भिषजः सहस्रम्, उर्वी गभीरा सुमतिः ते अस्तु । बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः, कृतं चिद् एनः प्र+मुमुग्धि अस्मत् ॥ २ ॥

(ऋ० १।२४।९)

अर्थ—हे राजन्! आपकेपास दुःखोंकीनिवृत्तिकेउपाय सैंकडों और हजारों हैं, आपकेपास विस्तृत और गहरी श्रेष्ठ बुद्धि है । पापमें प्रवृत्तकरनेवाली दुर्मतिको हमसे परे लेजाकर दूरदेशमें मार, और किया हुआ पाप भी हमसे छुडा ॥ २ ॥

अमी ये ऋक्षाः निहितासः उच्चा, नक्तं ददृश्रे कुहचिद् दिवेयुः?* । अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि, विचाकशत् चन्द्रमाः नक्तम् एति ॥ ३ ॥

(ऋ० १।२४।१०)

अर्थ—ये जो नक्षत्र (तारे) ऊंचे द्युलोकमें अपनी अपनी मर्य्यादाके भीतर रखेहुए रात्रीमें देखाई देते हैं, वे दिनमें कहां गये? (कहीं नहीं गये) । ये अटूट राजा वरुणके कर्म (नियम) हैं कि रात्रीमें नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा प्रकाशता हुआ देखनेमें आता है, और दिनमें केवल सूर्य्य ॥ ३ ॥

तद् इत् नक्तं तद् दिवा मह्यम् आहुः, तद् अयं केतो हृदः आ+विचष्टे । शुनःशेपो यम् अह्वद् गृभीतः, सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु ॥ ४ ॥

(ऋ० १।२४।१२)

अर्थ—वह ही रात्रीमें वही दिनमें मुझे सब कहते हैं, वही यह मेरे हृदय (मन)का प्रकाश कहता है । बन्धे हुए (एषणारूपी फांसोंमें जकडे हुए) शुनःशेपने जिसको मुक्तिकेलिये पुकारा, वही राजा वरुण हमको मुक्ति देता (हमारा मुक्तिदाता) है ॥४॥

अव ते हेडो वरुण! नमोभिः, अव यज्ञेभिः ईमहे हविर्भिः । क्षयन् अस्मभ्यम् असुर! प्रचेतः! राजन्! एनांसि शिश्रथः कृतानि ॥ ५ ॥

(ऋ० १।२४।१४)

अर्थ—हे वरुण! आपके क्रोध(आज्ञाभंग दोषसे हुए क्रोध)को नमस्कारोंसे निवृत्त करते हैं, यज्ञोंसे और देवान्नोंसे निवृत्त करते हैं । हे बलवान्! हे सबसे बढकर ज्ञानवान्! हे राजोंके राजा! हम सबमें (हम सबके मनोंमें) निवास करता हुआ हमारे किये हुए पापोंको फलदेनेमें शिथिल (असमर्थ) कर ॥ ५ ॥

(६) कदा क्षत्रश्रियं नरम्, आ वरुणं करामहे । मृडीकाय उरुचक्षसम् ॥१॥

(ऋ० १।२५।५)

---

*दिवा ईयुः ।

अर्थ—कब हम क्षत्रियके ऐश्वर्य्यवाले वीर वरुणका स्वागत करेंगे । अपने ऊपर कृपाकेलिये, जो सबके ऊपर फैलीहुई दृष्टिवाला है ॥ १ ॥

वेदा यो वीनां पदम्, अन्तरिक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रियः॥ २॥

(ऋ० १।२५।७)

अर्थ—जो आकाशमें रहताहुआ आकाशमें चलनेवाले विमानों(विहगाकार योमयानों)के मार्गको जानता है । और जो समुद्रमें रहता हुआ समुद्रमें चलनेवाली नावों(जहाजो)के मार्गको जानता है ॥ २ ॥

वेद वातस्य वर्तनिम्, उरोः ऋष्वस्य बृहतः । वेदा ये अधि आसते ॥३॥

(ऋ० १।२५।९)

अर्थ—वह वायुके भूमिकी चारोंओर घूमनेको जानता है, जो (वायु) दूरतक फैली हुई महान् इन्तजारीवाली और गुणोंसे बहुत बडी है । वह उनको जानता है जो इस वायुकी पहुचसे ऊपर सब लोक और तारा गण रहते हैं ॥ ३ ॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः, पस्त्यासु आ । साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ ४ ॥

(ऋ० १।२५।१०)

अर्थ—वह दृढनियमोंवाला और अच्छे-कर्मोंवाला वरुण अपनी प्रजाओंमें साम्राज्य-केलिये (अपने साम्राज्यकी सुव्यवस्थाकेलिये) सब ओरसे सावधान हुआ बैठा है ॥ ४ ॥

अतो विश्वानि अद्भुता चिकित्वान् अभिपश्यति । कृतानि या च कर्त्वा ॥५॥

(ऋ० १।२५।११)

अर्थ—इसीसे वह विद्वान् सब नये उत्पन्नहुए पदार्थोंको प्रत्यक्षदेखता है । और उनको भी प्रत्यक्ष देखता है, जो उत्पन्न होचुके हैं, और जो आगे उत्पन्न होनेवाले हैं ॥ ५ ॥

इमं मे वरुण! श्रुधी हवम्, अद्या च मृडय । त्वाम् अवस्युः आचके ॥६॥

(ऋ० १।२५।१९)

अर्थ—हे वरुण! मेरी इस पुकार(प्रार्थना)को सुन, और आज ही कृपाकर । आपकी रक्षा चाहते हुए मैंने तुझे (आपको) पुकारा है ॥ ६ ॥

उदु उत्तमं मुमुग्धि नो, वि पाशं मध्यमं चृत । अव अधमानि जीवसे ॥७॥

(ऋ० १।२५।२१)

अर्थ—हे वरुण! हमारे सुखपूर्वक जीनेकेलिये सिरकी फांस(लोकैषणा)को ऊपर खैंच कर हमको छुडा, बीचकी फांस(पुत्रैषणा)के टुकडे टुकडे कर । और नीचली फासों(वित्तैषणा)को नीचे फैंक ॥ ७ ॥

(७) त्वम् अग्ने! प्रमतिः त्वं पिता ऽसि नः, त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम् ।
सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः, सुवीरं यन्ति व्रतपाम् अदाभ्य! ॥१॥

(ऋ० १।३१।१०)

अर्थ—हे जगद्गुरु! तू श्रेष्ठमति(ऊंची शिक्षा)देनेवाला है, तू हमारा सच्चा पिता है, तू हमारा जीवनबनानेवाला है, हम सब तेरे (आपके) बन्धु (पुत्र) हैं। तुझसे सैंकडे धन प्राप्त हैं, हे किसीसे न दबनेवाले! तुझ नियमोंकेपालक उत्तमवीरको हजारों धन प्राप्त हैं ॥ १ ॥

त्वम् अग्ने! उरुशंसाय वाघते स्पार्हं यद् रेक्णः परमं वनोषि तत्। आध्रस्य चित् प्रमतिः उच्यसे पिता, प्र पाकं शास्सि प्र दिशो विदुस्तरः ॥ २ ॥ (ऋ० १।३१।१४)

अर्थ—हे अग्रणी! तू विस्तृत (फैली हुई) प्रशंसा(कीर्ति)वाले सत्कर्मी (आर्य्य) को, जो उत्तम और वाञ्छित धन है, वह देता है। पर तू आर्य्यके समान आन्ध्र (अनार्य्य)को भी उत्तममतिदेनेवाला है, इसीसे तू सबका पिता कहा जाता है, तू विद्वान् अविद्वान्, दोनों पर शासन (हकूमत) करता है, बहुतसमझवाला तू सब दिशाओं (देशों) पर एक समान शासन करता है ॥ २ ॥

त्वम् अग्ने! प्रयतदक्षिणं नरं, वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः। स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृत्, जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ॥ ३ ॥ (ऋ० १।३१।१५)

अर्थ—हे अग्नि! तू दान देनेवाले वीरकी सियेहुए कवचकी नाईं सबओरसे रक्षाकरता है। और जो स्वादुअन्नवाला सबको सुखदेनेवाला प्रतिदिन घरमें मनुष्ययज्ञ (अतिथियज्ञ) करता है, वह आपकीकृपासे इसलोकमें स्वर्गके सदृश है ॥ ३ ॥

इमाम् अग्ने! शरणिं मीमृषो नः, इमम् अध्वानं यम् अगाम दूरात्। आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां, भृमिः असि ऋषिकृत् मर्त्यानाम् ॥ ४ ॥ (ऋ० १।३१।१६)

अर्थ—हे अग्नि! हमारी इस (आज्ञाभंगरूप) अवज्ञाको क्षमाकर, और इस मार्गको (इस मार्गपर चलनेको) क्षमाकर, जिस(मार्ग)को आपसे दूर जाकर हम प्राप्त हुए हैं। तू ही हमारी प्रार्थनाकी जगह है, तू ही हमारा पिता और शुभमति (उत्तम शिक्षा)का देनेवाला है, तू ही सोमके योग्य आर्य्योंका भ्रमानेवाला (अपनी ओर लौटानेवाला) और मनुष्योंको ऋषिबनानेवाला है ॥ ४ ॥

एतेन अग्ने! ब्रह्मणा वावृधस्व, शक्ती वा यत् ते चकृमा विदा वा। उत प्रणेषि अभि वस्यो अस्मान्, सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या ॥ ५ ॥ (ऋ० १।३१।१८)

अर्थ—हे अग्नि! इस स्तुतिसे वृद्धि(प्रसन्नता)को प्राप्तहो (प्रसन्नहो), जो हमने अपनी शक्तिसे तथा अपनेज्ञानसे (अपनीशक्तिऔरअपनेज्ञान, दोनोंकेअनुसार) आपकी की है। और हमको सबसे अच्छे धनके सामने लेचल (सबदिनबढनेवाला धन हमे दे), और हमको अपनी सुन्दर (श्रेष्ठ) मतिके साथ जो प्रशंसनीयबलवाली है जोड ॥ ५ ॥

(८) विजानीहि आर्य्यान् ये च दस्यवः, बर्हिष्मते रन्धया शासद् अव्रतान् । शाकी भव यजमानस्य चोदिता, विश्वा इत् ता ते सधमादेषु चाकन ॥१॥
(ऋ० १।५१।८)

अर्थ—हे परम ऐश्वर्य्यवान्! तू आर्य्योंको और जो अनार्य्य (आर्य्य नहीं) हैं उनको जानता है, इन सत्कर्म(यज्ञकर्म)न करनेवालों(अनार्य्यों)को शिक्षा करता हुआ यज्ञकर्म (सत्कर्म)केलिये वशमें कर (अपना अनुयायी बना)। तू यज्ञकर्म (सत्कर्म) करनेवाले आर्य्य तथा अनार्य्य दोनोंका प्रेरक (सहायक) और शक्तिदाता है, मैं आपके उन सब ही कर्मोंको हर्षोत्सवों(जातिसम्मेलनों)में सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः, ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिः भूः । विश्वम् आप्राः अन्तरिक्षं महित्वा, सत्यम् अद्धा नकिः अन्यः त्वावान् ॥ २ ॥
(ऋ० १।५२।१३)

अर्थ—हे इन्द्र! तू पृथिवीलोकका प्रत्यक्षमापनेवाला है, तू दर्शनीय-वीरों(नक्षत्रों)-वाले महान् द्युलोकका स्वामी है। तू ने सब आकाशको अपने महत्व(बडप्पन)से भरदियाहै, यह निश्चय (बिल्कुल) सत्य है कि कोई तेरेजैसा दूसरा नहीं है ॥ २ ॥

शचीवः! इन्द्र! पुरुकृत्! द्युमत्तम!, तव इत् इदम् अभितः चेकिते वसु। अतः संगृभ्य अभिभूते! आभर, मा त्वायतो जरितुः कामम् ऊनयीः ॥ ३ ॥
(ऋ० १।५३।३)

अर्थ—हे बुद्धिमान्! हे उत्पत्तिपालनआदिअनेककर्मोंवाले! हे सबसेबढकर प्रकाशवाले! हे इन्द्र! चारों ओर जितना धन है, यह सब आपका ही (तेरा ही) है, ऐसा हम जानते हैं। हे सबओरविभूति(धन)वाले! अपने इस धनको इकट्ठा करके हमारे-लिये ला (हमें दे), अपने चाहनेवाले स्तुतिकरनेवालेकी कामनाको मत ऊना कर ॥ ३ ॥

सम् इन्द्र! राया सम् इषा* रभेमहि, सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैः अभिद्युभिः। सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया, गोअग्रया अश्ववत्या रभेमहि ॥ ४ ॥
(ऋ० १।५३।५)

अर्थ—हे इन्द्र! हम धनकेसाथ सम्बन्धवाले होवें (धनी होवें), हम प्रजाके साथ सम्बन्धवाले होवें (प्रजावाले होवें), हम बहुतों(अतिथियों और देशबन्धुओं)को प्रसन्न (तृप्त) करनेवाले, चारोंओर प्रकाश करने(यश फैलाने)वाले अन्नोंके साथ सम्बन्धवाले होवें। हम प्रकाशवाली (तथ्य अतथ्य विवेकवाली), वीरबलवाली (नैतिक बलवाली), गौएं ही मुख्य धन हैं ऐसी धारणावाली, और घोडे ही ऐश्वर्यका मुख्यभाग हैं ऐसी समझवाली, ऊंचीबुद्धिकेसाथ सम्बन्धवाले होवें ॥ ४ ॥

ये उदृचि इन्द्र! देवगोपाः, सखायः ते शिवतमाः असाम। त्वां स्तोषाम त्वया सुवीराः, द्राघीयः आयुः प्रतरं दधानाः ॥५॥ (ऋ० १।५३।११)

*प्रजाः वै इषः (शत० १।७।३।१४)

अर्थ—हे इन्द्र! जो हम तुझदेवसेरक्षापायेहुए सबसेबढकर सुखी हैं, वे हम आपके सखा (मित्र) आगे भी सबसेबढकरसुखी होवें। और तुझदेवसे (तुझ देवकी कृपासे) वीरोंवाले (वीर-पुत्रपौत्रोंवाले) बहुत लम्बी और बहुतबढिया(यशवाली)आयु धारनेवाले (आयुवाले) हुए आपकी स्तुतिकरें ॥ ५ ॥

(९) अर्चा शक्राय शाकिने शचीवते, शृण्वन्तम् इन्द्रं महयन् अभिष्टुहि।
यो धृष्णुना शवसा रोदसी उभे, वृषा वृषत्वा वृषभो निऋञ्जते ॥ १ ॥

(ऋ० १।५४।२)

अर्थ—हे मनुष्य! तू सबको शक्तिदेनेवाले शक्तिमान् और बुद्धिमान् इन्द्रकी पूजा(इबादत)कर, और पूज्यबुद्धि करताहुआ सुननेवाले इन्द्रकी स्तुति(तारीफ)कर। जो सबको वश(काबू)मेंरखनेवाले बलसे द्युलोक और पृथिवीलोक दोनोंको सजाता है, जो साक्षात् धर्म है, और जो भक्तोंकेलिये कामनाओंकी वर्षाकरनेवाली शक्तिसे सदा वर्षा करनेवाला है ॥ १ ॥

सः शेवृधम् अधिधाः द्युम्नम् अस्मे, महिक्षत्रं जनाषाट्! इन्द्र! तव्यम्।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीन्, राये च नः सु+अपत्यै इषे धाः ॥ २ ॥

(ऋ० १।५४।११)

अर्थ—हे भक्तजनोंको प्राप्त होनेवाले! हे इन्द्र! वह तू हमें प्रतिपल-बढनेवाला सुख दे, यश दे, बढाहुआ महान्क्षात्रबल दे। और हमारे धनवानोंकी रक्षाकर, हमारे विद्वानोंकी रक्षाकर, और हमको धनकेलिये अच्छीसन्ततिवाली प्रजाकेलिये पृथिवीमें रख ॥ २ ॥

भूरि ते इन्द्र! वीर्यं तव स्मसि, अस्य स्तोतुः मघवन्! कामम् आपृण।
अनु ते द्यौः बृहती वीर्यं ममे, इयं च ते पृथिवी नेमे ओजसे ॥ ३ ॥

(ऋ० १।५७।५)

अर्थ—हे धनवान्! हम तेरे हैं, तू इस अपने स्तोता (तारीफ करनेवाले) की कामनाको पूर्णकर, हे इन्द्र! तेरा बल बहुत (अपार) है। बडे द्युलोकने तेरे बलको माना है, और यह पृथिवी तेरे बलके सामने झुकी है ॥ ३ ॥

इमे ते इन्द्र! ते वयं पुरुष्टुत!, ये त्वाऽऽरभ्य चरामसि प्रभूवसो!। नहि
त्वद् अन्यो गिर्वणः! गिरः सघत्, क्षोणीः इव प्रति नो हर्य्य तद् वचः॥४॥

(ऋ० १।५७।४)

अर्थ—हे इन्द्र! ये धनवान् और विद्वान् तेरे हैं, हे बहुतोंसे स्तुतिकियेगये! हम तेरे हैं, हे बहुतअधिकधनवाले! जो हम तुझको पकडकर चलते (आपके सहारे सांसारिक कार्य्योंको करते) हैं। हे स्तुतियोंसेसेवनीय! तुझसे भिन्न कोई दूसरा हमारी स्तुतियोंको नहीं प्राप्तहोता (तुझको छोडकर हम किसी दूसरेकी स्तुति नहीं करते), तू हमारे उस स्तुतिवचनको (जो हमने उपस्थित किया है) चाह (प्यार कर), जैसे पृथिवी अपने आश्रितोंको चाहती है ॥ ४ ॥

(१०) आपप्रौ पार्थिवं रजः, बद्बधे रोचना दिवि । न त्वावान् इन्द्र! कश्चन, न जातो न जनिष्यते, अति विश्वं ववक्षिथ ॥ १ ॥ (ऋ० १।८१।५)

अर्थ—हे इन्द्र! तूने अपने तेजसे पृथिवीके कण कण(परमाणु परमाणु)को सब-ओरसे पूर्णकिया है, द्युलोकमें चमकनेवालों(नक्षत्रों)को अपनीअपनी मर्यादा(हद्द)में बांधा (दृढकिया) है । तुझजैसा कोई भी नही, न पहले उत्पन्नहुआ है, न आगे उत्पन्नहोगा, तू सबको उलांघकर महत्त्व(बडप्पन)को प्राप्तहुआहै ॥ १ ॥

यो अर्यो मर्तभोजनं, पराददाति दाशुषे । इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु विभजा भूरि ते वसु, भक्षीय तव राधसः ॥ २ ॥ (ऋ० १।८१।६)

अर्थ—जो सबका स्वामी(मालिक)दानदेनेवालेको मनुष्योंकेभोगनेयोग्य सब पदार्थ दूरसे लाकर देता है, वह परमऐश्वर्य्यवान् हमें दे, हे इन्द्र! तेरे पास बहुत धन है, उसको बांट, हम तेरे धनको भोगें ॥ २ ॥

मदे मदे हि नो ददिः, यूथा गवाम् ऋजुक्रतुः । संगृभाय पुरु शता, उभया हस्त्या वसु, शिशीहि* रायः आभर ॥ ३ ॥ (ऋ० १।८१।७)

अर्थ—सरलबुद्धि इन्द्र हर्षहर्ष(प्रत्येक हर्ष प्रसंग)में निश्चय हमको गौओंके यूथ (समूह) देता है । हे इन्द्र! बहुत प्रकारके सैकडें धनोंको दोनों हाथोंसे इकट्ठाकरके हमें दे, सब धन हमारे पास लॉ ॥ ३ ॥

अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति, सुप्रावीः इन्द्र! मर्त्यः तव ऊतिभिः । तम् इत् पृणक्षि वसुना भवीयसा, सिन्धुम् आपो यथा अभितो विचेतसः॥४॥ (ऋ० १।८३।१)

अर्थ—हे इन्द्र! वह मनुष्य घोडोंवाले घर(अश्वशाला)में, गौओंवाले वाडोंमें, सबसे पहला हुआ जाता है (सबसे पहले घोडोंवाला और गौओंवाला होता है), जो तेरी रक्षाओंसे अच्छीतरह रक्षित है । तू उसको निश्चय बहुतअधिक धनसे पूर्ण करता(भरदेता)है, जैसे स्नान पान और आचमनसे विशेषचेतन (प्रफुल्लित) करनेवाले जल चारों ओरसे सिन्धु-नदीको [पूर्ण करते हैं] ॥ ४ ॥

मा ते राधांसि मा ते ऊतयो वसो!, अस्मान् कदा चना दभन् । विश्वा च नः उपमिमीहि मानुष!, वसूनि चर्षणिभ्यः आ ॥५॥ (ऋ० १।८४।२०)

अर्थ—हे सबके बसानेवाले! किसीकालमें भी तेरे धन (धनोंके दान) हमको न चूकें (हमारी उपेक्षा न करें), तेरी रक्षायें हमको न चूकें । और हे मनुष्यके हित-कारी! सब धन लाकर हमको यथायोग्य दे, और सब मनुष्योंको यथायोग्य दे ॥ ५ ॥

(११) मृडा नो रुद्र! उत नो मयस् कृधि, क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते । यत् शं च योः च मनुः आयेजे पिता नः, तद् अश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु॥१॥ (ऋ० १।११४।२)

---

*शिशीतिः दानकर्मा (निरु० १०।३९)

अर्थ—हे रुद्र! (दुष्टोंके रुलानेवाले सृष्टिसंहारक देव!) हमपर दयाकर, और हमको सुखी कर, हम तुझ वीरोंकेवीरका नमस्कार(नम्रभाव)से सेवन करते (आश्रयलेते) हैं। जो रोगोंको शान्त(निवृत्त)करनेवाले और भयोंको दूर करनेवाले (कर्म, ज्ञानरूप) दो उपाय (साधन) मनु पिताने हमको दिये हैं, हे रुद्र! आपकी उत्तमप्रेरणाओं (आज्ञाओं)में वर्तमान हुए हम उसको प्राप्तहोवें ॥ १ ॥

अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया, क्षयद्वीरस्य तव रुद्र! मीढ्वः!। सुम्नायन् इद् विशो अस्माकम् आचर, अरिष्टवीरा: जुहवाम ते हविः ॥ २ ॥
(ऋ० १।११४।३)

अर्थ—हे रुद्र! हे कामनाओंकीवर्षाकरनेवाले! वे हम तुझ देवकेपूजनसे तुझ वीरोंकेवीरकी सुन्दर मति(अनुग्रह बुद्धि)को प्राप्त होवें। तू हमारी प्रजाका सुख चाहता-हुआ ही आचरण कर (अपने कर्तव्य-कर्ममें वर्तमान हो), रोगें आदि-बाधाओंसेरहित वीरों(पुत्र-पौत्रों) वाले हुए हम आपको भक्तिरूप-हवि देते (भेंट करते) हैं ॥ २ ॥

त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं, वंकुं कविम् अवसे निह्वयामहे। आरे अस्मद् दैव्यं हेडो अस्यतु, सुमतिम् इद् वयम् अस्य आवृणीमहे ॥३॥ (ऋ० १।११४।४)

अर्थ—हम प्रकाशस्वरूप सृष्टियज्ञकेसाधक दुष्टोंकेलिये-टेडे सर्वज्ञ रुद्रको अपनी रक्षाकेलिये अत्यन्तआदरपूर्वक-बुलाते हैं। वह हमसे आडमें देवसम्बन्धी(अपने) क्रोधको फैंके, हम इसकी सुन्दर मति (अनुग्रह बुद्धि)को ही मांगते हैं ॥ ३ ॥

मा नो महान्तम् उत मा नो अर्भकं, मा न: उक्षन्तम् उत मा नः उक्षितम्। मा नो वधीः पितरं मा उत मातरं, मा नः प्रियाः तन्वो रुद्र! रीरिषः ॥ ४ ॥ (ऋ० १।११४।७)

अर्थ—हे रुद्र! मत हमारे किसी पूज्य(विद्वान् और धनवान्)को मार, और मत हमारे किसी बाल(पुत्र, पौत्र)को, मत हमारे मध्यवयस्कको, और मत हमारे किसी युवकको मार। मत हमारे पिताको, और मत हमारी माताको मार, और मत हमारे प्यारे शरीरोंको पूरी आयु भोगनेसे पहले नष्टकर (पुरुषार्थहीन कर) ॥ ४ ॥

मा नः तोके तनये मा नः आयौ,* मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान् मा नो रुद्र! भामितो वधीः, हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ॥५॥
(ऋ० १।११४।८)

अर्थ—मत हमारे पुत्रमें, पौत्रमें, मत हमारे भृत्यवर्गमें, मत हमारी गौओंमें, मत हमारे घोडोंमें हिंसक(हानिकारक)हो। हे रुद्र! क्रोधको प्राप्तहुआ तू हमारे वीरोंको मत मार, हम भक्तिरूपहवि(भेंट)वालेहुए सदा ही आपको पुकारते (आपसे प्रार्थना करते) हैं ॥ ५ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ (११।५०)

* आयुः मनुष्यः (निरु० १०।४१)

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

(१) द्वा सुपर्णा संयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति, अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥ (ऋ० १।१६४।२०)

अर्थ—दो पंखी* (जीवात्मा, परमात्मा) जो साथरहनेवाले और मित्र हैं, एक वृक्ष(शरीर)को आलिङ्गन कियेहुए (स्वस्वामि-भावसे पकडेहुए) हैं। उनमेंसे एक (जीवात्मा) स्वादु (स्वादु अस्वादु) फल(कर्मफल)को खाताहै, और दूसरा (परमात्मा) न खाताहुआ प्रकाशता (देखता) है ॥ १ ॥

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतो, अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः । ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता, नि अन्यं चिक्युः न निचिक्युः अन्यम् ॥ २ ॥

(ऋ० १।१६४।३८)

अर्थ—न मरनेवाला (जीवात्मा) मरनेवाले (मन) के साथ एक स्थान(स्थूल शरीर)में रहता हुआ ईश्वरीयसृष्टिनिर्माणशक्ति(महामाया प्रकृति)से पकडा हुआ (वशमें किया हुआ) कभी नीचे जाता है और कभी ऊपर जाता है। वे दोनों (आत्मा, मन) सदासाथरहनेवाले सबओरजानेवाले और सर्वत्रजानेवाले हैं, उनमेंसे एक(मन)को सब जानते हैं, दूसरे(आत्मा)को नही जानते हैं ॥ २ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवाः अधि विश्वे निषेदुः । यः तत् न वेद किम् ऋचा करिष्यति, ये इत् तद् विदुः ते इमे समासते ॥ ३ ॥

(ऋ० १।१६४।३९)

अर्थ—ऋचायें (यजुः साम और ऋचा मन्त्र) उस सबसे ऊंचे व्यापक अक्षर (अविनाशी ब्रह्म)में प्रतिष्ठित हैं, जिसमें सब देवता (अग्नि वायु और सूर्य्य आदि सब देवता) स्थित(ठहरेहुए)हैं। जो उस(अक्षर)को नही जानता, वह ऋचासे (यजु सामऔरऋचा-मन्त्रोंके प्रतिदिन पठनपाठनसे) क्या करेगा?, जो ही उसको जानते-(साक्षात् करते) हैं, वे ये [ज्ञानी, सत्य, महात्मा] बैठजाते (नीचेऊपरजानेसे छूटजाते) अर्थात् सदाकेलिये आवागमनके चक्रसे बाहर होजाते हैं ॥ ३ ॥

(२) हंसः शुचिषद् वसुः अन्तरिक्षसद्, होता वेदिषद् अतिथिः दुरोणसत् । नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद्, अब्जाः गोजाः ऋतजाः अद्रिजाः ऋतम् ॥ १ ॥ (ऋ० ४।४०।५)

---

* ज्ञानशक्ति दायां पंख, क्रियाशक्ति बायां पंख ।

अर्थ—वह (अविनाशी ब्रह्म) सूर्य्य है, द्युलोकमें रहनेवाला (सूर्य्य हुआ द्युलोकमें रहता है), वायु है आकाशमें रहनेवाला, अग्नि है पृथिवीमें रहनेवाला, अतिथि (अनियतस्थिति) है घरमें (गृहस्थोंकेघरमें) रहनेवाला। वह स्त्रीपुरुषोंमें रहनेवाला श्रेष्ठों (ज्ञानियों) में रहनेवाला, सत्यमें रहनेवाला, और हृदयाकाशमें रहनेवाला है, वह जलोंमें अनेकरूपसे प्रकट होनेवाला, पृथिवीमें अनेकरूपसे प्रकट होनेवाला, वायुमें अनेकरूपसे प्रकट होनेवाला, और पर्वतोंमें अनेकरूपसे प्रकटहोनेवाला है, वह आप सत्यस्वरूप है ॥१॥

स धाता स विधर्ता, स वायुः नभः उच्छ्रितम्। स अर्य्यमा स वरुणः, स रुद्रः सः महादेवः ॥ २ ॥ (अथर्व० १३।४।४)

अर्थ—वह (अविनाशी ब्रह्म) सबका उत्पन्न करनेवाला है, वह सबका पालनेवाला है, वह सबका प्राण (जीवन) है, वह ऊपर उठा हुआ नक्षत्रोंवाला आकाश है। वह कर्मफलदाता है, वह दुःखोंका निवारण करनेवाला है, वह दुष्टोंका रुलानेवाला और वह सर्वदेवोंमें बड़ा देव है ॥ २ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः, अथो दिव्यः सः सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः ॥ ३ ॥

(१।१६४।४६)

अर्थ—उस सबके अग्रणी जगद्गुरु परमात्माको इन्द्र मित्र और वरुण कहते हैं, और वही द्युलोकमें प्रकट होनेवाला स्तुतिवाला सुपर्ण (सूर्य्य) है। उस एक सर्वत्र सत्तावालेको ही बुद्धिमान् बहुत प्रकारसे (अनेक नामोंसे) कहते हैं, अग्नि कहते हैं, यम कहते हैं, और मातरिश्वा कहते हैं ॥ ३ ॥

(३) अनुत्तम् आ ते मघवन्! नकिः नु, न त्वावान् अस्ति देवता विदानः। न जायमानो नशते न जातो, यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध! ॥ १ ॥

(ऋ० १।१६५।९)

अर्थ—हे धनवान्! निश्चय तुझसे अप्रेरित (अधिक) कोई भी नहीं, न तुझजैसा कोई देवता अथवा मनुष्य विख्यात (प्रसिद्ध) है। न उत्पन्नहोनेवाला तुझको पहुंचताहै, न उत्पन्नहुआ हुआ, हेप्रवृद्ध! (सबसे बडे!) जो करनेवाले कर्म हैं, उनको कर ॥ १ ॥

त्वं राजा इन्द्र! ये च देवाः, रक्षा नॄन् पाहि असुर! त्वमस्मान्। त्वं सत्पतिः मघवा नः तरुत्रः, त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः ॥ २ ॥

(ऋ० १।१७४।१)

अर्थ—हे इन्द्र! तू राजा है उनका, जो मनुष्य हैं और जो देवता हैं, हे प्राणदाता! तू स्त्रीपुरुषोंकी रक्षाकर; तू हम सबकी रक्षाकर। तू सच्चास्वामी है, धनवान् है, हम सबको संसारयात्रा-सागरसे तारनेवाला (पार करनेवाला) है, तू तीनों कालोंमें रहनेवाला, अपने सेवकोंको अपनेदेशमें स्वतन्त्रतापूर्वक बसानेवाला और बलका देनेवाला है ॥ २ ॥

त्वया वयं मघवन्! इन्द्र! शत्रून्, अभिष्याम महतो मन्यमानान् । त्वं त्राता त्वम् उ नो वृधे भूः, विद्याम इषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ३ ॥

(ऋ० १।१७८।५)

अर्थ—हे धनवान् इन्द्र! हम तुझ-सहायकसे (तेरी सहायतासे) अपनेआपको बडे बली माननेवाले शत्रुओंको दबानेवाले होवें। तू हमारा रक्षक है, और तू ही हमको सब-प्रकारसे बढानेकेलिये है, हम आपके अनुग्रहसे प्रजा बल और चिरंजीवनको प्राप्त होवें ॥३॥

(४) अग्ने! त्वं पारया नव्यो अस्मान्, स्वस्तिभिः अति दुर्गाणि विश्वा । पूश्च पृथ्वी बहुला नः उर्वी, भवा तोकाय तनयाय शं योः ॥ १ ॥

(ऋ० १।१८९।२)

अर्थ—हे अग्नि! स्तुतियोग्य तू हमको संसारदुःखसागरसे पार कर, हम आपकी कल्याणकारी क्रियाओं (आशीर्वादों) से दुःखकेहेतु सब कर्मोंको उलंघ जायें (सब प्रकारके पापकर्मोंसे दूर रहें)। और हमारे नगर बडे हों, हमारी भूमि बहुत अन्न उपजा-नेवाली हो, हमारे पुत्रों और पौत्रोंकेलिये रोगोंकी निवृत्ति तथा भयोंकाअभाव हो ॥ १ ॥

पाहि नो अग्ने! पायुभिः अजस्रैः, उत प्रिये सदने आ शुशुक्वान् । मा ते भयं जरितारं यविष्ठ!, नूनं विदत् मा अपरं सहस्वः! ॥ २ ॥

(ऋ० १।१८९।४)

अर्थ—हे अग्नि! अपनी अविच्छिन्न (अटूट) रक्षाओंसे हमारी रक्षाकर, और अपने प्यारे घर(हमारे हृदयों)में सदा प्रकाशमान हो। हे सदा अच्छे जुवान!(युवा!) मुझ तेरे स्तोताको कभी भय न हो, हे बलवान्! नही किसी दूसरेको भय प्राप्त हो ॥२॥

मा नो अग्ने! अवसृजो अघाय, अविष्यवे रिपवे दुच्छुनायै । मा दत्वते दशते माऽदते नो, मा रीषते सहसावन्! परादाः ॥३॥ (ऋ० १।१८९।५)

अर्थ—हे अग्नि! हमको पापी(पापबुद्धि)तथा सदा खानेकीइच्छावाले और दुष्ट-शासनवाले शत्रुकेलिये मत त्यागना, मत दांतोंसे डसनेवाले(सर्प)केलिये, मत दांतोंसे खानेवाले(सिंह, व्याघ्र आदि)केलिये, और मत हिंसक(चोर, डाकू)केलिये, हमको त्यागना, हे बलवाले! हमको अपनेसे मत दूरकरना ॥ ३ ॥

(५) त्वम् अग्ने! इन्द्रो वृषभः सताम् असि, त्वं विष्णुः उरुगायो नमस्यः। त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते!, त्वं विधर्तः! सचसे पुरंध्या ॥ १ ॥

(ऋ० २।१।३)

अर्थ—हे अग्नि! तू सदाचारी पुरुषोंकेलिये वाञ्छितपदार्थोंकीवर्षाकरनेवाला इन्द्र है, तू बडीस्तुतिवाला नमस्कारकेयोग्य विष्णु है। हे ब्रह्माण्डकेस्वामी! तू अपनी प्रजाकेलिये सबधनोंवाला ब्रह्मा है, हे विश्वके धारण करनेवाले! तू अपनी बडी बुद्धि(उदार बुद्धि)से सबको मिलता (सबसे प्यार करता) है ॥ १ ॥

त्वम् अग्ने! राजा वरुणो धृतव्रतः, त्वं मित्रो भवसि दस्मः ईड्यः। त्वम् अर्यमा सत्पतिः यस्य संभुजं, त्वम् अंशो विदथे देव! भाजयुः ॥ २ ॥ (ऋ० २।१।४)

अर्थ—हे अग्नि! तू दृढव्रतों(सृष्टिनियमों)वाला राजा वरुण है, तू दुष्टोंको दण्ड देनेवाला स्तुतिकेयोग्य मित्र है। तू श्रेष्ठोंकापालक अर्यमा है, जिसकादियाहुआ धन भोगकेलिये अच्छा होताहै, हे देव! तू यज्ञमें फलका देनेवाला अंश (अन्तर्यामी) है ॥ २ ॥

त्वम् अग्ने! द्रविणोदाः अरङ्कृते, त्वं देवः सविता रत्नधाः असि। त्वं भगो नृपते! वस्वः ईशिषे, त्वं पायुः दमे यस्तेऽविधत् ॥ ३ ॥ (ऋ० २।१।७)

अर्थ—हे अग्नि! तू सदाचारसे अलङ्कृतकेलिये द्रविणोदा (धनकादेनेवाला) है, तू रमणीयपदार्थोंका देनेवाला देवोंकादेव सविता (जगदुत्पादक) है। हे मनुष्यमात्रके-स्वामी! तू ऐश्वर्यशक्ति हुआ धनका ईश्वर (नियन्ता) है, और तू रक्षक है उसका, जो घरमें तुझे पूजता है ॥ ३ ॥

(६) त्वं दूतः त्वम् उ नः परस्पाः, त्वं वस्यः आ वृषभ! प्रणेता। अग्ने! तोकस्य नः तने तनूनाम्, अप्रयुच्छन् दीद्यद् बोधि गोपाः ॥ १ ॥

(ऋ० २।९।२)

अर्थ—हे अभीष्टपदार्थोंकी वर्षाकरनेवाले! तू अनिष्टोंका दूरकरनेवाला और तू हमारी शत्रुओंसे रक्षाकरनेवाला तथा तू उत्तमधन लाकर अच्छा देनेवाला है। हे अग्नि! रक्षक हुआ तेजस्वीहुआ बेपरवाही न करताहुआ हमारे पुत्रको पौत्रको और शरीरोंको रक्षाकेयोग्य जान(समझ) ॥ १ ॥

अग्ने! यजस्व हविषा यजीयान्, श्रुष्टी देष्णम् अभिगृणीहि राधः। त्वं हि असि रयिपतिः रयीणां, त्वं शुक्रस्य वचसो मनोता ॥ २॥ (ऋ० २।९।४)

अर्थ—हे अग्नि! सबसेबडापूजनीय तू हमारी श्रद्धाभक्तिपूर्वकअर्पणकीहुई हवि(देने योग्य वस्तु)से पूजाकोप्राप्तहो, और देनेयोग्य धनको शीघ्र हमारे सामने कहो(हमें दे)। तू ही सब धनपतियोंके मध्य(बीचमें) सच्चा धनपति है, और तू ही सत्य (शुद्ध) वचनका मानदाता है ॥ २ ॥

उभयं ते न क्षीयते वसव्यं, दिवे दिवे जायमानस्य दस्म!। कृधि क्षुमन्तं जरितारम् अग्ने!, कृधि पतिं स्वपत्यस्य रायः ॥ ३ ॥ (ऋ० २।९।५)

अर्थ—हे दुष्टोंको दण्ड देनेवाले! दिन प्रतिदिन नवें नवें रूपोंसें प्रकटहोनेवाले तुझ देवके दोनों श्रेष्ठधन(लोक धन, परलोक धन) नहीं क्षीणहोते हैं। हे अग्नि! मुझ अपने स्तोता (भक्त)को धनधान्यवाला कर, और अच्छे—पुत्रपौत्ररूप धनका स्वामी बना(कर) ॥ १ ॥

(७) अग्निः सप्तिं वाजंभरं ददाति, अग्निः वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम्। अग्निः रोदसी विचरत् समञ्जन्, अग्निः नारीं वीरकुक्षिं पुरंधिम् ॥ १ ॥

(ऋ० १०।८०।१)

अर्थ—अग्नि युद्धका जीतनेवाला घोडा देता है, अग्नि विद्वान् और कर्मनिष्ठ पुत्र देता है, अग्नि द्युलोक और पृथिवीलोक दोनोंमें अच्छा प्रकट करता हुआ (यशस्वी बनाता हुआ) खूब खलाता (अनेक प्रकारके भोग भोगाता) है, अग्नि वीरपुत्र-जननेवाली और बडी बुद्धिवाली स्त्री देता है ॥ १ ॥

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो, वैश्वानरे दधिरे अग्ना वसूनि । या पर्वतेष्वोषधिष्वप्सु, या मानुषेष्वसि तस्य राजा ॥ २ ॥ (ऋ० १।५९।३)

अर्थ—जैसे सूर्यमें किरणें सबओरसे अटल रहती है, वैसे सबकेनेता अग्निमें सब धन, सबओरसे अटल रहते हैं। जो (धन) पर्वतोंमें ओषधियोंमें जलोंमें और जो मनुष्योंके खजानोंमें हैं, हे अग्नि! तू उस (सबधन) का राजा (स्वामी) है ॥ २ ॥

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां, पृष्टो विश्वा ओषधीः आविवेश । वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः, स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥३॥
(ऋ० १।९८।२)

अर्थ—अग्नि द्युलोकमें वर्तमान हुआ, पृथिवीलोकमें वर्तमान हुआ, सब प्राणियोंमें वर्तमान हुआ, सब अन्नोंमें प्रवेशकियेहुआ (रहा हुआ) है। सबका नेता अग्नि सदा बलके साथ वर्तमान (मौजूद) है, वह दिनमें वह रात्रीमें हमारी दुःखसे रक्षा करे ॥ ३ ॥

(८) श्रुधि हवम् इन्द्र! मा रिषण्यः,* धियं वनेम ऋतया सपन्तः । अवस्यवो धीमहि प्रशस्तिं, सद्यः ते रायो दावने स्याम ॥ १ ॥ (ऋ० २।११।१२)

अर्थ—हे इन्द्र! हमारी पुकार (प्रार्थना) को सुन, मत निरादर कर (न सुना मत कर) हम सत्य (सचाई) से आपको हुते हुए (सायं प्रातः आपके चरणोंमें हाजिर होतेहुए) सद्बुद्धिका सेवनकरें। रक्षा चाहते हुए (आपसे सुरक्षित हुए) सदा आपके प्रशासन (हुक्म) का ध्यान रखें, और आपके धनके दानमें शीघ्र भागी (हिस्सेदार) होवें ॥ १ ॥

स्याम ते त इन्द्र! ये त ऊती, अवस्यव ऊर्जं वर्धयन्तः । शुष्मिन्तमं यं चाकनाम देव!, अस्मे रयिं रासि वीरवन्तम्† ॥ २ ॥ (ऋ० २।११।१३)

अर्थ—हे इन्द्र! आपकी रक्षासे धनधान्यको बढाते हुए और सदा आपकी रक्षा चाहते हुए, जो हम आपके समक्ष (सामने) उपस्थित हैं, वे सब सदा आपके होवें। हे देव! शत्रुओंके बलको अच्छीतरह शुष्ककरने (सुकाने) वाले जिसधनको हम चाहते हैं, उस पुत्रोंवाले धनको हमें दे ॥ २ ॥

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे, दुहीयदिन्द्र! दक्षिणा मघोनी । शिक्षा स्तोतृभ्यो माऽति धग् भगो नो, बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥ ३ ॥
(ऋ० २।११।२१)

---

*(ऋ० २।११।१) † पुत्रो वै वीरः (शत० ३।३।१।१२)।

अर्थ—हे इन्द्र आज वह तेरी धनसेभरी दक्षिणा (दानक्रिया) अपने स्तोताकेलिय वरणीय धन(मुंह मांगे पदार्थ)को दे। हम सब अपने स्तोताओंको पहले दे, उलांघ कर किसी दूसरेको मत दे, हमारे ऐश्वर्य हो, हम अच्छेपुत्रोंवाले हुए यज्ञमें "खाओ और दो" यह बडा शब्द कहें ॥ ३ ॥

(९) यो जातः एव प्रथमो मनस्वान्, देवो देवान् क्रतुना परि+अभूषत्। यस्य शुष्माद् रोदसी अभि+असेतां, नृम्णस्य मन्हा स जनासः! इन्द्रः॥१॥ (ऋ० २।१२।१)

अर्थ—जो प्रकट हुआ ही सबसेपहला (मुख्य) होता है, जो विशाल-मनवाला देव अपने ज्ञान (स्वाभाविक ज्ञानबल)से सब देवताओंको उल्लंघन किये हुआ है। जिसके बलसे द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों कांपते हैं (मर्यादाके उलांघनेमें डरते हैं), और जो अपने बलके महत्त्व(बडप्पन)से सदा युक्त है, हे मनुष्यो! वह इन्द्र है ॥ १ ॥

यस्य अश्वासः प्रदिशि यस्य गावो, यस्य ग्रामाः यस्य विश्वे रथासः। यः सूर्यं यः उषसं जजान, यो अपां नेता सः जनासः! इन्द्रः ॥२॥ (ऋ० २।१२।७)

अर्थ—जिसकी दानक्रिया(बख्शश)में घोडे हैं, जिसकी दानक्रियामें गौएं हैं, जिसकी दानक्रियामें देश नगर और गाओं हैं, जिसकी दानक्रियामें सब (सबप्रकारके) रथ हैं। जिसने सूर्यको जिसने उषा(प्रभात)को उत्पन्न किया है, जो जलोंका लाने (बरसाने) और चलानेवाला है, हे मनुष्यो! वह इन्द्र है ॥ २ ॥

यस्मात् न ऋते विजयन्ते जनासो, यं युध्यमानाः अवसे हवन्ते। यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव, यो अच्युतच्युत् स जनासः इन्द्रः॥३॥ (ऋ० २।१२।९)

अर्थ—जिसके विना (जिसकी सहायताकेविना) मनुष्य नही विजयको-प्राप्त-होते, युद्ध करते हुए मनुष्य रक्षा(सहायता)केलिये जिसको बुलाते हैं। जो सब जगत्का प्रत्यक्ष मापनेवाला है, और जो स्वयं अच्युत हुआ दूसरोंको च्युत करनेवाला (गिरानेवाला) है, हे मनुष्यो! वह इन्द्र है ॥ ३ ॥

यस्माद् इन्द्रात् बृहतः किं च न ईम् ऋते, विश्वानि अस्मिन् संभृताऽधि वीर्या। जठरे सोमं* तन्वी सहो महो, हस्ते वज्रं† भरति शीर्षणि क्रतुम् ॥ ४ ॥ (ऋ० २।१६।२)

अर्थ—जिस सब से बडे इन्द्रके विना कोई भी वस्तु नही है, इस इन्द्रमें सब बल (शक्तियां) इकट्ठे हुए (एक बल हुए) रहते हैं। पेटमें सर्व अन्नोंका राजा अन्न, शरीरमें महान् बल, हाथमें तलवार और सिरमें ज्ञान (दानाई) रखता है ॥ ४ ॥

इन्द्र! श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि, चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वम् अस्मे। पोषं रयीणाम् अरिष्टिं तनूनां, स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वम् अन्हाम् ॥ ५ ॥ (ऋ० २।२१।६)

---

* सोमो वै ओषधीनां राजा (तै० सं० ६।१।१९) † 'वज्रो वै असिः' (शत० ३।८।२।१२)।

अर्थ—हे इन्द्र ! हमको श्रेष्ठ धन दे, बलका ज्ञान दे और सौभाग्य (सब प्रकारका बढिया ऐश्वर्य) हमको दे । धनोंकी प्रतिदिन बढती, शरीरोंकी अरोगता, बाणीकी मधुरता, और जीनेके दिनोंका सुखसे बीतना (विवाहकेदिनोंकीनाईं हासी-खुशीसे बीतना) हमको दे ॥ ५ ॥

(१०) पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते !, प्रभुः गात्राणि परि+एषि विश्वतः । अतप्ततनूः न तद् आमो अश्नुते, शृतासः इद् वहन्तः तत् समाशत ॥१॥
(ऋ० ९।८३।१)

अर्थ—हे ब्रह्माण्डके स्वामी ! तेरा स्वरूप पवित्र और विस्तारवाला (व्यापक) है, तुझ समर्थने हम सबके शरीरोंको सबओरसे (भीतर बाहर सबओरसे) व्याप्त किया है । जिसने अपने शरीरको साधनोंकी भट्टीमें तपाया नहीं, जो अभी कच्चा है, वह तेरे उस स्वरूपको नहीं प्राप्त होता, जो साधनोंकी भट्टीमें पके हुए और संसारयात्राका धुरा (जूला) उठाये हुए हैं, वे ही तेरे उस स्वरूपको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

न तम् अंहो न दुरितं कुतश्चन, न अरातयः तितिरुः न द्वयाविनः । विश्वाः इद् अस्माद् ध्वरसो विबाधसे, यं सुगोपाः रक्षसि ब्रह्मणस्पते ! ॥ २ ॥
(ऋ० २।२३।५)

अर्थ—न उसको दुःख सताता है, न पाप, न किसी ओरसे (बाहरसे अथवा भीतरसे) भी शत्रु और न दुहरी (मनसे दूसरी, बाणीसे दूसरी) बात करनेवाले उसको सताते हैं । सब ही सतानेवालों (दुःखदेनेवालों) को तू इससे दूरकरता है, हे ब्रह्माण्डके स्वामी ! अच्छा-रखवाला (अच्छीतरह रक्षाकरनेवाला) तू जिसकी रक्षाकरता है ॥ २ ॥

त्वया वयम् उत्तमं धीमहे वयः, बृहस्पते ! पप्रिणा सस्निना युजा । मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुः ईशत, प्र सुशंसाः मतिभिः तारिषीमहि ॥ ३ ॥
(ऋ० २।२३।१०)

अर्थ—हे बृहस्पति ! (इस बडे विश्वके स्वामी) हम तुझ कामनाओंके पूराकरनेवाले परम पवित्र साथीसे बहुत-उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) आयु (जीनेकेदिनों) को धारणकरें । अपकीर्ति-वाला (दुःख देनेवाला), सबओरसे-दबानेवाला मत हमारा ईश्वर (राजा) हो, हम अपनी बुद्धियोंसे अच्छीप्रशंसा (कीर्ति) वाले हुए बहुत बढें ॥ ३ ॥

उपस्तुहि प्रथमं रत्नधेयं, बृहस्पतिं सनितारं धनानाम् । यः शंसते स्तुवते शंभविष्ठः, पुरुवसुः आगमत् जोहुवानम् ॥ ४ ॥ (ऋ० ५।४२।७)

अर्थ—हे मनुष्य ! तू धनोंके बांटनेवाले, रमणीय पदार्थोंके देनेवाले, सबके मुखिया, बृहस्पतिकी स्तुतिकर (भक्तिकर) । जो लोकमें प्रशंसा (कीर्ति) वाले, स्तुति करनेवालेके लिये सबसे बढकर सुखोंका दाता है, और प्रार्थनापूर्वक बुलानेवालेको बहुत धन लिये हुआ प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तव ऊतिभिः सचमाना अरिष्टाः, बृहस्पते ! मघवानः सुवीराः । ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदाः, ये वस्त्रदाः सुभगाः तेषु रायः ॥ ५ ॥

(ऋ० ५।४२।८)

अर्थ—हे बृहस्पति ! जो आपकी रक्षाओंकेसाथ सम्बन्धवाले हैं, वे दुःखोंसे-रहित, धनवान् और अच्छेपुत्रपौत्रोंवाले होते हैं । जो घोडोंके दाता (दान करनेवाले) हैं, अथवा गौओंके दाता हैं, और जो वस्त्रोंका दान करते हैं, वे सौभाग्यवाले (सब प्रकारके ऐश्वर्योवाले) होते हैं, उनके घरोंमें अनेक धन होते हैं ॥ ५ ॥

(११) त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा, ये च देवा असुर ! ये च मर्ताः । शतं नो रास्व शरदो विचक्षे, अश्याम आयूंषि सुधितानि* पूर्वा ॥ १ ॥

(ऋ० २।२७।१०)

अर्थ—हे वरुण ! (दुःखोंके निवारक वरणीय ईश्वर !) हे प्राणदाता ! तू उन सबका राजा है, जो देवता हैं, और जो मनुष्य हैं । हमको देखनेकेलिये (देखने सुनने आदिके लिये) सौ बरस(सौ बरसकाजीवन) दे, हम जाति और देशके हितवाली मुख्य (श्रेष्ठ) आयुओंको भोगें ॥ १ ॥

तव व्रते सुभगासः स्याम, स्वाध्यो वरुण ! तुष्टुवांसः । उपायने उषसां गोमतीनाम्, अग्नयो न जरमाणा अनुद्यून् ॥ २ ॥ (ऋ० २।२८।२)

अर्थ—हे वरुण ! आपके आज्ञाकिये हुए कर्ममें वर्तमानहुए हम सौभाग्य(सब प्रकारके ऐश्वर्य)वाले, अच्छी बुद्धियोंवाले और आपको प्रसन्न करनेवाले होवें । और प्रति-दिन गौओंवाली उषाओं(प्रभातों)के आगमन कालमें आपकी स्तुति करते हुए हम अग्निहोत्रकी अग्नियोंकी नाई देदीप्यमान होवें ॥ २ ॥

अपो सु म्यक्ष वरुण ! भियसं मत्, सम्राट् ! ऋतावः ! अनु मा गृभाय । दामेव वत्सात् विमुमुग्धि अंहो, नहि त्वद् आरे निमिषः चनीशे ॥ ३ ॥

(ऋ० २।२८।६)

अर्थ—हे वरुण ! हमसे भयको अच्छी तरह दूरकर, हे सम्राट् ! हे सच्चे (अटूट) नियमोंवाले ! हमपर अनुग्रह-कर । वच्छेसे (वच्छेके गलसे) रस्सी(बांधनेकी रस्सी)की नाई हमसे पाप(दुःखोंकेमूल-पाप)को अलगकर (छुडा), तुमसे आडमें रहनेकेलिये (छिपनेके-लिये) प्राणियोंका निमेष(आंखका झपकना)भी समर्थ नहीं है ॥ ३ ॥

परा ऋणा सावीः अध मत्कृतानि, माऽहं राजन् ! अन्यकृतेन भोजम् । अव्युष्टाः इत् नु भूयसीः उषासः, आ नो जीवान् वरुण ! तासु शाधि ॥ ४ ॥

(ऋ० २।२८।९)

अर्थ—हे राजन् ! मेरेकियेहुए ऋणोंको अब परे फैंक (निवृत्तकर), मैं

* सुहितानि ।

दूसरेके कमाये हुए धनसे न भोजन करूं (न पेट भरूं)। क्योंकि ऋणी मनुष्यकी बहुतसी उषायें (प्रभातें) उदय हुई हुई भी, ऋणकी चिन्तासे नउदयहुई ही होती हैं, हे वरुण! उन प्रतिदिन-उदयहोनेवाली-उषाओंमें हम सब अपने जीवोंको उऋण करके चिन्तनकेलिये कोई दूसरा उपदेश दे ॥ ४ ॥

मा ऽहं मघोनो वरुण! प्रियस्य, भूरिदाव्न: आ+विदं शूनम् आपेः।
मा रायो राजन्! सुयमाद् अव+स्थां, बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥५॥
(ऋ० २।२८।११)

अर्थ—हे वरुण! मैं तुझ प्यारे धनवान् बडेदाताके आगे अपने और अपने बन्धुवर्गके धनाभाव(दरिद्रता)का न आवेदन (निवेदन) करूं। और हे राजन्! सुन्दर (शास्त्रोक्त) नियमोंसे सम्पादन किये जानेवाले धनसे न अलग-हुआ खडा-होवूं, हम सब आपकी कृपासे अच्छे पुत्रपौत्रोंवाले हुए यज्ञमें 'खाओ और दो' यह बडावचन कहें ॥५॥

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ (११।३९)

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

(१) यः एकः इत् च्यावयति प्र* भूमा, राजा कृष्टीनां पुरुहूतः इन्द्रः।
सत्यम् एनम् अनु विश्वे मदन्ति, रातिं देवस्य गृणतो मघोनः ॥ १ ॥
(ऋ० ४।१७।५)

अर्थ—जो अकेला ही सब प्रजाका राजा, सबसे बडा, बहुतोंसे बुलाया-गया इन्द्र है, वही गिराताहै और वही उठाता है। सब प्राणी इस तीनोंकालोंमें नाश न होनेवालेके-आनन्दसे आनन्दित होते हैं, जब वे उस स्तुतिवाले धनवान् देवोंकेदेवके दानको पाते हैं ॥ १ ॥

भद्रा ते हस्ता सुकृता उत पाणी, प्र+यन्तारा स्तुवते राधः इन्द्र।। का ते
निषत्तिः किम् उ नो ममत्सि, किं न उत् उत् उ हर्षसे दातवै उ ॥२॥
(ऋ० ४।२१।९)

अर्थ—हे इन्द्र! तेरी मङ्गलरूप (लम्बी) दोनों बाहीं रक्षाआदि अच्छे-कर्मोंकी करनेवाली हों, और तेरे दोनों हाथ अपने स्तोता(भक्त)केलिये धनके देनेवाले हों। हे इन्द्र! कहां तेरी रहना (बैठना) है? क्यों तू हमें जलदी नहीं आनन्दित करता है?,

* प्रकर्षयति ।

और क्यों और क्यों धनआदि देनेकेलिये जलदी जलदी नही प्रसन्न होता है ? ॥ २ ॥

एवा वस्वः इन्द्रः सत्यः सम्राट्, हन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे* कः। पुरुष्टुत! क्रत्वा नः शग्धि रायः, भक्षीय ते अवसो दैव्यस्य ॥ ३ ॥ (ऋ० ४।२१।१०)

अर्थ—धनके स्वामी अज्ञानके नाशक सत्यस्वरूप राजाओंकेराजा इन्द्रने जैसे अपने संङ्कल्पसे मनुष्यकेलिये वरनेयोग्य पदार्थ-मात्रको बनाया है। हे बहुतोंसेस्तुति किये गये! ऐसे ही अपने संङ्कल्पसे हमको धन दे, और हम तुझ देवके दिये धनको भोगें ॥ ३ ॥

(२) को अस्य वीरः सधमादम् आप, समानंश सुमतिभिः को अस्य। कद् अस्य चित्रं चिकिते कद् ऊती, वृधे भुवत् शशमानस्य यज्योः ॥१॥ (ऋ० ४।२३।२)

अर्थ—कौन वीर (शूरवीर) इस इन्द्रके साथी-आनन्दको प्राप्त होता है, कौन वीर इस इन्द्रकी अच्छी-मतियों(शिक्षाओं)के साथ संगत (सम्बन्ध-वाला) होता है। कब इस इन्द्रका देय विचित्र धन जाना जाता है, और कब वह यज्ञ-करनेवाले स्तोता (भक्त)की वृद्धिकेलिये अपनी रक्षाओंकेसाथ होता है ॥ १ ॥

कथा शृणोति हूयमानम् इन्द्रः, कथा शृण्वन् अवसाम् अस्य वेद। काः अस्य पूर्वीः उपमातयो ह, कथा एनम् आहुः पपुरिं जरित्रे ॥२॥ (ऋ० ४।२३।३)

अर्थ—इन्द्र बुलानेवालेके बुलाने(प्रार्थना वचन)को किसतरह सुनता है, और सुनता हुआ इस(बुलानेवाले)की रक्षाओंको किसतरह जानता है। इस(इन्द्र)के प्रसिद्ध पहले (अनादि सिद्ध) दान (बखशशें) कौन हैं, इस(इन्द्र)को अपने स्तोता (भक्त)की कामनाओंका पूर्ण-करनेवाला किसतरह कहते हैं ॥ २ ॥

इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि, व्रतानि देवाः न मिनन्ति विश्वे। दाधार यः पृथिवीं द्याम् उत इमां, जजान सूर्य्यम् उषसं सुदंसाः ॥३॥ (ऋ० ३।३२।८)

अर्थ—इन्द्रके कर्मोंको जो अच्छीतरह-कियेहुए बहुत (अनन्त) और नियम बद्ध हैं, सब विद्वान् मिलकरभी नही जानते हैं। जिस(इन्द्र)ने पृथिवीको उत्पन्न करके धारण किया है, और इस द्युलोकको उत्पन्न करके धारण किया है, और जिस अच्छे-कर्मोंवालेने सूर्य्यको उत्पन्न किया है, उषा(प्रभात)को उत्पन्न किया है ॥ ३ ॥

इन्द्रं परे अवरे मध्यमासः, इन्द्रं यान्तोऽवसितासः इन्द्रम्। इन्द्रं क्षियन्तः उत युध्यमानाः, इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ॥ ४ ॥ (ऋ० ४।२५।८)

अर्थ—इन्द्रको उच्चश्रेणीकेमनुष्य निम्नश्रेणीकेमनुष्य मध्यमश्रेणीकेमनुष्य बुलातेहैं, इन्द्रको मार्गमें चलनेवाले, इन्द्रको अपनेअपने-कर्तव्यकर्मोंमें लगेहुए बुलाते हैं। इन्द्रको घरोंमें रहनेवाले और युद्ध करनेवाले बुलाते हैं, इन्द्रको धन-धान्यकी इच्छावाले सर्व-स्त्री-पुरुष बुलाते हैं ॥ ४ ॥

---

* पूरवः मनुष्याः (निघं० २।२)।

तम् इत् नरो विह्वयन्ते समीके, रिरिक्वांसः तन्वः कृण्वत त्राम् । मिथो यत् त्यागम् उभयासो अग्मन्, नरः तोकस्य तनयस्य सातौ॥५॥ (ऋ० ४।२४।३)

अर्थ—उस(इन्द्र)को ही मनुष्य (गृहस्थी) विवाह आदि-समीचीन-कर्म(शास्त्रोक्त कर्म)में विनयपूर्वक-बुलाते हैं, शरीरोंको ब्रह्मचर्य्यरूपी तपसे सुकानेवाले ब्रह्मचारी उस-को ही अपना रक्षक बनाते हैं। जब ये दोनों प्रकारके मनुष्य आपसमें मिलकर सायं प्रातः उस त्याग मूर्ति(इन्द्र)को प्राप्त होते हैं (उस त्यागमूर्तिके समीप उपस्थित होते हैं), तब पुत्र पौत्र और धन-प्राप्तिकेलिये उस(इन्द्र)को ही विनयपूर्वक पुकारते हैं ॥ ५ ॥

(३) इन्द्रियाणि शतक्रतो! या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र! तानि ते आवृणे ॥ १ ॥ (ऋ० ३।३७।९)

अर्थ—हे अनन्तज्ञान! जो आपके आंख-कान-आदि इन्द्रिय पांचों प्रकारके मनुष्योंमें लगेहुए हैं। हे इन्द्र! मैं उन आपकेइन्द्रियोंको अपनी ओर झुकाता हूं ॥ १ ॥

अगन् इन्द्र! श्रवो बृहत्, द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् । उत् ते शुष्मं तिरामसि॥२॥ (ऋ० ३।३७।१०)

अर्थ—हे इन्द्र! हमको बडा यश प्राप्त हो, हमको अनन्त धन दे। हम आपकेदिये यश धन और बलको बढायें ॥ २ ॥

अर्वावतो नः आगहि, अथो शक्र! परावतः । उ लोको यस्ते अद्रिवः! इन्द्र! इह ततः आगहि ॥ ३ ॥ (ऋ० ३।३७।११)

अर्थ—हे शक्तिमान्! समीप देशसे अथवा दूर देशसे (जहां आप हैं वहांसे) हमारे पास आओ। हे वज्रवाले! (दुष्टोंके लिये हाथमें तलवारवाले!) जो ही आपका लोक है, हे इन्द्र! वहांसे ही यहां आओ ॥ ३ ॥

बलं धेहि तनूषु नः, बलम् इन्द्र! अनडुत्सु नः । बलं तोकाय तनयाय जीवसे, त्वं हि बलदाः असि ॥ ४ ॥ (ऋ० ३।५३।१८)

अर्थ—हे इन्द्र! हमारे शरीरोंमें बल दे, हमारे पशुओं(बलों)में बल दे। हमारे पुत्र और पौत्रको बल दे सुखपूर्वक जीनेकेलिये, क्योंकि तू बलका देनेवाला है ॥ ४ ॥

(४) नकिः इन्द्र! त्वद् उत्तरो, न ज्यायान् अस्ति वृत्रहन्! । नकिः एवा यथा त्वम् ॥ १ ॥ (ऋ० ४।३०।१)

अर्थ—हे इन्द्र! तुझसे बडा (स्वरूपसे बडा) कोई नही, हे अज्ञाननाशक! नही तुझसे कोई अच्छा (गुण-कर्मसे अच्छा) है। और नही कोई ऐसा है, जैसा तू है ॥१॥

अस्मान् अवन्तु ते शतम्, अस्मान् सहस्रम् ऊतयः । अस्मान् विश्वाः अभिष्टयः ॥ २ ॥ (ऋ० ४।३१।१०)

अर्थ—हे इन्द्र! आपकी सैंकडे रक्षायें हमारी रक्षाकरें, हजारों रक्षायें हमारी रक्षाकरें। आपके दिये सब वांच्छित पदार्थ हमारी रक्षाकरें ॥ २ ॥

अस्मान् इहा वृणीष्व, इन्द्र! सख्याय स्वस्तये। महो राये दिवित्मते ॥३॥
(ऋ० ४।३१।११)

अर्थ—हे इन्द्र ! यहां हमको मित्रताकेलिये चुन, सुखकेलिये चुन । और चमकनेवाले (सोना चांदी आदि) बडे धनकेलिये चुन ॥ ३ ॥

अस्मान् अविड्ढि विश्वहा इन्द्र! राया परीणसा । अस्मान् विश्वाभिः ऊतिभिः ॥ ४ ॥ (ऋ० ४।३१।१२)

अर्थ—हे इन्द्र ! सबदिन पालनेवाले धनसे हमारी रक्षाकर । अपनी सब रक्षाओंसे हमारी रक्षाकर ॥ ४ ॥

अस्माकम् उत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य!। वर्षिष्ठं द्याम् इव उपरि ॥ ५ ॥
(ऋ० ४।३१।१५)

अर्थ—हे सूरियों(विद्वानों)से प्राप्त होने योग्य ! विद्वानोंमें हमारे यशको बहुत-ऊंचा (सबसे ऊपर) कर । जैसे तूने सबसेबडे द्युलोकको सबसे ऊंचा किया है ॥ ५ ॥

(५)त्वं हि एकः ईशिषे इन्द्र! वाजस्य गोमतः । स नो यन्धि महीम् इषम् ॥ १ ॥ (ऋ० ४।३२।७)

अर्थ—हे इन्द्र ! तू ही अकेला ईश्वर (स्वामी) है उस अन्नका, जो घोडों गौओंवाला है । वह (घोडे गौओंवाले अन्नका स्वामी) तू हमको यह बडा अन्न दे ॥ १ ॥

भूरिदाः भूरि देहि नो, मा दभ्रं भूरि आभर। भूरि घा इत् इन्द्र! दित्ससि २
(ऋ० ४।३२।२०)

अर्थ—हे इन्द्र ! तू बहुत देनेवाला है, हमें बहुत दे, थोडा नही, बहुत ला । तू सदा बहुत ही देनेकीइच्छाकर ॥ २ ॥

भूरिदाः हि असि श्रुतः, पुरुत्रा शूर? वृत्रहन्!। आ नो भजस्व राधसि॥३॥
(ऋ० ४।३२।२१)

अर्थ—हे शूर ! (पराक्रमी !) हे वृत्रहन् ! (अज्ञाननाशक !) तू सर्वत्र निश्चय बहुत-देनेवाला विख्यात है । हमको धनमें सब-ओरसे भागवाला (हिस्सेदार)कर ॥३॥

(६)ऋतस्य हि शुरुधः* सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य धीतिः वृजिनानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द, कर्णा बुधानः शुचमानः आयोः ॥ १ ॥
(ऋ० ४।२३।८)

अर्थ—निःसन्देह ऋत(कर्मफलदाता ईश्वर)के पहलेसेसञ्चित अनेकधन हैं, ऋतकी अनुग्रह-बुद्धि पापोंका नाश करती है । ऋतका जागता हुआ और चमकता हुआ कर्म-फलके दानका शब्द मनुष्यके बहरे कानोंको खोलदेता है ॥ १ ॥

ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति, पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि। ऋतेन दीर्घम् इषणन्त पृक्षः, ऋतेन गावः ऋतम् आविवेशुः ॥ २ ॥ (ऋ० ४।२३।९)

---

* शुरुधः-धनानि (निरु० १२।१८)।

अर्थ—ऋतके 'अधिकारमें' शरीरधारी मनुष्यकेलिये दृढ (मजबूत) सांसारिक दुःखोंके सहारनेवाले और आह्लाद(आनन्द)के देनेवाले बहुत शरीर हैं। मनुष्य ऋतसे (ऋतकी कृपासे) दीर्घायु और वीर्यसेचनमें समर्थ अन्नमय शरीरको चाहते हैं, ऋतसे (ऋतकी कृपासे) गौएं और वाञ्छित-शरीर, ऋतपरायण (कर्मफलदाता ईश्वर पर भरोसेवाले) पुरुषको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातम्, इषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते। अधीवासं रोदसी वावसाने, घृतैः अन्नैः वावृधाते मधूनाम्* ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।५।४)

अर्थ—ऋतके कर्मफलदेनेकेमार्ग जो धनधान्यकेलिये वाञ्छित और सनातन हैं, निश्चय सुजन्मा (सदाचारी) मनुष्यको प्राप्त होते हैं। सबके वसानेवाले द्यौ और पृथिवी अपने अधिकारमें वसनेवाले उस सुजन्माको घीसे अन्नोंसे और जलोंकी वृष्टिसे (पृथिवी-घी अन्नोंसे, और द्यौ वृष्टिसे) बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

(७) मा वो रसा अनितभा† कुभा क्रुमुः, मा वः सिन्धुः निरीरमत्। मा वः परिष्ठात् सरयुः पुरीषिणी, अस्मे इत् सुम्नम् अस्तु वः ॥१॥ (ऋ० ५।५३।९)

अर्थ—हे मरुतो! (वर्षालानेवाली वायुओ!) मत तुमको महातेजस्विनी रसा नदी, कुभा (काबल) नदी, क्रुमु (कुर्रम) नदी और मत तुमको सिन्धु नदी निकृष्ट (निम्नश्रेणीका) रमण करायें (तुह्मारे यथेष्ट खेलनेमें प्रतिबन्धक न हो)। मत तुमको फैलेहुए जलवाली सरयु (हरो) नदी रोके, हमको आपका (आपके आनेका) सुख अवश्य हो ॥ १ ॥

न स जीयते मरुतो! न हन्यते, न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति। न अस्य रायः उपदस्यन्ति न ऊतयः, ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥ २ ॥ (ऋ० ५।५४।७)

अर्थ—हे मरुतो! न वह जीता जाता है, न मारा जाता है, न बलहीन (क्षीण) होता है, न रोगी होता है, न दुःखी होता है। न इसके धन नष्ट होते हैं, और न रक्षायें (रक्षक जन), जिस ब्राह्मणको, अथवा शूद्र, वैश्य और क्षत्रियको, आप कृषि आदि सत्कर्मोंमें लगाते हैं ॥ २ ॥

को वा महान्ति महताम् उदश्नवत् कः काव्या मरुतः! को ह पौंस्या। यूयं ह भूमिं किरणं न रेजथ, प्र यद् भरध्वे सुविताय दावने ॥ ३ ॥ (ऋ० ५।५९।४)

अर्थ—हे मरुतो! आप बड़ोंके बड़े कर्मोंको कौन प्राप्त होता (जानता) है, और कौन आपके गुणोंके बखानोंको और कौन आपके पौरुषों (पराक्रमों) को प्राप्त होता है। आप तब भूमिको सूर्यकी नाई चलाते हैं, जब प्रजाको जलदेनेके लिये प्रकर्ष(वेग)को धारण करते हैं ॥ ३ ॥

---

*मधु इति उदकनाम (निघं० १।१२)। †न इता=इयत्तां प्राप्ता भा=तेजो यस्याः, सा।

(८) इमं मे गङ्गे ! यमुने ? सरस्वति !, शुतुद्रि ! स्तोमं सचता परुष्णि आ । असिक्न्या मरुद्वृधे ! वितस्तया, आर्जीकीये ! शृणुहि आ सुषोमया ॥ १ ॥ (ऋ० १०।७५।५)

अर्थ—हे गंगा ! हे यमुना ! हे सरस्वती ! हे शतद्रु ! (सतलुज !) हे परुष्णी ! (इरावती=रावी !) मेरे इस स्तुतिवचन (प्रार्थना-भरे वाक्य)को आदरपूर्वक स्वीकार कर। हे वर्षा ऋतुमें फैलनेवाली सरयु ! (हरो नदी) असिक्नी(चीनाब)के साथ और वितस्ता (जिहलम्)के साथ, हे आर्जीकीया ! (ऋजीक पर्वतसे निकलनेवाली व्यासनदी !) सुषोमा(सुहावा नदी)के साथ मेरे इस स्तुति वचनको आदरपूर्वक सुन ॥ १ ॥

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः, सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या । त्वं सिन्धो ! कुभया गोमतीं क्रुमुं, मेहत्न्वा सरथं याभिः ईयसे ॥ २ ॥ (ऋ० १०।७५।६।)

अर्थ—हे सिन्धु ! तू समुद्रकीओर जानेकेलिये पहले तृष्टामा (चित्रालसे नीचे पंचकोरा प्रदेशमें बहनेवाली) नदीके साथ, पीछे सुसर्तू (सुवां) नदीके साथ, तदनन्तर रसा (लेही=लेई) नदीके साथ, तत्पश्चात् उस श्वेती (अर्जुनी) नदीके साथ, तदनु कुभा (काबल) नदीके साथ मिलती है, और गोमती (गोमल नदी) तथा मेहत्नूके साथ मिलकर बहनेवाली क्रुमु (कुर्रम) नदी को साथ लेती है, जिनकेसाथ एक-रथमें बैठी-सी तू चलती है ॥ २ ॥

अभि त्वा सिन्धो ! शिशुम् इत् न मातरो, वाश्राः अर्षन्ति पयसेव धेनवः। राजा इव युध्वा नयसि त्वम् इत् सिचौ, यद् आसाम् अग्रं प्रवताम् इनक्षसि (ऋ० १०।७५।४)

अर्थ—हे सिन्धु ! निःसन्देह बच्चेके सामने माताओंकी नाई शब्द करती हुई, पूर्व पश्चिम दोनों ओरकी सातों नदियां, तेरे सामने जाती हैं, पय(दूध, जल)से युक्त, जैसे नई ब्याई गौएं। अथवा तू ही युद्धकरनेवाले राजाकी नाई इन दोनों सैन्यदलोंको (पूर्व पश्चिम ओरकी नदियोंके दोनों समुदायोंको) साथ लेती है, जब चलनेवाली इन दोनों ओरकी नदियोंका अगुआ हुई दूसरे देशकेलिये चलती है ॥ ३ ॥

प्र ते अरदद् वरुणो यातवे पथः, सिन्धो ! यद् वाजान् अभि-अद्रवः त्वम् । भूम्याः अधि प्रवता यासि सानुना, यद् एषाम् अग्रं जगताम् इरज्यसि ॥४॥ (ऋ० १०।७५।२)

अर्थ—हे सिन्धु ! तेरे जानेकेलिये वरुण(दुःखोंके निवारक ईश्वर)ने बडे (दूसरी नदियोंकी अपेक्षा विस्तृत) मार्गको खोदा (बनाया) है, जिस लिये तू हमारे अन्नक्षेत्रों(अन्न उपजानेवाले खेतों)को सामने रखकर (लक्ष्यमें रखकर) चलती है। और तब तू भूमि(भारत भूमि)के ऊपर ऊंचे तरङ्गों(छल्लों)वाले प्रवाहसे जातीहै, जब इन साथ-चलनेवाले अवारपारके नदीरूपी दो सैन्यदलोंका अगुआहुई राजाकीनाई ऐश्वर्यको प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

दिवि स्वनो यतते भूम्या उपरि, अनन्तं शुष्मं उद्+इयर्ति भानुना ।
अभ्राद् इव प्रस्तनयन्ति वृष्टयः, सिन्धुः यद् एति वृषभो न रोरुवत् ॥५॥
(ऋ० १०।७५।३)

अर्थ—हे सिन्धु! तेरे चलनेका शब्द द्युलोकमें जाता है; भूमिके ऊपर तेरा अनन्त बल चमकीले प्रवाहसे दृष्टिगोचर होता है। जैसे मेघसे वृष्टिलानेवाली बिजलियां बडी गर्जना करती हैं, वैसे तू सिन्धु बडी गर्जना करती है, जब साण्ड की नाईं हौंखा शब्द करती हुई चलतीहै ॥ ५ ॥

(९) सु+अश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासाः, हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती ।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावती, उताधिवस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥ १ ॥
(ऋ० १०।७५।८)

अर्थ—सुन्दर घोडोंवाली, सुन्दर रथोंवाली, सुन्दर वस्त्रोंवाली, सोनेके गहनों(आभूषणों)वाली, सुन्दर कर्मोंवाली, अनेक अन्नोंवाली। ऊण(ऊणके पशुओं)वाली, सीलमा (सीलों)वाली और बडे ऐश्वर्यवाली सिन्धु शहत उत्पन्न करनेवाले पुष्पोंको ओढती है॥१॥

सरस्वतीः सरयुः सिन्धुः ऊर्मिभिः, महो महीः अवसाऽऽयन्तु वक्षणीः ।
देवीः आपो मातरः सूदयित्न्वो, घृतवत् पयो मधुमत् नो अर्चत ॥ २ ॥
(ऋ० १०।६४।९)

अर्थ—सरस्वती, सरयु (हरो) और सिन्धु, जो अपनी लहरोंसे बडीसे बडी नदियां हैं, हमारी रक्षाकेलिये आवें (निरन्तर बहें)। और दिव्य जलोंवाली तीनों मातायें, अच्छे कर्मों(कृषि आदि कर्मों)केलिये प्रेरणा करतीहुईं घीकेतुल्य और शहतके तुल्य अपने जलको हमें दें ॥ २ ॥

प्र क्षोदसा धायसा सस्रे एषा, सरस्वती धरुणम् आयसी पूः । प्रबाबधाना रथ्येव याति, विश्वा अपो महिना सिन्धुः अन्याः ॥३॥ (ऋ० ७।९५।१)

अर्थ—लोहेकी चार देवारीवाले पुर(नगर)की नाईं सब प्रजाको धारणेवाली (आपदासे बचानेवाली) यह सरस्वती, पुष्टकरनेवाले जलसे भरी हुई बडे वेगसे चलती है। जैसे रथवाला अपने रथसे मार्गके जीवजन्तुओंको पीसता हुआ जाताहै, वैसे यह दूसरे सब जलोंको अपने महत्वसे पीसती हुई सिन्धुकेसमान जाती है ॥ ३ ॥

एका अचेतत् सरस्वती नदीनां, शुचिः यती गिरिभ्यः आ समुद्रात् ।
रायः चेतन्ती भुवनस्य भूरेः, घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ ४ ॥ (ऋ० ७।९५।२)

अर्थ—सब नदियोंमें पवित्र, पहाडोंसे समुद्र पर्यन्त जानेवाली अकेली सरस्वती जीवन देती है। प्राणिमात्रके उपयोगी बहुत धन (खाद्य पदार्थ)को जीवन देती हुई (पुष्ट करती हुई) मनुष्य-समूह(नहुषकी सब प्रजा)केलिये घी और दूधको दोहती है (घी, दूध देनेवाली हजारों गौएं देती है) ॥ ४ ॥

इयं शुष्मेभिः बिसखाः इवारुजत्, सानु गिरीणां तविषेभिः ऊर्मिभिः । पारावतघ्नीम् अवसे सुवृक्तिभिः, सरस्वतीम् आविवासेम धीतिभिः॥५॥

(ऋ० ६।६१।२)

अर्थ—यह अपने बलोंसे, बडी लहरोंसे, पर्वतों(पहाडों)के शिखरों(चोटियों)को ऐसे तोड देती है, जैसे बिसोंका खोदनेवाला बिसों(भेंओं)को । हम उस आर पार दोनों किनारोंके नाश करने(ढाने)वाली सरस्वतीका अपनी रक्षाकेलिये भली प्रवृत्तियोंसे और भली बुद्धियोंसे सेवन करते हैं ॥ ५ ॥

(१०) नि त्वा दधे वरे आ पृथिव्याः, इलायास्पदे सुदिनत्वे अन्हाम् । दृषद्वत्यां मानुषे आपयायां, सरस्वत्यां रेवद् अग्ने! दिदीहि ॥ १ ॥

(ऋ० ३।२३।४)

अर्थ—हे अग्नि! मैं तुझको पृथिवीके सबसे श्रेष्ठ, अन्नके उपजाऊ स्थानमें, जीनेके दिनोंको अच्छे दिन बनानेकेलिये आदरपूर्वक स्थापन करता हूं । मनुपुत्रोंके निवासस्थान, दृषद्वती, आपया और सरस्वतीके किनारे, हे धनवान् अग्नि! तू वहां प्रदीप्त हो ॥ १ ॥

आ *यत् साकं यशसो वावशानाः, सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता । याः सुष्वयन्त सुदुघाः सुधाराः, अभि स्वेन पयसा पीप्यानाः ॥२॥ (ऋ० ७।३६।६)

अर्थ—जिनमे सिन्धुकी नाई अनेक नदियोंकी माता सरस्वती सातवीं नदी है, वे हमारेलिये यशकी चाहनेवाली हुई एक साथ लगातार बहें । और वे भी, जो अच्छे पदार्थोंके देनेवाली, अच्छी धारावाली, अपने जलसे हमको सब ओरसे बढानेवाली, बहती हैं ॥ २ ॥

अम्बितमे! नदीतमे! देवितमे! सरस्वति!। अप्रशस्ताः इव स्मसि, प्रशस्तिम् अम्ब! नः कृधि ॥ ३ ॥ (ऋ० २।४१।१६)

अर्थ—हे श्रेष्ठमाता! हे श्रेष्ठनदी! हे श्रेष्ठदेवी! हे सरस्वती! हम आपकेविना अप्रशस्तों(साधारण मनुष्यों)के समान हैं । हे माता! हमको प्रशस्त कर॥ ३ ॥

सरस्वति! अभि नो नेषि वस्यो, माऽपस्फरीः पयसा मा नः आधक् । जुषस्व नः सख्या वेश्या च, मा त्वत् क्षेत्राणि अरणानि गन्म ॥ ४ ॥

(ऋ० ६।६१।१४)

अर्थ—हे सरस्वती! हमको निवासयोग्य स्थान सबओर (आर पार) दे, मत न बढनेवाला कर, मत जलसे हमको दुःखीकर । हमारे मित्रताके कर्मों और समीप रहनेको अङ्गीकार कर, मत हम तुझसे अरमणीय (बाढसे उज्जडेहुए) खेतोंको प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

---

* आस्रवन्तु ।

(११) आपो हि ष्ठा मयोभुवः, ताः नः ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥ (ऋ० १०।९।१)

अर्थ—जल निश्चय हमको सुख देनेवाले हों, वे हमको सुखोपभोगकेलिये पुष्ट करें । बडे होनेकेलिये, रमणेकेलिये और देखनेकेलिये पुष्ट करें ॥ १ ॥

यो वः शिवतमो रसः, तस्य भाजयत इह नः । उशतीः इव मातरः ॥२॥ (ऋ० १०।९।२)

अर्थ—जो आपका सबसे बढकर मंगलरूप रस (मधुररस) है, हे जलो ! हमको यहां उसका भागी बनाओ । जैसे बच्चोंको चाहती हुई मातायें [अपने दूधका भागी बनाती है] ॥२॥

तस्मै अरं गमाम वो, यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो ! जनयथा च नः ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।९।३)

अर्थ—जिस मल आदि दोषके नाशकेलिये आप हमसे प्रीति करते हैं, उसके लिये हम आपको प्रतिदिन शीघ्र प्राप्त होवें । हे जलो ! निश्चय हमको शुद्धकरके अच्छी सन्तान उत्पन्न करनेवाला करो ॥ ३ ॥

ईशानाः वार्याणां, क्षयन्तीः चर्षणीनाम् । अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।९।५)

अर्थ—हे ईश्वर ! हम आपसे गेहूं जौ चना आदि वरणीय पदार्थोंके स्वामी (देनेमें समर्थ) मनुष्योंके वसानेवाले । सब रोगोंकी औषधि जलोंको मांगते हैं ॥ ४ ॥

(१२) विश्वानि देव ! सवितः ! दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तत् नः आसुव ॥ १ ॥ (ऋ० ५।८२।५)

अर्थ—हे अन्तर्यामी रूपसे सर्वत्र द्योतमान ! (प्रकाशमान) हे जगदुत्पादक ! हमसे सब पापों(पापकर्मों)को परे फैंक (दूरकर) । जो शुभकर्म (पुण्य) है, वह हमारे सामने कर १.

तत् सवितुः वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनम् । श्रेष्ठं सर्वधातमं, तुरं भगस्य धीमहि ॥ २ ॥ (ऋ० ५।८२।१)

अर्थ—हम सविता (जगदुत्पादक) देवके उस धनको मांगते है, जो भोगने योग्य है । हम ऐश्वर्यमूर्ति सविता देवके सबसे बढकर सबको पुष्ट करनेवाले, दोषोंके नाशक उत्तम धनका चिन्तन(सदा स्मरण)करते हैं ॥ २ ॥

तत् सवितुः वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥३॥ (ऋ० ३।६२।१०)

अर्थ—हम उस सविता देवके सबसे श्रेष्ठ तेजोमय स्वरूपका चिन्तन करते हैं । जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरे (भले कर्मोंमें लगाये) ॥ ३ ॥

आ विश्वदेवं सत्पतिं, सूक्तैः अद्या वृणीमहे । सत्यसवं सवितारम् ॥ ४ ॥ (ऋ० ५।८२।१४)

अर्थ—आज हम सबके उपास्य-देव श्रेष्ठोंकेपालकको सुन्दर वचनों(स्तुतिवचनों)से भजते हैं । जो सत्यका पक्षपाती और जगतका उत्पादक है ॥ ४ ॥

सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात्, सविता उत्तरात्तात् सविता अधरात्तात् । सविता नः सुवतु सर्वतातिं, सविता नः रासतां दीर्घमायुः ॥ ५ ॥

(ऋ० १०।३६।१४)

अर्थ—सविता पीछेसे, सविता आगेसे, सविता उत्तरसे, सविता दक्षिणसे, हमारी रक्षा करे। सविता हमको सर्व ओरसे विस्तारने(लम्बाकरने)वाली (सबकी दादी) स्त्री दे, सविता हमको लम्बी आयु दे ॥ ५ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ (१२।४९)

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

(१) ईशे हि अग्निः अमृतस्य भूरेः, ईशे रायः सुवीर्यस्य दातोः । मा त्वा वयं सहसावन्! अवीराः, माऽप्सवः परिषदाम माऽदुवः ॥ १ ॥

(ऋ० ७।४।६)

अर्थ—अग्नि निःसन्देह बहुत लम्बा जीवन (दीर्घायु) देनेकेलिये समर्थ है, प्रशंसनीय बलवाला धन देनेकेलिये समर्थ है। हे बलवान्! हम वीरों(पुत्रपौत्रों)से रहित हुए तुझे न त्यागें, न रूप(अलङ्कार)से रहित हुए, और न सेवकोंसे रहित हुए, तुझे त्यागें ॥ १ ॥

परिषद्यं हि अरणस्य रेक्णः, नित्यस्य रायः पतयः स्याम । न शेषो अग्ने! अन्यजातम् अस्ति, अचेतानस्य मा पथो विदुक्षः ॥ २ ॥(ऋ० ७।४।७)

अर्थ—दूसरेका धन (पुत्र) निश्चय त्यागने योग्य है, हम नित्य (सदा अपने) धन (पुत्र)के स्वामी होवें। हे अग्नि! दूसरेका उत्पन्नकियाहुआ पुत्र (अपना पुत्र) नही होता है, तूने इस सच्चे मार्गसे बेसमझ(ज्ञानशून्य)मनुष्यको न विमुख करना (न भ्रष्ट होने देना)॥ २ ॥

नहि ग्रभाय अरणः सुशेवो, अन्योदर्यो मनसा मन्तवै उ । अधा चिद् ओकः पुनः इत् स एति, आ नो वाजी अभीषाळ् एतु नव्यः ॥ ३ ॥

(ऋ० ७।४।८)

अर्थ—बेगाना (दूसरेका पुत्र) बड़ा सुखदायी होनेपर भी ग्रहण करनेकेलिये (पुत्र बनानेकेलिये) नही, दूसरेके उदरसे उत्पन्न हुआ, मनसे भी पुत्र माननेकेलिये नही। क्योंकि पीछे (कुछ काल बीतने पर)भी वह घरको (अपने पिताके घरको) ही वापस जाता (अपने वंशमें ही जा मिलता) है, इसलिये हे अग्नि! हमको सबओरसे शत्रुओंको भयभीत करनेवाला तथा दबानेवाला नया पुत्र (औरस पुत्र) प्राप्त हो ॥ ३ ॥

त्वम् अग्ने! वनुष्यतो निपाहि, त्वम् उ नः सहसावन्! अवद्यात् । सं त्वा ध्वस्मन्वत्* अभि+एतु पाथः†, सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्री ॥ ४॥

(ऋ० ७।४।९)

अर्थ—हे अग्नि! तू पीडादेनेवालेसे रक्षाकर, और हे बलवान्! तू पाप कर्मसे हमारी रक्षाकर। हमारा अर्पण कियाहुआ जल और अन्न आपको प्राप्त हो, और हजारों गौओं घोडोंवाला वाञ्छित धन हमें प्राप्त हो ॥ ४ ॥

ताम् अग्ने! अस्मे इषमीरयस्व, वैश्वानर! द्युमतीं जातवेदः! । यया राधः पिन्वसि विश्ववार!, पृथु श्रवो दाशुषे मर्त्याय ॥ ५ ॥ (ऋ० ७।५।८)

अर्थ—हे अग्नि! हे सब मनुष्योंके हितकारी! हे सब धनोंवाले! हमको वह प्रकाशवाली (यशस्विनी) प्रजा दे। जिस(प्रजा)से तू हे सबसे-वरने (चुनने) योग्य! इस मरणधर्मा (मनुष्य) दाताके धनको और विस्तृत यशको पुष्टकरे (बढाये) ॥ ५ ॥

(२) न यातवः इन्द्र! जुजुवुः नो, न वन्दना शविष्ठ! वेद्याभिः । स शर्धत् अर्यो विषुणस्य जन्तोः, मा शिश्नदेवाः अपिगुः ऋतं नः ॥ १ ॥

(ऋ० ७।२१।५)

अर्थ—हे परम ऐश्वर्यवान्! जादूगर (तान्त्रिक) हमको न तुझसे दूर लेजायें (अलग करें), हे सबसे बढकर बलवान्! पाषण्डी अपनी पाषण्ड-क्रियाओंसे हमको न तुझसे दूर लेजायें। वह स्वामी (इन्द्र) विषम (अन्यायी) मनुष्यकेलिये बली होवे, शिश्नदेव (इन्द्रियोंके उपासक) हमारे यज्ञमें न आवें ॥ १ ॥

न ते गिरो अपिमृष्ये तुरस्य, न सुष्टुतिम् असुर्यस्य विद्वान् । सदा ते नाम स्वयशो! विवक्मि ॥ २ ॥ (ऋ० ७।२२।५)

अर्थ—मैं दुष्टोंको नष्ट करनेवाले (दण्ड देनेवाले) तुझ इन्द्रके आज्ञावचनोंको नही त्यागता, और नही आपके बलको जानता हुआ सुन्दर स्तुतिको त्यागता हूं। हे अपने आप यशवाले! मैं आपका नाम सदा उच्चारण करता हूं ॥ २ ॥

उतो घा ते पुरुष्याः इद् आसन्, येषां पूर्वेषाम् अशृणोः ऋषीणाम् । अधाऽहं त्वा मघवन्! जोहवीमि, त्वं नः इन्द्रासि प्रमतिः पितेव ॥ ३ ॥

(ऋ० ७।२९।४)

अर्थ—हे इन्द्र! वे भी तो मनुष्य ही थे, जिन पहले ऋषियोंकी पुकारको आपने सुना। अब मैं तुझको हे धनवान्! वारंवार पुकारता हूं, तू हमको पिताकी नांई ऊंची मति देनेवाला है ॥ ३ ॥

न त्वावान् अन्यो दिव्यो न पार्थिवो, न जातो न जनिष्यते । अश्वायन्तो मघवन्! इन्द्र! वाजिनो, गव्यन्तः त्वा हवामहे ॥ ४ ॥ (ऋ० ७।३२।२३)

अर्थ—हे धनवान्! तेरे जैसा दूसरा न द्यौ में है, न पृथिवीमें है, न पहले

---

*उदकनाम (निघं० १।१२)। †पाथः अन्नं (निरु० ६।७)।

हुआहै; और न आगे होगा। हे इन्द्र! हम घोडोंकी इच्छावाले, गौओंकी इच्छावाले और अन्नकी इच्छावाले हुए, तुझे पुकारते (तुझसे प्रार्थना करते) हैं ॥ ४ ॥

इन्द्र! क्रतुं नः आभर, पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत! यामनि, जीवाः ज्योतिः अशीमहि ॥ ५ ॥ (ऋ० ७।३२।२६)

अर्थ—हे इन्द्र! हमको ज्ञान दे, जैसे पुत्रोंको पिता देता है। हे बहुतोंसे बुलाये गये! हमको इस अन्धकारमय संसारमें श्रेष्ठ बुद्धि दे, जिससे जीवनवाले हुए हम प्रकाशको प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

(३) इन्द्र! प्र णः पुरएतेव पश्य, प्र णो नय प्रतरं वस्यो अच्छ। भवा सुपारो अतिपारयो नः, भवा सुनीतिः उत वामनीतिः ॥ १ ॥ (ऋ० ६।४७।७)

अर्थ—हे इन्द्र! आगे चलनेवाले(नेता)की नाईं हमको भली भांति देख, हमको बहुत अच्छे तथा सबसेश्रेष्ठ धनके सामने लेचल। तू अच्छा पार करनेवाला है, तू अच्छी नीतिवाला और सर्वप्रियनीतिवाला है हमको सांसारिक आपदाओंसे अत्यन्त पारकर ॥ १ ॥

उरुं नो लोकम् अनुनेषि विद्वान्, स्वर्वत् ज्योतिः अभयं स्वस्ति। ऋष्वा ते इन्द्र! स्थविरस्य बाहू, उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥ २ ॥

(ऋ० ६।४७।८)

अर्थ—हे विद्वान्! हमें विस्तृत लोकको (बडे साम्राज्यको), सूर्य्यकी नाईं ज्ञान-ज्योतिको, निर्भयताको और सुखको प्राप्त कर (दे)। हे इन्द्र! हम तुझ वयोवृद्ध(आयुसे बडे)की सबसे बडी (लम्बी), रक्षा करनेवाली और दर्शनीय दोनों भुजाओंको उपाश्रय (अपना सहारा) बनाते हैं ॥ २ ॥

इन्द्र! मृड मह्यं जीवातुम् इच्छ, चोदय धियम् अयसो न धाराम्। यत् किं च अहं त्वायुः इदं वदामि, तत् जुषस्व कृधि मा देववन्तम् ॥ ३ ॥

(ऋ० ६।४७।१०)

अर्थ—हे इन्द्र! कृपाकर, मुझे दीर्घ जीवन देनेकी इच्छाकर, मेरी बुद्धिको लोहे (तलवार) की धाराकी नाईं तीक्ष्णकर। तुझ देवका चाहनेवाला मैं जो कुछ भी यह कहताहूं, उसको स्वीकारकर, और मुझे देववाला (अपना) कर ॥ ३ ॥

त्रातारम् इन्द्रम् अवितारम् इन्द्रं, हवे हवे सुहवं शूरम् इन्द्रम्। ह्वयामि शक्रं पुरुहूतम् इन्द्रं, स्वस्ति नो मघवा धातु इन्द्रः ॥ ४ ॥ (ऋ० ६।४७।११)

अर्थ—तारनेवाले (संसारयात्रासागरसे पारकरनेवाले) इन्द्रको, रक्षाकरनेवाले (सांसारिक दुःखोंसे बचानेवाले) इन्द्रको, पुकार पुकारमें (हरएक प्रार्थना कालमें) सुखसे पुकारने (आसानीसे प्रार्थना करने) योग्य पराक्रमी इन्द्रको, शक्तिमान् और बहुतोंसे रक्षार्थ बुलाये (पुकारे) गये इन्द्रको, मैं बुलाता (पुकारता) हूं, धनवान् इन्द्र हमको सुख दे ॥ ४ ॥

(४) प्र तुविद्युम्नस्य स्थविरस्य घृष्वेः, दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः । न अस्य शत्रुः न प्रतिमानम् अस्ति, न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः ॥ १ ॥ (ऋ० ६।१८।१२)

अर्थ—बहुत यशवाले (महायशस्वी), सबसे वृद्ध, दुष्टोंके घर्षक (दण्ड देनेवाले) इन्द्रकी महिमा (महत्त्व) द्युलोकसे और पृथिवीलोकसे बहुत बडी है । इसका कोई शत्रु नही, न कोई प्रत्यक्ष मापनेवाला है, और नही इस महामायी (वडी मायावाले) बलवान्‌का कोई आश्रय (सहारा) है ॥ १ ॥

न त्वं युयुत्से कतमत् चनाहः, न ते अमित्रं मघवन्! कश्चन अस्ति*। मायेत् सा ते यानि युद्धानि आहुः, न अद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥ २॥ (ऋ० १०।५४।२)

अर्थ—हे मघवन्! तू निश्चय किसीकालमें भी नही युद्धकरता है, क्योंकि कोई भी तेरा शत्रु नही है । जिन तेरे युद्धोंको कवी कहते हैं, वह सब तेरी केवल माया है, जैसे आज (अद्य) तेरा कोई शत्रु नही लभता, वैसे क्या पहले कोई लभा है? ॥ २ ॥

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते, युक्ताः हि अस्य हरयः शता दश ॥ ३ ॥ (ऋ० ६।४७।१८)

अर्थ—इन्द्र! पदार्थ पदार्थमें (प्रत्येक पदार्थमें) प्रत्येक पदार्थाकार हुआ है, इसका वह रूप (प्रत्येक पदार्थाकार स्वरूप) प्रत्यक्ष देखनेकेलिये है । इन्द्र अपनी शक्तियोंसे बहुत रूप (अनेक रूप) हुआ प्रतीत होता (प्रत्यक्ष देखा जाता) है, इस (इन्द्र)की शक्तियां सैकडें और दस सैकडें (अनन्त) युक्त ही हैं ॥ ३ ॥

(५) इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिः आगात्, चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवाय, एवा रात्री उषसे योनिम् आरैक् ॥ १ ॥
(ऋ० १।११३।१)

अर्थ—यह ज्योतियों (प्रकाशों) में उत्तम ज्योति (उषा) आई (उदय हुई), बडा विस्तृत और अद्भुत (आश्चर्य) प्रकाश (उजाला) प्रकट हुआ । जैसे जननेवाली हुई रात्री भूगोलोंके उत्पादक सूर्यके प्रसव (उत्पत्ति) केलिये स्थानको खाली कर देती है, ऐसे उषाकेलिये रात्रीने स्थानको खाली-करदिया है ॥ १ ॥

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्याऽऽगात् आरैग् उ कृष्णा सदनानि अस्याः । समानबन्धू अमृते अनूची, द्यावा वर्णं चरतः आमिनाने ॥ २ ॥ (ऋ० १।११३।२)

अर्थ—ज्यूंही चमकतेहुए वच्छेवाली, चमकती हुई गोरी (श्वेत वर्णवाली—उषा) आई, त्यूंही काली (कालेवर्णवाली रात्री) ने इसकेलिये स्थानोंको खाली करदिया । एक (सूर्य)-बन्धुवाली, न मरनेवाली, आगे पीछे चलनेवाली, अपने अपने रूपको बनातीहुई दोनों (रात्रि और उषा) आकाश-मार्ग से चलती हैं ॥ २ ॥

---

* (शत० ११।१।६।१०)

समानो अध्वा स्वस्रोः अनन्तः, तम् अन्या अन्या चरतो देवशिष्टे । न मेथेते न तस्थतुः सुमेके, नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥ ३ ॥ (ऋ० १।११३।३)

अर्थ—दोनों भैनोंका मार्ग (चलनेका मार्ग) एक है, और अन्त(सीमा)से रहित है, परमात्मदेवकी आज्ञा पाई हुई दोनों अलग अलग उस पर चलती हैं । विपरीत (उलटे)-रूपों(आकारों)वाली, एक मन(अभिप्राय)वाली, दोनों सुन्दरी रात्री और उषा, न बुराभला बोलती हैं, न खडी होती हैं ॥ ३ ॥

प्रबोधय उषः ! पृणतो मघोनि !, अबुध्यमानाः पणयः ससन्तु । रेवद् उच्छ मघवद्भ्यो मघोनि ! रेवत् स्तोत्रे सूनृते ! जारयन्तीः ॥४॥ (ऋ० १।१२४।१०)

अर्थ—हे उषा ! तू अर्थियोंके मनोंको दानसेभरनेवालोंको जगा, हे स्वास्थ्य धनवाली ! जो अज्ञानी व्यवहारी (कामनासे दान देनेवाले) हैं, वे सोवें । हे धनवाली ! तू निष्काम-भावसे दान देनेवाले धनवानोंकेलिये धनवाली हुई उदय हो, हे सच्ची और मीठीबोलियोंवाली ! सबसे जगद्गुरु परमात्माकी स्तुति कराती हुई, स्तोताकेलिये धनवाली हुई उदय हो ॥ ४ ॥

(६) प्रातर् अग्निं प्रातर् इन्द्रं हवामहे, प्रातर् मित्रावरुणा प्रातर् अश्विना । प्रातर् भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं, प्रातः सोमम् उत रुद्रं हुवेम ॥१॥ (ऋ० ७।४१।१)

अर्थ—हम प्रातः (उषाकालमें) अग्नि (ज्ञानशक्ति)को बुलाते हैं, हम प्रातः इन्द्र(परम-ऐश्वर्यशक्ति)को बुलाते हैं, हम प्रातः मित्र (रक्षाशक्ति) और वरुण(दुःखनिवारणशक्ति)को बुलाते हैं, हम प्रातः अश्वियों(अरोगता और नीरोगता शक्ति)को बुलाते हैं । हम प्रातः भग(ऐश्वर्यशक्ति)को, पूषा(पुष्टिशक्ति)को, और ब्रह्मणस्पति(ब्रह्माण्डकी शासनशक्ति)को, बुलाते हैं, हम प्रातः सोम (ह्लादशक्ति) और रुद्र(दुष्टदमनशक्ति)को बुलाते हैं ॥ १ ॥

भग ! प्रणेतः भग ! सत्यराधो, भग ! इमां धियम् उद्+अवा ददत् नः । भग ! प्र णो जनय गोभिः अश्वैः, भग ! प्र नृभिः नृवन्तः स्याम ॥२॥ (ऋ० ७।४१।३)

अर्थ—हे भग ! (ऐश्वर्यशक्ति परमात्मा !) तू हमारा श्रेष्ठ नेता (ऐश्वर्यकी ओरलेजाने-वाला) है, हे भग ! तू हमारा सच्चा धन है, हे भग ! हमारी इस बुद्धिकी रक्षा कर, और हमको यह बुद्धि सदा दे । हे भग ! हमको गौओंसे और घोडोंसे प्रकट(लोकमें विख्यात)-कर, हे भग ! हम पुत्र पौत्रादि वीरोंसे वीरोंवाले प्रसिद्ध होवें ॥ २ ॥

उत इदानीं भगवन्तः स्याम, उत प्रपित्वे उत मध्ये अन्हाम् । उत उदिता मघवन् ! सूर्यस्य, वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥ (ऋ० ७।४१।४)

अर्थ—और हम इस समय (प्रातः) ऐश्वर्यवान् होवें, और सायंकालकी प्राप्तिमें (सांझ समय) तथा दिनोंके मध्यमें (मध्यान्हमें) हम ऐश्वर्यवान् होवें । और हे धनवान् ! सूर्यके उदयकालमें हम विद्वानोंकी दीहुई उत्तम बुद्धिमें वर्तमान होवें ॥ ३ ॥

भग एव भगवान् अस्तु देवाः !, तेन वयं भगवन्तः स्याम । तं त्वा भग ! सर्वः इत् जोहवीति, स नो भग ! पुरःएता भवेह (भव इह)॥४॥ (ऋ० ७।४१।५)

अर्थ—हे विद्वानो ! ऐश्वर्यशक्ति परमात्मा ही ऐश्वर्यवान् है, हम उससे (ऐश्वर्यशक्ति परमात्मासे) ऐश्वर्यवान् होवें । हे ऐश्वर्यशक्ति परमात्मा ! उस (ऐश्वर्यवान्) तुझको सब ही जगत् वारंवार पुकारता है, हे ऐश्वर्यशक्ति परमात्मा ! वह तू यहां (इस लोकमें) हमारा अगुआ हो ॥ ४ ॥

(७) प्राता रत्नं प्रातरित्वा* दधाति, तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या निधत्ते । तेन प्रजां वर्धयमानः आयुः, रायस्पोषेण सचते सुवीरः ॥१॥ (ऋ० १।१२५।१)

अर्थ—जो प्रातः (उषाकालमें) धनकी कामनासे प्रातः आनेवाले विद्वान्को रमणीय धन देता है, और विद्वान् उस (रमणीय धन)को लेकर रख लेता (वर्तने में लाता) है। उस (दान)से वह उत्तमवीर (दानकर्ता) आयु बढाता हुआ धनकी पुष्टि (प्रतिदिन बढती)-के साथ प्रजाको (पुत्र पौत्र आदि प्रजासुखको) सेवता (भोगता) है ॥ १ ॥

सुगुः असत् सुहिरण्यः स्वश्वः, बृहद् अस्मै वयः इन्द्रो दधाति । यः त्वाऽऽयन्तं वसुना प्रातरित्वो ! मुक्षीजया इव पदिम् उत्सिनाति॥२॥ (ऋ० १।१२५।२)

अर्थ—वह अच्छी गौओंवाला, अच्छे धनवाला, अच्छे घोडोंवाला होता है, इन्द्र (परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा) इसको बडी आयु देता है। जो तुझ आनेवाले (अर्थी होकर आनेवाले)को, हे प्रभातसमय आनेवाले विद्वान् ! फांस (रस्सी)से पशुपक्षीकी नाई धनसे बांध लेता है ॥ २ ॥

नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितः, यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति । तस्मै आपो† घृतम्‡ अर्षन्ति§ सिन्धवः !, तस्मै इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥३॥ (ऋ० १।१२५।५)

अर्थ—जो मन खोलकर दान (देता अर्थियोंके मनोंको यथाकाम दानसे भरता) है, वह निःसन्देह पुण्यका आश्रय (सहारा) लियेहुआ द्युलोक(स्वर्ग)के शिखरपर प्रतिष्ठित होकर रहता है, और यहां विद्वानोंमें मानको प्राप्त होता है। हे सिन्धुओ ! (हिन्दुओ !) उसकेलिये अन्तरिक्ष (आकाश) जल को बहाता है, उसकेलिये उत्साहवाली हुई यह भूमि सदा अन्नों और फलोंको पुष्ट करती है ॥ ३ ॥

(८) न वै उ देवाः क्षुधम् इद् वधं ददुः, उत आशितम् उपगच्छन्ति मृत्यवः । उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति, उत अपृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥ १ ॥ (ऋ० १०।११७।१)

अर्थ—देवताओंने (ईश्वरीय शक्तियोंने) निश्चय भूख(भूखे)को ही नियमसे मृत्यु नही दी, खानेवालेको भी अनेकप्रकारकी मृत्युएं प्राप्त होती हैं। भूखोंको मन खोलकर देनेवाले(दानी)का धन किसी कालमें भी नही क्षीण होता है, और न देताहुआ (भूखोंको मन खोलकर न देताहुआ) सुख देनेवाले(परमात्मा)को नही लभता (प्राप्त होता) है ॥ १ ॥

---

*चतुर्थ्यर्थे प्रथमा । †आपः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३) ‡घृतम् उदकनाम (निघं० १।१२) §वर्षन्ति-आदिवकारलोपः, यथा असुरत्वम् (ऋ० ३।५५।१९) इत्यत्र (नि० १०।३४)

य आध्राय चकमानाय पित्वो, अन्नवान् सन् रफिताय उपजग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरा, उतो चित् स मर्डितारं न विन्दते ॥२॥ (ऋ० १०।११७।२)

अर्थ—जो अन्नवाला (धनवान्) हुआ अन्नकी इच्छावाले विपद्ग्रसित पास आये आंध्र(दरिद्र)केलिये मनको (अपने हृदयको) सख्त करता है, और पहले ही अपनेआपको सेवता (अपनेआप खालेता) है, वह सुखदेनेवाले(परमात्मा)को नहीं लभता है ॥ २ ॥

स इद् भोजो यो गृहवे ददाति, अन्नकामाय चरते कृशाय। अरम् अस्मै भवति यामहूतौ, उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।११७।३)

अर्थ—वह ही अन्नदाता(भोजनदाता)है, जो लेनेवाले अन्नकीकामनावाले अन्नकेलिये फिरनेवाले (घर घर डोलनेवाले) भूखसे क्षीणबल(दुर्बल)को देता है। इसकेलिये (अन्नदाताके-लिये) प्रहर प्रहरमें बुलानेवाली संसारयात्रामें प्रत्येककर्म पूरे फलवाला होता है, और यह विरोधी प्रजाओंमें मित्रको बनाता है ॥ ३ ॥

पृणीयात् इत् नाधमानाय तव्यान्, द्राघीयांसम् अनुपश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा, अन्यम् अन्यम् उपतिष्ठन्त रायः ॥४॥ (ऋ० १०।११७।५)

अर्थ—धनवान् मांगनेवालेको अवश्य मन खोलकर दे, और अतिलम्बे मार्गको (शेषआयुकेदिनोंको) पलपल देखे (दृष्टिगोचररखे)। क्योंकि धन निश्चय रथके पहियोंकी नाई घूमते हैं, आज दूसरेको और कल दूसरे को प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

मोघम् अन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्यं ब्रवीमि वधः इत् स तस्य। न अर्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी ॥ ५ ॥ (ऋ०१०।११७।६)

अर्थ—वह अज्ञानी व्यर्थ अन्नको लभता (अन्नका सङ्ग्रह करता) है, मैं सत्य कहताहूं वह (अन्नकासङ्ग्रह) निश्चय उसका नाश (उसकेनाशका कारण) है। जो न अतिथिको पुष्ट करता (खलाता) है, और न मित्र(देशबन्धु)को पुष्टकरता है, वह अकेला खानेवाला निरा पाप (पापका पुंज) है ॥ ५ ॥

(९) मो षु वरुण! मृन्मयं, गृहं राजन्! अहं गमम्। मृड सुक्षत्र! मृडय ॥१॥ (ऋ० ७।८९।१)

अर्थ—हे दुःखोंको निवारण करनेवाले! हे विश्वकेराजा! सुन्दर होनेपर भी तेरे मार्गपर न चलनेवाले पार्थिव शरीरको मैं न प्राप्त होवूं। हे उत्तम क्षत्रिय! मुझपर कृपाकर, और मुझे अपने मार्गपर चलाकर सुखी कर ॥ १ ॥

क्रत्वः समह! दीनता, प्रतीपं जगमा शुचे!। मृड सुक्षत्र! मृडय ॥ २ ॥ (ऋ० ७।८९।३)

अर्थ—हे नित्य महान्! हे परम पवित्र! मैं अशक्तता(शक्ति न होने)केकारण कर्तव्य कर्मसे विपरीत कर्मको प्राप्त हुआ हूं। हे उत्तम क्षत्रिय! कृपाकर, मुझे सुखीकर ॥ २ ॥

यत् किं च इदं वरुण! दैव्ये जने, अभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि। अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम, मा नः तस्माद् एनसो देव! रीरिषः॥३॥ (ऋ०७।८९।५)

अर्थ—हे वरुण! तुझ देवसम्बन्धी जन(विद्वान् अथवा अतिथि)केविषयमें जो कुछ भी यह (अपमान आदिरूप) पाप कर्म हमनें मनुष्य होकर किया है। और जो अपनी अज्ञानतासे आपके आज्ञाकिये दान आदि कर्मोंका पालन नही किया है, हे सर्वत्र अन्तर्यामी रूपसे द्योतमान! उस पाप कर्मसे हमको मत नष्टकरना ॥ ३ ॥

(१०) शृणुतं जरितुः हवम्, इन्द्राग्नी! वनतं गिरः। ईशाना पिप्यतं धियः १
(ऋ०७।९४।२)

अर्थ—हे अग्नि! (जगद्गुरु!) हे इन्द्र! (परम ऐश्वर्यवान्!) मुझ स्तोता(भक्त)की पुकार(प्रार्थना)को सुनो, और स्तुतियोंको स्वीकार करो। हे जगत्के स्वामी! हमारी बुद्धियोंको ज्ञानसे पूर्ण करो (भरो) ॥ १ ॥

मा पापत्वाय नो नरा, इन्द्राग्नी! माऽभिशस्तये। मा नो रीरधतं निदे॥२॥
(ऋ०७।९४।३)

अर्थ—हे सबके नेता! हे अग्नि इन्द्र! हमको पापकर्मकेलिये न विवशकरना, न अभिशस्त (जातिद्रोह, राष्ट्रद्रोह) कर्मकेलिये विवश करना। और न हमको निन्दित कर्म-(नौकरी)केलिये विवश (मजबूर) करना ॥ २ ॥

इन्द्राग्नी अवसा आगतम्, अस्मभ्यं चर्षणीसहा!। मा नो दुःशंसः ईशत ३
(ऋ०७।९४।७)

अर्थ—हे इन्द्राग्नी! अपनी रक्षाकेसाथ हमारेपास आओ (सदा हमारे रक्षक होवो), हे दुष्ट–मनुष्योंकोदबानेवाले! दुःखदायी आज्ञा करनेवाला मत हमारा ईश्वर (राजा) हो ॥३॥

मा कस्य नो अररुषो, धूर्तिः प्रणक् मर्त्यस्य। इन्द्राग्नी! शर्म यच्छतम् ॥४॥
(ऋ० ७।९४।८)

अर्थ—हे इन्द्राग्नी! किसी आर्तिकर (दुःखदायी) मनुष्यकी धूर्तता हमको न प्राप्त हो (हम तक न पहुचे)। आप हमें सुख दें ॥ ४ ॥

गोमद् हिरण्यवद् वसु, यद् वाम् अश्वावद् ईमहे। इन्द्राग्नी! तद्वनेमहि ५
(ऋ०७।९४।९)

अर्थ—हे इन्द्राग्नी! जो आपका गौओंवाला सोनेचांदीवाला और घोडोंवाला धन है, वह हम मांगते हैं। उसको हम आपकी कृपासे भोगें ॥ ५ ॥

(११) त्वाम् अग्ने! मनीषिणः, त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः। त्वां वर्धन्तु नो गिरः॥ १ ॥ (ऋ०८।४४।१९)

अर्थ—हे अग्नि! (जगद्गुरु!) तुझे समबुद्धिवाले कर्मयोगी कर्मोंसे और तुझे पदार्थ-तत्त्वज्ञानी ज्ञानोंसे प्रसन्न करतेहैं। हमारी वाणियां तुझे प्रसन्न करें ॥ १ ॥

उप त्वा धीतयो मम, गिरो वर्धन्तु विश्वहा । अग्ने ! सख्यस्य बोधि नः ॥२॥
(ऋ० ८।४४।२२)

अर्थ—हमारी बुद्धियां और वाणियां सबदिन तुझे प्रसन्न करें । हे अग्नी ! हमारी मित्रताको तू जान (स्वीकार कर) ॥ २ ॥

यद् अग्ने ! स्याम् अहं त्वं, त्वं वा घा स्याः अहम् । स्युः ते सत्याः इह आशिषः ३
(ऋ०८।४४।२३)

अर्थ—हे अग्नि ! जब मैं तू होजाऊंगा, अथवा तू ही मैं होजायगी । तब यहां आपकेदिये आशीर्वाद सच्चे होंगे ॥ ३ ॥

पुरा अग्ने ! दुरितेभ्यः, पुरा मृध्रेभ्यः कवे ! । प्र णः आयुः वसो ! तिर ॥४॥
(ऋ० ८।४४।३०)

अर्थ—हे अग्नि ! पहले हमको पापों(पापकर्मों)से छुडा, हे सर्वज्ञ ! पहले हमको पीडा देनेवालों(दुष्टों)से छुडा । हे वसानेवाले ! हमारी आयुको लम्बा कर ॥ ४ ॥

पाहि नो अग्ने ! एकया, पाहि उत द्वितीयया । पाहि गीर्भिः तिसृभिः ऊर्जां पते !, पाहि चतसृभिः वसो ! ॥ ५ ॥ (ऋ०८।४९(६०)।९)

अर्थ—हे अग्नि ! एक पुकार(प्रार्थना)से हमारी रक्षाकर, दूसरी पुकारसे भी हमारी रक्षाकर । हे सुखों(लोक-परलोक-सुखों)केस्वामी ! तीन पुकारोंसे हमारी रक्षाकर, हे सबकेवसानेवाले ! चार पुकारोंसे हमारी रक्षाकर ॥ ५ ॥

(१२) मा भूम निष्ट्याः इव, इन्द्र ! त्वद् अरणाः इव । वनानि न प्रजहितानि अद्रिवः ! दुरोषासो अमन्महि ॥ १ ॥ (ऋ०८।१।१३)

अर्थ—हे इन्द्र ! हम नीचस्थितिवालोंकी नाई तुझसेदूर न होवें, हम बेगानोंकी नाई तुझसेदूर न होवें । हम शाखाओंसेहीन वृक्षोंकी नाई प्रजाओंसे हीन न होवें, हे दुष्टोंकेलिये हाथमें वज्र(तलवार)वाले ! हम घरोंमें सुखपूर्वक-वसतेहुए आपको मनायें (यादकरें) ॥ १ ॥

मम त्वा सूरे उदिते, मम मध्यंदिने दिवः । मम प्रपित्वे अपि+शर्वरे वसो ! आ स्तोमासो अवृत्सत ॥ २ ॥ (ऋ०८।१।२९)

अर्थ—हे सबकेवसानेवाले ! मेरे स्तोत्र सूर्यकेउदयकालमें, मेरे स्तोत्र सूर्यकेमध्यकाल(मध्यान्ह)में, मेरे स्तोत्र अस्तकालमें, और रात्रीमें तुझे फेरें (मेरी ओर झुकायें) ॥२॥

मा नः इन्द्र ! पियत्नवे, मा शर्धते परादाः । शिक्षा शचीवः ! शचीभिः ॥३॥
(ऋ०८।२।१५)

अर्थ—हे इन्द्र ! प्राणदण्ड देनेवाले शत्रुकेलिये हमको मत परे करना (अपनेसे अलग न करना), और नही बलसे दबानेवालेकेलिये परे करना । हे शक्तियोंवाले ! हमको अपनी शक्तियोंसे शक्तिवाला करनेकी इच्छा कर ॥ ३ ॥

(१३) उपह्वरे गिरीणां, संगथे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥ १ ॥
(ऋ०८।६।२८)

अर्थ—हे मनुष्यो ! पर्वतोंकी गुफामें, और नदियोंके संगममें योगबुद्धिसे (ऋतम्भरा प्रज्ञासे) मेधावी इन्द्र प्रकट होता है ॥ १ ॥

आद् इत् प्रत्नस्य रेतसो, ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यद् इध्यते दिवा २
(ऋ०८।६।३०)

अर्थ—अनन्तर ही (प्रकट होते ही) उस प्राचीन जगत्केबीजकी सर्वत्र वसनेवाली (व्यापक) ज्योतिको योगी पुरुष सूर्यकी ज्योतिकीनाईं देखते हैं । जब वह(सूर्य)द्युलोकके ऊपर (मध्यमें) प्रकाशमान होता है ॥ २ ॥

यस्य अमितानि वीर्या, न राधः परि+एतवे । ज्योतिः न विश्वम् अभि+अस्ति दक्षिणा ॥ ३ ॥ (ऋ०८।२४।२१)

अर्थ—जिस(इन्द्र)की शक्तियां अपरिमित (अगणित) हैं, जिसका धन पार पानेके लिये नहीं है । और जिसका दान प्रकाशकी नाईं सबको दबालेता (ढांपदेता) है ॥ ३ ॥

नकिः अस्य शचीनां, नियन्ता सूनृतानाम् । नकिः वक्ता न दात् इति ॥४॥
(ऋ०८।३२।१५)

अर्थ—इस(इन्द्र)की शक्तियोंका, सच्ची और मीठी वाणियोंका, कोई नियामक नहीं है। और नहीं कोई यह कहनेवाला है कि इन्द्रने मुझे नहीं दिया है ॥ ४ ॥

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो, ररम्भा शवसस्पते ! । उश्मसि त्वा सधस्थे आ॥५॥
(ऋ०८।४५।२०)

अर्थ—हे बलकेस्वामी ! जैसे अतिवृद्ध दण्डका, वैसे हम आपका आलम्भ (सहारा) लेते हैं । और सहवासस्थानमें आपको अपना साथी हुआ चाहते हैं ॥ ५ ॥

(१४) मा नः एकस्मिन् आगसि, मा द्वयोः उत त्रिषु । वधीः मा शूर ! भूरिषु ॥ १ ॥ (ऋ०८।४५।३४)

अर्थ—हे शूर ! हमको एक अपराध होनेपर न मारना (न दण्ड देना), दो अपराध होनेपर और नहीं तीन अपराध होनेपर हमको मारना । और नहीं बहुत अपराधोंके होनेपर हमको मारना ॥ १ ॥

मा सख्युः शूनम् आविदे, मा पुत्रस्य प्रभूवसो ! । आवृत्वद् भूतु ते मनः॥२॥
(ऋ०८।४५।३६)

अर्थ—हे बहुत अधिक धनवाले ! हम तुझ मित्रके अभावको (तुझ मित्रकी मित्रताके न होनेको) न लभें (प्राप्त होवें), और न पुत्रके अभावको लभें । तेरा मन हममें लगा हुआ (मित्रतासेबन्धा हुआ) हो ॥ २ ॥

नहि ते शूर! राधसो, अन्तं विन्दामि सत्रा। दशस्या नो मघवन्! नू चिद् अद्रिवः!, धियो वाजेभिः आविथ ॥ ३ ॥ (ऋ०८।४६।११)

अर्थ—हे शूर! तेरे धनकी ईयत्ता(हद)को सत्य (सच) मैं नहीं लभता हूं। हे धनवान्! हमको कुछ दे, हे वज्रवाले! शीघ्रही हमारी बुद्धियोंकी पवित्र अन्नोंसे रक्षा कर ॥ ३ ॥

(१५) अविप्रो वा यद् अविधद्, विप्रो वा इन्द्र! ते वचः। सः प्रममन्दत् त्वाया शतक्रतो! प्राचामन्यो! अहंसन! ॥ १ ॥ (ऋ०८।५०(६१)।९)

अर्थ—हे इन्द्र! अथवा अबुद्धिमान् अथवा बुद्धिमान्, जो तेरे वचनका पालन करता है, हे अनन्तज्ञान! हे पहलेसेही जाननेवाले! हे अहं बहुस्यां-सङ्कल्पवाले! वह तुझमें तीव्र इच्छा(मनोवृत्ति)के होनेसे बहुत आनन्दको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

न पापासो मनामहे, न अरायासो न जल्हवः। यद् इत् नु इन्द्रं वृषणं सचा सुते, सखायं कृणवामहै ॥ २ ॥ (ऋ०८।५०(६१)।११)

अर्थ—हे इन्द्र! हम न पापी हुए, न निर्धन हुए और न कुटिलतासे आपसमें वर्तते हुए आपको वारंवार पुकारते (वारंवार आपका नाम उच्चारण करते) हैं। जिस लिये निश्चय अब हमने चारों पदार्थोंकी वर्षा करनेवाले तुझ इन्द्रको प्रत्येक कर्ममें अपना सहायक मित्र बना लिया है ॥ २ ॥

यतः इन्द्र! भयामहे, ततो नो अभयं कृधि। मघवन्! शग्धि तव तत् नः ऊतिभिः, वि द्विषो वि मृधो जहि ॥ ३ ॥ (ऋ०८।५०(६१)।१३)

अर्थ—हे इन्द्र! जहां जहांसे हम भय खाते (डरते) हैं, वहां वहांसे हमको निर्भय कर। हे मघवन्! तू शक्तिवाला है, तेरी रक्षाओंसे हमको वह (निर्भयता) प्राप्त हो, द्वेषियोंको हमसे अलग कर, पीडा देनेवालोंको हमसे अलग कर ॥ ३ ॥

त्वं नः पश्चात् अधरात् उत्तरात् पुरः, इन्द्र! निपाहि विश्वतः। आरे अस्मत् कृणुहि दैव्यं भयम्, आरे हेतीः अदेवीः ॥ ४ ॥ (ऋ०८।५० (६१)।१६)

अर्थ—तू हमारी पीछेसे, आगेसे, नीचेसे, ऊपरसे, दायें बायें सब ओरसे हे इन्द्र! रक्षा कर। देवसम्बन्धी भय (अपना भय) हमसे आडमें कर और जो तुझ देव-सम्बन्धी नहीं, वे सब (मनुष्यसम्बन्धी) दुःखकेसाधन हमसे आडमें कर ॥ ४ ॥

अद्या अद्या श्वः श्वः, इन्द्र! त्रास्व परे च नः। विश्वा च नो जरितॄन् सत्पते! अहा, दिवा नक्तं च रक्षिषः ॥ ५ ॥ (ऋ०८।५०(६१)।१७)

अर्थ—हे इन्द्र! आजकेदिन, कलकेदिन, और अगले दिन, हमारी रक्षा कर। और हे सज्जनों(श्रेष्ठ मनुष्यों)केपालक! हम स्तुति करनेवालोंकी सब दिन रक्षा कर, दिन और रात रक्षा कर ॥ ५ ॥

(१६) अहं च त्वं च वृत्रहन्!, संयुज्याव सनिभ्यः आ । अरातीवा चिद् अद्रिवः! अनु नौ शूर! मंसते, भद्राः इन्द्रस्य रातयः ॥१॥ (ऋ० ८।५१(६२)।११)

अर्थ—हे अज्ञाननाशक! मैं और तू दोनों, वाञ्छित धनकी प्राप्ति तक मिल जायें। शत्रु भी हे वज्रिन्! हे शूर! हम दोनोंकेमिलजानेपर धनप्राप्तिका अनुमोदन (समर्थन) करता है, क्योंकि तुझ इन्द्रके मंगलरूप दान अवश्यम्भावी (जरूर होनेवाले) हैं ॥ १ ॥

सत्यम् इद् वै उ तं वयम्, इन्द्रं स्तवाम न अनृतम् । महान् असन्वतो वधः, भूरि ज्योतींषि सुन्वतो, भद्राः इन्द्रस्य रातयः ॥ २ ॥ ऋ० (८।५१ (६२)।१२)

अर्थ—हम निःसन्देह सत्य ही निश्चय उस इन्द्रकी स्तुति करते (गुणोंको बखानते) हैं, झूंठ नही । न देनेवाले (इन्द्रके नामपर दान न करनेवाले)के मार्गमें बड़ा नाश(हानि)का साधन अन्धकार है, और देनेवालेके मार्गमें बहुत प्रकाश हैं, इन्द्रके मंगलरूप दान अवश्यंभावी हैं ॥ २ ॥

यद् द्यावः इन्द्र! ते शतं, शतं भूमीः उत स्युः । न त्वा वज्रिन्! सहस्रं सूर्याः, अनु न जातम् अष्ट रोदसी ॥ ३ ॥ (ऋ० ८।५९(७०)।५)

अर्थ—हे इन्द्र! यदि तेरे द्युलोक सौ (असंख्य) और पृथिवियें (पृथिवी लोक) सौ हों । तौ भी हे दुष्टोंकेलिये हाथमें वज्र(तलवार)वाले! तुझे नंही व्यापते (तेरे बराबर नही होते), सूर्य हजार हों, उनके द्युलोक हजार और पृथिवीलोक हजार हों, तौ भी तुझे नंही व्यापते, जैसे कारणसे पीच्छे उत्पन्न होनेवाला कार्य सौ–गुना हजार-गुना हुआ भी कारणको नंही व्यापता ॥ ३ ॥

त्वं नः अस्याः अमतेः उत क्षुधः, अभिशस्तेः अवस्पृधि । त्वं नः ऊती तव चित्रया धिया, शिक्षा शविष्ठ! गातुवित्! ॥ ४ ॥ (ऋ० ८।५५(६६)।१४)

अर्थ—हे इन्द्र! तू हमको इस (कर्मत्याग-रूप) अप्रशस्त बुद्धि(कुबुद्धि)से, भूख (भिक्षावृत्ति) से, और चोरी आदि निन्दितवृत्तिसे छुडा। तू हमारी रक्षा है, हम तेरी विचित्र (आश्चर्यरूप) रक्षा बुद्धिसे युक्त हों, हे अतिबलवान्! हे मार्ग(उपाय)के जाननेवाले! तू हमको सुमति दे ॥ ४ ॥

मा नः इन्द्र! परा+वृणक्, भवा नः सध+माद्यः । त्वं नः ऊती, त्वम् इत् नः आप्यं, मा नः इन्द्र! परावृणक् ॥ ५ ॥ (ऋ० ८।८७(९८)।१)

अर्थ—हे इन्द्र! तूने हमको न छोडना (हमारा परित्याग न करना), हमको एक साथ आनन्द(हर्ष)का देनेवाला होना । तूं हमारी रक्षा और तू ही हमारी प्रार्थना-की जगह है, हे इन्द्र हमको अयोग्य होनेपरभी न छोडना ॥ ५ ॥

(१७) इन्द्राय साम गायत, विप्राय बृहते बृहत् । धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ १ ॥ (ऋ० ८।८७(९८)।१)

अर्थ—हे मनुष्यो! तुम इन्द्रकेलिये बृहत् साम (बडे गाने)को गाओ, जो (इन्द्र) महान् है, मेधावी है, विद्वान् है, धर्मका प्रवर्तक है और पूजाके योग्य है ॥ १ ॥

त्वम् इन्द्र! अभिभूः असि, त्वं सूर्यम् अरोचयः । विश्वकर्मा विश्वदेवो महान् असि ॥ २ ॥ (ऋ० ८।८७(९८)।२)

अर्थ—हे इन्द्र! तू दुष्टोंको दबानेवाला है, तूने सूर्यको चमकाया है । तू विश्व (सब जगत्)का बनानेवाला, सबका उपास्यदेव और सबसे बडा है ॥ २ ॥

विभ्राजन् ज्योतिषा स्वः, अगच्छो रोचनं दिवः। देवाः ते इन्द्र! सख्याय येमिरे ॥ ३ ॥ (ऋ० ८।८७(९८)।३)

अर्थ—हे इन्द्र! तू अपने प्रकाशसे सबको प्रकाशता हुआ स्थित है । तूने ही चमकनेवाले सूर्यको द्युलोकमें गतिवाला किया है । हे इन्द्र तेरी मित्रताकेलिये ही विद्वान् यम नियम आदिको करते हैं ॥ ३ ॥

त्वं हि नः पिता वसो !, त्वं माता शतक्रतो ! बभूविथ । अधा ते सुम्नम् ईमहे ॥ ४ ॥ (ऋ० ८।८७(९८)।११)

अर्थ—हे सबके वसानेवाले! तू ही हमारा पिता है, हे अनन्तज्ञान! तू ही हमारी माता है । अब हम आपका सुख मांगते हैं ॥ ४ ॥

त्वां शुष्मिन्! पुरुहूत!, वाजयन्तम् उपब्रुवे शतक्रतो! । स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ५ ॥ (ऋ० ८।८७(९८)।१२)

अर्थ—हे बलवान्! हे बहुतोंसे बुलाये गये ! (प्रार्थना कियेगये !) हे अनन्तज्ञान ! मैं तुझ बलके चाहनेवाले (बलवान्से प्रेम करनेवाले)को पुकारता हूं । वह तू हमको अच्छा बल दे ॥ ५ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ (१७७१)

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

(१) स्वस्ति नो दिवो अग्ने! पृथिव्याः, विश्वायुः धेहि यजथाय देव! । सचेमहि तव दस्म! प्रकेतैः, उरुष्या नः उरुभिः देव! शंसैः ॥ १ ॥

(ऋ० १०।७।१)

अर्थ—हे अग्नि! (सबके अग्रणी!) हमको द्युलोकसे सुख हो, पृथिवीलोकसे सुख हो, हे देव! (प्रकाशस्वरूप!) हमको यज्ञकर्म(श्रेष्ठतम कर्म)केलिये सब आयु (पूर्ण आयु) दे । हे पापनाशक! हम आपके उत्तम ज्ञानों(शिक्षाओं)केसाथ सम्बन्धवाले होवें, हे देव! हमको बहुत प्रशंसनीय कर्मोंसे बडा कर (बहुत प्रशंसावाला कर) ॥ १ ॥

अग्निं मन्ये पितरम् अग्निम् आपिम्, अग्निम् भ्रातरं सदम् इत् सखायम् । अग्नेः अनीकं बृहतः सपर्य्यं, दिवि शुक्रं यजतं सूर्य्यस्य ॥२॥ (ऋ० १०।७।३)

अर्थ—मैं अग्निको पिता, अग्निको बन्धु, अग्निको भाई, और निःसन्देह सदाका मित्र मानता (समझता) हूं । उस महान् अग्निका पूजनीय मुख सदा हमारी ओर हो, जैसे द्युलोकमें प्रकाशमान सूर्यका दीप्तिवाला (प्रकाशवाला) पूजनीय मुख सदा हमारी ओर होता है ॥ २ ॥

भवा नो अग्ने ! अवितोत गोपाः, भवा वयस्कृत् ! उत नो वयोधाः । रास्वा च नः समहो ! हव्यदातिं, त्रास्व उत नः तन्वो अप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥
(ऋ० १०।७।७)

अर्थ—हे अग्नि ! हमारी शत्रुओंसे रक्षाकरनेवाला और पापकर्मोंसे रक्षाकरनेवाला हो, और हे आयुके बनानेवाले ! (देनेवाले !) हमारेलिये आयुका देनेवाला हो । और हे बहुतबडे ! हमको देव-अन्नोंका दान करना दे, और बेपरवाही न करता हुआ हमारे शरीरोंकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

(२) परं मृत्यो! अनुपरेहि पन्थां, यः ते स्वः इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि, मा नः प्रजां रीरिषः मोत वीरान् ॥१॥ (ऋ० १०।१८।१)

अर्थ—हे मृत्यु ! तू दूसरे मार्गसे यथाक्रम परे जा, जो देवभक्तोंके मार्गसे भिन्न तेरा अपना मार्ग है । मैं तुझ देखनेवाले तथा सुननेवालेको कहता हूं, मत हमारी प्रजाको और मत हमारे वीरोंको मारना ॥ १ ॥

मृत्योः पदं योपयन्तो यद् ऐत, द्राघीयः आयुः प्रतरं दधानाः । आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः ॥ २ ॥ (ऋ० १०।१८।२)

अर्थ—जो मनुष्य मृत्युकेमार्ग (दुराचार और मनकी अपवित्रता)का परित्याग करतेहुए मेरी ओर (मेरे मार्गपर) आते हैं, वे बडी लम्बी और बहुत अच्छी आयुके धारण करनेवाले होते हैं । हे मनुष्यो ! प्रजासे और धनसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए (बढते हुए) तुम सब शुद्धाचरणवाले और पवित्र मनवाले हुए यज्ञकर्म (श्रेष्ठतम कर्म)के अधिकारी होवो (बनो) ॥ २ ॥

आरोहत आयुः जरसं वृणानाः, अनुपूर्वं यतमानाः यति ष्ठ । इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः, दीर्घम् आयुः करति जीवसे वः ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।१८।६)

अर्थ—हे मनुष्यो ! तुम जितने हो उतने, अपने पूर्व पुरुषोंकी पद्धति अनुसार यत्न करतेहुए (कर्तव्यकर्मोंकेकरनेमें प्रयत्नशील हुए) जरा अवस्थाको सेवतेहुए आयु पर चढो (पूर्ण आयुको प्राप्त होवो)। इस लोकमें अच्छा जन्म देनेवाला रंग विरंगी पदार्थोंका निर्माणकरनेवाला (परमात्मा) प्रसन्न हुआ तुह्मारे चिरकाल जीनेकेलिये आयुको लम्बा करता है ॥३॥

(३) द्वेष्टि श्वश्रूः अप जाया रुणद्धि, न नाथितो विन्दते मर्डितारम् । अश्वस्य इव जरतो वस्न्यस्य, नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥ १ ॥

(ऋ० १०।३४।३)

अर्थ—सास उससे द्वेष करती है, स्त्री पास आनेसे रोकती है, मांगता हुआ सुख(धन)देनेवालेको नहीं लभता है । मैं बेचदिये जानेवाले (विक्रेय) बूढे घोडेकी नाई जुआरीका कोई उपभोग (सुखका साधन) नहीं पाता हूं (देखता हूं) ॥ १ ॥

जाया तप्यते कितवस्य हीना, माता पुत्रस्य चरतः क स्वित् । ऋणावा बिभ्यद् धनम् इच्छमानः, अन्येषाम् अस्तम् उप नक्तम् एति ॥ २ ॥

(ऋ० १०।३४।१०)

अर्थ—जुआरीकी स्त्री उपभोगोंसे, जहां कहीं भी डोलनेवाले पुत्र (जुआरीपुत्र)की माता पुत्रसुखसे हीन हुई तपती (रात दिन दुःखी रहती) है। ऋणवान् (ऋणी) होजानेसे भयभीतहुआ जुआरी धनकी इच्छा करताहुआ दूसरोंके घरमें रात्रीको जाता है ॥ २ ॥

अक्षैः मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः । तत्र गावः कितव! तत्र जाया, तत् मे वि चष्टे सविताऽयम् अर्यः ॥ ३ ॥

(ऋ० १०।३४।१३)

अर्थ—हे जुआरी! पासोंसे न खेल, कृषि (खेती) कर, और कृषिको ही बहुत (बहुमूल्य) मानता हुआ धनमें (धनसाध्य उपभोगोंमें) रमणकर (खुशीके खेल खेल) । उस (कृषि) में गौएं और उसीमें वीर पुत्रोंकी जननी स्त्री है, वह यह (अन्तरात्मा) जगदुत्पादक विश्वस्वामी मुझे कहता है ॥ ३ ॥

(४) किम् अंग! त्वा मघवन्! भोजम् आहुः, शिशीहि* मा शिशयं त्वा शृणोमि। अप्नस्वती† मम धीः अस्तु शक्र!, वसुविदं भगमिन्द्र! आ भरा नः ॥ १

(ऋ० १०।४२।३)

अर्थ—हे प्यारे! क्या तुझे ही अन्नदाता कहते हैं? हे धनवान्! मुझे दे, मैं तुझे देनेवाला सुनता हूं । हे शक्तिवाले! मेरी बुद्धि कर्मवाली (कर्मसिद्धान्तके माननेवाली) हो, हे इन्द्र! हमारेलिये अनेक धनोंके लाभोंवाला ऐश्वर्य (राज्यैश्वर्य) ला (हमें दे) ॥ १ ॥

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि, यानि आविः या च गुहा वसूनि । कामम् इत् मे मघवन्! मा वि तारीः, त्वम् आज्ञाता, त्वम् इन्द्रासि दाता ॥ २ ॥

(ऋ० १०।५४।५)

अर्थ—हे इन्द्र! तू उन सब असाधारण (खास) धनोंको रखता है, जो प्रकट हैं और जो गुफा (परदे) में हैं । हे धनवान्! मेरी इच्छा(धनाभिलाष)को निश्चय न भंग करना, हे इन्द्र! तू ही देनेकी आज्ञा करनेवाला, और तू ही देनेवाला है ॥ २ ॥

---

*शिशीतिः दानकर्मा (निरु० १०।३९) । †अप्नस् इति कर्मनाम (निघं० २।१) ।

यत् त्वा यामि दद्धि तत् नः इन्द्र!, बृहन्तं क्षयम् असमं जनानाम् । अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीताम्, अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥३॥ (ऋ० १०।४७।८)

अर्थ—हे इन्द्र ! जो मैं तुझसे मांगता हूं, वह हमको दे, एक बडा निवासस्थान (महल) दूसरे मनुष्योंका जिसके बराबर नहीं, और द्युलोक तथा पृथिवीलोकके रहनेवाले उसको सब ओरसे सराहें, दूसरा नानाप्रकारका शक्तिशाली धन हमको दे ॥ ३ ॥

(५) अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः, अहं धनानि संजयामि शश्वतः । मां हवन्ते पितरं न जन्तवो, अहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥१॥ (ऋ० १०।४८।१)

अर्थ— मैं हूं नानाप्रकारके धनका सबसे पहला स्वामी, मैंने सनातनसे सब धनोंको वशमें किया है । मुझे पिताकी नाईं प्राणी(सब प्राणी)धन प्राप्तिकेलिये पुकारते हैं, मैं देनेवाले(मेरे दियेमेंसे देनेवाले)को भोगनेयोग्य धन देता हूं ॥ १ ॥

अहं भूमिम् अददाम् आर्याय, अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय । अहम् अपो अनयं वावशानाः, मम देवासो अनु केतुम् आयन् ॥२॥ (ऋ० ४।२६।२)

अर्थ— मैं ने अपने पुत्र(मनुष्य)को भूमि दी है, मैं दानी मनुष्यकेलिये धनकीवर्षा करता हूं । मैं ही वारंवार-शब्दकरनेवाले जलों(नदियों)को पृथिवीपर लाया हूं, विद्वान् मेरे ही ज्ञानके पीछे चलते हैं ॥ २ ॥

मया सो अन्नम् अत्ति यो विपश्यति, यः प्राणिति य ईं शृणोति उक्तम् । अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति, श्रुधि श्रुत ! श्रद्धिवं ते वदामि ॥३॥ (ऋ० १०।१२५।४)

अर्थ—मुझसे ही (मुझ पराशक्ति अन्तरात्माके देनेसे ही) वह अन्नको खाता है, जो देखता है, जो सांस लेता है और जो कहेहुए(शब्द)को सुनता है । जो मुझको न माननेवाले हैं, वे सने सने (शनैः शनैः)नाशको (हीन गतिको) प्राप्त होते हैं, हे सर्वत्र सुनेहुए (जगत् में विख्यात विद्वान्!) सुन, मैं तुझे श्रद्धेयवचन (विश्वास करने योग्य बात) कहता हूं ॥ ३ ॥

अहम् एव स्वयम् इदं वदामि जुष्टं, देवेभिः उत मानुषेभिः । यं कामये तं तम् उग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं, तम् ऋषिं तं सुमेधाम् ॥४॥ (ऋ० १०।१२५।५)

अर्थ— मैं ही आप विद्वानों और सब मनुष्यों(दूसरे सब मनुष्यों)से प्रीतिकरने योग्य यह कहता हूं । जिसको चाहता हूं, उस उसको तेजस्वी (क्षत्रिय) बनाता हूं, उसको ब्राह्मण (विद्वान्), उसको ऋषि और उसको अच्छी बुद्धिवाला (समझदार) बनाता हूं ॥४॥

अहं रुद्राय धनुः आतनोमि, ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै उ । अहं जनाय समदं कृणोमि, अहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥ ५ ॥ (ऋ० १०।१२५।६)

अर्थ— मैं सज्जनोंको रुलानेवाले (पीडादेनेवाले)केलिये, विद्वानोंके द्वेषीकेलिये, और निरपराध प्रजापर तीर (गोली) मारनेवालेकेलिये धनुषको खींचता (शस्त्रधारी वीर विपक्षियोंको उत्पन्नकरता)हूं । मैं अपने जनकेलिये सब देशको आकुलित करता हूं, मैं द्युलोक और पृथिवीलोक में, सब ओरसे प्रविष्ट(पूर्ण)हूं ॥ ५ ॥

(६) यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन्, ताम् अनु+अविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्। ताम् आभृत्यावि+अदधुः पुरुत्रा, तां सप्त रेभाः अभिसंनवन्ते ॥ १ ॥
(ऋ० १०।७१।३)

अर्थ—यज्ञकर्मसे (श्रेष्ठतम कर्म करनेसे) वाणी की (वेद वाणी की) प्राप्तिकीयोग्यताको प्राप्तहुए जब मनुष्य, तब उन्होंने ऋषियोंमें प्रविष्ट हुई (स्फुरण हुई) उस वाणीको लभा (जाना)। और उस (वाणी) को लाकर (शिष्यवृत्तिसे सम्पादन=हासिल कर) बहुतों में फैलादिया, जिस उस (वाणी) को सात (सात छन्द, अथवा सात मूल ऋषि) रेबाबी (मधुर गवय्ये) मिलकर वारंवार उच्चारण करते हैं ॥ १ ॥

इमे ये न अर्वाङ् न परः चरन्ति, न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः। ते एते वाचम् अभिपद्य पापया, सिरीः तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥ २ ॥
(ऋ० १०।७१।९)

अर्थ—ये जो न वरे चलते (नैतिककार्योंमें भाग लेते) हैं, न परे चलते (धार्मिक कार्योंमें भाग लेते) हैं, न वेदवाणीके पढने पढानेवाले और न यज्ञकर्ममें हाथवाले (यज्ञकर्मके करनेकरानेवाले) हैं, वे ये अज्ञानी (बेसमझ) पापवृत्ति (अशास्त्रीय विधि) से वाणीको प्राप्तकरके (अपने आप देख भाल, दस बीस सौ पचास मन्त्र कण्ठ करके) स्वैरिणी (व्यभिचारिणी) स्त्रियोंकी नाई जालको फैलाते हैं ॥ २ ॥

यो जागार तम् ऋचः कामयन्ते, यो जागार तम् उ सामानि यन्ति। यो जागार तम् अयं सोमः आह, तवाहम् अस्मि सख्ये न्योकाः ॥३॥ (ऋ० ५।४४।१४)

अर्थ—जो जागता (वेद वाणीके पढनेमें सावधान) है, उसको ऋचा मन्त्र (वेद वाणीके ऋचा मन्त्र) चाहते (प्राप्तहोते) है, जो जागता है, उसको निश्चय यजुर्मन्त्र और साम-मन्त्र प्राप्तहोते हैं। जो जागता (दिनकी नाई रात्रीमें भी वेदबाणीको पढता) है, उसको यह चन्द्रमा कहताहै, मैं अच्छानिवासदेनेवाला हुआ तेरी मित्रतामें हूं ॥ ३ ॥

(७) सोमो वधूयुः अभवत्, अश्विना आस्ताम् उभा वरा। सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं, मनसा* सविताऽददात् ॥ १ ॥ (ऋ० १०।८५।९)

अर्थ—चन्द्रमा बहूकीइच्छावाला (दुल्हा) हुआ, और दोनों अश्वी (अश्वी तारे) बराती हुए। जब पतिकी इच्छावाली हुई (युवति हुई) सूर्या (सूर्यकी किरण) को सविता (जगदुत्पादक ईश्वर) ने चन्द्रमाके साथ विवाहदिया ॥ १ ॥

रैभी आसिद् अनुदेयी, नाराशंसी न्योचनी। सूर्यायाः भद्रम् इद् वासो, गाथया एति परिष्कृतम् ॥ २ ॥ (ऋ० १०।८५।६)

अर्थ—रैभी (मधुर शब्दोंवाली ऋचा) सहेली (साथ जानेवाली सखी) थी, और नाराशंसी (देशके मुख्य पुरुषोंकी स्तुतिवाली ऋचा) दासी। गाथासे (देशके इतिहाससे) अलङ्कृत शुभ वस्त्र (विवाह समयका वस्त्र) निश्चय सूर्याको दियाँ जाता है ॥ २ ॥

*चन्द्रमाः मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् (ऐ० आ० २।४।२)।

चित्तिः आः उपबर्हणं, चक्षुः आः अभ्यञ्जनम् । द्यौः भूमिः कोशः आसीद्, यद् अयात् सूर्य्या पतिम् ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।८५।७)

अर्थ—ज्ञान उस (सूर्या) का तकिया (पृष्ठोपधान) था, दृष्टि उसकी आंखोंका अञ्जन था। द्यौ और पृथिवी भाण्डा (बरतन) थीं, जब सूर्या पतिके घर गई ॥ ३ ॥

मनो अस्याः अनः आसीत्, द्यौः* आसीद् उत छदिः। शुक्रौ अनड्वाहौ आस्तां, यद् अयात् सूर्या गृहम् ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।८५।१०)

अर्थ—मन इस (सूर्या) का रथ था, और मूर्धा (मस्तिष्क) रथका ढांपना (झुल) था। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, दो श्वेत बैल थे, जब सूर्या पतिके घर गई ॥ ४ ॥

शुची ते चक्रे यात्याः, व्यानो अक्षः आहतः। अनो मनस्मयं सूर्य्या, अरोहत् प्रयती पतिम् ॥ ५ ॥ (ऋ० १०।८५।१२)

अर्थ—जाती हुई उस सूर्याके रथके पहिये चमकीले (स्वस्थ) प्राण अपान (सांस परसांस) थे, और व्यान (सर्व शरीर व्यापी वायु) रथमें लगा हुआ धुरा था। पतिके घरको जाती हुई सूर्या उस मनोमय (मनरूपी) रथ पर चढी ॥ ५ ॥

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं, हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्। आरोह सूर्ये! अमृतस्य लोकं, स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ ६ ॥ (ऋ० १०।८५।२०)

अर्थ—सोहने (सुन्दर) केसुओं (ढाकके फूलों) की नाईं, सिंबलकी नाईं, नाना रूपोंवाले, सोनेके रंगवाले, अच्छा घूमनेवाले, अच्छे पहियोंवाले रथ पर चढ हे सूर्या! और अमृतजीवनके लोकं विवाहको पतिकेलिये सुखकारी कर ॥ ६ ॥

(८) गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदष्टिः यथाऽसः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिः, मह्यं त्वाऽदुः गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥ (ऋ० १०।८५।३६)

अर्थ—सौभाग्यकेलिये तेरे हाथको मैं पकडता (तेरा पाणिग्रहण करता) हूं, तू मुझ पतिकेसाथ जैसेहो वैसे जरा अवस्था पर्यन्त भोगोंके भोगनेवाली हो। ऐश्वर्यवाले ने, कर्मफलदाता ने, जगदुत्पादक ने, बडी बुद्धिवाले (ईश्वर) ने और सब विद्वानोंने तुझको मुझे गृहपति (तेरा पति) होनेकेलिये दिया है ॥ १ ॥

भगः ते हस्तम् अग्रहीत्, सविता हस्तम् अग्रहीत्। पत्नी त्वम् असि धर्मणा, अहं गृहपतिः तव ॥ २ ॥ (अथर्व० १४।१।५१)

अर्थ—भाग्यवान् ने तेरे हाथको पकडा है, प्रजा उत्पन्न करनेवालेने तेरे हाथको पकडा है। तू धर्मसे पत्नी है, और मैं धर्मसे तेरा गृहपति (तुझ पत्नीका पति) हूं ॥ २ ॥

मम इयम् अस्तु पोष्या, मह्यं त्वाऽदाद् बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति! संजीव शरदः शतम् ॥ ३ ॥ (अथर्व० १४।१।५२)

अर्थ—"मुझसे यह पालने पोषणे योग्य है" इस प्रतिज्ञासे तुझको मुझे बृहस्पति (परमात्मा) ने दिया है। हे प्रजावाली! मुझ पतिकेसाथ सौ बरस अच्छी तरह जी ॥ ३ ॥

---

* दिवं यश्चक्रे मूर्धानम् (अथर्व० १०।७।३२)।

(९) आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः, आजरसाय समनक्तु अर्यमा । अदुर्मङ्गलीः पतिलोकम् आविश, शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ (ऋ० १०।८५।४३)

अर्थ—प्रजाका स्वामी (ईश्वर) हमारे घरमें प्रजाको (पुत्रीपुत्रको) यथासमय उत्पन्न करे, कर्मफलदाता हमको बुढापे तक इकट्ठा रखे। सुमङ्गली हुई तू मुझ पतिके घरमें प्रवेशकर, हमारे दोपायों (बान्धवों)केलिये सुखदायी हो, हमारे चौपायों (गौओं घोडों)केलिये सुखदायी हो ॥ १ ॥

अघोरचक्षुः अपतिघ्नी एधि, शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूः देवकामा स्योना, शं नो भव द्विपदे, शं चतुष्पदे ॥ २ ॥ ऋ० (१०।८५।४४)

अर्थ—तू सौम्यदृष्टिवाली, पतिके जीवनको बढानेवाली, पशुओंकेलिये कल्याणकारी हो, तू अच्छे मनवाली, अच्छी कान्तिवाली (चमकते चेहरेवाली)। वीर सन्तान उत्पन्न करनेवाली, ईश्वरकी कामना(भक्ति)वाली और सबको सुखदेनेवाली हो, तू हमारे मनुष्योंके-लिये सुखदायी हो और पशुओंकेलिये सुखदायी हो ॥ २ ॥

सुमङ्गलीः इयं वधूः, इमां समेत पश्यत । सौभाग्यम् अस्यै दत्त्वाय अथ अस्तं वि-परा इतन ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।८५।३३)

अर्थ—हे विद्वानो! यह वधू बडी मङ्गलरूप है, इसको मिलो और देखो। और इसको "सौभाग्यं ते अस्तु" इस प्रकार सौभाग्य(सुहाग)का आशीर्वाद देकर पीछे घर वापस जाओ ॥ ३ ॥

(१०) यथा सिन्धुः नदीनां, साम्राज्यं सुषुवे वृषा । एवा त्वं सम्राज्ञी एधि, पत्युः अस्तं परेत्य ॥ १ ॥ (अथर्व० १४।१।४३)

अर्थ—जैसे अन्नकी वर्षा करनेवाली (बहुत अन्न देनेवाली) सिन्धु नदी सब नदियोंके साम्राज्यको प्राप्त (सब नदियोंकी सम्राज्ञी) है। ऐसे हे बहू! तू पतिके घरमें जाकर सम्राज्ञी (महरानी) हो ॥ १ ॥

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव । ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥ २ ॥ (ऋ० १०।८५।४६)

अर्थ—ससुरके समीप सम्राज्ञी हो, सासके समीप सम्राज्ञी हो। ननंदके समीप सम्राज्ञी हो और देवरोंके समीप सम्राज्ञी हो ॥ २ ॥

इमां त्वम् इन्द्र! मीढ्वः! सुपुत्रां सुभगां कृणु । दश अस्यां पुत्रान् आधेहि, पतिम् एकादशं कृधि ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।८५।४५)

अर्थ—हे परम ऐश्वर्यवान्! हे कामनाओंकी वर्षाकरनेवाले! तू इस बहूको अच्छे पुत्रोंवाली और अच्छे भाग्य(ऐश्वर्य)वाली कर। इसमें दस पुत्रोंको दे, और पतिको ग्यारहवां कर ॥ ३ ॥

इह एव स्तं मा वियौष्टं, विश्वम् आयुः वि+अश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैः नप्तृभिः, मोदमानौ स्वे गृहे ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।८५।४२)

अर्थ—हे दम्पती ! तुम दोनों यहां इकट्ठे ही रहो, मत विछुडो, अपने घरमें पुत्रों पौत्रोंकेसाथ खेलते हुए, आनन्द मनाते हुए पूरी आयुको भोगो ॥ ४ ॥

ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै, यत्र गावो भूरिशृङ्गाः अयासः । अत्राह तद् उरुगायस्य वृष्णः, परमं पदम् अवभाति भूरि ॥ ५ ॥ (ऋ० १।१५४।६)

अर्थ—तुम दोनोंके जानेकेलिये (जाकर रहनेकेलिये) उन घरोंको हम चाहते हैं, जिन(घरों)में अनेक रोगोंके मारनेवाली सूर्यरश्मियें आती जाती हैं। इन घरोंमें ही बडी प्रशंसावाले, कामनाओंकी वर्षा करनेवाले(ईश्वर)का वह सबसे ऊंचा स्वरूप बहुत चमकता (गृहमेधियोंके हृदयमें पूरा पूरा प्रकाशता) है ॥ ५ ॥

(११) याः अकृन्तन् अवयन् याश्च तत्निरे, या देवीः अन्तान् अभितोऽददन्त । ताः त्वा जरसे संव्ययन्तु, आयुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥१॥
(अथर्व० १४।१।४५)

अर्थ—जिन्होंने काता है, बुना है, जिन्होंने तना (धोकर साफ किया) है, और जिन देवियोंने किनारोंको सबओरसे झालर लगा दी है। वे तुझे बुढापेतक जीनेकेलिये ओढातीहैं, हे लम्बी आयुवाली ! इस वस्त्रको ओढ ॥ १ ॥

ये अन्ताः यावतीः सिचः, ये ओतवो ये च तन्तवः । वासो यत् पत्नीभिः उतं, तत् नः स्योनम् उपस्पृशात् ॥ २ ॥ (अथर्व० १४।२।५१)

अर्थ—जो (इस वस्त्रके) किनारे हैं, जितनी झालरें (किनारियें) हैं, जो बानेके तागे और जो तानेके तागे हैं। जो यह वस्त्र सधवा स्त्रियोंने बुना है, वह सुखदायी हुआ हमको स्पर्शकरे (हमारे शरीरका अलङ्कार होवे) ॥ २ ॥

वितन्वते धियो अस्मै अपांसि, वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति । उपप्रक्षे वृषणो मोदमानाः, दिवः पथा वध्वो यन्ति अच्छा ॥ ३ ॥ (ऋ० ५।४७।६)

अर्थ—बुद्धिमान् गृहस्थ इसलोककेलिये (इसलोककी रक्षाकेलिये) अग्निहोत्र आदि कर्मोंको करते हैं, मातायें पुत्रोंकेलिये वस्त्रोंको बुनती हैं। वीर्यसेंचनेवाले(पति)के प्रति-दिनके स्पर्शमें आनन्दको प्राप्त हुई बहूएं, आकाशके मार्गसे किरणों(सूर्य रश्मियों)की नाईं, निज निज वासगृहके मार्ग(द्वार)से प्रणामकेलिये सास ससुरके सामने जाती हैं ॥ ३ ॥

(१२) समिधा अग्निं दुवस्यत, घृतैः बोधयतातिथिम् । आ अस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ १ ॥ (ऋ० ८।४४।१)

अर्थ—हे गृहस्थो ! यज्ञिय-लकडीसे अग्निको सेवो (बालो), अतिथिकीनाईं अग्निको दूध दही और घीसे जगाओ (प्रदीप्त करो)। और इसमें अनेक प्रकारके हव्य पदार्थोंको यथाविधि होमो ॥ १ ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे, घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे ॥२॥ (ऋ० ५।५।१)

अर्थ—अच्छा प्रज्वलित हुए, ज्वाला(लाटां)वाले, जन्मसे हव्यपदार्थोंको लभनेवाले अग्निकेलिये बहुत (अनेकवार) घी होमो ॥ २ ॥

नहि मे अस्ति अघ्न्या, न स्वधितिः वनन्वति । अथ एतादृग् भरामि ते ॥३॥
(ऋ० ८।९१(१०२)।१९)

अर्थ—हे अग्नि ! मेरेपास गौ नहीं है, और कुल्हाडी लकडियोंको नहीं काटती है। ऐसेहुआ भी मैं अब कुछ दूध और लकडियें तेरेलिये लाया हूं ॥ ३ ॥

यद् अग्ने! कानि कानि चिद्, आ ते दारूणि दध्मसि । ता जुषस्व यविष्ठ्य! ॥ ४ ॥ (ऋ० ८।९१(१०२)।२०)

अर्थ—हे अग्नि ! जो कोई कोई भी लकडियें मैं तुझे आकर देता (तुझमें यथाविधि होमता)हूं । हे अतियुवा (खूब प्रज्वलित) उनको स्वीकार कर ॥ ४ ॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञम्, अग्निः देवानाम् अभवत् पुरोगाः । अस्य होतुः प्रदिशि ऋतस्य, वाचि* स्वाहाकृतं हविः अदन्तु देवाः ॥ ५ ॥
(ऋ० १०।११०।११)

अर्थ—प्रकटहुआ (देदीप्यमान हुआ) अग्नि तुरंत यज्ञकर्मको बनाता है, इसीसे देवताओंका अगुआ है । देवताओंको यथायोग्य बांटकर देनेवाले, इस सच्चे देवताके मुखप्रदेशमें वागिन्द्रिय(जिव्हा)में स्वाहा कीहुई (स्वाहा-शब्दको उच्चारण कर डाली हुई) हविको देवता खाते हैं ॥ ५ ॥ (१२।५)

(१३) तद् अद्य वाचः प्रथमं मसीय, येनासुरान् अभि देवाः! असाम । ऊर्जाद्ः! उत यज्ञियासः! पञ्च जनाः! मम होत्रं जुषध्वम् ॥ १ ॥
(ऋ० १०।५३।४)

अर्थ—मैं आज वह वाणी(वेदबाणी)का मुख्य बल मानता हूं, जिससे हे विद्वानों ! हम असुरों(प्राणोंके पोषणमें निमग्नों)को दबा लें (अपना अनुयायी बना लें)। हे हवि(देवान्न)के खानेवाले यज्ञकेयोग्य देवो! और हे पांच प्रकारके मनुष्यो! (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकारके शूद्रो !) मेरे यज्ञका सेवन करो (यज्ञमें पधार कर मुझे अनुगृहीत करो) ॥ १ ॥

पञ्च जनाः मम होत्रं जुषन्तां, गोजाताः उत ये यज्ञियासः । पृथिवी नः पार्थिवात् पातु अंहसः, अन्तरिक्षं दिव्यात् पातु अस्मान् ॥२॥ (ऋ० १०।५३।५)

अर्थ—पृथिवी माताकेपुत्र पांचों जन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकारके शूद्र) मेरे यज्ञका सेवन करें, और जो यज्ञिय देवता हैं, वे भी मेरे यज्ञका सेवन करें। पृथिवी हमारी पृथिवीमें होनेवाले अपने भाइओंके अपमान-रूपी पापसे रक्षा करे और द्यौ हमारी यज्ञमें पधारे हुए देवताओंके अपमानरूपी पापसे रक्षा करे ॥ २ ॥

---

* "वच्यन्तां ते वह्नयः सप्तजिव्हाः" ऋ० (३।६।२)।

विश्वस्य केतुः भुवनस्य गर्भः, आ रोदसी अपृणात् जायमानः । वीडुं चिद् अद्रिम् अभिनत् परायन्, जनाः यद् अग्निम् अयजन्त पञ्च ॥ ३ ॥

(ऋ० १०।४५।६)

अर्थ—सब जगत्को प्रकाशनेवाला, सबपदार्थोंके मध्यमें वर्तमान अग्नि प्रकट (देदीप्यमान) हुआ द्युलोक और पृथिवीलोक, दोनोंको भर देता है। और दूरतक जाता हुआ दृढ पर्वत(मेघ)को भी छिन्न-भिन्न-करदेता है, जब पांचों जन अन्तिम आहुति(पूर्णाहुति)से अग्निका पूजन करते हैं ॥ ३ ॥

(१४) यः इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद्, ऋषिः होता न्यसीदत् पिता नः । स आशिषा द्रविणम् इच्छमानः, प्रथमच्छद् अवरान् आविवेश ॥ १ ॥

(ऋ० १०।८१।१)

अर्थ—जो इन सब पदार्थोंको आत्माग्निमें होमता(लयकरता)हुआ ऋषि (सर्वज्ञ) होमनेवाला (लयकर्ता) हमारा पिता निष्प्रपञ्च (जगत्केविना, एकाकी) होकर स्थित हुआ। वही फिर पुत्ररूपीजगत्-धनकी इच्छावाला होकर अपने प्रथम (निष्प्रपञ्च) स्वरूपको ढांपता हुआ सृष्टिसङ्कल्पसे उत्पन्नहुए सब पदार्थोंमें अन्तरात्मा रूपसे प्रविष्ट हुआ ॥ १ ॥

किं स्विद् आसीद् अधिष्ठानम्, आरम्भणं कतमत् स्वित् कथाऽऽसीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा, वि द्याम् और्णोत् महिना विश्वचक्षाः॥२॥

(ऋ० १०।८१।२)

अर्थ—कौन तब (सृष्टिकालमें) था ठहरनेका स्थान, कौन था तब आरम्भकारण (उपादान कारण), और कैसा था ? । जिससे सबके देखनेवाले जगत्स्रष्टाने पृथिवीको उत्पन्न करतेहुए महत्त्वसे युक्त (अतिमहान्) द्यौको पहले प्रकट (उत्पन्न) किया ? ॥ २ ॥

विश्वतश्चक्षुः उत विश्वतोमुखः, विश्वतोबाहुः उत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः, द्यावाभूमी जनयन् देवः एकः ॥३॥ (ऋ० १०।८१।३)

अर्थ—वह सबओर आंखोंवाला और सबओर मुखवाला है, वह सबओर भुजावाला और सब ओर पाओंवाला है । जैसे बच्चा उत्पन्न करताहुआ पंखी अपने दोनों हाथोंसे अण्डेको भलीभांति तपाता है, और अपने पंखोंसे भलीभांति तपाता है, वैसे द्युलोक और पृथिवीलोकको उत्पन्न करता हुआ वह एक देव सृष्टिसङ्कल्परूप-तेजसे अपनेआपको भलीभांति तपाता है ॥ ३ ॥

किं स्वित् वनं कः उ सः वृक्षः आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः । मनीषिणः ! मनसा पृच्छत इदु उ, तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥४॥

(ऋ० १०।८१।४)

अर्थ—कौन तब वन था, और कौन वह वृक्ष था, जिससे द्यौ और पृथिवीको छीलकर बनाया ? । हे बुद्धिमानो ! मनसे ही यह पूछो, वही (एक देव ही) सब कुछ है, जो द्यौ पृथिवी आदि सबपदार्थोंको उत्पन्न करके धारण करताहुआ सबकेऊपर स्थित है ॥४॥

या ते धामानि परमाणि याऽवमा, या मध्यमा विश्वकर्मन्! उतेमा। शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः!, स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ ५॥

(ऋ० १०।८१।५)

अर्थ—हे सबके बनानेवाले! जो तेरे लोक सबसेऊपर हैं, जो नीचे और जो ये वीचमें हैं। वे अपनेमित्रों(प्यारे भक्तों)को दे, और हे जगत्‌निर्माणशक्तिवाले! इस हविर्यज्ञमें शरीरको बढाता हुआ (प्रसन्न होता हुआ) स्वयं यज्ञको पूरा कर॥ ५॥

विश्वकर्मन्! हविषा वावृधानः, स्वयं यजस्व पृथिवीम् उत द्याम्। मुह्यन्तु अन्ये अभितो जनासः, इह अस्माकं मघवा सूरिः अस्तु॥६॥ (ऋ० १०।८१।६)

अर्थ—हे विश्वकर्मा! (विश्वके बनानेवाले!) हविर्यज्ञसे अत्यन्त प्रसन्न हुआ स्वयं (विना मांगे, आप ही) हमें पृथिवीलोक और द्युलोकको (पृथिवीलोक और द्युलोककी राज्यश्रीको) दे। जिसको देखकर सबओरके दूसरे जन (तुझसे विमुख सब दूसरे मनुष्य) मोहको प्राप्त हों (अपने सब मन्तव्य भूल जायें), इस लोकमें धनवान्, और विद्वान् विश्वकर्मा सदा हमारा हो॥ ६॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये, मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्, विश्वशम्भूः अवसे साधुकर्मा॥ ७॥ (ऋ० १०।८१।७)

अर्थ—बाणी(वेदबाणी)के स्वामी, मनकीनाईं वेगवाले (तुरत पहुंचनेवाले) विश्वस्रष्टा परमात्माको रक्षाकेलिये आज हम यज्ञमें बुलाते हैं। वह सब जगत्‌में दुःखोंको दूरकरके सुखका बनानेवाला, भले कर्मोंवाला, रक्षाकेलिये हमारे सब बुलावोंको प्रेमसे सुने॥७॥

न तं विदाथ यः इमा जजान, अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृताः जल्प्या च, असुतृपः उक्थशासः चरन्ति॥ ८॥

(ऋ० १०।८२।७)

अर्थ—हे मनुष्यो! तुम उसको नही जानते, जिसने इन सब पदार्थोंको उत्पन्न किया है, वह तुम सबके भीतर (अंदर) दूसरा है। आप सब कुहर(अज्ञान)से और अहं मम जल्पना(वाद)से अच्छी तरह ढपे हुए प्राणोंकी तृप्तिसे तृप्त तथा सूक्तोंके शब्द मात्रसे कहने(पढने)वाले हुए विचरते (आयुके दिन पूरे करते) हैं॥ ८॥ (१४।८)

(१५) न असद् आसीत् नो सद् आसीत् तदानीं, नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्। किम् आवरीवः कुह कस्य शर्मन्, अम्भः किम् आसीद् गहनं गभीरम्॥ १॥ (ऋ० १०।१२९।१)

अर्थ—तब (आरम्भमें) न असत् (वायु, आकाश) था, न सत् (पृथिवी, जल, तेज) था, न कोई परमाणु था, न आकाश (अन्तरिक्ष) था, न जो उससे परे (द्युलोक) है, वह था। कौन ढांपेहुए था? किस स्थानमें और किसको ढांपे हुए था? क्या अगम्य और अथाह अव्यक्त (कार्य जगत्‌की कारणावस्था) तब थी?॥ १॥

न मृत्युः आसीद् अमृतं न तर्हि, न रात्र्याः अन्हः आसीत् प्रकेतः। आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं, तस्माद् ह अन्यत् न परः किं चन आस ॥२॥

(ऋ० १०।१२९।२)

अर्थ—तब न मरना था, न जीना, न रात्री दिनका कोई चिन्ह था। पर जीता था विना प्राणों(सांस परसांस)के, अपनी जगद्-विधात्री (सृष्टिनिर्माण-कर्त्री) शक्तिकेसाथ वह एक, उससे भिन्न और उससे परे दूसरा कुछ भी नही था ॥ २ ॥

तमः आसीत् तमसा गूढम् अग्रे, अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आः इदम् । तुच्छथेन आभु अपिहितं यद् आसीत्, तपसः तत् महिनाऽजायत एकम्॥३॥

(ऋ० १०।१२९।३)

अर्थ—आरम्भमें अन्धकार (न जानना, न जनानेवाला) था, अन्धकार(अन्धेरे)से ढपाहुआ था, कोई जनानेवाला (चिह्न) न था, यह सब (जडचेतन व्यक्त जगत्) सत् (ब्रह्म)में लीन था। जो सत् (ब्रह्म) तुच्छ (कुछ न, मिथ्या) अन्धकारसे ढपाहुआ था, वह एक (एक ब्रह्म) सङ्कल्पके (बहुस्यां प्रजायेय सङ्कल्पके) माहात्म्यसे व्यक्त (बहुत रूप) हुआ ॥३॥

कामः तद् अग्रे सम्+अवर्तताधि मनसो* रेतः प्रथमं यद् आसीत् । सतो बन्धुम् असति निर्+अविन्दन्, हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

(ऋ० १०।१२९।४)

अर्थ—आरम्भमें वह सङ्कल्प (बहुस्यां प्रजायेय सङ्कल्प) उत्पन्न हुआ, जो महत्-तत्त्व(प्रथम तत्त्व)का मुख्य बीज (महत्तत्त्व आदि व्यक्त जगत्की उत्पत्तिका प्रधान कारण) है। उस व्यक्त(महत्तत्त्व)के बन्धु(सङ्कल्परूपी बीज)को अव्यक्तमें (तुच्छ अन्धकारसे ढपे हुए सद् ब्रह्ममें) ऋषियोंने हृदयमें बुद्धि(समाधि बुद्धि)से खोजकर (अच्छी तरह विचार कर) निश्चय रूपसे ढूंढ पाया (जाना) ॥ ४ ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिः एषाम्, अधः स्विद् आसीद् उपरि स्विद् आसीत्। रेतोधाः आसन् महिमानः आसन्, स्वधा† अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥५॥

(ऋ० १०।१२९।५)

अर्थ—छिपाहुआ (तुच्छ अन्धकारसे ढपाहुआ) तागा (सद् ब्रह्म-रूपी तागा) विस्तारको प्राप्त हुआ(सृष्टिसङ्कल्पसे लम्बा हुआ)इनके (उत्पन्न होनेवाले वस्त्ररूपी इन सब जड चेतन पदार्थोंके) नीचे भी था (ताना भी था) और ऊपरभी था (बाना भी था)। उनमें कुछ बीज डालनेवाले भोक्ता (जीवात्मा) हुए, और कुछ उनके भोग्य हुए, इन दोनोंमें भोग्य निकृष्ट (नीचली श्रेणीमें) है, और प्रयत्नवाला भोक्ता (जीवात्मा) उत्कृष्ट (ऊपरली श्रेणीमें) है ॥ ५ ॥

---

* "महदाख्यम् आद्यं कार्यं तत् मनः" (सां० १।७१)। † कार्ये कारणप्रयोगः ।

को अद्धा वेद कः इह प्रवोचत्, कुतः आजाता कुतः इयं विसृष्टिः । अर्वाग् देवाः अस्य विसर्जनेन, अथा को वेद यतः आबभूव ॥ ६ ॥
(ऋ० १०।१२९।६)

अर्थ—कौन ठीके ठीक जानता है, कौन इसमें (इसके विषयमें) ठीके ठीक कहेगा (कह सकता है), कहांसे आ विद्यमान(मौजूद)हुई, यह विविध सृष्टि (अनेक प्रकारकी रचना) किससे हुई (किसने की) । विद्वान् (जाननेवाले) इसकी रचनासे वरेके हैं, तब कौन जानता है जहांसे आ विद्यमान हुई ॥ ६ ॥

इयं विसृष्टिः यतः आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न । यो अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन्, सो अङ्ग ! वेद यदि वा न वेद ॥७॥ (ऋ० १०।१२९।७)

अर्थ—यह विविध सृष्टि जिससे आ विद्यमान हुई, उसने अथ वा (चाहे) उत्पन्न की है, अथ वा (चाहे) नहीं उत्पन्न की है (आपही विविध सृष्टिरूपसे प्रकट हुआ है)। जो इस(जगत्)का स्वामी (मालिक) सबसे श्रेष्ठ आकाश(हृदयाकाश)में है, वही हे प्यारे ! जानता (इस भेदको जानता) है, अथवा नहीं जानता है, यह कौन कह सके ॥ ७ ॥

(१६) ऋतं च सत्यं च अभि+इद्धात्, तपसो अधि+अजायत । ततो रात्री अजायत, ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥ (ऋ० १०।१९०।१)

अर्थ—कर्मफलदाता ब्रह्म ही निश्चय आरम्भमें था, वह (ब्रह्म) सबओरसे देदीप्यमान (प्रकाशमान) सृष्टि सङ्कल्पसे अधीश्वर (प्रजापति) हुआ प्रकट हुआ । उससे रात्रीकी नाईं अन्धकाररूप भोग्य शक्ति (नाम रूप जगत्की अव्यक्तावस्था) प्रकट हुई, उससे द्रवीभूत सूक्ष्म नामरूप-जगत्से भराहुआ समुद्र (समुद्रकी नाईं द्रवीभूत सूक्ष्म नाम-रूप व्यक्त जगत्) उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥

समुद्राद् अर्णवात् अधि, संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्, विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥ (ऋ० १०।१९०।२)

अर्थ—द्रवीभूत सूक्ष्म-नामरूप-जगत्से भरेहुए समुद्रसे ऊपर (पीछे) प्राणियोंकी उत्पत्तिका नियत काल बरस उत्पन्न हुआ । बरस बनानेकेलिये दिन और रात्रीको बनाते हुए जड-चेतन सब जगत्के स्वामी ॥ २ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता, यथापूर्वम् अकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं च, अन्तरिक्षम् अथो स्वः ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।१९०।३)

अर्थ—सृष्टिकर्ता(परमात्मा)ने पहलेकीनाईं सूर्य्य और चन्द्रमाको उत्पन्न किया। द्युलोकको उत्पन्न किया, और पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोकको उत्पन्न किया, उसके पीछे सब स्थावर जंगमको उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

(१६।३)

(१७) सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं* विश्वतो वृत्वा, अति+अतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ (ऋ० १०।९०।१)

अर्थ—सबका उत्पन्न करनेवाला पुरुष (सबमें अन्तरात्मा-रूपसे पूर्ण परमात्मा) हजारों (असंख्यात) सिरों(द्युलोकों)वाला, हजारों आंखों(सूर्यों)वाला, और हजारों पाओं(भूमियों)वाला है । वह द्यौ, अन्तरिक्ष और भूमि(सब ब्रह्माण्ड)को, सबओरसे (भीतर बाहर सब ओरसे) घेरकर दस (असंख्यात) अंगुल (हाथ) आगे बढकर स्थित (ठहरा हुआ) है ॥ १ ॥

पुरुषः एव इदं सर्वं, यद् भूतं यत् च भव्यम् । उत अमृतत्वस्य ईशानो, यद् अन्नेन अतिरोहति ॥ २ ॥ (ऋ० १०।९०।२)

अर्थ—पुरुष ही यह सब कुछ है, जो हुआ (अबतक हुआ) है, और जो आगे होगा । और उस अमरपने(स्वस्थ जीवन)का स्वामी (मालिक) है, जो अन्नसे (सांझ सवेरे यथारुचि खाये हुए अन्नसे) बढता है ॥ २ ॥

एतावान् अस्य महिमा, अतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादो अस्य विश्वा भूतानि, त्रिपाद् अस्य अमृतं दिवि ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।९०।३)

अर्थ—इतनी (भूत, भविष्यत् और वर्तमान जगत्) इस(पुरुष)की विभूति (जगत्-जननी शक्तिका विस्तार) है, और पुरुष इस(जगत्रूपी विभूति)से बहुत बडा है। सब पदार्थ(जड चेतन, सब जगत्) इस(पुरुष)का एकपाद (एक भाग=चौथा हिस्सा)हैं, और इस(पुरुष)के मृत जगत्(विनाशी जगत्)के सम्बन्धसे रहित तीन पाद प्रकाशमें हैं (अप्रकाश जगत्से ऊपर हैं) ॥ ३ ॥

त्रिपाद् ऊर्ध्वः उद्+ऐत् पुरुषः, पादो अस्य इह अभवत् पुनः । ततो विष्वङ् वि+अक्रामत्, साशनानशने अभि ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।९०।४)

अर्थ—तीन पादवाला पुरुष (तीन पादोंसे पुरुष) सब जगत्के ऊपर रहा हुआ उत्कृष्टताको प्राप्त (अपने सबसेऊंचे स्वरूपमें देदीप्यमान) है, और इस(पुरुष)का एक पाद (भाग—चौथा हिस्सा) यहां (इस जड-चेतन सब जगत्में) है । उस(एक पाद)से उसने सब जगत्को सब ओरसे मापा, तो भी खानेवाले (साशन) और न खानेवाले जड-चेतन सब जगत्से ऊपर रहा है ॥ ४ ॥

तस्माद् विराड् अजायत, विराजो अधि पूरुषः । स जातो अति+अरिच्यत, पश्चाद् भूमिम् अथो पुरः ॥ ५ ॥ (ऋ० १०।९०।५)

अर्थ—उस(पुरुष)से विराट् (द्यु-पृथिवी आदि सब जगत्—ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ, विराट्से पीछे मनुष्य यथाक्रम उत्पन्न हुआ। वह (मनुष्य) उत्पन्न हुआ बहुत बढा (पुत्र पौत्र आदि रूपसे बहुत वृद्धिको प्राप्त हुआ), पीछे उस(मनुष्य)ने अपने सुखपूर्वक रहनेकेलिये भूमि(खेतों)को और नगरोंको बनाया ॥ ५ ॥

---

* भूमिम् इत्युपलक्षणं-दिवम् अन्तरिक्षं च, इत्यपि द्रष्टव्यम् । भूमिपर्यायस्य गोशब्दस्य भूशब्दस्य च द्यु-अन्तरिक्षनामसु पाठात् (निघं० १।३-४)

यत् पुरुषेण हविषा, देवाः यज्ञम् अतन्वत । वसन्तो अस्य आसीद् आज्यं, ग्रीष्मः इध्मः शरद् हविः ॥ ६ ॥ (ऋ० १०।९०।६)

अर्थ—पुरुष (परमात्मा)से प्रेरित हुए देवताओं(ईश्वरीय सृष्टिनिर्माण शक्तियों)ने जिस यज्ञसामग्रीसे सृष्टियज्ञको फैलाया (करना आरम्भ किया) इस(यज्ञसामग्री)का घी (घी भाग) वसन्त हुआ, ग्रीष्म यज्ञिय लकडी और शरद् चरु, पुरोडाश आदिरूप हविभाग हुआ ॥ ६ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि* प्रौक्षन्, पुरुषं जातम् अग्रतः । तेन देवाः अयजन्त, साध्याः ऋषयश्च† ये ॥ ७ ॥ (ऋ० १०।९०।७)

अर्थ—यज्ञवेदि (ओषधियोंसे ढकी हुई पृथिवी—शत०१।३।३।९) पर उस यज्ञरूप (यज्ञके आत्मा) मनुष्यका जो पहले उत्पन्न हुआ था, प्रोक्षण किया (यजमान-रूपसे दीक्षा-नाम संस्कार किया) । और उस(प्रोक्षित—मनुष्य)से उन देवताओंने जो साध्य (विषयरूप जगत्की उत्पादक, वर्धक तथा पोषक आदि शक्तियें) और ऋषि (इन्द्रियरूप जगत्की उत्पादक, वर्धक तथा पोषक आदि शक्तियें) हैं, यज्ञको (सृष्टियज्ञको) यथाविधि पूर्ण किया ॥ ७ ॥

(१८) तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः, सम्भृतं पृषदाज्यम् । पशून् तान् चक्रे वायव्यान्, आरण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ १ ॥ (ऋ० १०।९०।८)

अर्थ—उस यज्ञ(सृष्टियज्ञ)से जिसमें सब ऋतुएं सामग्रीरूपसे होमी गई, दही मिला घी अर्थात् दही, दूध, और घी आदि, यज्ञका साधन संधारित (निर्धारित—निश्चय) हुआ । उसकेलिये देवताओंने उन पशुओंको उत्पन्न किया, जो वायुमें (खुले मैदानमें) रहनेवाले, जंगली हैं, और जो घराल्रू (पालतू) हैं ॥ १ ॥

तस्माद् अश्वाः अजायन्त ये के च उभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्, तस्मात् जाताः अजावयः ॥ २ ॥ (ऋ० १०।९०।१०)

अर्थ—उस(सर्वहुत सृष्टियज्ञ)से घोडे उत्पन्नहुए, और जो कोई दोनोंओर दांतोंवाले (गर्दभ खच्चर आदि) हैं, उत्पन्न हुए । उससे ही गौएं उत्पन्न हुई, और उसीसे बकरी भेडें उत्पन्न हुई ॥ २ ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः, ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्, यजुः तस्माद् अजायत ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।९०।९)

अर्थ—उस यज्ञ(सृष्टियज्ञ)से ही जिसमें सब ऋतुएं सामग्रीरूपसे होमी गई, ऋचामन्त्र (गानेविना पढेजानेवाले मन्त्र) और साममन्त्र (गाकर पढे जानेवाले मन्त्र) उत्पन्न हुए । उसीसे गायत्री आदि सात छन्द उत्पन्न हुए, और उसीसे यजुमन्त्र उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

---

*(ऋ०१०।११०।८) बर्हिषि रजतं न देयम् (तै०सं०१।१।१।५) । † प्राणाः वै ऋषयः (शत० ६।१।१) ।

(१९) यत् पुरुषं वि+अदधुः, कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किम् अस्य कौ बाहू, कौ ऊरू पादौ उच्येते ॥ १ ॥ (ऋ० १०।९०।११)

अर्थ—जब पुरुष(परमात्मा)को उसके सङ्कल्पानुसार देवताओंने अनेकरूप किया, तब कितने प्रकारसे उसे विकल्पा (मनुष्यसृष्टि और दूसरी सृष्टिको लेकर उसके किन किन अङ्गोंकी कल्पना की) । कौन इसका मुख कल्पित हुआ, कौने भुजायें, कौने रानें और कौन पाँओं कल्पनासे कहे जाते हैं (कल्पना किये गये) ? ॥ १ ॥

ब्राह्मणो अस्य मुखम् आसीत्, बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तद् अस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ २ ॥ (ऋ० १०।९०।१२)

अर्थ—ब्राह्मण इस (पुरुष)का मुख कल्पित हुआ, दोनों भुजा क्षत्रिय कल्पना किया गया । इसकी दोनों रानें वह कल्पित हुआ, जो वैश्य कहा जाता है, और पाँओं रूपसे (पाओं) शूद्र (दोनों प्रकारका शूद्र) कल्पित हुआ ॥ २ ॥

चन्द्रमाः मनसो जातः, चक्षोः सूर्य्यो अजायत । मुखाद् इन्द्रश्च अग्निश्च, प्राणाद् वायुः अजायत ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।९०। १३)

अर्थ—चन्द्रमा मनरूपसे(मन) कल्पित हुआ, सूर्य्य नेत्ररूपसे (नेत्र) कल्पित हुआ । मुखरूपसे(मुख) इन्द्र(जल)और अग्नि, दोनों कल्पित हुए, और प्राणरूपसे(प्राण)वायु कल्पित हुआ ॥ ३ ॥

नाभ्याः आसीद् अन्तरिक्षं, शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिः दिशः श्रोत्रात्, तथा लोकान् अकल्पयन् ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।९०।१४)

अर्थ—अन्तरिक्ष नाभि(उदर)रूपसे (नाभी) कल्पित हुआ, द्यौ सिररूपसे(सिर) कल्पित हुआ । भूमि पाओंरूपसे (पाओं) और दिशायें कानरूपसे (कान) कल्पित हुईं, इसप्रकार चन्द्र, सूर्य्य आदिके सहित तीनों लोकोंको अङ्गरूपसे देवताओंनें कल्पा ॥ ४ ॥

सप्त अस्य आसन् परिधयः, त्रिःसप्त समिधः कृताः । देवाः यद् यज्ञं तन्वानाः, अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ ५ ॥ (ऋ० १०।९०।१५)

अर्थ—इस(सृष्टि यज्ञ)की सात (महत् , अहङ्कार, पांच सूक्ष्मभूत) अनुष्ठान भूमियें हुईं, इकीस (बारह मास, छे ऋतुएं, दो अयन और संवत्सर) लकडियें (घी, दही, दूध, चरु, पुरोडाश आदिके सहित यज्ञिय लकडियें) बनीं । जिस यज्ञ (सृष्टियज्ञ)को करतेहुए देवताओंने खूंटेकेसाथ पशुकीनाई उसकेसाथ मनुष्यको यजमान-रूपसे बांधा ॥ ५ ॥

यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः, तानि धर्माणि प्रथमानि आसन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥६॥ (ऋ० १०।९०।१६)

अर्थ—यज्ञरूप (यज्ञकेआत्मा) मनुष्यसे देवताओंने जिसलिये आरम्भमें सृष्टियज्ञको पूरा किया, इसलिये वे (यज्ञ) मनुष्योंकेलिये मुख्य धर्म (कर्तव्यकर्म) हुए । जो मनुष्य

इस मुख्य धर्मको करते हैं, वे निश्चय लोकमें महिमा(विभूति)वाले हुए, अन्तमें उस दुःखरहित स्थान(पूर्णपुरुष परमात्मा)को प्राप्त होते हैं, जहां सृष्टियज्ञके साधने(सांगोपांग पूरा करने)वाले पहले देवता (ईश्वरीय सृष्टिनिर्माणशक्तियें) रहते हैं ॥ ६ ॥

(२०) हिरण्यगर्भः सम्+अवर्तत अग्रे, भूतस्य जातः पतिः एकः आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्याम् उत इमां, कस्मै* देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

(ऋ० १०।१२१।१)

अर्थ—सृष्टिसेपहले हिरण्यगर्भ (सूर्य्यआदि ज्योतिर्मय समस्त जगत्, नकशेके तौरपर सूक्ष्मरूपसे जिसकेगर्भमें=भीतर है, वह परमात्मा)था, वह सृष्टिसङ्कल्पसे प्रकट होताहुआ उत्पन्न हुए सब जगत्का अद्वितीय स्वामी हुआ । उसने पृथिवीलोकको और अन्तरिक्षलोककेसहित इस द्युलोकको धारण किया, हम उस सब प्रजाकेस्वामी देवोंकेदेव हिरण्यगर्भकी हविर्यज्ञसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजा करतेहैं ॥ १ ॥

यः आत्मदाः बलदाः यस्य विश्वे, उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

(ऋ० १०।१२१।२)

अर्थ—जो प्राण(जीवन)दाता और बलदाता है, जिसकेप्रशासन (जबरदस्त हुक्म)को प्राणी अप्राणी सब मानते हैं, और जिसकेप्रशासनको सब विद्वान् मानते हैं । जिसके अधीन सबका जीना और जिसके अधीन सबका मरना है, हम उस सब प्रजाकेस्वामी देवोंके देव हिरण्यगर्भकी हविर्यज्ञसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजा करते हैं ॥ २ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वा, एकः इद् राजा जगतो बभूव । यः ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।१२१।३)

अर्थ—जो अकेला ही अपने महत्त्व (बडप्पन)से प्राणन-क्रिया करनेवाले (श्वास प्रश्वास लेनेवाले), निमेषक्रियाकरनेवाले (आंख झपकनेवाले) और न प्राणनक्रिया, न निमेषक्रिया करनेवाले सब जगत्का स्वामी है । जो दो पाओंवाले और चार पाओंवाले इस समस्त प्राणिवर्गका ईशनकर्ता (शासन करनेवाला) अर्थात् नियन्ता है, हम उस सब प्रजाकेस्वामी देवोंकेदेव हिरण्यगर्भकी हविर्यज्ञसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजा करते हैं ॥ ३ ॥

यस्य इमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया† सह आहुः । यस्य इमाः प्रदिशो यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥ (ऋ० १०।१२१।४)

अर्थ—अपनी महिमा(विभूति)केसहित ये(सामने उत्तर दिशामें स्थित) हिम-वाले (बर्फवाले) पर्वत (हिमालयकी पर्वतमाला) जिसके हैं, रसानदी (भारत सम्राट् हिरण्यगर्भ और पणि=बनी, असुरपालकी सीमान्तनदी)केसहित समुद्र(दक्षिणीय तथा पूर्वीय समुद्रको)को जिसका कहते हैं । ये चारों बडी दिशायें(सीमायें)जिसकी हैं, और इन चारों

---

* प्रजापतिः वै कः (शत० ७।४।१।१९) † कथं रसायाः अतरः पयांसि (ऋ० १०।१०८।१) ।

बडी दिशाओंको स्थिर करनेवाली दोनों भुजायें भी जिसकी हैं, हम उस सब प्रजाकेस्वामी, देवोंकेदेव, हिरण्यगर्भकी हविर्यज्ञसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजा करते हैं ॥ ४ ॥

येन द्यौः उग्रा पृथिवी च दृह्ळा, येन स्वः*स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो† विमानः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥ (ऋ० १०।१२१।५)

अर्थ—जिसने द्यौको तेजस्वी और पृथिवीको ठोस बनाया है, जिसने सूर्यको थामा है, और जिसने चन्द्रमाको थामा है। जो आकाशमें लोकों (भूगोलो)का बनानेवाला है, हम उस सब प्रजाकेस्वामी, देवोंकेदेव, हिरण्यगर्भकी हविर्यज्ञसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजा करते हैं ॥५॥

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने, अभि+ऐक्षेतां मनसा रेजमाने । यत्राधि सूरः उदितो विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥ (ऋ० १०।१२१।६)

अर्थ—प्राणियोंकी रक्षाकेलिये थामे हुए द्यौ और पृथिवी, दोनों मनसे कांपतेहुए जिसकी ओर देखते हैं। जिसके अधीन उदय होताहुआ सूर्य्य चमकता है, हम उस सब प्रजाके स्वामी, देवोंकेदेव, हिरण्यगर्भकी हविर्यज्ञसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजा करते हैं ॥६॥

मा नो हिंसीत् जनिता यः पृथिव्याः, यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान । यश्चापः चन्द्राः बृहतीः जजान, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥ (ऋ० १०।१२१।९)

अर्थ—वह मत हमको मारे (दुःखी करे), जो पृथिवीका उत्पन्न करनेवाला है, और जिस अटल-नियमोंवालेने द्यौको उत्पन्नकिया है। और जिसने ह्लाद(हर्ष)के देनेवाले बडे जलों (नदियों)को उत्पन्न किया है, हम उस सब प्रजाकेस्वामी, देवोंकेदेव, हिरण्यगर्भकी हविर्यज्ञसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजा करते हैं ॥ ७ ॥

प्रजापते ! न त्वद् एतानि अन्यो, विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामाः ते जुहुमः तत् नो अस्तु, वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥८॥ (ऋ० १०।१२१।१०)

अर्थ—हे सब प्रजाकेस्वामी ! तुझसेभिन्न दूसरा कोई उत्पन्न हुए उन इन सब पदार्थोंको नही घेरेहुए (अपने शासनमें नही कियेहुए) है। हम जिस(ऐश्वर्य)की कामनावाले हुए आपको हव्यपदार्थ देते(हव्य पदार्थोंसे आपकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजा करते)हैं, वह (ऐश्वर्य) हमको हो (प्राप्त हो), हम अनेक धनोंके स्वामी होवें ॥ ८ ॥

(२१) श्रद्धया अग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः । श्रद्धां भगस्य मूर्धनि, वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥ (ऋ० १०।१५१।१)

अर्थ—श्रद्धासे अग्नि प्रदीप्तकी जाती है, श्रद्धासे हवि होमी जाती है। श्रद्धाको ऐश्वर्यके सिरपर लेजानेवाली हम वचनसे (उच्च स्वरसे) प्रकट करते है ॥ १ ॥

---

* स्वः इति सूर्य्यनाम (निघं० १।४) † लोकाः रजांसि उच्यन्ते (निरु० ४।१९) ।

श्रद्धां देवाः यजमानाः, वायुगोपाः उपासते । श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या, श्रद्धया विन्दते वसु ॥ २ ॥ (ऋ० १०।१५१।४)

अर्थ—श्रद्धाको विद्वान् और वायुकी शुद्धिसे प्रजाकेरक्षक यज्ञकर्ता सभी मानते हैं। मनुष्य हृदयके शुद्ध संकल्पसे श्रद्धाको और श्रद्धासे धनको लभता है ॥ २ ॥

श्रद्धां प्रातर् हवामहे, श्रद्धां मध्यंदिनं परि । श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि, श्रद्धे ! श्रद्धापय इह नः ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।१५१।५)

अर्थ—श्रद्धाको हम प्रातःकालमें बुलाते हैं, श्रद्धाको मध्यान्हकालमें बुलाते हैं। श्रद्धाको सूर्यके अस्तकालमें बुलाते हैं, हे श्रद्धा ! तू हमको यहां श्रद्धावाला कर ॥ ३ ॥

(२२) संगच्छध्वं संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम् । देवाः भागं यथा पूर्वे संजानानाः उपासते ॥ १ ॥ (ऋ० १०।१९१।२)

अर्थ—हे मनुष्यो ! आपसमें मिलो (मिलकर रहो), प्रेमपूर्वक बोलो, तुह्मारे मन एकज्ञान(सहानुभूति)वाले हों। जैसे एकज्ञानवाले पहले विद्वानों(समझदार तुह्मारे पूर्वजों)ने अपने अपने भाग(हिस्से)को भोग्य माना है, वैसे तुम भी मानो ॥ १ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तम् एषाम् । समानं मन्त्रम् अभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जोहवीमि ॥ २ ॥

(ऋ० १०।१९१।३)

अर्थ—इन सब(मनुष्यों)का आरम्भिकविचार एक हो, सभा एक हो, मन एक हो, चिन्तन (पुनर्विचार) एक हो। मैं तुम सबको एक मन्त्रका(एकताके मन्त्रका)उपदेश देता हूं, और एक यज्ञकर्म(श्रेष्ठतम कर्म)केसाथ तुम सबको होमता (तुम सबका जीना मरना करता)हूं २

समानी वः आकूतिः, समाना हृदयानि वः । समानम् अस्तु वो मनो, यथा वः सुसह असति ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।१९१।४)

अर्थ—तुम सबका संकल्प (कार्य करनेका इरादा) एक हो, तुम सबके हृदय (उद्देश) एक हों। तुमसबका मन एक हो, जिससे तुम सबका अच्छा ऐक्य (संगठन) हो ॥ ३ ॥ (२२।३) (२२।९६)

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ (२२।९६)

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

(१) इषे त्वा १ ऊर्जे त्वा* २ वायवः† स्थ ३ देवो वः सविता‡ प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ४ आप्यायध्वम्§ अघ्न्याः¶ इन्द्राय‖ भागं, प्रजावतीः अनमीवाः अयक्ष्मा: ५ मा वः स्तेनः ईशत, मा अघशंसः ६ ध्रुवाः अस्मिन् गोपतौ$ स्यात ७ बह्वीः यजमानस्य पशून्†† पाहि ८॥१॥**
(यजु० १।१)

अर्थ—हे मनुष्य ! प्रजाकेलिये (प्रजातन्तुकी वृद्धिकेलिये) तुझे उत्पन्नकिया है १ सुखकेलिये (लोकपरलोक-सुख प्राप्तिकेलिये) तुझे उत्पन्नकिया है २ तुम सब सर्वत्र गतिवाले (जल, स्थल, सब जगह जानेवाले) होवो ३ सबका उत्पन्न करनेवाला देवोंकादेव परमात्मा तुम सबको सबसेबढ़कर श्रेष्ठ कर्म करनेकेलिये आज्ञा करता है ४ तुम गौओंको बढाओ, जो परम ऐश्वर्य्यवान् जगत्कर्ता परमात्माके ऐश्वर्य्यका मुख्य भाग (हिस्सा) है, वे गौएं प्रजावाली (जीते वच्छी-वच्छेवाली), खुंजली आदि सामान्यरोगोंसेरहित तथा राजयक्ष्मा आदि विशेष रोगोंसे रहित हों ५ तुम सबका मत चोर (छलसे धन लेनेवाला) शासक (राजा) हो, और मत पापमयी आज्ञा (कपटभरी आज्ञा) करनेवाला शासक हो ६ तुम सबलोकोंकेस्वामी इस जगत्कर्ता परमात्मामें अटलविश्वासवाले होवो ७ और लोक-परलोकसुखकेदाता प्रजापति (प्रभु-प्रति) परमात्माकी सब प्रजाकी रक्षा करो ८ ॥ १ ॥

अग्ने ! व्रतपते ! व्रतं चरिष्यामि, तत् शकेयं, तत् मे राध्यताम् ! इदम् अहम् अनृतात् सत्यम् उपैमि ॥ २ ॥ (यजु० १।५)

अर्थ—हे सबकेअग्रणी (अगुआ) ! हे नियमपालक ! मैं आपकी आज्ञाओंके पालनेका व्रत (नियम) करता हूं, वह मैं कर सकूं और वह मेरा ठीकठीक पूरा हो । क्योंकि यह (व्रत) ठीकठीक पूरा करताहुआ मैं अधर्मसे धर्मको प्राप्त होताहूं ॥ २ ॥

तनूपाः अग्ने ! असि तन्वं मे पाहि, आयुर्दाः अग्ने ! असि आयुः मे

---

* इषे त्वा सूते, ऊर्जे त्वा सूते, इति उभयत्र सूते–क्रियापदाध्याहारः । चतुर्थे मन्त्रवाक्ये सविता–इति कर्तृपदस्वारस्यात् । विनियोगपक्षे तु छिनत्ति आदि क्रियापदाध्याहारो अन्यत्र (शत० १।७।१।२) शतपथाद्रौ द्रष्टव्यः । इषे=प्रजायै, प्रजाः वै इषः (शत० १।७।३।१४) इति श्रुतेः । ऊर्जे=रसाय, ऊर्ग् वै रसः (शत० ५।१।२।८) इति श्रुतेः । रसः सुखम् आनन्दः, रसेन तृप्तो न कुतश्चन ऊनः (अथर्व० १०।८।४४) इति मन्त्रवर्णात् । † वा–गतिगन्धनयोः । ‡ सविता=सर्वस्य प्रसविता (निरु० १०।३१) । § अन्तर्भावितण्यर्थम् । ¶ द्वितीया–बहुवचनम् । ‖ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । $ इमे वै लोकाः गौः (शत० ६।१।२।३४) । ** यजमानो वै दाता (शत० ६।६।४।७) । †† प्रजाः वै पशवः (तै० सं० २।६।४) ।

देहि, वर्चोदा: अग्ने! असि वर्चो मे देहि । अग्ने! यंत् मे तंन्वाः ऊनं, तंत् मे आपृण ॥ ३ ॥ (तै० सं० १।५।५) (यजु० ३।१७)

अर्थ—हे अग्नि! तू शरीररक्षक है, मेरे शरीरकी रक्षा कर, हे अग्नि! तू आयुदाता है, मुझे आयु दे, हे अग्नि! तू तेजदाता (विद्या तेजका देनेवाला) है, मुझे तेज दे। हे अग्नि! जो मेरे शरीरमें ऊनता (बल अथवा बुद्धिकी न्यूनता) है, उस मेरे शरीरकी ऊनताको पूरा कर ॥ ३ ॥

तेजो असि तेजो मयि धेहि, वीर्यम् असि वीर्यं मयि धेहि, बलम् असि बलं मयि धेहि, ओजो असि ओजो मयि धेहि, मन्युः असि मन्युं मयि धेहि, महो असि महो मयि धेहि, सहो असि सहो मयि धेहि ॥४॥
(तै० ब्रा० २।६।१) (यजु० १९।९)

अर्थ—हे अग्नि! तू तेज (दर्शनमात्रसे दूसरेके बलको शुष्क करनेकी शक्ति) है, मुझे तेज दे, तू वीर्य्य (कठिनसेकठिन कार्य करनेका सामर्थ्य) है, मुझे वीर्य दे, तू बल (दूसरेके आक्रमणको सहारनेकी शक्ति) है, मुझे बल दे, तू ओज (अति चमक) है, मुझे ओज दे, तू मन्यु (परकृत-अवज्ञाकेप्रतीकारका तात्कालिकउद्योग) है, मुझे मन्यु दे, तू महत्त्ववाला है, मुझे महत्त्व (बडप्पन) दे, तू साहस (दूसरेको दबानेका तीव्र सामर्थ्य) है, मुझे साहस दे ॥ ४ ॥ (११४)

(२) अग्ने! गृहपते! सुगृहपतिः त्वया अग्ने! अहं गृहपतिना भूयासम्। सुगृहपतिः त्वं मया अग्ने! गृहपतिना भूयाः ॥ १ ॥ (यजु० २।२७)

अर्थ—हे अग्नि! हे गृहपति! (ब्रह्माण्ड-गृहके स्वामी!) मैं तुझ गृहपति (गृहस्थ)से (तुझ गृहपतिके अनुग्रहसे) हे सबके अग्रणी! (हे जगद्गुरु!) अच्छा गृहपति होवूं। और मुझ गृहपति(गृहस्थ)से हे अग्नि! तूं पुत्रसे पिताकी नाईं अच्छा गृहपति हो ॥ १ ॥

भूर् भुवः स्वः! सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम, सुवीराः वीरैः, सुपोषाः पोषैः। नर्य! प्रजां मे पाहि, शंस्य! पशून् मे पाहि, अथर्य! पितुं मे पाहि ॥२॥
(यजु० ३।५८)

अर्थ—हे सत् चित् आनन्द! हम सुशिक्षित प्रजाओंसे प्रजावाले, देशकेरक्षक पुत्रोंसे पुत्रोंवाले और अतिथियोंकेपोषक पदार्थोंसे पदार्थोंवाले होवें। हे मनुष्योंके हितकारी! हमारी प्रजाकी रक्षा कर, हे प्रशंसनीय! हमारे पशुओंकी रक्षा कर, हे अखुट! हमारे अन्नकी रक्षा कर ॥ २ ॥

भेषजम् असि, भेषजं गवे, अश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै ३
(यजु० ३।५९)

अर्थ—तू ओषधियोंकी ओषधि है, हमारी गौओंकेलिये ओषधि हो, हमारे घोडों

और भृत्योंके लिये औषधि (दुःखनिवृत्तिपूर्वक सुखकारी) हो । हमारे मेढे मेढियोंकेलिये सुखकारी हो ॥ ३ ॥

वयं सोम! व्रते तव, मनः तनूषु बिभ्रतः । प्रजावन्तः सचेमहि ॥४॥ (यजु० ३।५६)

अर्थ—हे आह्लादकारक! (हे खुशीके देनेवाले!) हम तेरी आज्ञाओंके पालनेमें मन (आत्मा) को शरीरोंमें रखते हुए और प्रजावाले हुए तुझे सेवें ॥ ४ ॥

(३) त्र्यम्बकं यजामहे, सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनात्, मृत्योः मुक्षीय माऽमृतात् ॥ १ ॥ (ऋ० ७।५९।१२)

अर्थ—हम तीनों लोकोंकेपिता (अम्बक), बडे यशस्वी और धनधान्यकेवर्धकका पूजन करते है । हे जगत्पिता! जैसे पका हुआ फल बन्धनसे छूट जाता है, ऐसे हमको दुःखसे छुडाना, सुखसे न छुडाना ॥ १ ॥

या ते रुद्र! शिवा तनूः, अघोराऽपापकाशिनी । तया नः तन्वा शंतमया, गिरिशन्त! अभिचाकशीहि ॥ २ ॥ (यजु० १६।२)

अर्थ—हे दुष्टोंके रुलानेवाले! जो तेरा मङ्गलमय, सौम्य तथा पुण्यका उत्पादक स्वरूप है । हे प्राणीमात्रसे सुखकेबढानेवाले! उस परम (उत्कृष्ट) सुखमय स्वरूपसे हमारे सामने प्रकाशित हो ॥ २ ॥

मा नो वधीः रुद्र! मा परादाः, मा ते भूम प्रसितौ हीडितस्य । आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे, यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥ (ऋ० ७।४६।४)

अर्थ—हे दुष्टोंके रुलानेवाले! मत हमको मृत्युकामुख दिखाना, मत अपनेसे परे करना, दुष्टोंकेलिये क्रुद्ध (क्रोधयुक्त) हुए आपके फंदेमें आयेहुए हम न होवें । आप हमको सब जीवोंसे प्रशंसावाले यज्ञकर्ममें सब ओरसे भाग लेनेवाला करें और अपनी कल्याणकारी क्रियाओंसे सबकालोंमें हमारी रक्षा करें ॥ ३ ॥

(४) शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै* । यद् वो अशुद्धाः! पराजघ्नुः, इदं वः तत् शुन्धामि ॥ १ ॥ (तै० सं० १।१।३) (यजु० १।१३)

---

*"शुन्धध्वम्" इति मन्त्रेण, व्यक्तं शुद्धिः विधीयते ।
देवार्यकर्महीनानां, म्लेच्छानां वा निसर्गतः ॥ १ ॥
मन्त्रपूता विधातव्या, सततं शुद्धिम् इच्छताम् ।
अविलम्बेन सर्वेषां, विलम्बो न प्रशस्यते ॥ २ ॥
प्रच्युतिः हिन्दुधर्माद् या, साऽशुद्धिः इह कथ्यते ।
व्यवस्थितिः पुनस्तत्र, विधितः शुद्धिः उच्यते ॥ ३ ॥
अभक्ष्यभक्षणं प्राहुः, अशुद्धेः कारणं परम् ।
यत् मनोविभ्रमाभावे, क्रियते कामकारतः ॥ ४ ॥
मनोविभ्रमवेलायां, कृतं वा कारितं बलात् ।
नाशुद्धिकारणं ज्ञेयम्, इति वेदविदां मतम् ॥ ५ ॥

---

१ छलाद् इत्यपि द्रष्टव्यम्.

अर्थ—हे ऋषिसन्तानों ! तुम अशुद्धोंको शुद्धकरो सवितादेवकेआज्ञाकियेहुए प्रजा आदि कर्मकेलिये, अग्निहोत्र आदि देवयज्ञकेलिये । हे अशुद्धो ! तुह्मारे मन बाणी आदि जिसजिस अंगको दूसरों(अशुद्ध मनुष्यों)ने अशुद्ध किया है, मैं तुह्मारे उस इस अंगको शुद्ध करता हूं ॥ १॥

वाचं ते शुन्धामि, प्राणं ते शुन्धामि, चक्षुः ते शुन्धामि, श्रोत्रं ते शुन्धामि, नाभिं ते शुन्धामि, मेढ्रं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि, चरित्रान् ते शुन्धामि ॥ २ ॥ (यजु० ६।१४)

अर्थ—तेरी बाणी(मन और बाणी)को शुद्ध करता हूं, तेरे प्राण(घ्राण)को शुद्ध करता हूं, तेरे नेत्रको शुद्ध करता हूं, तेरे कानको शुद्ध करता हूं, तेरी नाभि(जाठराग्नि)को शुद्ध करता हूं, तेरे उपस्थेन्द्रियको शुद्ध करता हूं, तेरे अपान वायुको शुद्ध करता हूं, तेरे पाओंको शुद्ध करता हूं ॥ २ ॥

मनः ते आप्यायतां, वाक् ते आप्यायतां, प्राणः ते आप्यायतां, चक्षुः ते आप्यायतां, श्रोत्रं ते आप्यायताम् । यत् ते क्रूरं, यद् आस्थितं, तत् ते आप्यायतां, निष्ट्यायतां, तत् ते शुध्यतु, शम् अहोभ्यः ॥ ३ ॥

(यजु० ६।१५)

अर्थ—तेरा मन उन्नत(वृद्धिको प्राप्त)हो, तेरी बाणी उन्नत हो, तेरा प्राण (घ्राण) उन्नत हो, तेरा नेत्र उन्नत हो, तेरा कान उन्नत हो । जो तेरा क्रूर कर्म (अशुद्ध मनुष्योंके सम्बन्धसे अभ्यस्त क्रूरकर्म) है, वह दूर हो, और जो सविता देवका आज्ञाकिया हुआ कर्म तुमने स्वीकार किया है, वह तेरी उन्नति(वृद्धि)को प्राप्त हो, दृढताको प्राप्त हो, और जो जो तेरा अशुद्ध हुआ है, वह सब शुद्ध हो, तुह्मारी आयुकेदिन सुखकारी हों ॥३॥

(९) मनो मे तर्पयत, वाचं मे तर्पयत, प्राणं मे तर्पयत, चक्षुः मे तर्पयत, श्रोत्रं मे तर्पयत, आत्मानं मे तर्पयत, प्रजां मे तर्पयत, पशून् मे तर्पयत, गणान् मे तर्पयत, गणाः मे मा वितृषन् ॥ १ ॥

(यजु० ६।३१)

अर्थ—हे देवताओ ! मेरे मनको तृप्त करो, मेरी बाणीको तृप्त करो, मेरे प्राण (घ्राण)को तृप्त करो, मेरे नेत्रको तृप्त करो, मेरे कानको तृप्त करो, मेरे आत्माको तृप्त करो, मेरी प्रजाको तृप्त करो, मेरे पशुओंको तृप्त करो, मेरे बन्धुओं तथा भृत्योंको तृप्त करो, मेरे बन्धू और भृत्य मत सांसारिक पदार्थोंकी भूखसे भूखे होवें ॥ १ ॥

देवकृतस्य एनसो अवयजनम् असि, मनुष्यकृतस्य एनसो अवयजनम् असि, पितृकृतस्य एनसो अवयजनम् असि, आत्मकृतस्य एनसो अवयजनम् असि, एनसः एनसो अवयजनम् असि । यच्च अहम् एनो विद्वान् चकार, यच्च अविद्वान्, तस्य सर्वस्य एनसो अवयजनम् असि ॥ २ ॥

(यजु० ८।१३)

अर्थ—हे सबकेस्वामी परमात्मा! तू देवताओंमें कियेहुए अपमानरूपी पापका क्षमा करनेवाला है, मनुष्यों (मनुष्यमात्र) में कियेहुए असहिष्णुतारूपी पापका क्षमा करनेवाला है, पितरोंमें कियेहुए आज्ञाभंगरूपी पापका क्षमा करनेवाला है, मनमें कियेहुए अनिष्टचिन्तन-रूपी पापका क्षमा करनेवाला है, पाप, पापका (हरएक पापका) क्षमा करनेवाला है, और जो पाप मैंने जानबूझ कर किया है, और जो मैंने विना जानेबूझे किया है, उस सब पापका क्षमा करनेवाला तू है ॥ २ ॥

आयुः यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पतां, चक्षुः यज्ञेन कल्पतां, श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, मनो यज्ञेन कल्पतां, वाग् यज्ञेन कल्पताम्, आत्मा यज्ञेन कल्पतां, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । प्रजापतेः प्रजाः अभूम, स्वर् देवाः! अगन्म, अमृताः अभूम ॥ ३ ॥ (तै० सं० १।७।९) (यजु० ९।२१)

अर्थ—हे भगवन्! हमारी आयु (जीवन) यज्ञसे (यज्ञानुष्ठानसे) समर्थ हो, प्राण (घ्राण) यज्ञसे समर्थ हो, नेत्र यज्ञसे समर्थ हो, कान यज्ञसे समर्थ हो, मेरुदण्ड यज्ञसे समर्थ हो, मन यज्ञसे समर्थ हो, वाणी यज्ञसे समर्थ हो, शरीर यज्ञसे समर्थ हो, यज्ञ यज्ञसे समर्थ हो। हम प्रजापतिकी प्रजा होवें, हे देवताओ! हम गृहस्थाश्रमके सुखको प्राप्त होवें, हम पुत्र पौत्र आदि प्रजाओंसे अमर होवें ॥ ३ ॥

(६) मधुश्च माधवश्च वासन्तिकौ ऋतू (यजु० १३।२५) **शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मौ ऋतू नभश्च नभस्यश्च वार्षिकौ ऋतू** (यजु० १४।६-१५) **इषश्च ऊर्जश्च शारदौ ऋतू** (यजु० १४।१६) **सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकौ ऋतू** (यजु० १४।२७) **तपश्च तपस्यश्च शैशिरौ ऋतू ॥ १ ॥** (तै० सं० ४।४।११)

अर्थ—चैत्र और वैशाख, दोनों वसन्त ऋतु हैं, ज्येष्ठ और आषाढ, दोनों ग्रीष्म ऋतु हैं, श्रावण और भाद्रपद (भादों), दोनों वर्षा ऋतु हैं, आश्विन और कार्तिक, दोनों शरद् ऋतु हैं, मार्गशीर्ष (मग्घर) और पौष, दोनों हेमन्त ऋतु हैं, माघ और फाल्गुन, दोनों शिशिर ऋतु हैं ॥ १ ॥

आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आ राष्ट्रे राजन्यः शूरः इषव्यो अतिव्याधी महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुः, वोढा अनड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरंधिः योषा, जिष्णुः रथेष्ठाः सभेयो, युवा अस्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्तां, योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ २ ॥ (तै० सं० ७।५।१८) (यजु० २२।२२)

अर्थ—हे सबसे बडे! हमारे देशमें ब्राह्मण वेद आदि समस्तविद्याओंसे देदीप्यमान उत्पन्न हो, क्षत्रिय पराक्रमी, शस्त्र-अस्त्र चलानेमें निपुण, शत्रुओंको अत्यन्त पीडित करनेवाला और हजारोंसे अकेला युद्ध करनेवाला उत्पन्न हो, गौ दूध देनेवाली, बैल बोझे ढोनेवाला, घोडा शीघ्र चलनेवाला, और स्त्री बहुत बुद्धिवाली उत्पन्न हो, प्रत्येक मनुष्य

विजय प्राप्तकरनेका स्वभाव रखनेवाला, रथों (रणमोटरों तथा एरोप्लेनों)में बैठनेवाला और सभामें प्रवीण उत्पन्न हो, इस यज्ञकर्ताके घरमें विद्या-यौवन-सम्पन्न और शत्रुओंको परे फैंकनेवाला पुत्र उत्पन्न हो । हमारे देशमें मेघ इच्छा इच्छापर (जब जब आवश्यकता हो, तब तब) बरसे, हमारे देशमें गेहूं, जौं, चणा, धान्यआदि समस्त ओषधियें (खेतियें) फलवाली हुई पकें, हमारे देशमें प्रत्येक मनुष्यका योग (अलब्धका लाभ) और क्षेम (लब्धका संरक्षण) उसके उपभोगकेलिये पर्य्याप्त हो ॥

यथा इमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्यः, ब्रह्मराजन्याभ्यां, शूद्राय च अर्याय च, स्वाय च अरणाय च, प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुः इह भूयासम्, अयं मे कामः समृध्यताम्, उप मा अदो नमतु ॥३॥ (यजु० २६।२)

अर्थ—हे ब्राह्मण! (वेद आदि समस्तविद्याओंके पारंगत विद्वान्!) जैसे मैं इस कल्याणी (लोक परलोक, दोनोंमें सुखके देनेवाली) बाणीको प्रकटरूपसे कहता हूं, वैसे तू सब मनुष्योंको, ब्राह्मण क्षत्रियको, शूद्र और वैश्य, दोनोंको, अपने (समान-धर्म-पुस्तकवाले) और बेगाने (भिन्न-धर्मपुस्तकवाले) दोनोंको कहो, इस कामनासे कि मैं यहां (इस लोकमें) सबके सामने इस कल्याणी बाणीके यथावत् कहनेसे विद्वानोंका और दानके देनेवालोंका प्यारा (स्नेहपात्र) होवूं, और यह मेरी कामना अच्छी सिद्ध हो, जिससे मुझे परलोकमें इस कल्याणी बाणीका मूलवक्ता वह (ब्रह्म) प्राप्त हो ॥ ३ ॥

(७) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तम् एव विदित्वा अति मृत्युम् एति, न अन्यः पन्थाः विद्यते अयनाय ॥१॥ (यजु० ३१।१८)

अर्थ—मैं इस सबसेबडे सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माको जो सूर्यकीनाई प्रकाशस्वरूप और अन्धकार (नाम-रूप-प्रकृति)से परे है, जानता हूं । उस हीको जानकर मनुष्य मृत्यु(जन्ममरण)को उलांघ जाता है, इसकेसिवा दूसरा कोई मार्ग (उपाय) मृत्युको उलांघ जानेकेलिये नहीं है ॥ १ ॥

प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तर्, अजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः, तस्मिन् ह तस्थुः भुवनानि विश्वा ॥२॥ (यजु० ३१।१९)

अर्थ—प्रजाका स्वामी सब पदार्थोंके मध्यमें भीतर अन्तर्यामी-रूपसे वर्तमान है, और न उत्पन्न होताहुआ अनेकरूपोंसे प्रकट होता है । उसके अनेकरूपोंसे प्रकट होनेके कारणको बुद्धिमान् (ऋषि, मुनि) जानते हैं, उसमें ही सब पदार्थ स्थित हैं ॥ २ ॥

यो देवेभ्यः आतपति, यो देवानां पुरोहितः । पूर्वो यो देवेभ्यो जातः, नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ ३ ॥ (यजु० ३१।२०)

अर्थ—जो देवताओं(जगत्कार्यकर्त्री शक्तियों)को अग्नि, वायु, सूर्यआदिरूपसे व्यक्त करनेकी आज्ञा देता है, जो देवताओंके सामने आज्ञाता-रूपसे स्थित है । जो देवताओंसे पहले सृष्टिसङ्कल्पसे प्रकट हुआ है, उस प्रकाशस्वरूप ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ३ ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो, देवा अग्रे तद् अब्रुवन् । यः त्वा एवं ब्राह्मणो विद्यात्, तस्य देवा असन् वशे ॥ ४ ॥ (यजु० ३१।२१)

अर्थ—आरम्भमें प्रकाशस्वरूप ब्रह्मको अग्नि, वायु, सूर्य आदिरूपसे प्रकट (व्यक्त) करतेहुए देवताओंने उसे (ब्रह्मको) कहा । जो ब्राह्मण ऐसे (व्यक्त, अव्यक्त) तुझ ब्रह्मको जानेगा, उसके वशमें देवता होंगे ॥ ४ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, अहोरात्रे पार्श्वे, नक्षत्राणि रूपम्, अश्विनौ* व्यात्तम् । इष्णन् इषाण, अमुं म इषाण, सर्वलोकं म इषाण ॥ ५ ॥ (यजु० ३१।२२)

अर्थ—श्री (ऐश्वर्य) और लक्ष्मी (प्रजोत्पत्तिशक्ति), दोनों तेरी पत्नियें (पत्नीकी नाई वशवर्तिनी), दिन और रात, दोनों तेरे पासे, गगनस्थ तारागण तेरा चमकता रूप तथा द्युलोक और पृथिवीलोक, तेरा विकसित (अति प्रसन्न) मुख है । सबकेलिये श्री और लक्ष्मीको चाहता हुआ मेरेलिये भी चाह, मेरे उस लोकको चाह, मेरे इस उस सब लोकोंको चाह ॥ ५ ॥

(८) तदेव अग्निः तद् आदित्यः, तद् वायुः तद् उ चन्द्रमाः । तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म†, ताः आपः‡ सः प्रजापतिः ॥ १ ॥ (यजु० ३२।१)

अर्थ—वह (ऐश्वर्यआदिका दाता प्रजापति ब्रह्म) ही अग्नि है, वही सूर्य्य, वही वायु और वही चन्द्रमा है । वह (ब्रह्म) ही तेजस्वी क्षत्रिय, वही ब्राह्मण, वही यज्ञ और वही फलका दाता प्रजापति है ॥ १ ॥

सर्वे निमेषाः जज्ञिरे, विद्युतः पुरुषाद् अधि । नैनम् ऊर्ध्वं न तिर्यञ्चं, न मध्ये परिजग्रभत् ॥ २ ॥ (यजु० ३२।२)

अर्थ—उस बडे प्रकाशवाले, सर्वत्रपरिपूर्ण प्रजापतिसे ही पृथिवीआदिलोकोंकी उत्पत्तिके पीछे निमेषे उन्मेष करनेवाले सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं । इसको न कोई ऊपरसे, न नीचेसे और नही कोई बीचमेंसे पकड सकता है ॥ २ ॥

एष उ ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः, पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । सः एव जातः स जनिष्यमाणः, प्रत्यङ् जनाः ! तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ ३ ॥ (यजु० ३२।४)

अर्थ—यह ही प्रसिद्ध देवोंका देव सब बडी दिशाओंको व्याप्त करके स्थित है, वह ही सबसे प्राचीन आरम्भमें सृष्टिसङ्कल्पसे प्रकट हुआ, और वही उत्पन्नहुए सब पदार्थोंके मध्यमें भीतर स्थित है । वह ही उत्पन्नहुआ पदार्थ और उत्पन्न होनेवाला पदार्थ भी वही है, हे मनुष्यों ! सब मुखों(द्युलोकों और पृथिवीलोकों)वाला वह सामने (जिधर देखो उधर सामने) स्थित (मौजूद) है ॥ ३ ॥

---

* इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षम् अश्विनौ (शत० ४।१।५।१६) । † ब्रह्म वै ब्राह्मणः (शत० १३।१।५।३) । ‡ यज्ञो वै आपः (शत० १।१।१।१२) ।

यस्मात् जातं न पुरा किं चन एव, यः आबभूव भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया संरराणः, त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ ४ ॥

(यजु० ३२।५)

अर्थ—जिससे पहले कुछ भी प्रकट निश्चय नहीं था, जो अपने सङ्कल्पसे सब पदार्थोंको बनाकर घेरेहुए है । वह सोलह-कलावाला प्रजापति अपनी सब प्रजाकेसाथ समानरूपसे रमण करताहुआ (खुशीकाखेल खेलताहुआ) उसके सुखके लिये सूर्य, विद्युत् (बिजली) और अग्नि, इन तीन ज्योतियोंको बनाता है ॥ ४ ॥

वेनः तत् पश्यत् निहितं गुहा सद्, यत्र विश्वं भवति एकनीडम् । तस्मिन् इदं सं च वि च एति सर्वं, स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ ५ ॥

(यजु० ३२।८)

अर्थ—विवेकी मनुष्य उस सत्(तीनोंकालोंमें नाश न होनेवाले ब्रह्म)को देखता है, जो हृदय-गुफामें स्थित है, और जिसमें सब जगत् अद्वितीय आश्रयवाला हुआ विद्यमान है । उसमें ही यह सब जगत् प्रलयकालमें एक होजाता और उत्पत्तिकालमें फिर अनेक होजाता है, वह विभूति(ऐश्वर्य)वाला सब प्रजाओंमें ताने बानेकीनाई निश्चय ओत है, और प्रोत है ॥ ५ ॥

(९) प्र तद् वोचेद् अमृतं नु विद्वान्, गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् । त्रीणि पदानि निहिता गुहाऽस्य, यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥ १ ॥

(यजु०३२।९)

अर्थ—वेदवाणीका धारनेवाला (ठीकठीक जाननेवाला) विद्वान् उस अमृत ब्रह्मका सदा प्रवचन (व्याख्यान) करे, जो सबका अधिष्ठान (आश्रय), सबकी हृदय-गुफामें विद्यमान और सत्य है । इस(अमृत ब्रह्म)के "एक पाद (चौथा हिस्सा) जगत्‌रूपसे प्रकट होनेपर भी" तीन पाद गुफामें स्थितकेसमान (अप्रकट) हैं, जो इस एक पादकेसहित उन तीनों पादों(पूर्णब्रह्म)को जानता है, वह पिताका पिता (साक्षात् ब्रह्म) है ॥ १ ॥

स नो बन्धुः जनिता स विधाता, धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवाः अमृतम् आनशानाः, तृतीये धामन् अधि+ऐरयन्त ॥ २ ॥ (यजु० ३२।१०)

अर्थ—वह (ब्रह्म) हमारा बन्धु (प्रत्येक कार्यमें सहायक), हमारा पिता और हमारे सुखदुःखका बनानेवाला है, वह सब लोकोंको और सब पदार्थोंको जानता है । जिस व्यक्त अव्यक्तसे तीसरे, व्यक्त अव्यक्तके लोक (आश्रय) ब्रह्ममें स्थितिवाले विद्वान् अमृत जीवनको भोगते हुए यथाधिकार कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २ ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्, परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजाम् ऋतस्य, आत्मना आत्मानमभिसंविवेश ॥ ३ ॥ (यजु० ३२।११)

अर्थ—सब प्राणियोंकी परीक्षा करके, सबलोकोंकी परीक्षा करके, सब दिशाओं और उपदिशाओं(अप्राणी पदार्थों)की परीक्षा करके (यह स्वतःसिद्ध अर्थात् अपने आप

बने हुए हैं, अथवा इनका बनानेवाला कोई दूसरा है, इसप्रकार ठीकठीक जांच करके) प्रथम समाधि(सम्प्रज्ञात समाधि)में अर्थात् मनकी एकाग्रावस्थामें उत्पन्न होनेवाली सत्य ब्रह्मकी (सत्य ब्रह्मको विषय करनेवाली) बुद्धि(ऋतंभरा प्रज्ञा)को प्राप्त करके विद्वान् अपने आत्मासे परमात्मा (ब्रह्म)में प्रवेश करता है ॥ ३ ॥

परि द्यावापृथिवी सद्यः इत्वा, परि लोकान् परि दिशः परि स्वः । ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य, तद् अपश्यत् तद् अभवत् तद् आसीत् ॥ ४ ॥

(यजु० ३२।१२)

अर्थ—द्युलोक तथा पृथिवीलोक, दोनोंकी झटिति (मरनेसे पहले) परीक्षा करके रात्रीमें दृश्यमान सब तारागणोंकी परीक्षा करके, उनकी दिशाओं तथा उपदिशाओंकी परीक्षा करके, दृश्य अदृश्य सब पदार्थोंकी परीक्षा करके सद्ब्रह्मके फैलायेहुए मायाजालको चीरकर (फाडकर) उस(सद्ब्रह्म)को देखता (साक्षात् करता) है, और वही हो जाता है, क्योंकि वही था ॥ ४ ॥

गर्भे नु सन् अनु एषाम् अवेदम्, अहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुरः आयसीः अरक्षन्, अध श्येनो जवसा निर्+अदीयम् ॥ ५ ॥

(ऋ० ४।२७।१)

अर्थ—गर्भ(गार्हस्थ्य)में होते(रहते)हुए ही मैंने इन (वेदवेत्ता) विद्वानोंके उपदेशानुसार योगसाधन करके अपने सब जन्मोंको जाना है । इन अनेक लोहेके किलोंने मुझे 'चिरकालतक बंद' रखा, अब मैं वेग(तेजी)से बाजकीनाई ज्ञानास्त्रसे इन सबको छिन्न भिन्न करके निकल आया हूं ॥ ५ ॥

(१०) दृते ! दृंह मा, मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्य अहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १ ॥ (यजु० ३६।१८)

अर्थ—हे अज्ञाननाशक ! मुझे ज्ञानमें दृढकर, जिससे सब प्राणी मुझको मित्रकी दृष्टिसे देखें । मैं मित्रकी दृष्टिसे सब प्राणियोंको देखूं, हम सब मित्रकी दृष्टिसे सब प्राणियोंको देखें ॥ १ ॥

यावती द्यावापृथिवी, यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे । तावन्तम् इन्द्र ! ते ग्रहम्, ऊर्जा गृह्णामि अक्षितं, मयि गृह्णामि अक्षितम् २ (यजु० ३८।२६)

अर्थ—जितने बडे द्यौ और पृथिवी, दोनों हैं और जितनी बडी सिन्धु आदि सातों नदियें हैं । हे इन्द्र ! उतना बडा तेरा रस(आनन्द)सेभरा दानपात्र है, उस अखुट्टको मैं सबकेलिये पकडता हूं, उस अखुट्टको मैं अपनेलिये पकडता हूं ॥ २ ॥

सविता प्रथमे अहन्, अग्निः द्वितीये, वायुः तृतीये, आदित्यः चतुर्थे, चन्द्रमाः पञ्चमे, ऋतुः षष्ठे, मरुतः सप्तमे, बृहस्पतिः अष्टमे, मित्रो नवमे, वरुणो दशमे, इन्द्रः एकादशे, विश्वेदेवाः द्वादशे ॥ ३ ॥ (यजु० ३९।६)

अर्थ—ज्ञानी अज्ञानी, प्रत्येक व्यक्तिके मर जानेपर पेहले दिन सविता (जगदुत्पादक परमात्मा) "सवित्रे स्वाहा" इस प्रकार हवि देने योग्य है, दूसरे दिन अग्नि (सबका अग्रणी) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा" इस प्रकार दूसरी हवि, तीसरे दिन वायु (सबका प्राण) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा" इस प्रकार तीसरी हवि, चौथे दिन आदित्य (श्रद्धाभक्तिपूर्वक अर्पण कीहुई वस्तुका आदान=ग्रहण करनेवाला) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा" इस प्रकार चौथी हवि, पांचवे दिन चन्द्रमा (सबको खुश करनेवाला) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा" इस प्रकार पांचवी हवि, छेवें दिन ऋतु (ऋतुका ऋतु) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, ऋतवे स्वाहा" इस प्रकार छेवीं हवि, सातवें दिन मरुत (मरुतोंकीनाई भक्तोंकेलिये दौडनेवाला) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, ऋतवे स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा" इस प्रकार सातवीं हवि, आठवें दिन बृहस्पति (बडी वाणीका स्वामी) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, ऋतवे स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा" इस प्रकार आठवीं हवि, नवमे दिन मित्र (मृत्युसे रक्षा करनेवाला) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, ऋतवे स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, मित्राय स्वाहा" इस प्रकार नवमी हवि, दसवें दिन वरुण (दुःखोंका निवारण करनेवाला) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, ऋतवे स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, मित्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा" इस प्रकार दसवीं हवि, ग्यारवें दिन इन्द्र (परम ऐश्वर्य्यवान्) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, ऋतवे स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, मित्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा" इस प्रकार ग्यारवीं हवि, और बारवें दिन विश्वे देवता (सब देवता) "सवित्रे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वायवे स्वाहा, आदित्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, ऋतवे स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, मित्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, विश्वेदेवेभ्यः स्वाहा" इस प्रकार बारवीं हवि देनेयोग्य हैं ॥ ३ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ (१०।३८)

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

(१) यो भूतं च भव्यं च, सर्वं यश्च अधितिष्ठति । स्वः यस्य च केवलं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ (अथर्व० १०।८।१)

अर्थ—जो भूत (अतीत) और भविष्यत्, दोनोंका और जो वर्तमान सब जगत्का अधिष्ठाता (शासक) है। और केवल (दुःखसे अमिश्रित) सुख (आनन्द) जिसका स्वरूप है, उस सबसेबडे ब्रह्म(परमात्मा)को नमस्कार है ॥ १ ॥

यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षम् उतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥ (अथर्व० १०।७।३२)

अर्थ—जिसका पाओं पृथिवी और पेट अन्तरिक्ष है, जिसने द्यौको अपना सिर बनाया है, उस सबसेबडे ब्रह्मको नमस्कार है ॥ २ ॥

यस्य सूर्यः चक्षुः, चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्रे आस्यं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ (अथर्व० १०।७।३३)

अर्थ—सूर्य और फिरफिर नया उदय होनेवाला चन्द्रमा जिसकी आंख है। जिसने अग्निको अपना मुंख बनाया है, उस सबसेबडे ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ३ ॥

यः श्रमात् तपसो जातो, लोकान् सर्वान् समानशे । सोमं यश्चक्रे केवलं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥ (अथर्व० १०।७।३६)

अर्थ—जो सृष्टिसङ्कल्परूप प्रयत्नसे प्रकटहुआ सब लोकोंको भीतर बाहर व्याप्त किये हुए है। जिसने अकेले प्रेमको अपनी प्राप्तिका साधन बनाया है, उस सबसे बडे ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ४ ॥

यतः सूर्यः उदेति, अस्तं यत्र च गच्छति । तद् एव मन्ये अहं ज्येष्ठं, तद् उ न अत्येति किं चन ॥ ५ ॥ (अथर्व० १०।८।१६)

अर्थ—जिससे सूर्य उत्पन्न होता है और जिसमें लयको प्राप्त होता है। उसको ही मैं सबसेबडा मानता हूं, निःसन्देह कोई भी वस्तु उसको नहीं उलांघती है ॥ ५ ॥

(२) आविः संनिहितं गुहा, चरत् नाम महत् पदम् । तत्र इदं सर्वम् अर्पितम्, एजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥ (अथर्व० १०।८।६)

अर्थ—वह प्रकट (जाहिर) है, अत्यन्तसमीप है, हृदयगुफामें रहता है, उसका स्वरूप प्रसिद्ध और सबसे बडा है। उसीमें यह सब ठहरा हुआ है, जो कांपता है, जो प्राण (सांस) लेता है और जो स्थिर (अचल) है ॥ १ ॥

यद् एजति पतति यत् च तिष्ठति, प्राणत् अप्राणत् निमिषत् च यद् भुवत् । तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं, तत् सम्भूय भवति एकम् एव ॥२॥
(अथर्व० १०।८।११)

अर्थ—जो वृक्ष हुआ कांपता है, पक्षी हुआ उडता है, और जो पर्वत हुआ स्थिर है, जो प्राणनक्रिया करता (सांस लेता) हुआ, अपानन‌क्रिया करता (परसांस लेता) हुआ और जो आंख झपकता हुआ, मनुष्य पशु पक्षी आदिरूपसे विद्यमान है । वही सर्वरूप (अनेकरूप) पृथिवीको धारणकिये हुए है, वही निश्चय अन्तमें सबको इकट्ठा करके (समेटकर) एक हो जाता है ॥ २ ॥

प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तर्, अदृश्यमानो बहुधा विजायते । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान, यद् अस्य अर्धं कतमः सः केतुः ॥ ३ ॥(अथर्व० १०।८।१३)

अर्थ—प्रजाकास्वामी सब पदार्थोंके मध्यमें भीतर वर्तमान है, और देखनेमें न आताहुआ बहुत प्रकारसे (अनेक रूपसे) प्रकट होता है । उसने अपने समृद्ध (सर्वशक्तिसम्पन्न) रूपसे सब जगत्को उत्पन्न किया है, इसका जो समृद्ध रूप है, वह निरतिशय सुख है, वह निरतिशय ज्ञान है ॥ ३ ॥

दूरे पूर्णेन वसति, दूरे ऊनेन हीयते । महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये, तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ ४ ॥ (अथर्व० १०।८।१५)

अर्थ—जो दूरसेदूर देशमें अपने पूर्णरूपसे रहता है, जो दूरसेदूर देशमें अपने ऊन(अपूर्ण) रूपसे नही रहता है । जो सबसेबडा, पूजनीय और पदार्थमात्र (हर एक पदार्थ)के मध्यमें विद्यमान है, उसी ब्रह्मको साम्राज्यकेधारक और पोषक वेदविद्वान् सांझ सुवेरे नमस्कारकी भेंट देते हैं ॥ ४ ॥

ये अर्वाङ् मध्ये उत वा पुराणं, वेदं विद्वांसम् अभितो वदन्ति । आदित्यम् एव ते परिवदन्ति सर्वे, अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥५॥
(अथर्व० १०।८।१७)

अर्थ—जो लोग अर्वाचीन, प्राचीन अथवा मध्यमें होनेवाले वेदकेविद्वान्की पीछे अथवा सामनेनिन्दा करते हैं । वे सब निःसन्देह एक सूर्यकी, दूसरे अग्निकी और तीसरे निरन्तरगतिशील वायुकी निन्दा करते हैं ॥ ५ ॥

(३) यो वै ते विद्याद् अरणी, याभ्यां निर्मथ्यते वसु । स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत, स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ १ ॥ (अथर्व० १०।८।२०)

अर्थ—जो निश्चय उन दो लकडियों (द्युलोक और पृथिवीलोकरूपी दो लकडियों)को जानता है, जिनसे ब्रह्मरूपी अग्नि मथकर निकाला जाता (विवेकबलसे प्रकटकिया जाता) है । वह जाननेवाला सबसेबडे ब्रह्मको समझता है, वह महान् ब्रह्मको जानता है ॥१॥

यो विद्यात् सूत्रं विततं, यस्मिन् ओताः प्रजाः इमाः । सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्, स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ २ ॥ (अथर्व० १०।८।३७)

अर्थ—जो इस फैलेहुए प्रकृतिरूपी तागेको जानता है, जिसमें ये सब प्रजायें प्रोई हुई हैं । और जो इस (प्रकृतिरूपी) तागेकेमूल तागे(ब्रह्म)को जानताहै, वह सबसेबडे ब्रह्मको जानता है ॥ २ ॥

पूर्णात् पूर्णम् उद्चति, पूर्णं पूर्णेन सिच्यते । उतो तद् अद्य विद्याम, यतः तत् (एतत्) परिषिच्यते ॥ ३ ॥ (अथर्व० १०।८।२९)

अर्थ—पूर्णसे(सब प्रकारकी त्रुटियोंसेरहित ब्रह्मसे)पूर्ण(सबप्रकारकी त्रुटियोंसेरहित जगत् वृक्ष) उत्पन्न होता है, और पूर्ण(ब्रह्म)से पूर्ण(जगत् वृक्ष)सेंचा जाता (पाला जाता) है। जिस पूर्णसे यह पूर्ण (जगत् वृक्ष)सेंचा जाता है, आज हम उसको जानें ॥ ३ ॥

पुण्डरीकं नवद्वारं, त्रिभिः गुणेभिः आवृतम् । तस्मिन् यद् यक्षम् आत्मन्वत्, तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४ ॥ (अथर्व० १०।८।४३)

अर्थ—नौ द्वारोंवाला, तीनों गुणोंसेआच्छादित(व्याप्त)जो कमलकीनाई परमपवित्र शरीर है । उसमें(उसकेअंदर) जो प्राणोंवाला (प्राणोंकाप्राण) पूजनीय ब्रह्म है, उसको निश्चय ब्रह्मवेत्ता जानते हैं ॥ ४ ॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चन ऊनः । तम् एव विद्वान् न बिभाय मृत्योः, आत्मानं धीरम् अजरं युवानम् ५ (अथर्व० १०।८।४४)

अर्थ—इच्छासेरहित धैर्यवाला(मुस्तकिल), नमरनेवाला, अपनेआप होनेवाला (स्वतःसिद्ध), आनन्दसे पूर्ण और जो किसीसेभी न्यून नहीं है (जिससे सब न्यून हैं) । उस ही नजीर्ण(बुड्ढे)होनेवाले, सदा युवा, सदाबुद्धिवाले आत्माको जानता हुआ मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता (जन्ममरणकेडरसे मुक्त होजाता) है ॥ ५ ॥

(४) स्कम्भेन इमे विष्टभिते, द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः । स्कम्भे इदं सर्वम् आत्मन्वद्, यत् प्राणत् निमिषत् च यत् ॥ १ ॥ (अथर्व० १०।८।२)

अर्थ—स्कम्भसे(सबके थामनेवाले परमात्मासे)थामेहुए ये द्यौ और पृथिवी, दोनों खडे(अपनी अपनी मर्यादामें स्थिर)हैं। स्कम्भमें यह सब प्राण(जीवन)वाला है, जो श्वांसलेता और जो आंख झपकता है ॥ १ ॥

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे, स्कम्भो दाधार उरु अन्तरिक्षम् । स्कम्भो दाधार प्रदिशः षड् उर्वीः, स्कम्भे इदं विश्वं भुवनम् आविवेश ॥ २ ॥ (अथर्व० १०।७।३५)

अर्थ—स्कम्भने इन द्यौ और पृथिवी, दोनोंको धारणकियाहुआ है, स्कम्भने विस्तृत अन्तरिक्षको धारणकियाहुआ है । स्कम्भने छेओं (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर) विस्तृत (फैली हुई) दिशाओंको धारणकियाहुआ है, और स्कम्भमें ही यह सब जगत् प्रवेश कियेहुआ है (स्कम्भके भीतर स्थित है) ॥ २ ॥

यत् परमम् अवमं यत् च मध्यमं, प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्। कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र, यत् न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ॥ ३ ॥

(अथर्व० १०।७।८)

अर्थ—जो सबसे ऊपर (द्यौमें) जो सबसे नीचे (पृथिवीमें) और जो मध्यमें (अन्तरिक्षमें) अनेकरूप जगत् प्रजापति(स्कम्भ)ने उत्पन्न किया है । उस सबमें स्कम्भ कितने अंशसे प्रविष्ट हुआ है, और जो नहीं प्रविष्ट हुआ, वह कितना है ? ॥ ३ ॥

कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं, कियद् भविष्यद् अन्वाशयेऽस्य । एकं यद् अङ्गम् अकृणोत् सहस्रधा, कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र ॥ ४ ॥

(अथर्व० १०।७।९)

अर्थ—स्कम्भ कितने अंशसे भूतजगत् में प्रविष्ट हुआ है, और इसका कितना अंश भविष्यत् जगत् में रहा है ? । जिसने अपने एक अंशको भूत, भविष्यत् और वर्तमान-रूपी जगत्से हजारों प्रकारका किया है, वह स्कम्भ उस सब जगत् में कितने अंशसे प्रविष्ट हुआ है, क्या कहा जाये ॥ ४ ॥

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः, ते विदुः परमेष्ठिनम् । यो वेद परमेष्ठिनं, यश्च वेद प्रजापतिम् । ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः, ते स्कम्भम् अनुसंविदुः ॥ ५ ॥

(अथर्व० १०।७।१७)

अर्थ—जो मनुष्यदेहमें ब्रह्मको जानते हैं, वे परमेष्ठी(सबसेऊंचे द्यौमें रहने-वाले)को जानते हैं । जो परमेष्ठीको जानते हैं, और जो प्रजापतिको जानते हैं, और जो सबसेबडे ब्रह्मको जानते है, वे स्कम्भको ठीकठीक जानते हैं ॥ ५ ॥

(५) प्राणाय नमो, यस्य सर्वम् इदं वशे । यो भूतः सर्वस्य ईश्वरः, यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥ (अथर्व० ११।६।१)

अर्थ—उस प्राण(प्राणकेप्राण परमात्मा)को नमस्कार है, जिसके वशमें यह सब जगत् है । जो सबका ईश्वर है और जिसमें यह सब अच्छीतरह ठहरा हुआ है ॥१॥

प्राणः प्रजाः अनुवस्ते, पिता पुत्रम् इव प्रियम् । प्राणो ह सर्वस्य ईश्वरो, यत् च प्राणिति यत् च न ॥ २ ॥ (अथर्व० ११।६।१०)

अर्थ—जैसे पिता प्यारे पुत्रको, वैसे प्राण सब प्रजाको अनुकूल दृष्टिसे ढांपता है । प्राण निश्चय सबका ईश्वर है, जो निश्चय सांसलेता है और जो नहीं लेता है ॥ २ ॥

प्राणो मृत्युः प्राणः तक्मा*, प्राणं देवाः उपासते । प्राणो ह सत्यवादि-नम्, उत्तमे लोके आदधत् ॥ ३ ॥ (अथर्व० ११।६।११)

अर्थ—प्राण रुलानेवाला (मारनेवाला) और प्राण ही हसानेवाला (जिलानेवाला) है, सब विद्वान् प्राणकी उपासना करते हैं। प्राण निश्चय सत्यवादीको सबसे ऊंचे स्थानमें रखता है ॥ ३ ॥

---

*तक हसने ।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री, प्राणं सर्वे उपासते । प्राणो ह सूर्यः चन्द्रमाः, प्राणम् आहुः प्रजापतिम् ॥ ४ ॥ (अथर्व० ११।६।१२)

अर्थ—प्राण विराट् (ईश्वर) और प्राण ही उपदेष्टा (जगद्गुरु) है, सब प्राणकी उपासना करते हैं । प्राण ही चन्द्रमा और सूर्य है, प्राणको ही प्रजापति कहते है ॥४॥

(६) पृथक् सर्वे प्राजापत्याः, प्राणान् आत्मसु बिभ्रति । तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति, ब्रह्मचारिणि आभृतम् ॥ १ ॥ (अथर्व० ११।७।२२)

अर्थ—सब प्रजापतिकेपुत्र अलग अलग अपने शरीरोंमें प्राणोंको धारण करते हैं । वेदविद्या उन सब(प्राणों)की रक्षा करती है, जो ब्रह्मचारीमें इकट्ठी कीगई है ॥ १ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति, तस्मिन् देवाः अधि विश्वे समोताः । प्राणापानौ जनयन् आद् व्यानं, वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २ ॥
(अथर्व० ११।७।२४)

अर्थ—ब्रह्मचारी चमकतीहुई वेदविद्या(वेदादि समस्त विद्या)को धारण करता है, उसमें (ब्रह्मचारी में) सब देवता (ईश्वरीय शक्तियें) रहते हैं । वह (ब्रह्मचारी) प्राण, अपान, और व्यानके स्वास्थ्यको, वाणी, मन और हृदयकी शुद्धताको, विद्या और बुद्धिके उत्कर्षको प्रकट करताहुआ विचरता है ॥ २ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी प्रजापतिः । प्रजापतिः विराजति, विराड् इन्द्रो भवद् वशी ॥ ३ ॥ (अथर्व० ११।७।१६)

अर्थ—ब्रह्मचारी आचार्य होता है, ब्रह्मचारी प्रजा (पुत्र पौत्र आदि प्रजा)का स्वामी होता है । प्रजाका स्वामी हुआ ब्रह्मचारी लोकमें खूब चमकता है, खूब चमकता हुआ बड़े ऐश्वर्य्यवाला और सबको वश(काबू)में रखनेवाला होता है ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा, राजा राष्ट्रं विरक्षति । आचार्यो ब्रह्मचर्येण, ब्रह्मचारिणम् इच्छते ॥ ४ ॥ (अथर्व० ११।७।१७)

अर्थ—ब्रह्मचर्यरूपी तपसे राजा हुआ ब्रह्मचारी राज्यकी खूब रक्षा करता है । ब्रह्मचर्यरूपी तपसे आचार्य हुआ ब्रह्मचारी मनुष्यमात्रके ब्रह्मचारी होनेकी इच्छा करता है ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा, देवाः मृत्युम् उपाघ्नत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण, देवेभ्यः स्वर् आभरत् ॥ ५ ॥ (अथर्व० ११।७।१९)

अर्थ—ब्रह्मचर्यरूपी तपसे इन्द्रियें (ब्रह्मचारीकी आंख, कान आदि इन्द्रियें) मृत्युको (अन्धा, बहरा करनेवाले रोगमात्रको) परेफैंकती हैं । इन्द्रियोंकास्वामी (आत्मा) ब्रह्मचर्यरूपी तपसे निश्चय इन्द्रियोंकेलिये शरीरको स्वर्ग (स्वस्थ) बनाता है ॥ ५ ॥

(७) ब्रह्मचारी एति समिधा समिद्धः, कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्यः एति पूर्वस्माद् उत्तरं समुद्रं, लोकान् संगृभ्य मुहुर् आचरिक्रत् ॥१॥
(अथर्व० ११।७।६)

अर्थ—ब्रह्मचारी समिधासे प्रज्वलित अग्निकीनाईं विद्या अग्निसे जाज्वल्यमान हुआ,

कालेमृगकाचर्म ओढेहुआ, ब्रह्मचर्याश्रमकी दीक्षा(नियमावली)सेयुक्त, लम्बी दाढी मूछों-वाला, स्नातकहुआ घरको जाता है । वह पहले समुद्र(ब्रह्मचर्याश्रम)से ऊपरले समुद्र-(गृहस्थाश्रम)को शीघ्र प्राप्त होता है, और सब लोकवासियों(लोगों)को संगठित करके पूरा पूरा अपनी ओर झुकालेता है ॥ १ ॥

युवा सुवासाः परिवीतः आगात्, स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवयः उन्नयन्ति, स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ २ ॥ (ऋ० ३।८।४)

अर्थ—जो युवा (जवान), अच्छेवस्त्रोंवाला और सबओरसे (विद्या, धर्म, नीति, आचार और व्यवहारसे) विशेषताको प्राप्तहुआ गृहस्थाश्रममें आता है । वह ब्रह्मचर्याश्रमसे जन्माहुआ (स्नातक होकर निकलाहुआ) निश्चय सबसेश्रेष्ठ होता है । उसको बुद्धिमान् पण्डित ऊंचा करते (प्रतिष्ठित बनाते) हैं, जो स्वाध्यायशील और मनसे विद्वानोंके चाहनेवाले हैं ॥ २ ॥

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं, स सूनुः भुवत् स भुवत् पुनर्मघः । स उ द्याम् और्णोद् अन्तरिक्षमुत स्वः, स इदं विश्वम् अभवत् स आभवत् ॥३॥
(अथर्व० ७।१।२)

अर्थ—वह (ब्रह्मचर्याश्रमसे गृहस्थाश्रममें आनेवाला) पुत्र पिताको जानता (अपना पूज्य समझता) है; वह माताको जानता (अपना पूज्य समझता) है, वह यथासमय अपनी स्त्रीमें वीर्य्य सेंचकर पुत्र होता है, वह देश और जातिकेलिये धनका दान करताहुआ फिर धनवान् होता है। वह निश्चय द्यौको, अन्तरिक्षको और सब जगत्को अपने यशसे ढांपलेता है, वह यह सब होता (इस सबका सहायक होता) है और वह सब ओर होता (सर्वदेशी होता) है ॥ ३ ॥

कियती योषा मर्यतो वधूयोः, परिप्रीता पन्यसा वार्येण । भद्रा वधूः भवति यत् सुपेशाः, स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥ ४ ॥(ऋ० १०।२७।१२)

अर्थ—कितनी स्त्रियें वधू(बहू)की इच्छावाले (विवाहके योग्य) मनुष्यके यशसे और श्रेष्ठकर्मसे सबप्रकारकी प्रीति करनेवाली होती हैं। परन्तु कल्याणी वधू(बहू)वह होती है, जो सुन्दरी है और जो वह जनयिता(मातापिता)कीअनुमतिमें वर्तमान हुई स्वयं अपने मित्र(पति)को स्वीकार करती (पसन्द करती) है ॥ ४ ॥

(८) इयं नारी पतिलोकं वृणाना, निपद्यते उप त्वा मर्त्य ! प्रेतम् । धर्मं पुराणम् अनुपालयन्ती, तस्यै प्रजां द्रविणं च इह धेहि ॥१॥(अथर्व० १८।३।१)

अर्थ—हे मनुष्य ! यह स्त्री (विवाहिता स्त्री) पतिलोकको (जहां मेरा पति, वहां ही मैं, इसप्रकार तुझ पतिकेलोकको) अपनाती हुई और प्राचीन पातिव्रत्य धर्मका शास्त्रानुसार पालन करती हुई तुझ मरे हुएके समीप गिरती पडती (मरने तक भी नही छोडती) है, तू उस(अपनी धर्मपत्नी)को यहां प्रजा दे और धन दे ॥ १ ॥

प्रजानती अघ्न्ये! जीवलोकं, देवानां पन्थाम् अनुसञ्चरन्ती । अयं ते गोपतिः तं जुषस्व, स्वर्गं लोकम् अधिरोह एनम् ॥ २ ॥ (अथर्व० १८।३।४)

अर्थ—हे गौ! (न ताडने योग्य स्त्री!) तू अपने जीतेपतिकेलोकको (गृहमर्यादा, और कुलमर्यादाको) भलीभांति जानतीहुई और पितृदेवों(पिता, पितामहआदि देवों)के मार्गका अनुसरण करतीहुई वर्तमान हो। और यह जो तेरा गोपति (तुझगौकास्वामी) है, उसका सेवनकर और इसको जीतेजी स्वर्गलोकमें पहुंचा (गृहस्थाश्रमका पूर्णसुख भुगा) ॥२॥

इमाः नारीः अविधवाः सुपत्नीः, आञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु । अनश्रवो अनमीवाः सुरत्नाः, आरोहन्तु जनयो योनिम् अग्रे ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।१८।७)

अर्थ—ये सब स्त्रियें जो विधवा नहीं और कुलीन पतिवाली हैं, वे अञ्जनयुक्त घीसे अलङ्कार करें (मस्तकपर बिंदी लगायें) । और वे न रोते मुखवालीं (मन्द मन्द हासयुक्त मुखवालीं), रोगरहित शरीरोंवालीं, सुन्दर गहनेवस्त्रोंवालीं, वीर पुत्री पुत्रजननेवालीं, उत्सवोंमें सबसे आगे सुरक्षित स्थानपर बैठें ॥ ३ ॥

(९) सहृदयं सांमनस्यम्, अविद्वेषं कृणोमि वः । अन्योअन्यम् अभि हर्यत, वत्सं जातम् इवाघ्न्या ॥ १ ॥ (अथर्व० ३।३०।१)

अर्थ—हे गृहस्थो! मैं तुमको हृदय (उद्देश)की एकता, मन(विचार)की एकता और आपसमें द्वेषकेअभावका उपदेश करता हूं । तुम सब एक दूसरेको ऐसे चाहो, जैसे नये जन्मे बच्छे(बछडे)को गौ चाहती है ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं, वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥ (अथर्व० ३।३०।२)

अर्थ—पुत्र पिताकेअनुकूलकर्मोंवाला (पिता जिनकर्मोंको चाहता है, उन कर्मोंका करनेवाला) और माताकेसाथ एकमनवाला हो । पत्नी पतिकेलिये शहतसे सनी हुई (शहतकीनाई मीठी) और शान्तिवाली (सुखके देनेवाली) वाणी बोले ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत्, मा स्वसारम् उत स्वसा । सम्यञ्चः संव्रताः भूत्वा, वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥ (अथर्व० ३।३०।३)

अर्थ—मत भाईसे भाई और मत भैन(बहिन)से भैन द्वेषकरे । तुम सब एकज्ञानवाले (परस्पर सहानुभूतिवाले) और एककर्मवाले होकर कल्याणी (सुखदायी) बाणीसे आपसमें बोलो (बातचीत करो) ॥ ३ ॥

येन देवाः न वियन्ति, नो च विद्विषते मिथः । तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे, संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥ (अथर्व० ३।३०।४)

अर्थ—जिस वेदविद्यासे विद्वान् आपसमें नही बिछडते हैं (नही अलग अलग होते हैं) और न आपसमें द्वेष करते हैं । जो सब मनुष्योंको ऐकमत्य(इत्तफाक)की शिक्षा देती है, उस वेदविद्याको तुम सबके घरोंमें "स्वाध्यायकेलिये" नियत करता हूं ॥४॥

ज्यायस्वन्तः चित्तिनो मा वियौष्ट, संराधयन्तः सधुराः चरन्तः। अन्यो-अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत, सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि ॥ ५ ॥

(अथर्व० ३।३०।५)

अर्थ—बडोंकी आज्ञा माननेवाले, उदार चित्तोंवाले, आरब्ध कार्य्योंको ठीक ठीक सिद्ध करनेवाले (फलतक पहुचानेवाले), और मिलकर कार्य्यभारको उठानेवाले होकर चलतेहुए मत विछडो (आपसमें अलग अलग न होवो) । और एक दूसरेकेलिये प्रियवाक्य बोलते हुए एक दूसरेके सामने आओ, मै तुमको एकसाथ चलनेवाला और एकमनवाला करता हूं ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चो अग्निं सपर्य्यत, अराः नाभिम् इवाभितः ॥ ६ ॥ (अथर्व० ३।३०।६)

अर्थ—तुम सबका पानी पीनेका स्थान एक हो, भोजनकरना एक साथ (इकट्ठा) हो, मैं तुम सबको एक जुएमें एकसाथ जोडता (भ्रातृभावकी स्नेहफांसमें बान्धता) हूं। तुम रथकी नाभिके चारोंओरके अरोंकीनांई चारोंओरसे मिलेहुए जगद्गुरु परमात्माकी पूजा करो ॥ ६ ॥

सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि, एकश्नुष्टीन् संवननेन सर्वान्। देवाः इव अमृतं रक्षमाणाः, सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥७॥ (अथर्व० ३।३०।७)

अर्थ—मैं तुम सबको एकसाथ चलनेवाला, एक मनवाला और सच्चे प्रेमकेसाथ एक समय (नियत समय) खानेवाला करता हूं। तुम विद्वानोंकी नांई अपने जीवनकी रक्षा करतेहुए वर्तमान होवो, और सांझ सुवेरे तुम सबका मन प्रसन्न हो ॥ ७ ॥

(१०) सायं सायं गृहपतिः नो अग्निः, प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता। वसोः वसोः वसुदानः एधि, वयं त्वा इन्धानाः तन्वं पुषेम ॥ १ ॥

(अथर्व० १९।५५।३)

अर्थ—सांझ सांझ होमाहुआ घरका रक्षक अग्नि (अग्निदेवता) हमें सुवेरे सुवेरे मनकी प्रसन्नताका देनेवाला होता है। हे अग्नि! तू धन धनका (प्रत्येक धनका) और धनकेधन(स्वास्थ्य)का देनेवाला हो, हम तुझे प्रदीप्त करते हुए शरीरको पुष्टकरें ॥१॥

प्रातःप्रातः गृहपतिः नो अग्निः, सायं सायं सौमनसस्य दाता। वसोः वसुदानः एधि, वयं त्वा इन्धानाः शतं हिमाः ऋधेम ॥ २ ॥

(अथर्व० १९।५५।४)

अर्थ—सुवेरे सुवेरे होमाहुआ घरकारक्षक अग्नि हमें सांझ सांझ मनकी प्रसन्नताका देनेवाला होता है। हे अग्नि! तू धन धनका (प्रत्येक धनका) और धनकेधन(स्वास्थ्य)का देनेवाला हो, हम तुझे प्रदीप्त करतेहुए सौ बरस बढें (अभ्युदयको प्राप्त होवें) ॥ २ ॥

उद्बुध्यस्व अग्ने! प्रतिजागृहि त्वम्, इष्टापूर्त्ते संसृजेथाम् अयं च। अस्मिन् सधस्थे अधि उत्तरस्मिन्, विश्वे देवाः यजमानश्च सीदत ॥३॥ (यजु० १५।५४)

अर्थ—हे अग्नि! सावधान हो, जाग, तू और यह (यजमान) दोनों इष्ट (यज्ञ) और पूर्त (दान आदि) कर्मको पूराकरो। और इस साथ बैठनेके ऊंचे स्थान (वेदि) में हे सब विद्वानो! तुम और यजमान, यथाधिकार बैठो ॥ ३ ॥

द्यौः इव भूम्ना पृथवी इव वरिम्णा । तस्याः ते पृथिवि! देवयजनि! पृष्ठे अग्निम् अन्नादम् अन्नाद्याय आदधे ॥ ४ ॥ (यजु० ३।५)

अर्थ—हे देवयज्ञ करनेकी जगह! हे वेदी! तू जो बडाईसे द्युलोककी नांई, और फैलावसे भूमिकी नांई है। उस तुझकी पीठपर अन्न (हवि) खानेवाले अग्निको अन्न खानेकेलिये (स्वस्थ जीवनकेलिये) स्थापन करता हूं ॥ ४ ॥

तं त्वा समिद्भिः अङ्गिरः! घृतेन वर्धयामसि । बृहत् शोचा यविष्ठ्य! ५ (यजु० ३।३)

अर्थ—हे सबकेप्राण! हम उस तुझको यज्ञिय लकडियोंसे और घीसे बढाते हैं। हे सबसे बढकर संयोजक वियोजक! तू बहुत बडा चमक ॥ ५ ॥

(११) तद् यस्य एवं विद्वान् व्रात्यो अतिथिः गृहान् आगच्छेत्, स्वयम् एनम् अभि+उदेत्य ब्रूयात् व्रात्य! क्व अवात्सीः?, व्रात्य! उदकं, व्रात्य! तर्पयन्तु, व्रात्य! यथा ते प्रियं तथा अस्तु, व्रात्य! यथा ते वशः तथा अस्तु, व्रात्य! यथा ते निकामः तथा अस्तु ॥ १ ॥ (अथर्व० १५।११।१)

अर्थ—वह जो इस प्रकार (यथाविधि) वेदविद्याका जाननेवाला, भले नियमों-वाला अतिथि जिस गृहस्थके घरमें आवे, वह गृहस्थ स्वयं (आप) इस (अतिथि)के सामने खडा होकर कहे हे व्रात्य! (भले नियमोंवाले) आप रात्री कहां रहे, हे व्रात्य! यह जल है, हे व्रात्य! आप प्रसन्न होवें, हे व्रात्य! जैसे आपका प्रिय हो, वैसे ही हो, हे व्रात्य! जैसे आपका स्वतन्त्रपना (स्वतन्त्रता) हो, वैसे ही हो, हे व्रात्य! जैसे आपकी इच्छा हो, वैसे ही हो ॥ १ ॥

एष वै अतिथिः यत् श्रोत्रियः । तस्मात् पूर्वो न अश्नीयात् ॥ २ ॥ (अथर्व० ९।८।७)

अर्थ—यह निश्चय अतिथि है, जो वेदवेत्ता है। इसलिये गृहस्थ उस (अतिथि)से पहले न खाये ॥ २ ॥

अशितवति अतिथौ अश्नीयात्, यज्ञस्य सात्मत्वाय, यज्ञस्य अविच्छेदाय, तद्व्रतम् ॥ ३ ॥ (अथर्व० ९।८।८)

अर्थ—अतिथिके खा लेनेपर गृहस्थ खाये, अतिथियज्ञको जीवित रखनेके लिये, अतिथियज्ञको निरन्तर प्रवृत्त (जारी) रखनेके लिये, यह उसका व्रत (गृहस्थका अवश्य पालनीय कर्म) है ॥ ३ ॥

एतद् वै उ स्वादीयो यद्, अधिगवं, *क्षीरं वा, मांसं वा, तद् एव न अश्नीयात् (अथर्व० ९।८।९)

* गव्यम् अधिकृत्य निर्वृत्तम् अधिगवं, गव्यं पयः=क्षीरम्। सामान्ये विशेषप्रयोगः प्राधान्यात्॥

अर्थ—और यह जो निश्चय अतिस्वादु अन्न (अपूप, सीरा, पूरी, जलेबी आदि) है, और जो दूधकी बनीहुई (दही, रबडी, पेडा, मलाई, दूधपाक आदि) वस्तु है, अथवा दूध है, अथवा मांस है, वह सद्यः सम्पाद्य न होनेसे अवश्य ही अतिथिसे पहले न खाये ॥ ४ ॥

(१२) माता रुद्राणां दुहिता वसूनां, स्वसाऽऽदित्यानाम् अमृतस्य नाभिः । प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय, मा गाम् अनागाम् अदितिं वधिष्ठ ॥ १ ॥

(ऋ० ८।९०(१०१)१५)

अर्थ—क्षत्रियोंकी जननी, वैश्योंकी पुत्री, ब्राह्मणों(अदिति=पृथिवी माताके पुत्रों)की भैन(बहिन) और दूधका झरा(जन्मस्थान) यह गौ है । मैं निश्चय तुझ समझदार मनुष्यको कहता हूं, तूने इस निष्पापा माता(माताकी नाईं सबको दूध पिलानेवाली) गौको न मारना ॥ १ ॥

वचोविदं वाचम् उदीरयन्तीं, विश्वाभिः धीभिः उपतिष्ठमानाम् । देवीं देवेभ्यः परि+एयुषीं गाम्, आ मा वृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः॥२॥(ऋ०८।९०(१०१)१६)

अर्थ—बाणी(अपने स्वामीकी बाणी)को जानने(समझने)वाली, बाणीको बोलनेवाली(बाणीका उत्तर बाणीसे देनेवाली) अपनी सब समझोंकेसाथ पास आकर खडीहोनेवाली, विद्वान् अविद्वान्, सबकेलिये अपनेको जाननेवाली देवी गौको छोटी बुद्धिवाला(थोडी समझवाला) मनुष्य न मारे ॥ २ ॥

न ताः नशन्ति न दभाति तस्करो, नाऽऽसाम् अमित्रो व्यथिः आदधर्षति । देवान् च याभिः यजते ददाति च, ज्योग् इत् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ ३ ॥ (ऋ० ६।२८।३)

अर्थ—वे(गौएं) न नष्ट होती हैं, न चोर इनको दबाता(सताता) है, और न पीडा देनेवाला शत्रु पीडा देता है । जिनसे विद्वानोंका और अतिथियोंका निश्चय पूजन किया जाता है, और जो दान दीजाती हैं, गौओंका पालनेवाला निश्चय चिरकाल तक उनके(गौओंके) साथ सम्बन्धवाला(गौओंवाला) होता है ॥ ३ ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूयाः, अधा वयं भगवन्तः स्याम । अद्धि तृणम् अघ्न्ये ! विश्वदानीं, पिब शुद्धम् उदकं त्वम् आचरन्ती॥४॥(अथर्व० ७।७७।११)

अर्थ—तू निश्चय अच्छा (हरा, कोमल) घास खातीहुई भाग्यवान् हो, पश्चात् हम भाग्यवान् होवें । हे न मारनेयोग्य ! तू गोचरभूमिमें घूमती हुई सदा अच्छे घासको खा और निर्मल पानी पी ॥ ४ ॥

(१३) सत्यं बृहद् ऋतम् उग्रं, दीक्षा तपो, ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

(अथर्व० १२।१।१)

अर्थ—बढाहुआ(सब कालोंमें, सब स्थानोंमें, सब अवस्थाओंमें बोला हुआ) सत्य(वाचिक सत्य) तेजस्वी(किसी कालमें, किसी स्थानमें, किसी दूसरेके दबावसे,

अपनी किसी नैतिक अथवा धार्मिक दृष्टिसे, किसी प्रकार भी न बदलनेवाला) ऋत (मानस सत्य), प्रत्येक कर्मके यथाविधि अनुष्ठानकेलिये पालनीय नियम, द्वन्द्वसहन तथा हितमितअशनरूपी तप, वेदादि विविधविद्या, श्रौत-स्मार्त यज्ञ (अग्निहोत्र आदि तथा सर्वोपकारी कर्म) यह सब भूमिको धारण करते हैं। वह हमारे भूत भविष्य प्रजासमूहका पालनकरनेवाली भूमिमाता हमारे लोकसुखको लम्बा चौडा करे ॥ १ ॥

त्वत् जाताः त्वयि चरन्ति मर्त्याः, त्वं बिभर्षि द्विपदः त्वं चतुष्पदः। तव इमे पृथिवि! पञ्चमानवाः, येभ्यो ज्योतिः अमृतं मर्त्येभ्यः उद्यन् सूर्यो रश्मिभिः आतनोति ॥ २ ॥ (अथर्व० १२।१।१५)

अर्थ—तुझसे उत्पन्नहुए मनुष्य तुझमें चलते (रहते) हैं, तू दोपायोंका तू चौपायोंका पालन करती है । हे भारतभूमि ! ये पांचों मनुष्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दोनों प्रकारके शूद्र) तेरे पुत्र हैं, जिन पांचों मनुष्योंकेलिये उदय होता हुआ सूर्य्य अपनी किरणोंसे जीवन ज्योतिका विस्तार करता है ॥ २ ॥

उपस्थाः ते अनमीवाः अयक्ष्माः, अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि! प्रसूताः। दीर्घं नः आयुः प्रतिबुध्यमानाः, वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥३॥ (अथर्व० १२।१।६२)

अर्थ—हे भारतमाता ! तेरी गोदें हमारेलिये अरोगताकी देनेवाली और नीरोगताकी देनेवाली हों, हम तेरे जनेहुए (पुत्र) हैं । हमारी आयु लम्बी हो, और हम जागतेहुए (पूरे सावधान हुए) तुझ माताकेलिये (तुझ माताकी रक्षाकेलिये) अपनी बलि देनेवाले (अपने प्राणोंको नौछावर करनेवाले) होवें ॥ ३ ॥

(१४) मेधाम् अहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं, ब्रह्मभूताम् ऋषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः, देवानाम् अवसे हुवे ॥ १ ॥ (अथर्व० ६।१०८।२)

अर्थ—मैं देवताओंके मध्य (सब देवताओंके सामने) उस मेधा(बुद्धि)को जो सबसेश्रेष्ठ, वेदआदि विविध विद्याओंवाली, वेदादि अनेकविध विद्याओंकेवेत्ताओं(ब्राह्मणों)से प्रीति कीगई, मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंसे स्तुति कीगई और ब्रह्मचारियोंसे अच्छीतरह पान कीगई है, अपनी तथा अपनी भूमिमाताकी रक्षाकेलिये बुलाता हूं ॥ १ ॥

यां मेधां देवगणाः, पितरश्च उपासते। तया माम् अद्य मेधया, अग्ने! मेधाविनं कुरु ॥ २ ॥ (यजु० ३२।१४)

अर्थ—जिस मेधाका सब विद्वान् और पितर (हमारे पूर्वपुरुष) आदर करते हैं। हे अग्नि ! उस मेधासे आज मुझे मेधावाला कर ॥ २ ॥

मेधां मे वरुणो ददातु, मेधाम् अग्निः प्रजापतिः। मेधाम् इन्द्रश्च वायुश्च, मेधां धाता ददातु मे ॥ ३ ॥ (यजु० ३२।१५)

अर्थ—दुःखनिवारक मुझे मेधा दे, सबका अग्रणी मुझे मेधा दे, प्रजाका स्वामी मुझे मेधा दे । परमऐश्वर्य्यवान् और सबका प्राण और सबका बनानेवाला परमात्मा मुझे मेधा (बुद्धि) दे ॥ ३ ॥

(१५) यशसं मा इन्द्रो मघवान् कृणोतु, यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे । यशसं मा देवः सविता कृणोतु, प्रियो दातुः दक्षिणाया इह स्याम् ॥१॥
(अथर्व० ६।५८।१)

अर्थ—धनवान् इन्द्र मुझे यशवाला (यशस्वी) करे, ये दोनों द्यौ और पृथिवी मुझे यशस्वी करें । देवोंका देव सविता मुझे यशस्वी करे, यशकी दक्षिणा देनेवाले तुझ परमात्माका प्यारा मैं यहां होवूं ॥१ ॥

यथा इन्द्रो द्यावापृथिव्योः यशस्वान्, यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः । एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥ (अथर्व० ६।५८।२)

अर्थ—जैसे द्यौ और पृथिवी दोनोंमें इन्द्र यशवाला है, जैसे गेहूं, जौ, चना, व्रीहि (धान) आदि ओषधियोंमें जल यशवाला है । ऐसे सब विद्वानोंमें सब मनुष्योंमें हम यशवाले (कीर्तिवाले) होवें ॥ २ ॥

(१६) इन्द्रश्च मृडयाति नो, न नः पश्चाद् अघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरा ॥ १ ॥ (ऋ० २।४१।११)

अर्थ—इन्द्र निश्चय हमपर दया करता है, जिससे पाप (बुरा कर्म) हमारे पीछे नहीं नसता (दौडता) । और भला कर्म हमारे आगे (सामने) होता (रहता) है ॥१॥

इन्द्रः आशाभ्यः परि, सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥२॥
(ऋ० २।४१।१२)

अर्थ—इन्द्र सब दिशाओंसे सबओरसे हमको निर्भय करे । जो शत्रुओं(प्रजापीडकों)का जीतनेवाला और सबको अलग अलग देखनेवाला है ॥ २ ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववान् अवोभिः, सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः । बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु, सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ३ ॥ (ऋ० ६।४७।१२)

अर्थ—इन्द्र जो संसारदुःखसागरसे अच्छातारने(पारकरने)वाला, आत्मावाला (स्वाधीनात्मा) और सब धनोंवाला है, अपनी रक्षाओं (रक्षाके उपायों)से उत्तम सुख देनेवाला होवे । द्वेषियोंको दण्ड दे, हमको निर्भय करे और हम श्रेष्ठ बलके स्वामी (श्रेष्ठ बलवाले) होवें ॥ ३ ॥

अभयं नः करति अन्तरिक्षम्, अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्ताद्, उत्तराद् अधराद् अभयं नो अस्तु ॥ ४ ॥
(अथर्व० १९।१५।५)

अर्थ—अन्तरिक्ष हमको अभय करे (अन्तरिक्षसे हमको भय न हो), ये दोनों द्यौ और पृथिवी हमको अभय करें । हमको पीछेसे अभय हो, आगेसे अभय हो, ऊपरसे नीचेसे हमको अभय हो ॥ ४ ॥

अभयं मित्राद् अभयम् अमित्राद्, अभयं ज्ञाताद् अभयं पुरोयः ।
अभयं नक्तम् अभयं दिवा नः, सर्वाः आशाः मम मित्रं भवन्तु ॥ ५ ॥

(अथर्व० १९।१५।६)

अर्थ—मित्रसे अभय हो, अमित्रसे अभय हो, ज्ञातीसे अभय हो, अज्ञातीसे अभय हो । रात्रीमें अभय हो, हमें दिनमें अभय हो, सब दिशायें हमारी मित्र हों ॥ ५ ॥

(१७) वाक् मे आसन्, नसोः प्राणः, चक्षुः अक्ष्णोः, श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशाः, अशोणाः दन्ताः, बहु बाह्वोः बलम् ॥१॥ (अथर्व० १९।६०।१)

अर्थ—मेरे मुखमें बाणी (बोलनेकी शक्ति) हो, नासिकाओंमें प्राण (समभावसे आनेजानेवाला प्राण) हो, आंखोंमें देखनेकी शक्ति और कानोंमें सुननेकी शक्ति हो । मेरे बाल काले हों, दान्त न काले न लाल (श्वेत) हों, मेरी भुजाओंमें बहुत बल हो ॥ १ ॥

ऊर्वोः ओजः, जंघयोः जवः, पादयोः प्रतिष्ठा । अरिष्टानि मे अङ्गानि सर्वा, आत्मा निर्भृष्टः ॥ २ ॥ (अथर्व० १९।६०।२)

अर्थ—रानोंमें चमक (बलकी चमक) हो, टांगोंमें वेग (तेजीसे चलना) हो, पाओंमें खडा होनेकी शक्ति हो । मेरे सब अङ्ग नीरोग हों और आत्मा (मन) शुद्ध हो ॥२॥

पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, बुध्येम शरदः शतं, रोहेम शरदः शतं, पूषेम शरदः शतं, भवेम शरदः शतं, भूयेम शरदः शतं, भूयसीः शरदः शतात् ॥ ३ ॥ (अथर्व० १९।६७।१-८)

अर्थ—हम सौ बरस देखें, सौ बरस जियें, सौ बरस जानें, सौ बरस उगें (पुत्र उत्पन्न करें), सौ बरस पुष्ट (धन, धान्य, पुत्र, पौत्र आदि प्रजाकी पुष्टिवाले) होवें, सौ बरस विभूतिवाले होवें, सौ बरस शत्रुओंका अभिभव करनेवाले होवें, सौ बरससे बहुत अधिक बरसोंतक देखने, जीने, जानने आदिवाले होवें ॥ ३ ॥

प्रियः देवानां भूयासं, प्रियः प्रजानां भूयासं, प्रियः पशूनां भूयासं, प्रियः समानानां भूयासम् ॥ ४ ॥ (अथर्व० १७।१।२-५)

अर्थ—हम विद्वानोंके प्यारे होवें, प्रजाओंके प्यारे होवें, पशुओंके प्यारे होवें, हम अपने बराबरों (जाति भाईओं)के प्यारे होवें ॥ ४ ॥

अग्निः मा गोप्ता परिपातु विश्वतः, उद्यन् सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् ।
व्युच्छन्तीः उषसः पर्वताः ध्रुवाः, सहस्रं प्राणाः मयि आयतन्ताम् ॥ ५ ॥

(अथर्व १७।१।३०)

अर्थ—रक्षक अग्नि हमारी सब ओरसे रक्षा करे, उदय होता हुआ सूर्य्य मृत्युकी फांसों(रोगों)को दूर करे । उषायें (प्रभातें) अन्धेरेको दूर करनेवालीं और पर्वत अचल होवें, मुझमें प्राण (श्वास प्रश्वास) अनन्त कालतक आते जाते रहें ॥ ५ ॥

(१८) प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यतः, उत शूद्रे उतार्ये ॥ १ ॥ (अथर्व० १९।६२।१)

अर्थ—मुझे ब्राह्मणोंमें प्रिय बना, मुझे क्षत्रियोंमें प्रिय बना। मुझे सब देखनेवालों (प्राणीमात्र)का प्रिय बना और शूद्रमें तथा वैश्यमें मुझे प्रिय बना ॥ १ ॥

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नः कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु, मयि धेहि रुचारुचम् ॥ २ ॥ (यजु० १८।४८)

अर्थ—हमारे ब्राह्मणोंमें प्रकाश दे, हमारे क्षत्रियोंमें प्रकाश दे। हमारे वैश्यों और शूद्रोंमें प्रकाश दे और मुझे प्रकाश पर प्रकाश दे ॥ २ ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः, संज्ञानम् अरणेभिः। संज्ञानम् अश्विना! युवम्, इह अस्मासु नियच्छतम् ॥ ३ ॥ (अथर्व० ७।५२।१)

अर्थ—हे अश्वियो! आप हमें यहां अपनोंकेसाथ ऐकमत्य (समान विचार) दें, बेगानोंकेसाथ ऐकमत्य दें, हमारे घरोंमें ऐकमत्य दें ॥ ३ ॥

अनृणाः अस्मिन् अनृणाः परस्मिन्, तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः, सर्वान् पथो अनृणाः आक्षियेम ॥ ४ ॥
(तै० ब्रा० ३।७।९) (अथर्व० ६।११७।३)

अर्थ—हम इस लोकमें अनृण (ऋणरहित) हों, दूसरे लोकमें अनृण हों, हम तीसरे लोकमें अनृण हों। देवयान मार्ग और पितृयाण मार्गसे जो लोक प्राप्त होते हैं, उन सब लोकोंमें अनृण हुए हम निवास करें ॥ ४ ॥

जितम् अस्माकम्, उद्भिन्नम् अस्माकम्, ऋतम् अस्माकं, तेजो अस्माकं, ब्रह्म अस्माकं, स्वर् अस्माकं, यज्ञो अस्माकं, पशवो अस्माकं, प्रजाः अस्माकं, वीराः अस्माकम् ॥ ५ ॥ (अथर्व० १६।८।१)

अर्थ—जीताहुआ धन हमको हो, उत्पन्न कियाहुआ (कमाया हुआ) धन हमको हो, सत्य हमको, तेज हमको, विद्या हमको, सुख हमको, यज्ञ हमको, पशु हमको, प्रजायें हमको और वीर पुत्र पौत्र हमको हों ॥ ५ ॥

(१९) भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षाम् उपनिषेदुः अग्रे। ततो राष्ट्रं बलम् ओजश्च जातं, तदू अस्मै देवाः उपसंनमन्तु ॥ १ ॥
(अथर्व० १९।४१।१)

अर्थ—देशका कल्याण (सुख) चाहतेहुए, सुख और सुखसाधनोंको जानते हुए ऋषी पूर्वकालमें तप और दीक्षा(तपके नियमों)को प्राप्त हुए (ऋषियोंने तप और दीक्षाका ग्रहण किया)। उस (तप और दीक्षा)से राज्य (राज्यसुख) और उसका साधन बल तथा तेज प्राप्त हुआ, इसलिये देशका कल्याण चाहनेवाले विद्वान् इस साधन(तप और दीक्षारूपी साधन)की ओर झुकें (विशेष ध्यान दें) ॥ १ ॥

नाम *नाम्ना जोहवीति, पुरा सूर्य्यात् पुरोषसः । यद् अजः प्रथमं सम्बभूव, स ह तत् स्वराज्यम् ईयाय, यस्मात् न अन्यत् परम् अस्ति भूतम् ॥२॥
(अथर्व० १०।७।३१)

अर्थ—जो प्रजापतिको उसके नामसे सूर्य्योदयसे पहले और उषासे पहले वारंवार पुकारता है । और जो अजन्मा (मनुष्य) इस कर्ममें (पुकारनेमें) मुख्य होता है, वह निश्चय उस स्वराज्यको पाता है, जिससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ २ ॥

उद्यते नमः, उदायते नमः, उदिताय नमः । विराजे नमः, स्वराजे नमः, सम्राजे नमः ॥ ३ ॥ (अथर्व० १७।१।२२)

अर्थ—तुझ उन्नतको नमस्कार है, तुझ उन्नत करनेवालेको नमस्कार है, आपकी कृपासे जो उन्नतिको प्राप्त है, उसको नमस्कार है । तुझ विशिष्ट (बढ़िये) राज्यकेदाता विशिष्ट राजाको नमस्कार है, तुझ स्वराज्यके दाता स्वतन्त्र राजाको नमस्कार है, तुझ साम्राज्यके दाता अद्वितीय सम्राट्को नमस्कार है ॥ ३ ॥ (१९१८२) .

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ।

एकं वै इदं विबभूव सर्वम् ॥ १ ॥
(ऋ० बा० ८।५८।२)

अर्थ—एक ही यह सब कुछ हुआ ॥ १ ॥

एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति ॥ २ ॥
(ऋ० १।१६४।४६)

अर्थ—एक सत्को बुद्धिमान् बहुत प्रकारसे (अनेक नामोंसे) कहते हैं ॥ २ ॥

एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ॥ ३ ॥
(ऋ० १०।११४।५)

अर्थ—एक होते हुएकी अनेक प्रकारसे कल्पना करते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते ॥४॥
(ऋ० ६।४७।१८)

अर्थ—इन्द्र अपनी शक्तियोंसे बहुतरूप हुआ प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

रूपं रूपं मघवा बोभवीति ॥ ५ ॥
(ऋ० ३।५३।८)

अर्थ—पदार्थ पदार्थ (हर एक पदार्थ) इन्द्र हुआ है ॥ ५ ॥

स एव एकः, एकवृद्, एक एव ॥ ६ ॥
(अथर्व० १३।४।१२)

अर्थ—वह एकही था, एक हुआ अनेक है, फिर एक ही होगा ॥ ६ ॥

---

* "नाम वै प्रजापतिः" (तै० ब्रा० ३।२।१७)

यः एकः इद् हव्यः चर्षणीनाम् ॥७॥ (अथर्व० २०।३६।१)

अर्थ—जो एक ही सब प्रजाओंको पुकारने (प्रार्थना करने) योग्य है ॥ ७ ॥

यः एकः इद् विदयते वसु ॥ ८ ॥ (ऋ० १।८४।७)

अर्थ—जो एक ही सबको धन देता है ॥ ८ ॥ (१।८)

(२) सत्यम् अद्धा नकिः अन्यः त्वावान् ॥ १ ॥ (ऋ० १।५२।१३)

अर्थ—ठीक सत्य है कि दूसरा कोई तेरेजैसा नही है ॥ १ ॥

न त्वावान् इन्द्र ! कश्चन, न जातो न जनिष्यते ॥ २ ॥ (ऋ० १।८१।५)

अर्थ—हे इन्द्र! कोई भी तेरेजैसा नही है, न पीछे हुआ और न आगे होगा ॥ २ ॥

त्वं हि शश्वतीनां पतिः राजा विशाम् असि ॥ ३ ॥ (ऋ० ८।९५।३)

अर्थ—तू ही इन सनातनी प्रजाओंका पालक और राजा है ॥ ३ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥४॥ (यजु० ३६।८)

अर्थ—इन्द्र सबका राजा है ॥ ४ ॥

इन्द्रो राजा जगतः चर्षणीनाम् ॥५॥ (ऋ० ७।२७।३)

अर्थ—इन्द्र जगत्का और सब प्रजाओंका राजा है ॥ ५ ॥

इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणः ६ (ऋ० ५।३४।६)

अर्थ—इन्द्र सब दुष्टोंका दबानेवाला और भयभीत करनेवाला है ॥ ६ ॥

इन्द्रो मुनीनां सखा ॥ ७ ॥ (ऋ० ८।१७।१४)

अर्थ—इन्द्र सज्जनोंका मित्र है ॥ ७ ॥

भद्राः इन्द्रस्य रातयः ॥ ८ ॥ (ऋ० ८।६२।१२)

अर्थ—इन्द्रके दान मङ्गलरूप हैं ॥ ८ ॥

न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद् यशः ॥ ९ ॥ (यजु० ३२।३)

अर्थ—उसकी कोई प्रतिमा (प्रत्यक्ष मापनेवाला) नही है, जिसका नाम बडा और यश बडा है ॥ ९ ॥

नहि नु अस्य प्रतिमानम् अस्ति १० (ऋ० ४।१८।४)

अर्थ—निश्चय इसका कोई प्रत्यक्ष मापनेवाला नही है ॥ १० ॥

यत् चिकेत, सत्यम् इत्, तत् न मोघम् ॥ ११ ॥ (ऋ० १०।५५।६)

अर्थ—जो जानता है, सत्य ही जानता है, वह असत्य (झूट) नही ॥ ११ ॥

यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः ॥१२॥ (ऋ० १०।१२१।२)

अर्थ—जिसके अधीन जीना और जिसके अधीन मरना है ॥ १२ ॥ (२।१२)

(३) शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः १ (ऋ० १०।१३।१)

अर्थ—सब अमृत (ब्रह्म)के पुत्र सुनें ॥१॥

ये इत् तद् विदुः ते अमृतत्वम् आनशुः ॥ २ ॥ (ऋ० १।१६४।२३)

अर्थ—जो ही उसको जानते हैं, वे अमरभाव (मोक्ष)को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

ये इत् तद् विदुः, ते इमे समासते ३ (ऋ० १।१६४।३९)

अर्थ—जो ही उसको जानते हैं, वे ये भली भांति बैठ जाते (आवागमनसे छूट जाते) हैं ॥ ३ ॥

तस्माद् ह अन्यत् न परः किं चन आस ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।१२९।२)

अर्थ—कोई भी दूसरा निश्चय उससे परे नही है ॥ ४ ॥

स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु ५
(यजु० ३२।८)

अर्थ—वह विभूतिवाला अपनी सब प्रजाओंमें ताने बानेकीनाईं निश्चय ओत है, और प्रोत है ॥ ५ ॥

तद् अन्तर् अस्य सर्वस्य, तदु उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः ॥६॥ (यजु०४०।५)

अर्थ—वह इस सब (जगत्)के भीतर और वह इस सबके बाहर है ॥ ६ ॥

पश्यद् अक्षण्वान् न विचेतद् अन्धः ॥ ७ ॥ (ऋ० १।१६४।१६)

अर्थ—आंखोंवाला (ज्ञानदृष्टिवाला) देखता है, अन्ध नही देखता है ॥ ७ ॥

(४) इमे चिद् इन्द्र! रोदसी अपारे यत् संगृभ्णा काशिः इत् ते ॥१॥
(ऋ० ३।३०।५)

अर्थ—हे इन्द्र! इन दूर पारवाले द्यौ और पृथिवी दोनोंको निःसन्देह जो तूने ठीकंठीक पकडाहुआ है, यह तेरी ही मुट्ठी है॥१॥

अशत्रुः इन्द्र! जज्ञिषे ॥ २ ॥
(ऋ० १०।१३३।२)

अर्थ—हे इन्द्र! तू आरम्भसे ही शत्रुरहित प्रकट हुआ है ॥ २ ॥

एको विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥ ३ ॥
(ऋ०३।४६।२)

अर्थ—तू अकेला सब जगत्का राजा है॥

अमेनान् चित् जनिवतः चकर्थ॥४॥
(ऋ० ५।३१।२)

अर्थ—जो स्त्रियोंवाले नही, उनको तू निःसन्देह स्त्रियोंवाला करता है ॥ ४ ॥

अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् ॥५॥
(ऋ० १।३२।१२)

अर्थ—सातों नदियोंको तूने चलनेकेलिये खोला है ॥ ५ ॥

युज्यो मे सप्तपदः सखाऽसि ॥६॥
(अथर्व० ५।११।१०)

अर्थ—तू मेरा सातपाओंसाथ चलाहुआ योग्य मित्र है ॥ ६ ॥

सदा ते नाम स्वयशो! विवक्मि ७
(ऋ० ७।२२।५)

अर्थ—हे स्वयं यशस्वी! मैं सदा तेरा नाम उच्चारण करता हूं ॥ ७ ॥

असिः न पर्व, वृजिना शृणासि॥८॥
(ऋ० १०।८९।८)

अर्थ—खड्ग जैसे पशुओंके जोडोंको काटती है, वैसे तू पापोंको काटता है ॥८॥

(५) अश्रीरः इव जामाता ॥ १ ॥
(ऋ० ८।२।२०)

अर्थ—ससुरालमें जमाईकीनाईं अश्रीमान् (श्रीहीन) न होवूं ॥ १ ॥

अधा ते सुम्नम् ईमहे ॥ २ ॥
(ऋ० ३।४२।६)

अर्थ—अब हम तुमसे सुख चाहते हैं २

पिता इव पुत्रान् अभिसंस्वजस्व॥३॥
(अथर्व० १२।३।१२)

अर्थ—जैसे पिता पुत्रोंको, वैसे हमको गले लगा ॥ ३ ॥

नमस्ते अग्ने! ओजसे ॥ ४ ॥
(ऋ० ८।७५।१०)

अर्थ—हे सबकेअग्रणी! तुझ तेजस्वीको नमस्कार है ॥ ४ ॥

धन्वन् इव प्रपाऽसि ॥ ५ ॥
(ऋ० १०।४।१)

अर्थ—मरुदेशमें प्याऊकीनाईं तू है ॥५

मा नो अग्ने! दुर्भृतये प्रवोचः॥६॥
(ऋ० ७।१।२२)

अर्थ—हे अग्नि! हमको दुष्ट नौकरीके लिये न कहना ॥ ६ ॥

कृधि पतिं स्वपत्यस्य रायः ॥ ७ ॥

(ऋ० २।९।५)

अर्थ—अच्छेपुत्रोंवाले धनका स्वामी हमें बना ॥ ७ ॥

विश्वानि देव ! वयुनानि विद्वान् ॥८॥

(ऋ० १।१८९।१)

अर्थ—हे देव ! तू हमारे सब विचारोंका जाननेवाला है ॥ ८ ॥

मा नो निद्रः ईशत, मा उत जल्पिः ९

(ऋ० ८।४८।१४)

अर्थ—धर्म तथा बडोंकी निन्दा करनेवाला मत हमारा ईश्वर (राजा) हो, और मत व्यर्थ ताडनेवाला ईश्वर हो ॥ ९ ॥

मा नः स्तेनः ईशत, मा अघशंसः १०

(ऋ० २।४२।३)

अर्थ—मत चोर हमारा ईश्वर हो, और मत पापमयी (कपटभरी) आज्ञा करनेवाला हमारा ईश्वर हो ॥ १० ॥

विश्वा अपभूतु दुर्मतिः ॥ ११ ॥

(ऋ० १।१३१।७)

अर्थ—हमारी सब दुष्टबुद्धि दूर हो ॥ ११

भवा नः सुश्रवस्तमः ॥ १२ ॥

(ऋ० १।९८।१७)

अर्थ—हमारेलिये सबसेबढिये अच्छे यशका देनेवाला हो ॥ १२ ॥

मीढ्वः ! तोकाय तनयाय मृड ॥१३॥

(ऋ० २।३३।१)

अर्थ—हे प्रजा उत्पन्न करनेमें समर्थ ! हमारे पुत्रकेलिये और पौत्रकेलिये सुखकारी हो ॥ १३ ॥

(६) गणानां त्वा गणपतिं हवामहे १

(ऋ० २।२३।१)

अर्थ—हम सब समूहोंके मध्यमें तुझ समूहपतिको पुकारते हैं ॥ १ ॥

अग्ने ! सख्ये मा रिषामा वयं तव २

(ऋ० १।९४।१)

अर्थ—हे अग्नि ! हम तेरी मित्रतामें मत दुःखी होवें ॥ २ ॥

विश्वानि अग्ने ! दुरिताऽतिपर्षि ॥३॥

(ऋ० ५।३।११)

अर्थ—हे अग्नि ! हमको सब पापोंसे दूर लेजा ॥ ३ ॥

दामेव वत्साद् विमुमुग्धि अंहः ॥४॥

(ऋ० २।२८।६)

अर्थ—बच्छेसे रज्जू (बांधनेकी रस्सी) की नाईं हमको पापसे छुडा ॥ ४ ॥

विश्वा अप द्विषो जहि ॥ ५ ॥

(ऋ० ९।१३।८)

अर्थ—सब द्वेषियोंको दण्ड दे ॥ ५ ॥

विश्वं सम् अत्रिणं दह ॥ ६ ॥

(ऋ० १।३६।१४)

अर्थ—हमारे सब घातकोंको दग्ध कर ६

तरन्तो विश्वा दुरिता स्याम ॥ ७ ॥

(ऋ० १०।३१।१)

अर्थ—हम सब पापोंको तरेहुए हों ॥७॥

शं नः क्षेमे शम् उ योगे नो अस्तु८

(ऋ० ११८६।८)

अर्थ—हमें क्षेममें (प्राप्तके संरक्षण)में सुख हो, और हमें योगमें (अप्राप्तके संपादन)में सुख हो ॥ ८ ॥

माध्वीः नः सन्तु ओषधीः ॥ ९ ॥

(ऋ० १।९०।६)

अर्थ—हमारेलिये अन्न मीठे हों ॥९॥

(६१५७)

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

(१)पञ्चक्षितीः मानुषीःबोधयन्तीः१
(ऋ० ७।७९।१)

अर्थ—मनुकी सन्तान पांचो प्रकारकी प्रजाको जगाती हुई उषा उदय होती है॥१॥

यत् पांचजन्यया विशा ॥ २ ॥
(ऋ० ८५२।६३।७)

अर्थ—जब पांच जनों(मनुष्यों)वाली प्रजाने ॥ २ ॥

तेन चाक्लृप्रे ऋषयो मनुष्याः ॥ ३ ॥
(ऋ० १०।१३०।५)

अर्थ—उससे ऋषी और मनुष्य बने ३

अग्निं मनुष्याः ऋषयः समीधिरे ॥४
(ऋ० १०।१५०।४)

अर्थ—अग्निको मनुष्यों और ऋषियोंने प्रदीप्त किया ॥ ४ ॥

ऋषयः सप्त विप्राः ॥५॥(ऋ० ९।९२।२)

अर्थ—मेधावी ऋषी सात हैं ॥ ५ ॥

विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः॥६
(ऋ० १।५१।८)

अर्थ—तू आर्योको और जो दस्यु हैं, उनको जानता है ॥ ६ ॥

अहं भूमिम् अददाम् आर्याय ॥७॥
(ऋ० ४।२६।२)

अर्थ—मैंने आर्यको भूमि दी है ॥७॥

तिस्रः प्रजाः आर्याः ज्योतिरग्राः ८
(ऋ० ७।३३।७)

अर्थ—चमक[illegible] आर्य प्रजायें तीन हैं ॥ ८ ॥

तेन अहं सर्वं पश्यामि उत शूद्रम् उत आर्यम् ॥ ९ ॥ (अथर्व० ४।२०।८)

अर्थ—उस(दानक्रिया)से मैं सबको देखता हूं, जो निश्चय शूद्र है और जो आर्य है ॥ ९ ॥

द्विजाः अह प्रथमजाः ऋतस्य ॥१०॥
(ऋ० १०।६१।१८)

अर्थ—द्विज ही सत्य(ब्रह्म)की पहली सन्तान हैं ॥ १० ॥

(२) त्रयो लोकाः संमिताः ब्राह्मणेन ॥ १ ॥ (अथर्व० १२।३।२०)

अर्थ—तीनों लोक एक ब्राह्मणके बराबर हैं ॥ १ ॥

भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता ॥२॥
(ऋ० १०।१०९।४)

अर्थ—ब्राह्मणकी स्त्री, जिसका उपनयन हुआ है, भयङ्कर होती हैं ॥ २ ॥

धृतव्रताः क्षत्रियाः क्षत्रम् आशतुः३
(ऋ० ८।२५।८)

अर्थ—दृढ नियमोंवाले क्षत्रिय क्षत्रियत्वको प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

अग्निरिव मन्यो! त्विषितः सहस्व ४
(ऋ० १०।८४।२)

अर्थ—हे मन्यु! (क्षत्रिय!)अग्निकी नाई प्रज्वलित हुआ शत्रुओंको दबा ॥ ४ ॥

अशत्रुं हि जनिता जजान ॥ ५ ॥
(ऋ० १०।१२८।६)

अर्थ—जगत्पिताने क्षत्रियको निश्चय शत्रुरहित उत्पन्न किया है ॥ ५ ॥

राजा राष्ट्राणां पेशः॥६॥ (ऋ० ७।३४।११)

अर्थ—राजा राज्यों(देशों)का सौन्दर्य है ॥ ६ ॥

राष्ट्रस्य आधिपत्यम् एहि ॥ ७ ॥
(ऋ० १०।१२४।५)

अर्थ—देशके साम्राज्यको प्राप्त हो ॥७॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उभे श्रियम् अश्नुताम् ॥ ८ ॥ (यजु० ३२।१६)

अर्थ—यह विद्याबल (ब्राह्मण) और बाहुबल (क्षत्रिय) दोनों मिलेहुए मेरे ऐश्वर्य(साम्राज्यश्री)को प्राप्त हों ॥ ८ ॥

(३) शुद्धाः भवत यज्ञियाः ॥ १ ॥
(अथर्व० १२।२।२०)

अर्थ—शुद्ध होवो, यज्ञकेयोग्य होवो १

शुद्धाः पूताः योषिताः यज्ञियाः॥२॥
(अथर्व० ६।१२२।५)

अर्थ—शुद्ध और पवित्र हुई स्त्रियें यज्ञके योग्य होती हैं ॥ २ ॥

पापम् आहुः यः स्वसारं निगच्छात् ३
(ऋ० १०।१०।१२)

अर्थ—उसको पापी कहते हैं, जो भैन (बहिन)को स्त्रीभावसे प्राप्त होता है ॥३॥

मा पापासो मनामहे ॥ ४ ॥
(ऋ० ८।५०।११)

अर्थ—हम पापीहुए मत तुझे यादकरें॥४

मा नः इन्द्र! परावृणक् ॥ ५ ॥
(ऋ० ८।८६(९७)७)

अर्थ—हे इन्द्र! हमें न छोडना ॥ ५ ॥

पितेव पुत्रम् अबिभः उपस्थे ॥६॥
(ऋ० १०।३९।१०)

अर्थ—जैसे पिता पुत्रको, वैसे हमको अपनी गोदमें रख ॥ ६ ॥

बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु ॥ ७ ॥
(ऋ० १०।१३१।६)

अर्थ—द्वेषियोंको दूरकर, हमें भयरहित कर ॥ ७ ॥

क्षेमे योगे हव्यः इन्द्रः ॥ ८ ॥
(ऋ० १०।८९।१०)

अर्थ—क्षेम और योगमें इन्द्र पुकारने योग्य है ॥ ८ ॥

(४) अनवद्या पतिजुष्टेव नारी ॥१॥
(ऋ० १।७३।३)

अर्थ—पतिव्रता स्त्री जैसे निर्दोष होती है ॥ १ ॥

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ २ ॥ (अथर्व० ११।७।१८)

अर्थ—ब्रह्मचर्यसे युवतिहुई कन्या युवा पतिको प्राप्त होती है ॥ २ ॥

सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ३ ॥
(ऋ० १।१६४।२७)

अर्थ—वह बडे सौभाग्यकेलिये वृद्धि (पुत्र पौत्र आदिसे बढती)को प्राप्त हो ॥३॥

प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे! ॥ ४ ॥
(ऋ० १०।१८३।२)

अर्थ—हे पुत्रकीकामनावाली! तू पुत्र पौत्र आदि प्रजासे प्रजावाली हो ॥ ४ ॥

अग्निः नारीं वीरकुक्षिं पुरन्धिम्॥५॥
(ऋ० १०।८०।१)

अर्थ—अग्नि वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली और बडी बुद्धिवाली स्त्री देता है ॥ ५ ॥

अग्निः वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम् ॥६॥
(ऋ० १०।८०।१)

अर्थ—[illegible] विद्वान् और कर्ममें श्रद्धावाला वीर [illegible] । ६ ॥

मम पुत्राः शत्रुहणः अथो मे दुहिता विराट् ॥७॥ (ऋ० १०।१५९।३)

अर्थ—मेरे घरमें शत्रुओंके मारनेवाले पुत्र हों और विविध गुणोंसे चमकनेवाली कन्या मेरे घरमें हो ॥ ७ ॥

या पूर्वं पतिं वित्त्वा अथान्यं विन्दते पतिम् ॥ ८ ॥ (अथर्व० ९।५।२७)

अर्थ—जो स्त्री पेहले एक पतिको प्राप्त होकर पीछे (उसके मरजानेपर) दूसरे पतिको प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

समानलोको भवति पुनर्भुवा अपरः पतिः ॥ ९ ॥ (अथर्व० ९।५।२८)

अर्थ—वह पूर्वकेसमान लोक-व्यवहार-वाला होता है, जो पुनर्विवाहकामा (बाल-विधवास्त्री)केसाथ विवाह कियाहुआ दूसरा पति है ॥ ९ ॥

(५) कस्य मात्रा न विद्यते? ॥ १ ॥ (यजु० २३।४७)

अर्थ—किसका मूल्य नही है? ॥१॥

गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ २ ॥ (यजु० २३।४८)

अर्थ—गौका ही मूल्य नही है ॥२॥

युनक्त सीरा वि युगा तनध्वम् ॥३॥ (ऋ० १०।१०१।३)

अर्थ—हल जोतो, जुओंका विस्तारकरो॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।१०१।४)

अर्थ—बुद्धिमान् हल जोतते हैं और जुओंका विस्तार करते हैं ॥ ४ ॥

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥५॥ (ऋ० ४।३३।११)

अर्थ—देवता परिश्रमीके विना दूसरेकी मित्रताकेलिये नही ॥ ५ ॥

न मृषा, श्रान्तं यद् अवन्ति देवाः॥६ (ऋ० १।१७९।३)

अर्थ—यह मिथ्या नही, जो देवता परिश्रमीकी रक्षाकरते हैं ॥ ६ ॥ (५।६)

(६) यो देवकामो न धना रुणद्धि १ (ऋ०१०।४२।५)

अर्थ—जो परमात्माकी कामनावाला है, वह धनोंको नही रोकता (अदानी नही होता) है ॥ १ ॥

ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति संगमे २ (ऋ० १०।१०७।४)

अर्थ—जो सङ्गमपर अन्नसे भूखोंको तृप्त करते हैं और जो दूसरा दान देते हैं ॥२॥

उरुःकक्षो न गांग्यः॥३॥ (ऋ० ६।४५।३१)

अर्थ—गंगाके किनारेकी नाईं बडा महादानी "वृबु" तक्षा (मनु० १०।१०७)का यश है ॥ ३ ॥

यमुनायाम् अधि श्रुतम् ॥ ४ ॥ (ऋ० ५।५२।१७)

अर्थ—यमुनाके किनारे विख्यात ॥४॥

समुद्रं गच्छ, अन्तरिक्षं गच्छ ॥५॥ (यजु० ६।२१)

अर्थ—समुद्रमें जा, आकाशमें जा॥५॥

साकं वदन्ति बहवो मनीषिणः ६ (ऋ० ९।७२।२)

अर्थ—बुद्धिमान् बहुत हुएभी एक बात बोलते हैं ॥ ६ ॥

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ७ ॥ (अथर्व० १०।८।३२)

अर्थ—देवके काव्यको देख, जो न मरता है, न जीर्ण (पुराना) होता है॥७॥ (६।४८)

इति स्वाध्याय[illegible]तायां मन्त्रकाण्डे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

सं०

अथ दशमोऽध्यायः ।

(१) उद्यानं ते पुरुष ! नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि । आ हि रोह इमम् अमृतं सुखं रथम्, अथ जिर्विः विदथम् आवदासि ॥१॥

(अथर्व० ८।१।६)

अर्थ—हे मनुष्य ! तेरी उन्नति हो, अवनति न हो, मैं बलको तेरे जीनेकासाधन बनाता हूं । तू निःसन्देह इस अमृत जीवनवाले, सुखके साधन, शरीररूपी रथपर बैठ और जीर्ण(वृद्ध)हुआ अपने ज्ञानको मनुष्यमात्रमें कहो ॥ १ ॥

जीवतां ज्योतिः अभि+एहि अर्वाङ्, आ त्वा हरामि शतशारदाय । अवमुञ्चन् मृत्युपाशान् अशस्तिं, द्राघीयः आयुः प्रतरं ते दधामि ॥२॥

(अथर्व० ८।२।२)

अर्थ—हे मनुष्य ! तू अपने जीवितपुरुषों(वृद्ध पिता पितामहों)के अनुभवरूपी ज्योति(प्रकाश)को सामनेसे (सावधानतासे) प्राप्त हो, मैं तुझे सौ बरस जीनेकेलिये जगत्में लाया हूं । तू मृत्युकी फांसों(रोगों)को और अप्रशस्तता(अस्वच्छता)को दूर छोडता हुआ जीय, मैं तुझे बहुत लम्बी और बहुत अच्छी आयु देता हूं ॥ २ ॥

मा एतं पन्थाम् अनुगाः भीमः एष, येन पूर्वं न इयथ तं ब्रवीमि । तमः एतत् पुरुष ! मा प्रपत्थाः, भयं परस्तात् अभयं ते अर्वाक् ॥ ३ ॥

(अथर्व० ८।१।१०)

अर्थ—हे मनुष्य ! तू इस मार्गसे न चल, यह बडा भयङ्कर है, जिस(मार्ग)से कोई (तेरा पूर्व पुरुष कोई) पहले नही चला, मैं उसीको तुझे कहता हूं । हे पुरुष यह अन्धकार रूप है, मत इसपर चल, ऐसा करने(न चलने)से भय तेरे पीछे और अभय तेरे सामने (आगे) होगा ॥ ३ ॥

(२) अश्मन्वती रीयते संरभध्वम्, उत्तिष्ठत प्रतरता सखायः ! । अत्रा जहाम ये असन् अशेवाः, शिवान् वयम् उत्तरेमाभि वाजान् ॥ १ ॥

(ऋ० १०।५३।८)

अर्थ—यह पत्थरोंवाली (आपदा पर आपदा वाली) संसार रूपी नदी बहती है, हे मित्रो ! तुम एक दूसरेको पकडो, उठो और अच्छीतरह तरो । इस तरनेमें जो (पदार्थ) दुःखकेसाधन हैं, उनको छोडें और जो सुखकेसाधन पदार्थ हैं उनको हम सामने रखते हुए पार होवें ॥ १ ॥

उत्तिष्ठत अवपश्यत, इन्द्रस्य भागम् ऋत्वियम् । यदि आतो जुहोतन, यदि अश्रातो ममत्तन ॥ २ ॥ (ऋ० १०।१७९।१)

अर्थ—उठो और ऋतु ऋतुमें दियेजानेवाले इन्द्रकेभाग(हिस्से)को अपनेधनमें देखो (जो धन आपके पास है, वह सब आपका ही नहीं, उसमें इन्द्रके दूसरे पुत्रोंकाभी भाग है, यह जानो)। यदि तैयार है दो, यदि नहीं तैयार, देनेकेलिये उत्साहित होवो ॥२॥

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान्, जेता पवस्व सनिता धनानि । तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्सु, अषाढः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥ ३ ॥ (ऋ० ९।९०।३)

अर्थ—हे सोम ! (आर्य्य !) तू अनेक शूरों(पराक्रमियों)वाला, सब वीर पुत्रोंवाला, बलवाला, जीतनेवाला (कभी पराजित न होनेवाला), तीक्ष्ण शस्त्रोंवाला, शीघ्र अस्त्र-शस्त्रचलानेवाला, युद्धोंमें असह्य आक्रमण करनेवाला, अनेक योधाओंमें शत्रुओंका अभिभव करनेवाला और अपनेधनोंका ठीकठीक भोगनेवाला हुआ देश तथा जातिको पवित्र कर॥३॥

(३) यौ अङ्गिरसम् अवथो यौ अगस्तिं, मित्रावरुणा ! जमदग्निम् अत्रिम् । यौ कश्यपम् अवथो यौ वसिष्ठं, तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

(अथर्व० ४।२९।३)

अर्थ—हे मित्र और वरुण ! जिन आपने अङ्गिराकी रक्षाकी, जिन आपने अगस्तिकी, जमदग्निकी और अत्रिकी रक्षा की । जिन आपने कश्यपकी, जिन आपने वसिष्ठकी रक्षा की, वे आप हमको पापसे छुडायें (अलग रखें) ॥ १ ॥

यौ श्यावाश्वम् अवथो वध्र्यश्वं, मित्रावरुणा ! पुरुमीढम् अत्रिम् । यौ विमदम् अवथः सप्तवध्रिं, तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥ (अथर्व० ४।२९।४)

अर्थ—हे मित्र और वरुण ! जिन आपने श्यावाश्व, वध्र्यश्व, पुरुमीढ और अत्रिके पुत्रकी रक्षा की। जिन आपने विमद और सप्तवध्रिकी रक्षा की, वे आप हमको पापसे छुडायें (अलग रखें) ॥ २ ॥

यौ भरद्वाजम् अवथो यौ गविष्ठरं, विश्वामित्रं वरुण ! मित्र ! कुत्सम् । यौ कक्षीवन्तम् अवथः प्रोत कण्वं, तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

(अथर्व० ४।२९।५)

अर्थ—हे वरुण ! हे मित्र ! जिन आपने भरद्वाजकी रक्षाकी, जिन आपने गविष्ठर, विश्वामित्र और कुत्सकी रक्षा की । जिन आपने कक्षीवान्‌की और कण्वकी रक्षा की, वे आप हमको पापसे छुडायें (अलग रखें) ॥ ३ ॥

यौ मेधातिथिम् अवथो यौ त्रिशोकं, मित्रावरुणौ ! उशनां काव्यं यौ । यौ गोतमम् अवथः प्रोत मुद्गलं, तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

(अथर्व० ४।२९।६)

अर्थ—हे मित्र और वरुण! जिन आपने मेधातिथिकी रक्षा की, जिन आपने त्रिशोककी और जिन आपने कविकेपुत्र उशना(शुक्र)की रक्षा की। जिन आपने गोतमकी और मुद्गलकी रक्षा की, वे आप हमको पापसे छुडायें (अलग रखें) ॥ ४ ॥

(४) यत्र ज्योतिः अजस्रं, यस्मिन् लोके स्वर् हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमान!, अमृते लोके अक्षिते ॥ १ ॥ (ऋ० ९।११३।७)

अर्थ—जिस देशमें निरन्तर ज्ञानज्योति (विद्या प्रकाश) है, जिस देशमें सब सुख (हर एक सुखका साधन) रखाहुआ (मौजूद) है। हे सबको पवित्र करनेवाले! उस अमृत(दूध)वाले, अखुट अन्नवाले देशमें मुझे रख (निवास दे) ॥ १ ॥

यत्र राजा वैवस्वतो, यत्र अवरोधनं दिवः। यत्र अमूः यह्वतीः आपः, तत्र माम् अमृतं कृधि ॥ २ ॥ (ऋ० ९।११३।८)

अर्थ—जिस देशमें विवस्वान्का पुत्र मनु राजा है, जिस देशमें सूर्यका अपनी अनुकूलताकेलिये उपरोध (उपस्थान) होता है। जिस देशमें वे (सिन्धु, सरयु, सरस्वती, यमुना, गंगा आदि) बडीबडी नदियां विद्यमान हैं, उस देशमें मुझे चिरंजीवी कर ॥ २ ॥

यत्र अनुकामं चरणं, त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोकाः यत्र ज्योतिष्मन्तः, तत्र माम् अमृतं कृधि ॥ ३ ॥ (ऋ० ९।११३।९)

अर्थ—जिस देशमें इच्छानुसार (स्वतन्त्रतापूर्वक) विचरना (चलना फिरना) होता है, जिस देशमें लोग तीसरे स्वर्ग अर्थात् तीसरे द्युलोकमें चमकते तारों(सूर्यों)की नाई प्रकाशवाले (महातेजस्वी) हैं, उस देशमें मुझे चिरंजीवी कर ॥ ३ ॥

यत्र कामाः निकामाश्च, यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा* च यत्र तृप्तिश्च, तत्र माम् अमृतं कृधि ॥ ४ ॥ (ऋ० ९।११३।१०)

अर्थ—जिस देशमें वाञ्छित पदार्थ (उपभोग्य पदार्थ) और अतिवाञ्छित पदार्थ (उत्तम उपभोग्य पदार्थ) विद्यमान हैं, जिस देशमें सबसेबडे सूर्यका आसन (पूजास्थान) है। जिस देशमें नाना प्रकारका अन्न तथा क्षुधा(भूख)का अभाव, दोनों हैं, उस देशमें मुझे चिरंजीवी कर ॥ ४ ॥

यत्र आनन्दाश्च मोदाश्च, मुदः प्रमुदः आसते। कामस्य यत्र आप्ताः कामाः, तत्र माम् अमृतं कृधि ॥ ५ ॥ (ऋ० ९।११३।११)

अर्थ—जिस देशमें विद्यासुख और विषयसुख, दोनों हैं, जिस देशमें पदार्थसुख और कुटुम्बसुख विद्यमान हैं। जिस देशमें मनकी सब इच्छायें पूरी होती हैं, उस देशमें मुझे चिरंजीवी कर ॥ ५ ॥

---

*अन्न (निघं० ७।२५)

(५) शं नो वातो वातु, शं नः तपतु सूर्यः । अहानि शं भवन्तु नः, शं रात्री प्रतिधीयतां, शम् उषसो नो व्युच्छन्तु ॥ १ ॥ (अथर्व० ७।७२।१)

अर्थ—हे ईश्वर! वायु हमारेलिये सुखकारी बहे, सूर्य हमारेलिये सुखकारी तपे। दिन हमारेलिये सुखकारी हों, रात्रियां हमारेलिये सुखकारी बीतें, उषायें (प्रभातें) हमारेलिये सुखकारी उदय हों ॥ १ ॥

अभयं द्यावापृथिवी इह अस्तु नो, अभयं सोमः सविता नः कृणोतु । अभयं नो अस्तु उरु अन्तरिक्षं, सप्त ऋषीणां च हविषा अभयं नो अस्तु ॥ २ ॥ (अथर्व० ६।४०।१)

अर्थ—यहां द्यौ और पृथिवीसे हमको अभय हो, चन्द्रमा और सूर्य हमको निर्भय करे। विस्तृत (फैला हुआ) अन्तरिक्ष हमारेलिये भयरहित हो, सातों मूलगोत्र ऋषियों और दूसरे सब ऋषियोंकी भक्तिरूपी हविसे हमको अभय हो ॥ २ ॥

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः, पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ ३ ॥ (अथर्व० १८।२।२)

अर्थ—यह (स्वाध्याय कर्म) नमस्कारपूर्वक अर्पण है सब ऋषियोंको, जो हमारे पूर्वज हैं, और जो उनसेभी पहले हैं, और जो वैदिकपथ(पन्थ)के कर्ता (प्रवर्तक) हैं ॥३॥ (५।१८)

इति स्वाध्यायसंहितायां मन्त्रकाण्डे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इति मन्त्रकाण्डम् । (१०।४९।५५५)

स्वाध्यायसंहिता।

अथ ब्राह्मणकाण्डम्।

अथ प्रथमोऽध्यायः।

(१) नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। नमो वो अस्तु देवेभ्यः ॥१॥

(ऐ० आ० १।१।१)

अर्थ—नमस्कार है ऋषियोंको, जो मन्त्रोंके कर्ता (द्रष्टा) और मन्त्रोंके रक्षक (अध्ययन अध्यापन आदिसे रक्षक) हैं। नमस्कार है तुमको, जो आप वेदआदिसमस्त (सब) विद्याओंके पारङ्गत विद्वान हैं ॥ १ ॥

"सत्यम्"

द्वयं वै इदं न तृतीयम् अस्ति सत्यं च एव, अनृतं च। एतद् ह वै देवाः व्रतं चरन्ति यत् सत्यम्। तस्मात् ते यशः। यशो ह भवति, यः एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥ २ ॥ (शत० १।१।१।४-५)

अर्थ—दो हैं निश्चय यह बाणी (वागिन्द्रिय) के कर्म, तीसरा नहीं है, एक निश्चय सत्य (सत्य बोलना) और दूसरा अनृत (झूठ बोलना)। विद्वान् निःसन्देह इस ही कर्मको करतेहैं, जो सत्य (सत्य बोलना) है। इसीसे वे यशस्वी (यशवाले) हैं। वहभी निश्चय यशस्वी होता है, जो ऐसा (सत्य बोलना विद्वानोंका धर्म है, ऐसा) जानता हुआ सदा सत्य बोलता है ॥ २ ॥

सत्यं वै चक्षुः। तस्माद् यद् इदानीं द्वौ विवदमानौ एयाताम् 'अहम् अदर्शम्, अहम् अश्रौषम्' इतिः। यः एवं ब्रूयात् 'अहम् अदर्शम्' इति, तस्मै एव श्रद्दध्याम। तत् सत्येन एव एतत् समर्धयति ॥ ३ ॥

(शत० १।३।४।२७)

अर्थ—आंख (आंखसे देखना) निश्चय सत्य है। इसलिये यदि इस समय आपसमें विवाद करते हुए दो मनुष्य आवें, एक यह कहता हुआ कि "मैंने देखा है और दूसरा यह कहता हुआ कि "मैंने सुना है। दोनोंमेंसे जो ऐसे कहेगा (कहताहै) "मैं ने देखा है, बस उसकेलिये ही (उसके कहनेपर ही) [illegible] (विश्वास) करेंगे। क्योंकि वह आंखसे निश्चय इसको (अपने कथनको) [illegible] ॥ ३ ॥

अनृतं वाचा वदति, अनृतं मनसा ध्यायति । चक्षुः वै सत्यम् । आह अद्राग् इति, आह अदर्शम् इति । तत् सत्यम् ॥ ४ ॥ (तै० ब्रा० १।१।४)

अर्थ—अनृत (झूठ) वाणीसे बोलता (बोला जाता) है, अनृत मनसे चिन्तन करता (किया जाता) है। [इसलिये वाणी सत्य नही, मन सत्य नही]। एक आंख ही सत्य है। इसीलिये जब कोई 'तूने देखा है' यह पूंछता है, यदि 'हां मैं ने देखा है' यह उत्तर देता है। तब वह सत्य है ॥ ४ ॥

एतद् ह वै मनुष्येषु सत्यं, यत् चक्षुः। तस्माद् आचक्षाणम् आहुः अद्राग् इति। स यदि अदर्शम् इति आह, अथ अस्य श्रद्दधति। यदि उ वै स्वयं पश्यन्ति, न बहूनां चन अन्येषां श्रद्दधति ॥ ५ ॥ (ऐ० ब्रा० १।६)

अर्थ—यह ही निश्चय मनुष्योंमें सत्य (सत्यका निश्चायक) है, जो नेत्र (आंख) है। ईसीलिये कहते हुए (बात करतेहुए) को यह पूंछते हैं तूने देखा है। वह यदि यह कहता (उत्तर देता) है 'हां मैंने देखा है, तब ईसका विश्वास करते हैं। और यदि वे स्वयं निश्चय देखते (आंखसे देखेहुए होते) हैं, तब दूसरे (सुनकर कहनेवाले) बहुतोंका भी नही विश्वास करते हैं ॥ ५ ॥

तद् इदं पश्यन् आह ऋषिः—"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धाम् अनृते दधात्, श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः" (यजु० १९।७७) **इति ॥ ६ ॥**

अर्थ—वह यह देखतेहुए ऋषिने ऐसे कहा है—सत्य और अनृतके स्वरूपको देखकर प्रजापतिने सत्य और अनृतको खोला (अलग अलग किया) है। अनृतमें अश्रद्धाको (अनृतकेलिये अविश्वासको) और सत्यकेलिये विश्वासको प्रजापतिने रखा है ॥ ६ ॥

[यो वाव सत्यं वदति, प्रजापतिं वाव स वदति]। सत्यं हि प्रजापतिः॥७॥ (शत० ४।२।१।२६)

अर्थ—जो निश्चय सत्य बोलता है, वह निःसन्देह प्रजापतिको (प्रजाकेस्वामी परमात्माको) बोलता (स्मरण करता) है। क्योंकि सत्य प्रजापति है ॥ ६ ॥

तद् एतत् पुष्पं फलं वाचः, यत् सत्यम्। स ह ईश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिः भवति, यो वाव पुष्पं फलं वाचः सत्यं वदति॥८॥ (ऐ० आ० २।३।६)

अर्थ—वह यह पुष्प (फूल) और फल वाणीका है जो सत्य (सत्य बोलना) है। वह निश्चय ऐश्वर्यवाला यशवाला और भली कीर्तिवाला होता है, जो निश्चय वाणीके पुष्प और फलरूप सत्यको बोलता है ॥ ८ ॥

अथ एतत् मूलं वाचः यद् अनृतम्। तद् यथा वृक्षः आविर्मूलः शुष्यति, स उद्वर्तते, एवम् एव अनृतं वदन् आविर्मूलम् आत्मानं करोति, स शुष्यति, स उद्वर्तते ॥ ९ ॥ (ऐ० आ० २।३।६)

अर्थ—और सं... [illegible] ...जड) है वाणीका, जो झूठ है। वह जैसे वृक्ष नंगेहुए

मूलवाला (मृत्तिकासे न ढकीहुई जडोंवाला) सुक जाता है और वह उखड जाता है (नष्ट हो जाता है), ऐसे ही झूठ बोलता हुआ मनुष्य अपने आपको नंगेमूलवाला (न ढकी हुई जडोंवाला) करता है, वह सुक जाता है, वह उखड जाता (हमेशाकेलिये दुनिया से अपना नामोनिशां मिटा देता) है ॥ ९ ॥

तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा—"सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सत् चासत् च वचसी पस्पृधाते। तयोः यत् सत्यं यतरद् ऋजीयः, तद् इत् सोमो अवति हन्ति आसत्" (ऋ० ७।१०४।१२) ॥ १० ॥

अर्थ—वह यह ऋषिने कहा है—ज्ञानवान् (समझदार) मनुष्यकेलिये यह जानना सुखाला (आसान) है कि सत्य और झूठ दोनों वचन आपसमें स्पर्द्धा (रशक) करते हैं । उन दोनोंमें जो सत्य है, जो अधिक सरल (लाग लपेटके विना) है, उसकी निश्चय ईश्वर रक्षा करता है, और जो झूठ है, उसका नाश करता है ॥ १० ॥

न वै उ सोमो वृजिनं हिनोति, न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्। हन्ति रक्षो हन्ति आसद् वदन्तम्, उभौ इन्द्रस्य प्रसितौ शयाते (ऋ० ७।१०४।१३) **इति॥११॥**

अर्थ—झूठ बोलनेवाले पापीको निश्चय ईश्वर नही छोडता (जा माफ किया, नही कहता) है और न मिथ्या क्षात्रबलके धारणेवाले (झूठ मूठ क्षात्रबलकी डींग मारनेवाले) को छोडता है । वह उस राक्षस (मिथ्या क्षात्रबलके धारनेवाले) को मारता है, और झूठ बोलनेवालेको मारता है, दोनों ईश्वरकी फांसमें बन्धेहुए सोते है, बस ॥ ११ ॥

तस्माद् अनृतं न वदेत् (ऐ० आ० २।३।६) । **[ऋतं ह एव शश्वद् वदेत्] । सत्यं वै ऋतम् ॥ ११ ॥** (तै० सं० ६।३।६)

अर्थ—इसलिये मनुष्य झूठ न बोले । सत्य ही निश्चय सदा बोले । क्योंकि सत्य निःसन्देह ईश्वर (सत्य बोलना ईश्वरका नाम उच्चारण करना) है ॥ ११ ॥

यद् वाव पुरुषो मनसा अभिगच्छति तद् वाचा वदति, तत् कर्मणा करोति (तै० आ० १।२३) । **[न मनसा अनृतम् अभिगच्छेत्, न वदेत्, न कुर्यात्] । अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति ॥ १२ ॥** (तै० ब्रा० १।७।२)

अर्थ—निःसन्देह मनुष्य जिसको मनसे प्राप्त होता (बार बार चिन्तन करता) है, उसीको वाणीसे बोलता है, उसीको शरीरसे करता है । इसलिये न मनसे झूठको प्राप्त होवे, न वाणीसे कहे और न शरीरसे करे । क्योंकि अनृत किये जानेपर अवश्य ही ईश्वर पकडता (दण्ड देता) है ॥ १२ ॥

यत्र इदम् आम्नातम्—"अहम् अस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तम्" (ऋ० १०।२७।१) **इति ॥ १३ ॥**

अर्थ—जिसपर यह पढा गया है—मैं हूं पाप करनेकी इच्छावाले, सत्यके द्वेषी, अनृतवादीका मारनेवाला (दण्ड देनेवाला), बस ॥ १३ ॥

[तद् उ वाव एतद् हेयं यद् इदम्] वृजिनम्, अनृतं, दुश्चरितम् । [तद् उ वाव एतद् उपादेयं यद् इदम्] ऋजुकर्म, सत्यं, सुचरितम् ॥ १४ ॥
(तै० ब्रा० ३।३।७)

अर्थ—वह यह निश्चय सदा छोडने योग्य है जो यह पाप (कुटिलता) है, झूठ है, और दुराचार है । वह यह निश्चय सदा ग्रहणकरने योग्य है जो यह सरलता है, सत्य है, और सदाचार है ॥ १४ ॥

तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा—"सत्यं च मे, श्रद्धा च मे (यजु० १८।५) **पाहि नो अग्ने! दुश्चरिताद् आ मा सुचरिते भज"** (तै० सं० १।१।१२) **इति ॥ १५ ॥**

अर्थ—वह यह कहा है ऋषिने—हे ईश्वर! मुझे निश्चय सत्य (सत्य बोलना) दे, और मुझे श्रद्धा (विश्वास) दे । हे अग्नि! (सबके अग्रणी!) दुराचारसे हमारी रक्षा कर, और हमको सदाचारमें लगा, बस ॥ १५ ॥

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् । तस्मात् सत्यं वदन्तम् आहुः धर्मं वदति इति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदति इति । तद् ह एव एतद् उभयं भवति [यत् सत्यम्] ॥ १६ ॥ (शत० १४।४।२।२६)

अर्थ—जो वह निश्चय धर्म (शास्त्रविहित कर्म) है, वही निःसन्देह सत्य (सत्य बोलना) है । इसलिये सत्य बोलतेहुएको यह कहते हैं—धर्म (शास्त्रविहित) बोलता है, और धर्म बोलतेहुएको यह कहते हैं—सत्य बोलता है । वह यह निश्चय दोनोंही (सत्य और धर्म) है, जो सत्य है ॥ १६ ॥

"तपः"

तपसा वै लोकं जयन्ति (शत० ३।४।४।२७) **। [अमुं च इमं च । तद् एतद् ऋग्भ्याम् अभ्यनूक्तम्] "त्वं तपः परितप्य अजयः स्वः"** (ऋ० १०।१६७।१) **"तपसा युजा विजहि शत्रून्"** (ऋ० १०।८३।३) **इति ॥ १ ॥**

अर्थ—तपसे निश्चय लोकको जीतते हैं उस लोक (परलोक) और इस लोक दोनोंको । वह यह दो मन्त्रोंसे कहा गया है—तू ने तप तप कर स्वर्ग (परलोक) को जीता है, तू तपरूपी साथीसे शत्रुओं (भीतरी बाहरी शत्रुओं) को मार (मारकर इस लोकको जीत) बस ॥ १ ॥

भृगूणाम् अङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् (यजु० १।१८) **। तद् एतद् ऋचा अभ्यनूक्तम्—"तपसा ये अनाधृष्याः, तपसा ये स्वर् ययुः । तपो ये चक्रिरे महस्, तान् चिद् एवापि गच्छतात्"** (ऋ० १०।१५४।२) **इति ॥ २ ॥**

अर्थ—भृगुवंशियों और अङ्गिरा वंशियोंके तपसे तुम तपो (अपने पूर्वपुरुषों जैसा तप करो) । वह यह ऋचा (मन्त्र) से कहा गया है—तपसे जो न दबाये जानेवालेहुए हैं, तपसे जो स्[illegible] त सुख) को प्राप्त हुए हैं । जिन्होंने महान् तप (धर्म और

सं०

देशकी रक्षाकेलिये उग्र तप) किया है, हे मनुपुत्र! तू भी निःसन्देह उन (अपने पूर्व-पुरुषों)के ही पीछे चल (उन जैसा उग्र तप कर) बस ॥ २ ॥

एतत् खलु वाव तपः इति आहुः यत् स्वं ददाति [धर्माय च राष्ट्राय च]। (तै० सं० ६।१।६) **अर्यमा इति तम् आहुः यो ददाति ॥ ३ ॥** (तै० ब्रा० १।१।२)

अर्थ—इसको ही निश्चय तप ऐसे कहते हैं जो अपने आपको निश्चय धर्म और राष्ट्रकेलिये देता है। दाता ऐसे उसको कहते हैं जो अपने आपको देता है ॥ ३ ॥

अत्र एष मन्त्रो भवति—“भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षाम् उपनिषेदुः अग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तद् अस्मै देवाः उपसंनमन्तु” (अथर्व० १९।४१।१) (तै० सं० ५।७।४) **॥ इति ॥ ४ ॥**

अर्थ—इसपर यह मन्त्र है—देशका कल्याण (सब प्रकारसे सुख) चाहतेहुए सुख और सुखके साधनोंको जानतेहुए ऋषियोंने पूर्वकालमें तप और दीक्षा(तपके नियमों)को ग्रहण किया। उस(तप और दीक्षा)से राज्य (राज्यसुख) और उसका साधन बल तथा तेज प्राप्त हुआ, इसलिये देशका कल्याण चाहनेवाले विद्वान इसकी (तप और दीक्षारूप साधनकी) ओर झुकें (विशेष ध्यान दें) बस ॥ ४ ॥

“दमः, दानं, दया”

(३) प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यम् ऊषुः (शत० १४।८।२।१)**। उषित्वा ब्रह्मचर्यम् ऊचुः ब्रवीतु नो भवान् इति। तेभ्यो ह एतद् अक्षरम् उवाच द द द इति** (शत० १४।८।२।२-३-४) **॥ १ ॥**

अर्थ—प्रजापतिके पुत्रोंने प्रजापति पिताके पास ब्रह्मचर्यसे वास किया। ब्रह्मचर्यसे वास करके यह कहा—आप हमारेलिये कुछ कहें (उपदेश करें)। उनकेलिये प्रसिद्ध इस अक्षर(वर्ण)को प्रजापतिने तीनबार कहा—द द द, बस ॥ १ ॥

व्यज्ञासिष्टाः इति। व्यज्ञासिष्म इति ह ऊचुः। दाम्यत दत्त दयध्वम् इति नः आत्थ इति। (शत० १४।८।२।२-३-४) **ओम् इति ह उवाच व्यज्ञासिष्ट इति ॥ २ ॥** (शत० १४।८।२।२-३-४)

अर्थ—समझा? यह प्रजापतिने कहा (पूछा)। समझा, यह प्रसिद्ध प्रजापतिके पुत्रोंने कहा (उत्तर दिया)। इन्द्रियोंका दमन (निग्रह) करो, दानकरो, दया करो, यह हमारेलिये आपने कहा है, बस। हां ठीक यह तुमने समझा, ऐसे प्रजापतिने कहा ॥२॥

तद् एतद् एव एषा दैवी वाग् अनुवदति स्तनयित्नुः—द द द इति। तद् एतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयाम् इति ॥ ३ ॥ (शत० १४।८।२।४)

अर्थ—उस इस प्रजापतिके वचनका ही यह द्युलोक(आकाश)की वाणी मेघकी गर्जना “इन्द्रियोंका दमन करो (इन्द्रियोंको वशमें रखो), धनका दान करो (धर्म तथा देशकेलिये धन दो) और प्राणियों पर दया करो (प्राणि[illegible]ाओ) यह सूचन

करती हुई अनुवाद करती (दुहराती) है—दे दं दं, ऐसे । इसलिये विद्वान् दम (दमन) दान और दया, बस इन तीनोंको सिखाये ॥ ३ ॥

"पर्यटनम्"

(४)[रोहितो ह वै ऐक्ष्वाको राज्ञः पुत्रो हरिश्चन्द्रस्य देशाद् देशान्तरं चचार]
(ऐ० ब्रा० ३३।२)**'जीवेयं, प्रजा मे स्यात्, श्रियं गच्छेयम्' इति नु कामयमानः १**
(शत० १।८।१।३६) (शत० १४।७।२।८)

अर्थ—रोहित प्रसिद्ध निश्चय इक्ष्वाकुवंशी राजा हरिश्चन्द्रका पुत्र एक देशसे दूसरे देशमें (देश देशान्तरमें) विचरने(फिरने)लगा 'मैं चिरकाल-जीवूं मेरे प्रजा हो, मैं ऐश्वर्यको प्राप्त होवूं, यह निश्चय चाहता हुआ ॥ १ ॥

[तं हतवीर्यं पश्यन् निवृत्तचरणं मुग्धम् उवाच ब्राह्मणो जीर्णिः] ॥ २ ॥
(ऐ० ब्रा० ३३।३)

अर्थ—उस हतोत्साह (मरेहुए हौसलेवाले), विचरना(चलना)छोडेहुए, अविवेकी रोहितको देखता हुआ एक अतिवृद्ध ब्राह्मण बोला ॥ २ ॥

न अनाश्रान्ताय श्रीः, अस्तीति रोहित! शुश्रुम। पापो नृषद् वरो जनः, इन्द्रः इत् चरतः सखा ॥ ३ ॥

अर्थ—जो चलनेसे पूरा श्रान्त (थका हुआ) नही हुआ, उसकेलिये (उस अपुरुषार्थी केलिये) श्री (संसारका ऐश्वर्य) नही है, यह हे रोहित! मैंने सुना है। श्रेष्ठ मनुष्य भी मनुष्योंमें (अपने भाई बन्धुओंके घरोंमें) बैठाहुआ (बैठकर खाता हुआ) श्रीहीन होता है, और परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा चलनेवाले(पुरुषार्थ करनेवाले)का ही मित्र (सहायक) है, यह मैंने सुना है ॥ ३ ॥

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुः आत्मा फलेग्रहिः। शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः, श्रमेण प्रपथे हताः ॥ ४ ॥

अर्थ—चलनेवाले(पुरुषार्थी)की टांगे प्रफुल्लित, मन उत्साही तथा फलकोप्राप्त करनेवाला होताहै। इसके सब पाप (श्रीहीन करनेवाले सब कारण) लम्बे मार्गमें चलनेके श्रमसे मरेहुए शयन करते (सदाकेलिये सो जाते) हैं ॥ ४ ॥

आस्ते भगः आसीनस्य, ऊर्ध्वं तिष्ठति तिष्ठतः। शेते निपद्यमानस्य, चरति चरतो भगः ॥ ५ ॥ (ऐ० ब्रा० ३३।३)

अर्थ—बैठेहुएका ऐश्वर्य (श्री) बैठ जाता है, और उठकर खडेहुएका खडा होता है। टांगे पसार पडेहुएका (सोयेहुएका) सो जाता है, और चलनेवालेका (पुरुषार्थीका) ऐश्वर्य पीछे पीछे चलता है ॥ ५ ॥

"स्नानम्"

(५) यो अप्सु स्नाति, साक्षाद् एव दीक्षातपसी अवरुन्धे, तीर्थे स्नाति।
[तस्मात् स्नाय सं० ॥ (तै० सं० ६।१।१)

अर्थ—जो (स्त्री, पुरुष) जलमें स्नान करता(न्हाता)है, वह सीधा दीक्षा और तपको निश्चय अपनाता है, क्योंकि वह जलमें स्नान करताहुआ तीर्थमें स्नान करता है। इसलिये स्नान करे ॥ १ ॥

अत्र एतं मन्त्रं पठन्ति–"इदम् आपः प्रवहत, यत् किं च दुरितं मयि। यद् वा अहम् अभिदुद्रोह, यद् वा शेपे उतानृतम्" (ऋ० १।२३।२२) **इति॥२॥**

अर्थ—यहां इस मन्त्रको पढते(उच्चारण करते)हैं–हे परमात्मा! जल इसको बहा ले जायें, जो कुछ भी मुझमें पाप (भीतर बाहर का अशौच) है। अथवा जो मैंने द्रोह (विश्वासघात) किया है, अथवा जो मैंने बुराभला कहा है (गालीदी है) और जो मैंने झूठ बोला है, बस ॥ २ ॥

अमृतं वै आपः। अमृतस्य अनन्तरित्यै न अप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात्, न निष्ठीवेत्, न विवसनः स्नायात् ॥ २ ॥ (तै० आ० १।२६)

अर्थ—अमृत(स्वस्थ-जीवन)के देनेवाले निश्चय जल हैं। अमृतको आडमें (अपनेसे दूर) न होनेकेलिये जलमें मूत्रना, हदना न करे, न थूके और न नंगा स्नान करे ॥ २ ॥

यद् अपः उपस्पृशति, तेन अस्य पूतिः अन्तरतः। पवित्रं वै आपः। तस्माद् वै अपः उपस्पृशति ॥ ३ ॥ (शत० १।१।१।१)

अर्थ—जो जलका आचमन करता है, उससे (आचमनसे) इसकी अन्दरसे पवित्रता होती है। क्योंकि जल पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये प्रत्येक कर्मकी समाप्ति और आरम्भमें अवश्यमेव (जरूर ही) जलका आचमन करे ॥ ३ ॥

अत्र एतं मन्त्रम् उच्चारयन्ति-"शं नो देवीः अभिष्टये, आपो भवन्तु पीतये। शं योः अभिस्रवन्तु नः" (ऋ० १०।९।४) **इति ॥ ४ ॥**

अर्थ—यहां इस मन्त्रको बोलते हैं—हे ईश्वर! दिव्य(अद्भुत)गुणोंवाले जल हमारेलिये सुखकारी हों, अभीष्ट(वाञ्छित)पदार्थकी प्राप्तिकेलिये हों, हमारे पीनेकेलिये हों। रोगोंकी निवृत्ति और रोगजन्य भयोंकी अप्राप्तिकेलिये सदा हमारे सामने बहें ॥ ४ ॥

"प्रातःकृत्यम्"

(६) अथ केशश्मश्रु वपते, (तै० ब्रा० ३।८।१) **[न वा वपते, यत्] तत् पुरुषाणां रूपम्।** (तै० सं० ५।५।१) **अथ नखानि निकृन्तते, दतो धावते, स्नाति, अहतं वासः परिधत्ते ॥ १ ॥** (तै० ब्रा० ३।८।१)

अर्थ—अब सिर मुंहके बालोंको कटाये अथवा न कटाये, जिसलिये, वे मनुष्योंका सौन्दर्य हैं। अब नखोंको कटाये, दान्तोको धोये, स्नान करे (न्हाये), न फटा हुआ और स्वच्छ वस्त्र पहरे ॥ १ ॥

रूपं वै एतत् पुरुषस्य, यद् वासः (शत० १३।४।१।१५) । **न अन्यः पुरुषाद् वासो बिभर्ति । तस्माद् उ सुवासाः एव बुभूषेत् ॥ २ ॥** (शत० ३।१।२।१६)

अर्थ—यह निश्चय रूप है पुरुष(स्त्री, पुरुष)का, जो वस्त्र है। पुरुष(स्त्री, पुरुष)से भिन्न दूसरा कोई वस्त्र नहीं धारण करता (पहरता) है। इसलिये सर्वदा (हमेशा) अच्छे वस्त्रोंवाला ही होना चाहे (यथाशक्ति बहुत अच्छे वस्त्र पहरे) ॥ २ ॥

[सर्वे वाव देवाः एतद् वासः परिधत्ते । तस्माद् उ आहुः] तद् वै एतत् सर्वदेवत्यं यद् वासः ॥ ३ ॥ (तै० सं० ६।१।१)

अर्थ—सब ही विद्वान् इस वस्त्र(अच्छे वस्त्र)को पहरते हैं। इसलिये ही कहते हैं निःसन्देह वह यह (वस्त्र) सब देवताओंवाला (सब विद्वानोंका सांझा) है, जो वस्त्र है ॥३॥

"हिरण्यम्"

(७) पवित्रं वै हिरण्यम् । पुनाति एव एनं, यो हिरण्यं बिभर्ति ॥ १ ॥
(तै० सं० २।२।५) (अथर्व० १९।२६।२)

अर्थ—पवित्र है निश्चय सोना। पवित्र करता है अवश्य (जरूर) इस (स्त्री, पुरुष)को, जो सोनेको धारण करता है (पहरता है) ॥ १ ॥

जरामृत्युः भवति, यो हिरण्यं बिभर्ति । (अथर्व० १९।२६।१) **आयुः हि हिरण्यम् । अमृतं हिरण्यम् ॥ २ ॥** (शत० ४।३।४।२४) (शत० १०।४।१।६)

अर्थ—वह जरासे मृत्युवाला होता (वृद्ध होकर मरता) है, जो सोनेको धारण करता है। क्योंकि सोना आयु (आयुका बढानेवाला) है, सोना अमृत (अमर करनेवाला) है ॥ २ ॥

तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा—"यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं, स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः । स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः" (यजु० ३४।५१) **इति ॥३॥**

अर्थ—वह यह कहा है ऋषिने—जो (विद्वान् अथवा कोई साधारण मनुष्य) प्रथम कक्षा(नम्बर)का सोना धारण करता है, वह विद्वानोंमें अपनी आयु लम्बी करता है, वह मनुष्यों(साधारण मनुष्यों)में अपनी आयु लम्बी करता है (यजु० ३४।५१) बस॥४॥

[अग्नेः इव अस्य ज्योतिः भवति, यो हिरण्यं संगृभ्णाति । यस्मात्] अग्नेः रेतो हिरण्यम् । (शत० २।२।३।२८) **ज्योतिः वै हिरण्यम् ॥ ४ ॥** (शत० १०।४।१।६)

अर्थ—अग्निकी नाईं इस(मनुष्य)का प्रकाश होता है, जो सोनेका सङ्ग्रह करता है। जिसलिये सोना अग्निका सार है, सोना निश्चय प्रकाश (प्रकाशरूप) है ॥४॥

"पशुः"

(८) श्रीः वै पशवः । [तस्माद् एष नित्यं पशुमान् स्यात्] ॥१॥ (ताण्ड्य० १३।२।२)

अर्थ—पशु निःसन्देह घरोंका ऐश्वर्य हैं। इसलिये यह (गृहस्थाश्रमी) सदा पशुओंवाला होवे। सं०

तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा–"इह एव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शाले!, अश्वावती गोमती सूनृतावती। ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती, उच्छ्रयस्व महते सौभगाय" (अथर्व० ३।१२।२) **इति ॥ २ ॥**

अर्थ—वह यह कहा है ऋषिने–यहां ही(जहां है, वहां ही)अचलहुआ हे घर! प्रतिष्ठा(आदर)को प्राप्त हो, घोडोंवाला, गौओंवाला, सच्ची और मीठी बोलियोंवाला (पुत्र पौत्रोंवाला), अन्नवाला, घीवाला और दूधवाला हुआ हमारे बडे सौभाग्य (अच्छे ऐश्वर्य)केलिये उन्नतिको प्राप्त हो ॥ २ ॥

"अतिमाननिषेधः"

(९) उभये वै एते प्रजापतेः अधि+असृज्यन्त देवाश्च असुराश्च । तान् न व्यजानात् इमे अन्ये, इमे अन्ये इति ॥ १ ॥ (तै० ब्रा० १।४।१)

अर्थ—दोनों ही ये प्रजापतिसे उत्पन्न हुए एक देव (देव आर्य्य) और दूसरे असुर (असुर आर्य्य)। उनको उसने ऐसे न जाना (समझा) ये (देव आर्य्य) दूसरे है, और ये (असुर आर्य्य) दूसरे ॥ १ ॥

ते उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुः दायम् उपेयुः ॥२॥ (शत० १।७।२।२२)

अर्थ—वे दोनों प्रजापतिके पुत्र अपने पिता प्रजापतिकी सम्पत्तिको प्राप्त हुए ॥२॥

ते उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततः असुराः अतिमानेन एव 'कस्मिन् नु वयं जुहुयाम' इति स्वेषु आस्येषु जुह्वतः चेरुः । ते अतिमानेन एव पराबभूवुः । तस्मात् न अतिमन्येत । पराभवस्य हि एतत् मुखं, यद् अतिमानः ॥ ३ ॥ (शत० ५।१।१।१)

अर्थ—वे दोनों प्रजापतिकेपुत्र आपसमें स्पर्धा(रशक)करने लगे। उनमेंसे असुरोंने इस अत्यन्त अभिमान(तकब्बर)से कि हम किस दूसरे (अग्नि)में हवन करें (हम क्यों व्यर्थ अग्निमें घी, दूध और अन्न जलायें), अपने मुखोंमें ही हवन करतेहुए यथेष्ट आचरण करने लगे। वे उस अत्यन्त अभिमानसे निश्चय अनादरको प्राप्त हुए। इसलिये न अत्यन्त अभिमान करे। क्योंकि अनादरका यह मुख है, जो अत्यन्त अभिमान है ॥३॥

"आपद्धर्मः"

(१०) मटचीहतेषु कुरुषु आटिक्या सह जायया उषस्तिः ह चाक्रायणः इभ्यग्रामे प्रद्राणकः उवास ॥ १ ॥ (छां० १।१०।१)

अर्थ—कुरुदेशों (कुरुदेशकी खेतियों)के ओलोंसे मारे जानेपर आटिकी नामकी धर्मपत्नीके साथ प्रसिद्ध चक्रका पुत्र उषस्ति दरिद्र अवस्थाको प्राप्त हुआ (अत्यन्त तंगदस्त हुआ) हाथीबानोंके गाओं(ग्राम)में जाकर बसा (रहा) ॥ १ ॥

स ह इभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे । तं ह उवाच–न इतो अन्ये विद्यन्ते यत् च ये मे इमे उपनिहिताः इति ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध उषस्तिने कुल्थ खातेहुए हाथीबानसे भीख मांगी । उसने उस प्रसिद्ध उषस्तिको यह कहा—इनसे भिन्न दूसरे मेरे पास नहीं हैं, जो ये मेरे बर्तनमें रखे हैं ॥ २ ॥

एतेषां मे देहि इति ह उवाच । तान् अस्मै प्रददौ । हन्त अनुपानम् इति । उच्छिष्टं वै मे पीतं स्याद् इति ह उवाच ॥ ३ ॥

अर्थ—इन्हींमेंसे मुझे दे, यह प्रसिद्ध उषस्ति चाक्रायणने कहा । हाथीबानने वे (कुल्थ) इसे (उषस्तिको) दिये । और यह पीनेका पानी है, ऐसे कहा । निःसन्देह जूठा मुझसे पिया गया होगा, यह प्रसिद्ध उषस्ति ने कहा ॥ ३ ॥

न स्विद् एते अपि उच्छिष्टाः इति । न वै अजीविष्याम् इमान् अखादन्, इति ह उवाच । कामो मे अनुपानम् इति ॥४॥ (छां० ३०।१।१०)

अर्थ—क्या ये (कल्थ) तो जूठे नही हैं ? यह हाथीबानने कहा । मैं निश्चय न जीता रहता, इन (कुल्थों) को न खाता हुआ, इसलिये ये जूठे नही, यह प्रसिद्ध उषस्तिने कहा । यथेष्ट (बहुतेरा) है मेरेलिये खाकर पीनेको पानी, इसलिये यह जूठा है ॥ ४ ॥

[न ह वै प्राणात्ययतो अन्यत्र सर्वः सर्वस्य उच्छिष्टं खादेत्, न वा सर्वः सर्वस्य उच्छिष्टं पिबेत्, नेत् उच्छास्त्रम् आचरितं स्यात्, नेत् दुर्भिषज्यं गैलापतितं स्यात्, इति ह उवाच बादरायणो व्यासः] ॥ ५ ॥
(वे० ३।४।२८)

अर्थ—न निश्चय प्राणोंके विनाशकालसे भिन्नकालमें कभी हरएक हरएकका जूठा खाये, और न हरएक हरएकका जूठा पिये, न हो कि शास्त्रविरुद्ध आचरण कियागया हो, न हो कि कोई ओषधिकेअयोग्य(असाध्य वा कष्टसाध्य)रोग गलेमें पडा हुआ हो, यह निःसन्देह बादरिकेपुत्र व्यास ने कहा है ॥ ५ ॥

"मृत्युः"

(११) एष वै मृत्युः यत् संवत्सरः । एष हि मर्त्यानाम् अहोरात्राभ्याम् आयुः क्षिणोति, अथ म्रियन्ते । तस्माद् एष मृत्युः ॥ १ ॥ (शत० १०।४।३।१)

अर्थ—यह निश्चय मृत्यु (मारनेवाला) है, जो बरस है । क्योंकि यह दिन और रात(रात्री)से मनुष्योंकी आयुको क्षीण (नष्ट) करता है, और वे मरजाते हैं । इसलिये यह (बरस) मृत्यु है ॥ १ ॥

एष उ एव अन्तकः । एष हि मर्त्यानाम् अहोरात्राभ्याम् आयुषो अन्तं गच्छति, अथ म्रियन्ते । तस्माद् एष एव अन्तकः ॥ २ ॥ (शत० १०।४।३।२)

अर्थ—और यही (बरस ही) निःसन्देह अन्तक (अन्त करनेवाला) है । क्योंकि यही दिन और [illegible] मनुष्योंकी आयुके अन्तको पहुंचता है, और वे मर जाते हैं । इसलिये [illegible] देह अन्तक है ॥ २ ॥

षड् वै ऋतवः संवत्सरस्य (शत० ११२।३।१२) **वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः शरद् हेमन्तः शिशिरः** (शत० २।१।३।१) **[ऋतवः प्रजाः] संवत्सरो वै प्रजापतिः ॥ ३ ॥** (शत० १०।२।४।१)

अर्थ—बरसकी निश्चय छे ६ ऋतू हैं, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर। ऋतुएं प्रजा हैं और वर्ष (बरस) निश्चय प्रजापति है ॥ ३ ॥

[एष उ वै वैवस्वतो यमो राजा। यत्र इदम् उक्तम् ऋषिणा] "परेयिवांसं प्रवतो महीः अनु बहुभ्यः पन्थाम् अनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां, यमं राजानं हविषा दुवस्य" (ऋ० १०।१४।१) **इति ॥ ४ ॥**

अर्थ—यह (बरस) ही निश्चय विवस्वान्का पुत्र राजा यम है। जिसके विषयमें (जिसकी बाबत) ऋषिने यह कहा है—जो श्रेष्ठकर्मवालोंको भूमियों (अनेक भूप्रदेशों)का योग्यतानुसार देनेवाला है, जो बहुतों (सब)केलिये सुखका मार्ग देखानेवाला है। जो मनुष्योंके इकठ्ठा होनेकी जगह है, उस विवस्वान् (सूर्य)के पुत्र यम राजा (बरस)का समय समय पर हविर्यज्ञसे सेवन करो, बस ॥ ४ ॥

(१२) असौ वै आदित्यो [विवस्वान् (निरु० ७।२६)**] ब्रह्म, यः अहरहः पुरस्तात् जायते ॥ १ ॥** (शत० ७।४।१।१४)

अर्थ—वह सूर्य ही विवस्वान् ब्रह्म (पृथिवी आदि गोलोंसे बहुत बडा) है, जो दिन प्रतिदिन पूर्व (पूर्व दिशा)से प्रकट होता है ॥ १ ॥

यत्र इदम् उक्तम् ऋषिणा—"विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु, परा+एतु मृत्युः अमृतं नः एतु। इमान् रक्षतु पुरुषान् आजरिम्णो, मा उ सु, एषाम् असवो यमं गुः ॥ २ ॥ (अथर्व० १८।३।६२)

अर्थ—जिसके विषयमें ऋषिने यह कहा है—सूर्य्य हमको पूर्ण आयु दे, मरना परे जाये, जीना हमारे पास आये। इन हम सब स्त्री पुरुषोंकी जीर्ण अवस्था (अति वृद्ध अवस्था) तक रक्षा करे, और मत इन (इन सब स्त्रीपुरुषों)के प्यारे प्राण जीर्णावस्थासे पहले यम (तुझ विवस्वान्के पुत्र यम)को प्राप्त हों, ॥ २ ॥

"ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेनः आवः। सः बुध्न्याः उपमाः अस्य विष्ठाः सतश्च योनिम् असतश्च विवः" (यजु० १३।३) **इति ॥ ३ ॥**

अर्थ—सबसेबडे, सबसेमुख्य सबसेपहले उत्पन्न होनेवाले, प्यारे सूर्यने सब ओरसे सुन्दर चमकनेवाली अपनी किरणोंको खोल दिया है। और उसने सब जगत्के मूल (सूर्य)से सम्बन्ध रखनेवाली, सब जगत्की मापनेवाली, इस सब चराचर जगत्के खास वासस्थान चारों दिशाओंको और व्यक्त तथा अव्यक्त [illegible]को और भूतमात्रके उत्पत्तिस्थान स्थावर-जंगमको प्रकाशित किया है, बस ॥ ३ ॥

स वै एष सूर्यः उद्यन् एव एषां वीर्यं क्षत्रं तेजः आदत्ते, तस्माद् आदित्यो नाम ॥ ४ ॥ (शत० २।१।२।१८)

अर्थ—वह यह निश्चय सूर्य उदय होताहुआ ही इन सब (ओषधि, अग्नि, चन्द्रमा और नक्षत्रों=तारों)के सार, बल और तेजको ले लेता है, इसलिये उसका नाम आदित्य (लेनेवाला) है ॥ ४ ॥

यदा हि एव एष उदेति, अथ इदं सर्वं चरति (शत० १३।३।८।४)। **[प्राणो हि एष । तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा] "सूर्यः आत्मा जगतः तस्थुषश्च" (ऋ० १।११५।१) इति ॥ ५ ॥**

अर्थ—जब ही यह निश्चय उदय होता है, तब ही यह सब (स्थावर जंगम जगत्) चलने लगता है। क्योंकि यह सबका जीवन है। वह यह कहा है ऋषिने—सूर्य जंगम (चलनेवालों) और स्थावर(न चलनेवालों)का जीवन है(ऋ०१।११५।१)बस ॥५॥

उद्यन्तम् अस्तं यन्तम् आदित्यम् अभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रम् अश्नुते ॥ ६ ॥ (तै० आ० २।२)

अर्थ—उदय होतेहुए तथा अस्तको प्राप्त होतेहुए सूर्यकेसामने चिन्तन (ब्रह्मका स्मरण) करता हुआ और सन्ध्यावन्दन करताहुआ समझदार ब्राह्मण (ब्रह्मका उपासक मनुष्य) सर्वाङ्गपूर्ण कल्याण(पुत्र, पौत्र, धन, धान्यादि सुख)को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तस्माद् ब्राह्मणो अहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्याम् उपास्ते । स ज्योतिषि आ ज्योतिषो दर्शनात् । सः अस्याः कालः ॥ ७ ॥ (षड्विंशब्रा० ४।५)

अर्थ—इसलिये ब्राह्मण (ब्रह्मका उपासक मनुष्यमात्र) दिन और रात्रीकी सन्धिमें (सन्धि कालमें) सन्ध्योपासन करे। वह ज्योति(प्रकाश)में अगली ज्योतिके देखनेतक। वही इस(सन्ध्योपासन)का समय है ॥ ७ ॥

"उपस्थानम्"

(१३) अत्र एते आदित्योपस्थानमन्त्राः भवन्ति

अर्थ—यहां ये सूर्य्यकी प्रार्थनाके मन्त्र हैं—

विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः, प्रजावन्तो अनमीवाः अनागसः ।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवे दिवे, ज्योक् जीवाः प्रतिपश्येम सूर्य ! ॥१॥ (ऋ० १०।३७।७)

अर्थ—सबदिन तुझको अच्छे मनवाले, अच्छी दृष्टिवाले, प्रजा वाले, नीरोग और निष्पाप हुए हम [illegible] हे सबमित्रोंसे बढकर मित्र ! हे सूर्य ! हम सब प्राणधारी चिरंजीवी हुए दि [illegible] तिदिन) उदय होते हुए तुझको बार बार देखें ॥ १ ॥

महि ज्योतिः बिभ्रतं त्वा विचक्षण! भास्वन्तं चक्षुषे चक्षुषे मयः। आरोहन्तं बृहतः पाजसः परि, वयं जीवाः प्रतिपश्येम सूर्य!॥२॥ (ऋ० १०।३७।८)

अर्थ—हे सबको अच्छी तरह देखनेवाले! तुझ बडी ज्योति (प्रकाश) के धारण करनेवाले (बडे प्रकाशवाले), नित्य तेजवाले, आंख आंखकेलिये सुखकारी (प्राणी मात्रकी आंखोंको सुख देनेवाले)। सबसेबडे तथा बलवान् द्युलोक पर चढ़तेहुए (उदय होते हुए) को हम सब प्राणधारी हे सूर्य! बार बार देखें॥ २॥

यस्य ते विश्वा भुवनानि केतुना, प्रचेरते नि च विशन्ते अक्तुभिः। अनागास्त्वेन हरिकेश! सूर्य! अन्हाअन्हा नो वस्यसा वस्यसा उदिहि॥३॥
(ऋ० १०।३७।९)

अर्थ—जिस आपके प्रकाशसे सब प्राणी दिनमें जहां तहां विचरते और रात्रिको अपने अपने घरोंमें प्रविष्ट होते (विश्रामपाते) हैं। हे सुनहरीकेशों (रश्मियों) वाले सूर्य! वह तू हमारेलिये दिनं दिनमें (हर एक दिन) निष्पाप (आवरणरहित) रूपसे सबसे बढिये वसानेवाले (स्वास्थ्य देनेवाले) रूपसे, सबसे बढिये धन देनेवाले रूपसे उदयको प्राप्त हो॥ ३॥

शं नो भव चक्षसा शं नो अन्हा, शं भानुना शं हिमा शं घृणेन। यथा शम् अध्वन् शम् असद् दुरोणे, तत् सूर्य! द्रविणं धेहि चित्रम्॥४॥
(ऋ० १०।३७।१०)

अर्थ—दृष्टिसे हमारेलिये सुखकारी हो, दिनसे और रात्रीसे हमारेलिये सुखकारी हो, प्रकाशसे हमारेलिये सुखकारी हो, ठण्टीसे हमारेलिये सुखकारी हो, गरमीसे हमारेलिये सुखकारी हो। जिस (धन) से मार्गमें (विदेशमें) हमको सुख हो, घरमें (स्वदेशमें) हमको सुख हो, हे सूर्य! वह अद्भुत धन (स्वास्थ्य धन) हमें दे॥४॥

एक सुपर्णः समुद्रम् आविवेश, स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसा अपश्यम् अन्तितः, तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्॥५॥
(ऋ० १०।११४।४)

अर्थ—एक अच्छे पंखों (किरणों) वाला पंखी (सूर्य) अन्तरिक्ष (आकाश) में आ प्रविष्ट हुआ (उदय हुआ), वह इस सब प्राणी अप्राणी जगत्को देखता है (प्रकाशता है)। उसको पके हुए मनसे (शुद्ध एकाग्र मनसे) बहुत समीपतासे मैंने देखा, माता (भूमि) उसको चाटती (उससे वर्षा जल लेती) और वह माता (भूमि) को चाटता (उससे सब प्रकारका रस लेता) है॥ ५॥ (१३।६६)

इति स्वाध्यायसंहितायां ब्राह्मणकाण्डे प्र[illegible]ध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

"सृष्टिः"

(१) प्रजापतिः अकामयत प्रजायेय इति । स तपो अतप्यत । स तपः तप्त्वा इमाः सर्वाः प्रजाः असृजत ॥ १ ॥ (तै० ब्रा० २।३।८)

अर्थ—प्रजापतिने यह इच्छाकी मैं प्रजारूपसे प्रकट होवूं (प्रजा उत्पन्न करूं)। उसने तप तपा, उसने तप तपकर ये सब प्रजायें उत्पन्न कीं ॥ १ ॥

याः सः प्रजापतिः प्रजाः असृजत, ताः सृष्टाः समाश्लिष्यन् । ताः रूपेण अनुप्राविशत् । तस्माद् आहुः रूपं वै प्रजापतिः इति । ताः नाम्ना अनुप्राविशत् । तस्माद् आहुः नाम वै प्रजापतिः इति ॥ २ ॥ (तै० ब्रा० २।२।७)

अर्थ—उस प्रजापतिने जो प्रजायें उत्पन्न कीं, वे उत्पन्न हुई मिलीहुई थीं (आपसमें एक जैसे आकारवाली थीं, भिन्न भिन्न आकारवाली नही थीं)। उसने उन (प्रजाओं)में भिन्नभिन्न–आकारसे प्रवेशकिया (उनके आकार भिन्न भिन्न किये)। इसलिये यह कहते हैं–आकार निश्चय प्रजापति (प्रजापतिका कियाहुआ) है। उसने उनमें भिन्न भिन्न नामसे प्रवेशकिया (उनके नाम भिन्न भिन्न किये)। इसलिये यह कहते हैं–नाम निश्चय प्रजापति (प्रजापतिका कियाहुआ) है ॥ २ ॥

"एते" इति वै प्रजापतिः देवान् असृजत । "इन्दवः" इति पितॄन् । "असृग्रम्" इति मनुष्यान् । "अभिसौभगा" इति अन्याः सर्वाः प्रजाः ॥ ३ ॥ (ताण्डव० ६।९।१५)

अर्थ—एते=न मरनेसे न्यून होवो, न सन्तानसे अधिक, जितने हो, सदा इतने, इस सङ्कल्पसे निश्चय प्रजापतिने अग्निआदि देवताओंको उत्पन्न किया। इन्दवः=तुम अपनी प्रजाकेलिये चन्द्रमाकी नाईं सदा आह्लादकारक होवो, इस सङ्कल्पसे पितरोंको उत्पन्न किया। असृग्रम्–मैंने तुमको उत्पन्न किया, तुमभी आगे उत्पन्न करो, इस सङ्कल्पसे मनुष्योंको उत्पन्न किया। अभिसौभगा=तुम मनुष्योंका सब प्रकारसे उत्तम ऐश्वर्य होवो, इस सङ्कल्पसे दूसरी सब पशुआदि प्रजाओंको उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

"देवता"

(२) ब्रह्म वै इदम् अग्रे आसीत् । तद् देवान् सृष्ट्वा एषु लोकेषु व्यारोहयत् । अस्मि[illegible] के अग्निम्, वायुम् अन्तरिक्षे, दिवि एव सूर्यम् ॥ १ ॥

सं०

(शत० ११।२।३।१)

अर्थ—प्रजापति ही यह सब पहले था। उसने देवताओंको उत्पन्न करके इन लोकोंमें स्थापनकिया। इस ही (पृथिवी) लोकमें अग्निको, अन्तरिक्ष लोकमें वायुको, और द्युलोकमें निश्चय सूर्यको स्थापन किया ॥ १ ॥

ब्रह्मोद्यं वदन्ति–अग्निः गृहपतिः इति ह एके आहुः। सो अस्य लोकस्य गृहपतिः। वायुः गृहपतिः इति ह एके आहुः। सो अन्तरिक्षस्य गृहपतिः। असौ वै गृहपतिः, योऽसौ तपति। एष पतिः, ऋतवो गृहाः ॥ २ ॥

(ऐ. ब्रा० २४।६)

अर्थ—ब्रह्मवादियोंका संवाद (मिलकर वार्तालाप) कहते हैं–अग्नि गृहपति है, यह निश्चय एक (ब्रह्मवादी) कहते हैं। वह इस (पृथिवी) लोकका गृहपति है। वायु गृहपति है, यह निश्चय एक कहते हैं। वह अन्तरिक्षलोकका गृहपति है। वह (सूर्य) निश्चय गृहपति है, जो वह तपता (तप रहा) है। यह पति (स्वामी) है और ऋतुएं गृह, इसलिये सूर्य गृहपति है ॥ २ ॥

अग्निः वसुभिः, सोमो रुद्रैः, इन्द्रो मरुद्भिः, वरुणः आदित्यैः, बृहस्पतिः विश्वेदेवैः। एते ह तु एव ते विश्वे देवाः ॥ ३ ॥ (तै० सं० ६।२।२) (शत० ३।४।२।१)

अर्थ—अग्नि वसुओं (वसु देवताओं) केसाथ पृथिवीलोकमें, चन्द्रमा रुद्रोंके साथ और इन्द्र मरुतोंकेसाथ अन्तरिक्षलोकमें, वरुण आदित्योंकेसाथ और बृहस्पति विश्वेदेवोंके साथ [द्युलोकमें स्थित है]। ये ही निश्चय प्रसिद्ध वे सब देवता हैं ॥ ३ ॥

तद् इदम् अभ्यनूक्तं यजुषा–"अग्निः देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमाः देवता वसवो देवता रुद्राः देवता आदित्याः देवता मरुतो देवता विश्वेदेवाः देवता बृहस्पतिः देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥४॥

(यजु० १४।२०)

अर्थ—वह यह कहा है यजुर्वेदके मन्त्रने–अग्नि देवता है, वायु देवता है, सूर्य देवता है, चन्द्रमा देवता है, वसू देवता हैं, रुद्र देवता हैं, आदित्य देवता हैं, मरुत देवता हैं, विश्वे देव देवता हैं, बृहस्पति देवता है, इन्द्र देवता है, वरुण देवता है ॥ ४ ॥

सर्वे वै विश्वेदेवाः ॥ ५ ॥ (शत० १।७।४।२२)

अर्थ—सब देवता निश्चय विश्वेदेव हैं ॥ ५ ॥

"मनुष्य–देवताः"

(३) द्वयाः वै देवाः। देवाः अह एव देवाः। अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानाः, ते मनुष्यदेवाः ॥ १ ॥ (शत० ४।३।४।४)

अर्थ—दो प्रकारके निश्चय देवता हैं। एक जो मनुष्योंसे भिन्न निश्चय अग्नि आदि देवता हैं, वे देवता हैं। और दूसरे जो ब्राह्मण मनुष्यमात्रके सेवक (मनुष्य मात्रके सुख दुःखको सुननेकी इच्छावाले) तथा वेद आदि [illegible]द्याओंके पारङ्गत विद्वान् हैं, वे मनुष्य देवता हैं ॥ १ ॥

तेषां द्वेधा विभक्तः एव यज्ञः । आहुतयः एव देवानाम्, दक्षिणाः मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुवुषाम् अनूचानानाम् । आहुतिभिः एव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिः मनुष्यदेवान् । ते एनम् उभये देवाः प्रीताः स्वर्ग लोकम् अभिवहन्ति ॥ २ ॥ (शत० ४।३।४।४)

अर्थ—उन(दोनों प्रकारके देवताओं)की प्रसन्नताकेलिये यज्ञ कर्म दो प्रकारसे निश्चय विभक्त किया गया (बांटा गया) है । केवल आहुतियें अग्नि आदि देवताओंकी, और दक्षिणायें मनुष्य-देवताओंकी हैं, जो मनुष्यमात्रके सेवक और वेदआदि समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण हैं । यज्ञकर्ता केवल आहुतियोंसे अग्नि आदि देवताओंको प्रसन्न करे और दक्षिणाओंसे मनुष्यदेवताओंको । वे दोनों देवता आहुतियों और दक्षिणाओंसे प्रसन्न हुए इस(यज्ञकर्ता)को स्वर्गलोकमें (दुःखरहित सुखके स्थान)में पहुंचाते हैं ॥ २ ॥

एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः (तै०सं० १।७।३) **शुश्रुवांसो अनूचानाः** (शत० २।४।३।१४) **[तद् उ अपरे आहुः] विद्वांसो हि देवाः** (शत० ३।७।३।१०) **[प्रत्यक्षम] ॥ ३ ॥**

अर्थ—ये निःसन्देह प्रत्यक्ष देवता हैं, जो ब्राह्मण, मनुष्यमात्रके सेवक और वेद आदि समस्तविद्याओंके पारंगत विद्वान् हैं । उसमें (प्रत्यक्ष देवताओंके विषयमें) निश्चय दूसरे (ऋषी) यह कहते हैं कि विद्वान् ही निश्चय प्रत्यक्ष देवता हैं ॥ ३ ॥

पितरो देवाः (अथर्व० ६।१२३।३) । **यत्र इदम् उक्तम् ऋषिणा—"देवाः । भवत वाजिनः"** (ऋ० १।२३।१९) **इति ॥ ४ ॥**

अर्थ—पितर (माता पिता पितामह, प्रपितामह आदि सब आदरणीय मनुष्य) प्रत्यक्ष देवता हैं । जिनके विषयमें ऋषिने यह कहा है—हे देवो ! (पितरो !) आप सदा बलवान होवें, बस ॥ ४ ॥

गृहाणां ह पितरो ईशते । पितरो नमस्याः ॥ ५ ॥ (शत० २।६।१।४२)
(शत० १।५।३।३)

अर्थ—पितर (माता, पिता, पितामह आदि) निःसन्देह घरोंके स्वामी(मालिक) हैं। पितर 'सायं प्रातः सदा' नमस्कारके योग्य हैं ॥ ५ ॥

अत्र पितृभक्तानां गृहमेधिनाम् एते मन्त्राः भवन्ति—

अर्थ—यहां पितृभक्त (पितरोंके भक्त) गृहस्थियोंके ये मंत्र हैं—

अक्षन् पितरः ! अमीमदन्त पितरः ! अतीतृपन्त पितरः !, पितरः ! शुन्धध्वम् ॥ ६ ॥ (यजु० १९।३६)

अर्थ—हे पि[illegible] थारुचि खाओ, हे पितरो ! सदा प्रसन्न रहो, हे पितरो ! सदा तृप्त-रहो, हे सं० [illegible] को सदा अपने दर्शनोंसे पवित्र करो ॥ ६ ॥

पुनन्तु मा पितरः! सोम्यासः, पुनन्तु मा पितामहाः! पुनन्तु प्रपितामहाः! पवित्रेण शतायुषा, विश्वम् आयुः व्यश्नवै ॥ ७ ॥ (यजु० १९।३७)

अर्थ—हे सोमपानके योग्य आह्लाद(आनन्द)मूर्ति पितरो! मुझे अपने पवित्र दर्शनोंसे पवित्र करें, हे पितामहो! मुझे अपने पवित्र उपदेशोंसे पवित्र करें, हे प्रपितामहो! मुझे अपनी पवित्र सौ–बरसकी आयुसे (आयुभरके पवित्र आचरणोंसे) पवित्र करें, हे पितरो! हे पितामहो! हे प्रपितामहो! हम आपके आशीर्वादसे सब आयुको प्राप्त होवें (पूरी सौ–बरसकी आयुको भोगें) ॥ ७ ॥

नमो वः पितरो! रसाय, नमो वः पितरः! शोषाय, नमो वः पितरो! जीवाय, नमो वः पितरः! स्वधायै, नमो वः पितरो! घोराय, नमो वः पितरो! मन्यवे, नमो वः पितरः!, पितरो! नमो वः, गृहान् नः पितरो! दत्त, सतो वः पितरो! देष्म, एतद् वः पितरो! वासः आधत्त ॥ ८ ॥ (तै० सं० ३।२।५)
(यजु० २।३२)

अर्थ—हे पितरो! सांसारिक–सुखोपभोगकेलिये (आपके आशीर्वादसे हमको सांसारिक सुखका उपभोग भलेप्रकार प्राप्तहो, इसलिये) आपको नमस्कार है, हे पितरो! शत्रुओंके बलको शुष्क करनेकेलिये (आपके आशीर्वादसे हमारा तेज शत्रुओंके बलको शुष्क करनेवाला हो, इसलिये) आपको नमस्कार है, हे पितरो! भले जीवनकेलिये (आपके आशीर्वादसे हमारा जीवन भला हो, इसलिये) आपको नमस्कार है, हे पितरो! अन्नकेलिये (आपके प्रसादसे अतिथियोंके सत्कारयोग्य हमारे घरोंमें प्रभूत अन्न हो, इसलिये) आपको नमस्कार है, हे पितरो! भयङ्कर–रूपकेलिये (आपकी करुणासे दुष्टोंकी दुष्टता दूर करनेकेलिये हमारा रूप भयङ्कर हो, इसलिये) आपको नमस्कार है, हे पितरो! क्रोधकेलिये (आपके अनुग्रहसे हममें उचित क्रोध हो, इस लिये) आपको नमस्कार है, हे पितरो! हम में सदा उदारबुद्धि हो, इसलिये आपको नमस्कार है, हे पितरो! आपके अनन्त उपकारोंकेलिये आपको नमस्कार है, हे पितरो! आप हमको कुलीन और योग्य गृहणियां (स्त्रियां) दें, जिससे हम हे पितरो! आपको श्रेष्ठ पदार्थ (रस्य, स्निग्ध और पुष्टि, बल तथा वीर्यकेवर्धक खाद्य–पदार्थ) यथासमय देसकें, हे पितरो! यह उत्तम पदार्थोंसहित श्रेष्ठ (स्वदेशी) वस्त्र आपके ओढनेकेलिये है, ग्रहण (स्वीकार) करें ॥ ८ ॥ (३।१६)

इति स्वाध्यायसंहितायां ब्राह्मणकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

"क्षुधा"

(१) प्रजापतिः प्रजाः असृजत । ताः सृष्टाः क्षुधं न्यायन् ॥ १ ॥

(तै० सं० ७।२।४)

अर्थ—प्रजापति (ब्रह्म)ने देवें आदि प्रजाओंको उत्पन्न किया । वे उत्पन्न हुई सब प्रजायें क्षुधा(भूख)को प्राप्त हुईं (उनको भूख लगी) ॥ १ ॥

ताः वै प्रजापतिम् उपासीदन् 'वि नो धेहि, यथा जीवाम' इति ॥ २ ॥

(शत० २।४।२।१)

अर्थ—अब वे सब प्रजायें निश्चय प्रजापतिके पास आईं, और यह कहा हमें इसप्रकार खानेकी आज्ञा करें, जिसप्रकार हम जीवें (पूरी आयु भोगें) ॥ २ ॥

[प्रातर् उपासीदत इति ह उवाच] । ततो देवाः एनम् उपासीदन् । तान् अब्रवीद् 'यज्ञो वो अन्नम्, अमृतत्वं वः, ऊर्ग् वः, सूर्य्यो वो ज्योतिः' इति ३

(शत० २।४।२।१)

अर्थ—प्रातः(कल सुबह)मेरेपास आओ, यह उनको प्रसिद्ध प्रजापतिने कहा । तब(प्रातः)अग्निआदि देवता इस(प्रजापति)के पास आये । उनको प्रजापतिने यह कहा—यज्ञ (यज्ञमें दीहुई आहुति) आपका अन्न है, न मरना आपको, रस (पदार्थोंका सार) आपको और सूर्य आपकी ज्योति (आपको प्रकाश देनेवाला) है ॥ ३ ॥

अथ एनं मनुष्याः उपासीदन् । तान् अब्रवीत् 'सायं प्रातर् वो अशनं, प्रजाः वः, मृत्युः वः, अग्निः वो ज्योतिः' इति ॥ ४ ॥ (शत० २।४।२।३)

अर्थ—अब मनुष्य इस(प्रजापति)के पास आये । उनको यह कहा—साँझ सुवेले आपको भोजन, प्रजायें (पुत्र पौत्र आदि प्रजायें) आपको, मरना आपको, और अग्नि आपकी ज्योति है ॥ ४ ॥

अथ एनं पशवः उपासीदन् । तेभ्यः स्वैषम् एव चकार 'यदा एव यूयं कदा च लभाध्वै, य(दि) [illegible]काले यदि अनाकाले, अथ एव अश्नाथ' इति । तस्माद् एते य[illegible]ा च लभन्ते, अथ एव अश्नन्ति ॥५॥ (शत० २।४।२।४)

अर्थ—अब पशू इस (प्रजापति) केपासआये उनकेलिये स्वेच्छाका ही इस प्रकार विधान किया कि जब ही कभी निश्चय तुम लभो (पाओ), चाहे खानेका समय हो, चाहे न समय हो, तब ही खाओ। इसलिये ये (पशू) जब ही कभी निश्चय पाते (लभते) हैं, तब ही खाते हैं ॥ ५ ॥

ताः इमाः प्रजाः तथा एव उपजीवन्ति, यथा एव आभ्यः प्रजापतिः व्यदधात् । न एव देवाः अतिक्रामन्ति, न पशवः, मनुष्याः एव एके अतिक्रामन्ति ॥ ६ ॥ (शत० २।४।२।५-६)

अर्थ—वे ये सब प्रजायें वैसे ही खाना खातीहैं, जैसे ही इनकेलिये प्रजापतिने विधान (आज्ञा) किया है । नही निश्चय देवता उलांघते हैं, न पशू, एक मनुष्य ही उलांघते (प्रजापतिके विधानका उल्लंघन करते) हैं ॥ ६ ॥

तस्माद् यो मेद्यति, अशुभे मेद्यति, विहूर्च्छति हि, नहि अयनाय चन भवति । अनृतं हि कृत्वा मेद्यति । तस्माद् उ सायं प्रातर् आशी एव स्यात् ॥ ७ ॥ (शत० २।४।२।६)

अर्थ—इसलिये जो (मनुष्य) मेद (चरबी) को बढाता है (प्रजापतिके विधान का उल्लंघन करके अपना शरीर पुष्ट करता है) वह अशुभ (आज्ञाभंगरूपी पाप) में वर्तमान हुआ मेदको बढाता है, वह निःसन्देह आयुको घटाता है । वह कभी पूर्ण आयु पानेकेलिये नही समर्थ होता है । क्योंकि वह प्रजापतिके विधानको झूठा करके मेदको बढाता है । इसलिये निश्चय सांझ सुवेरे खानेवाला ही होवे ॥ ७ ॥

स यो ह एवं विद्वान् सायं प्रातर् आशी भवति, सर्वं ह एव आयुः एति ॥८॥ (शत० २।४।२।६)

अर्थ—वह जो कोई निश्चय ऐसा जानता हुआ सांझ सुवेरे खानेवाला होता है, निःसन्देह सब (पूर्ण) ही आयुको प्राप्तकरता (भोगता) है ॥ ८ ॥

क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः । मध्यं वै क्षुधो रूपम् । मध्यन्दिनो मनुष्याणाम् ॥ ९ ॥ (तै० सं० १।६।७) (तै० सं० ६।२।५) (शत० २।४।२।८)

अर्थ—भूख ही निश्चय मनुष्यका शत्रु है । दिनका मध्यभाग निःसन्देह भूखका स्वरूप (भूखके बढनेका समय) है । और दिनका मध्यभाग (१० से १२ बजेतक) ही मनुष्योंके खानेका काल है ॥ ९ ॥

"अन्नम्"

(२) अन्नाद् वै अशनाया निवर्तते, पानात् पिपासा ॥ १ ॥ (शत० १०।२।६।१९)

अर्थ—अन्नसे निश्चय भूख निवृत्त होती है और पानीसे प्यास ॥ १ ॥

अन्नं वै सर्वेषां भूतानाम् आत्मा । यो हि एव अ[illegible]त्ति, स प्राणिति २ (गो० [illegible] ात० ७।५।१।१६)

अर्थ—अन्न निश्चय सब प्राणियोंका प्राण (जीवन) है। क्योंकि जो प्राणी निश्चय अन्न को खाता है, वह जीता है ॥ २ ॥

तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा–"अन्नं प्राणम् अन्नमपानमाहुः, अन्नं मृत्युं तद् उ जीवातुमाहुः । अन्नं ब्रह्माणो जरसं वदन्ति, अन्नम् आहुः प्रजननं प्रजानाम्" (तै० ब्रा० २।८।८) **इति ॥ ३ ॥**

अर्थ—वह यह कहा है ऋषिने–अन्नको प्राण (श्वास) और अन्नको अपान (प्रश्वास) कहते हैं, अन्नको ही मारनेवाला और उस (अन्न) को ही जीवानेवाला कहते हैं। अन्नको वेदवेत्ता विद्वान् जरा अवस्थाका कारण कथन करते हैं, और अन्नकोही प्रजाओं (पुत्र पौत्र आदि प्रजाओं) का उत्पन्न करनेवाला कहते हैं, बस ॥ ३ ॥

प्राणम् अन्नेन आप्यायस्व। प्राणो हि भूतानाम् आयुः ॥ ४ ॥

(तै० आ० १०।३६) (तै० आ० ३।१)

अर्थ—हे मनुष्य ! तू प्राण (जीवन) को अन्नसे बढा (लम्बाकर)। प्राण (जीवन) ही प्राणियोंकी आयु है ॥ ४ ॥

"अन्नाद्यम्"

(३) तद् वै पयः एव अन्नं मनुष्याणाम् । एतद् हि अग्रे प्रजापतिः अन्नम् अजनयत् ॥ १ ॥ (शत० २।५।१।६)

अर्थ—वह (भूखका निवृत्त करनेवाला) निश्चय दूध ही मनुष्योंका अन्न (मुख्य अन्न) है। क्योंकि सबसे पहले प्रजापतिने इस (दूध) अन्नको ही उत्पन्न किया है ॥१॥

एष ओषधीनां रसः, यत् पयः । श्रीः हि पयः । पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति ॥ २ ॥ (शत० १२।८।२।१३) (शत० १२।७।३।१३) (शत० २।५।१।१५)

अर्थ—यह ओषधियोंका सार है, जो दूध है। शरीरका ऐश्वर्य (शरीरको सुन्दर और बलिष्ठ बनानेवाला) निःसन्देह दूध है। दूधसे (दूध पीनेसे) निश्चय प्रजायें (सुन्दर प्रजायें) उत्पन्न होती हैं ॥ २ ॥

परमं वै एतत् पयः, यद् अजाक्षीरम् ॥ ३ ॥ (तै० सं० ५।१।१७)

अर्थ—सब दूधोंसे बढकर निश्चय यह दूध है, जो बकरीका दूध है ॥ ३ ॥

सुरभि घृतं मनुष्याणाम्, नवनीतं गर्भाणाम् । आयुः वै घृतम् [प्राणो नवनीतम्] ॥ ४ ॥ (ऐ० ब्रा० १।३) (तै० सं० २।३।११)

अर्थ—गौका घी मनुष्योंका और मक्खन बच्चोंका [सब अन्नोंसे बढकर] अन्न है। आयु (आयुको बढानेवाला) निश्चय घी और जीवन (जीवनदाता) मक्खन है ॥ ४ ॥

अन्नं वै गोधूमाः । एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यद् ओदनः ॥ ५ ॥

(शत० ५।२।१।१२) (अथर्व० ११।५।१)

अर्थ—अन्न निश्चय गेहूं हैं। यह निःसन्देह शरीरके अंगोंको वज्रसमान बान्धनेकी साम   है, जो ओदन (चावल) है ॥ ५ ॥

सं०

"परमान्नाद्यम्"

(४) एतद् उ ह वै परमम् अन्नाद्यं, यत् मांसम् । स परमस्य एव अन्नाद्यस्य अत्ता* भवति (भवेत्) ॥ १ ॥ (शत० ११।७।१।३)

अर्थ—यह अति प्रसिद्ध निश्चय सब अन्नोंसे बढकर अन्नाद्य (खानेयोग्यअन्न) है, जो मांस है । वह (वेदका माननेवाला समझदार मनुष्य) इस सबसे बढिये अन्नाद्यका ही खानेवाला होवे ॥ १ ॥

मांसं माननं वा, मानसं वा, मनो अस्मिन् सीदति इति वा । (निरु० ४।३)। **यत्र इदम् उक्तम् ऋषिणा—"न्यूङ्खयन्ते अधि पक्के आमिषि"** (ऋ०१०।९४।३) **इति ॥ २ ॥**

अर्थ—मांस इसलिये कि मान(आदर)केयोग्य है, अथवा मनवालों (मनस्वी पुरुषों)को ग्रहणीय (ग्रहणकरने योग्य) है, अथवा यह कि मन इस(मांस)में बैठता (अच्छीतरह रमता) है । जिस पर यह कहा है ऋषिने–झूलते हैं पकेहुए मांस पर बैठेहुए आर्योंकी नाईं, बस ॥ २ ॥

त्रयो ह वाव पशवो अमेध्याः दुर्वराहः ऐडकः श्वा । (शत० १२।४।१।४)। **तस्माद् एतेषां न अश्नीयात् ॥ ३ ॥** (ऐ० ब्रा० ६।८)

अर्थ—तीन प्रसिद्ध निश्चय पशु यज्ञके अयोग्य (अपवित्र) हैं, गाओंका सूर, गाओंका भेडा और कुत्ता । इसलिये इनका मांस न खाये ॥ ३ ॥

धेन्वै च अनडुहश्च न अश्नीयात्, धेन्वडुहौ वै इदं सर्वं बिभृतः ॥ ४ ॥ (शत० ३।१।२।२१)

अर्थ—गौ और निश्चय बैल, दोनोंका मांस न खाये । क्योंकि गौ और बैल, दोनों निःसन्देह इस सब(मनुष्यजाति)का पालन-पोषण करते हैं ॥ ४ ॥

"असिच्छिन्नम्"

(५) वज्रो वै असिः । असिना अभिनिदधाति ॥ १ ॥ (शत० ३।८।२।१२)

अर्थ—इन्द्र (परमऐश्वर्यवान् परमात्मा)का शस्त्र निश्चय असि (तलवार) है । असि(तलवार)से काटे (एकही झटकेसे सिरको काटकर सामने भूमिपर रखे) ॥ १ ॥

---

*प्राणस्य अन्नम् इदं सर्वं, प्रजापतिः अकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव, सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ १ ॥
चराणाम् अन्नम् अचराः, दंष्ट्रिणामपि अदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां, शूराणां चैव भीरवः ॥ २ ॥
न अत्ता दुष्यति अदन् आद्यान्, प्राणिनो अहनि अहनि अपि ।
धात्रा एव सृष्टाः हि आद्याश्च, प्राणिनो अत्तारः एव च ॥ ३ ॥
[illegible]।२८-२९-३०)

सा या प्रज्ञाता अश्रिः, तया अभिनिदधाति, तया अभिनिदधाति ॥२॥ (शत० ३।८।२।१२)

अर्थ—वह जो जानीहुई धारा (धारावाली असि) है, उससे काटे (झटकाये) उससे काटे (झटकाये) ॥ २ ॥ (५१२५)

इति स्वाध्यायसंहितायां ब्राह्मणकाण्डे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

"वर्णाः"

(१) प्रजापतिः यज्ञम् असृजत । यज्ञं सृष्टम् अनु द्वय्यः प्रजाः असृज्यन्त हुतादश्च अहुतादश्च । एताः वै प्रजाः हुतादो यद् ब्राह्मणाः, अथ एताः अहुतादो यद् राजन्यो वैश्यः शूद्रः ॥ १ ॥ (ऐ० ब्रा० ३४।१)

अर्थ—प्रजापतिने यज्ञ उत्पन्न किया । उत्पन्नहुए यज्ञके पीछे दोप्रकारकी प्रजायें उत्पन्न हुई —हुत(यज्ञमें दियेहुए)की खानेवालीं (दक्षिणा लेनेवालीं) और हुत कीं न खानेवालीं (दक्षिणा न लेनेवालीं किन्तु दक्षिणा देनेवालीं) । ये प्रजायें निश्चय हुतकी खानेवाली हैं जो ब्राह्मण हैं, और ये प्रजायें न हुतकी खानेवाली हैं जो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं ॥ १ ॥

चत्वारो वै वर्णाः ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः । न ह एतेषाम् एकश्चन भवति, यः सोमं वमति । स यद् ह एतेषाम् एकश्चित् स्यात्, स्याद् ह एव प्रायश्चित्तिः ॥ २ ॥ (शत० ५।५।४।९)

अर्थ—चार निश्चय वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । इन (चारोंवर्णों) मेंसे एक भी कोई ऐसा नहीं है, जो सोम 'पी कर' वमन करता है । वह जो कोई इन(चारोंवर्णों)मेंसे एक भी वमन करनेवाला होता है, वह निःसन्देह अवश्य ही प्रायश्चित्ती होती है ॥ २ ॥

एतावद् वै इदं सर्वं, यावद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः । मानव्यो हि एताः सर्वाः प्रजाः ॥ ३ ॥ (शत० १४।४।२।२७) (शत० ४।२।२।१४) (तै० सं० ५।१।५)

अर्थ—इतना ही यह सब मनुष्यवर्ग है, जितना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र है । ये स[illegible] सं० [illegible]य मनुकी सन्तान हैं ॥ ३ ॥

"ब्राह्मणः"

(२) ब्रह्ममुखाः वै प्रजापतिः प्रजाः असृजत । (तै० सं० ५।२।७) **प्रजापतिः वै मनुः । स हि इदं सर्वम् अमनुत । ब्रह्म वै ब्राह्मणः ॥ १ ॥**
(शत० ६।६।१।१९) (शत० १३।१।५।३)

अर्थ—प्रजापतिने निश्चय ये सब प्रजायें ब्रह्मप्रधान (ब्राह्मणप्रधान) उत्पन्न कीं। प्रजापति प्रसिद्ध मनु है । उसने ही यह सब (वर्णविभाग) उचित समझा । ब्रह्म यहां निश्चय ब्राह्मण है ॥ १ ॥

ब्राह्मणो वै आर्षेयः सर्वाः देवताः । (शत० १२।४।४।६) **यावतीः वै देवताः, सर्वाः ताः वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यात् न अश्लीलं कीर्तयेद् । एताः एव देवताः प्रीणाति २**
(तै० आ० २।१५)

अर्थ—ऋषिसन्तान (वेद आदि समस्तविद्याओंके पारंगत विद्वान्का पुत्र) ब्राह्मण (वेद आदि समस्त विद्याओंका पारंगत विद्वान्) निःसन्देह सब देवता (सब देवताओंका वासस्थान) है । जितने निश्चय देवता हैं, वे सब वेदविद् (वेद आदि समस्त विद्याओंके पारंगत) ब्राह्मण(आर्षेय ब्राह्मण)में बसते (रहते) हैं । इसलिये वेदविद् ब्राह्मणोंको दिन दिनमें (प्रतिदिन सायंप्रातः) नमस्कार करे, अशुभवचन न कहे । वह (नमस्कार करनेवाला) निःसन्देह इन सब देवताओंको "जो वेदविद् ब्राह्मणमें निवास करते हैं" प्रसन्न करता है ॥ २ ॥

ब्राह्मणो वै प्रजानाम् उपद्रष्टा । (तै० ब्रा० २।१।१) **यद् ब्राह्मणाय अध्याह आत्मने तद् अध्याह, यद् ब्राह्मणाय पराह आत्मानं तत् पराह । तस्माद् ब्राह्मणो न परोच्यः ॥ ३ ॥** (तै० सं० २।५।११)

अर्थ—ब्राह्मण निश्चय सब प्रजाओंकी देख रेख रखनेवाला (रखवाला) है । ब्राह्मणकेलिये जो आदरवचन कहता है, अपनेलिये निःसन्देह वह आदरवचन कहता है। ब्राह्मणकेलिये जो अनादरवचन कहता है, अपनेको वह 'अनादरवचन' कहता है । इसलिये ब्राह्मणको न अनादरवचन कहे ॥ ३ ॥

ये वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानाः ते विप्राः । (शत० ३।५।३।१२) **ये वै अनूचानाः ते कवयः ।** (ऐ० ब्रा० २।२) **यो वै ज्ञातः अनूचानः स ऋषिः आर्षेयः ॥ ४ ॥** (शत० ४।३।४।१९)

अर्थ—जो निश्चय ब्राह्मण मनुष्यमात्रके सेवक (प्रजामात्रके सुख दुःखको सुननेकी इच्छावाले) वेद आदि समस्त विद्याओंके पारंगत हैं, वे विप्र (मेधावी) हैं। जो निश्चय वेद आदि समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान् हैं, वे कवि (ऋषी) हैं । जो निश्चय पिता पितामह-आदिसे ज्ञात है (जिसके पिता, पि[illegible] वेदआदि समस्त

विद्याओंके पारंगत विद्वान् प्रसिद्ध हैं) और स्वयं वेद आदि समस्त विद्याओंका पारंगत विद्वान् है, वह ऋषि है, ऋषिपुत्र है ॥ ४ ॥

न ब्राह्मणो म्लेच्छेत् (शत० ३।२।१।२४) **[न राक्षसीं वाचं वदेत्] । यां वै दृप्तो वदति, याम् उन्मत्तः, सा राक्षसी वाक् ॥ ५ ॥** (ऐ० ब्रा० ६।७)

अर्थ—ब्राह्मण न अपशब्द बोले, न राक्षसी बाणी बोले। जिस(वाणी)को निःसन्देह गर्वित हुआ बोलता है और उन्मत्त(पागल)हुआ जिस बाणीको कहता है, वह राक्षसी वाणी है ॥ ५ ॥

एष तमः प्रविशति, एतं वा तमः प्रविशति, यो अयज्ञियाब् यज्ञेन प्रसजति । (शत० ५।३।२।२।) **[तस्माद् ब्राह्मणेन न अयज्ञियः] न पापः पुरुषो याज्यः ।** (ऐ० ब्रा० १९।३) **विपंतितलोम इव हि पापः पुरुषो भवति ॥६॥** (शत० १।५।५।५)

अर्थ—यह (ब्राह्मण) अन्धकार(अज्ञान)में प्रवेश करता है, अथवा इस (ब्राह्मण)में अन्धकार (अज्ञान) प्रवेश करता है, जो यज्ञके अनधिकारियोंको यज्ञसे जोडता (यज्ञ कराता) है । इसलिये ब्राह्मण न यज्ञानधिकारी पुरुषको और न पापी पुरुषको यज्ञ कराये । भूमिपर पडेहुए बालोंकी नाई निश्चय पापी पुरुष होता है ॥ ६ ॥

"क्षत्रियः"

(३) ब्रह्म वै इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव । तद् एकं सत् न व्यभवत् । तत् श्रेयो रूपम् असृजत क्षत्रम् । तस्मात् क्षत्रात् परं न अस्ति ॥ १ ॥ (शत० १४।४।२।२३)

अर्थ—ब्रह्म ही यह सब पहले था एक अद्वितीय । वह अकेला होनेसे न ऐश्वर्य्यको(विभव)को प्राप्त हुआ । उसने ऐश्वर्यकेलिये सबसे बढिया वर्ण क्षत्रिय उत्पन्न किया । इसलिये क्षत्रियसे बढियाँ दूसरा कोई वर्ण नहीं है ॥ १ ॥

अत्ता वै क्षत्रियः, अन्नं विट् । यत्र वै अत्तुः अन्नं भूयो भवति, तद् राष्ट्रं समृद्धं भवति ॥ २ ॥ (शत० ६।१।२।२५)

अर्थ—भोक्ता निःसन्देह क्षत्रिय और भोग्य सब प्रजा है । जब निश्चय भोक्ता (क्षत्रिय)का भोग्य (समस्त प्रजा) बहुत अधिक (शरीरसे, सन्तानसे और धनधान्यसे परिपूर्ण) होता है, तब राज्य समृद्धि(सब प्रकारकी बढती)को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

यद् ह किं च कर्म कुरुते [क्षत्रियः] अप्रसूतं ब्रह्मणा, न ह एव अस्मै तत् समृध्यते । तस्माद् उ क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेन उपसर्तव्यः एव ब्राह्मणः । सं ह एव अस्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म ऋध्यते ॥३॥ (शत० ४।१।४।६)

अर्थ—जो कोई भी निश्चय ब्राह्मण (वेद आदि समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान्)से अप्रे[illegible] अनुमति दिया हुआ) कर्म (राज्यसम्बन्धी कर्म) क्षत्रिय

(राष्ट्रपति क्षत्रिय) करता है, निःसन्देह इस(क्षत्रिय)केलिये वह (कर्म) कदापि नहीं बढिये फलवाला होता है। इसलिये निश्चय कर्म (कोई भी राज्यकर्म)करनेवाले हुए क्षत्रियने अवश्य ब्राह्मणके समीप जाना (ब्राह्मणसे पूछना) चाहिये। निःसन्देह ब्राह्मणसे अनुमति दियाहुआ वह कर्म इस(क्षत्रिय)केलिये अवश्य ही बढिये फलवाला होता है ३

"ब्राह्मणक्षत्रियौ"

(४) धृतव्रतो वै राजा। न वै एष सर्वस्मै इव वदनाय, न वै सर्वस्मै इव कर्मणे। यद् एव साधु वदेद् यत् साधु कुर्यात् तस्मै वै। एष च श्रोत्रियश्च। एतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ ॥ १ ॥ (शत० ५।४।४।५)

अर्थ—दृढव्रतवाला निश्चय क्षत्रिय होता है। निःसन्देह यह सब ही कुछ(भला, बुरा)बोलनेकेलिये नहीं है, और न सब ही कोई कर्म करनेके लिये है। जो ही भला (प्रिय और हित) बोले, जो भलाकर्म (हित कर्म) करे, निःसन्देह उसकेलिये है। यह (क्षत्रिय) और जो निश्चय वेद आदि समस्त विद्याओंका पारंगत विद्वान् है, वे ये दोनों ही निःसन्देह मनुष्योंमें दृढव्रतोंवाले हैं ॥ १ ॥

इष्टापूर्ते वै ब्राह्मणस्य, युद्धं वै क्षत्रियस्य वीर्यम्। (शत० १३।१।५।६) **[ताभ्यां हि तौ उभौ श्रियम् अश्नुवाते] तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा–"इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उभे श्रियम् अश्नुताम्"** (यजु० ३२।१६) **इति ॥ २ ॥**

अर्थ—इष्ट (अग्निहोत्र आदि कर्म) और पूर्त(अनाथालय, विद्यालय, औषधालय, धर्मशाला आदि बनवाना कर्म) निश्चय ब्राह्मणका और युद्ध निश्चय क्षत्रियका प्रधान बल है। उन दोनोंसे ही वे दोनों ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं। वह यह कहा है ऋषिने-यह ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों निश्चय इष्टापूर्तसे और युद्धसे मेरे ऐश्वर्य्यको प्राप्त होते हैं, बस ॥ २ ॥

अत्र एतौ श्लोकौ भवतः—

अर्थ—यहां ये दो श्लोक हैं

ब्रह्मणो मम रूपे द्वे, खड्गाग्नी इति निश्चितम्।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च एव, तत्पूजाधिकृताः ध्रुवम् ॥ १ ॥

अर्थ—मुझ ईश्वरके तलवार और अग्नि, यह दो रूप निश्चित हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों ही अटल उन रूपोंकी पूजाके अधिकारी हैं ॥ १ ॥

ब्राह्मणाः अग्निरूपेण, खड्गरूपेण क्षत्रियाः।
यावत् माम् अर्चयिष्यन्ति, तावद् राज्यं सुखानि च ॥ २ ॥

अर्थ—ब्राह्मण अग्निरूपसे और क्षत्रिय तलवाररूपसे मुझे जबतक पूजते रहेंगे, तबतक राज्य और हरएक संसारिक सुख प्राप्त होगा ॥ २ ॥

"वैश्यः"

(५) स विशम् असृजत। पुष्टिः वै विशः। विशः पितरः ॥ १ ॥

(शत० १४।४।२।२४) (ऐ० आ० १।१।१) (शत० ७।१।१।४)

अर्थ—उस(प्रजापति)ने वैश्यको उत्पन्न किया। वैश्य निश्चय देशकी समृद्धि हैं। वैश्य सब प्रजाके पालक हैं ॥ १ ॥

गणतः एव विशम् अवगच्छन्ति। मारुतो हि वैश्यः ॥ २॥ (तै० सं० २।३।१)

(तै० ब्रा० २।७।२)

अर्थ—गणसे(पांच पांच, सात सातके समूहसे) ही वाणिज्य करनेवालेको वैश्य मानते(समझते)हैं। निःसन्देह मरुतों(वायुओं)के कर्मवाला (एकदेशके पदार्थोंको दूसरे देशमें पहुंचानेवाला) वैश्य है ॥ २ ॥

"शूद्रः"

(६) स शौद्रं वर्णम् असृजत ॥ १ ॥ (शत०१४।४।२।२५)

अर्थ—उस(प्रजापति)ने शूद्र वर्णको उत्पन्न किया ॥ १ ॥

ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम् ॥ २॥

(तै० ब्रा० ३।४।१)

अर्थ—वेद आदि समस्त विद्याओंकेलिये ब्राह्मणको, देशरक्षाकेलिये क्षत्रियको, मरुतों(वायुओं)के कर्मकेलिये (एकदेशके पदार्थोंको दूसरे देशमें पहुचानेकेलिये) वैश्यको और शरीरसाध्य शुश्रूषादि कर्मोंसे तपने(थकने)केलिये शूद्रको उत्पन्न किया है ॥ २ ॥

अथ हविष्कृतम् उद्वादयति। तानि वै एतानि चत्वारि वाचः। एहि इति ब्राह्मणस्य, आगहि आद्रव इति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्च, आधाव इति शूद्रस्य ॥ ३ ॥ (शत० १।१।४।१२)

अर्थ—अब देवान्नके बनानेवाले(पकानेवाले)को बुलाये। वे ये निश्चय बुलानेके शब्द चार हैं, एहि=आ, यह ब्राह्मणका (ब्राह्मणको बुलानेका), आगहि यह क्षत्रियका, और आद्रव यह वैश्यका और आधाव यह शूद्रका (शूद्रको बुलानेका) शब्द है ॥ ३ ॥

अत्र एष मन्त्रः समाम्नायते—"ब्राह्मणो अस्य मुखम् आसीद्, बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तद् अस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत" (ऋ० १०।९०।१२) **इति ॥ ४ ॥**

अर्थ—यहां यह मन्त्र पढाजाता है—ब्राह्मण इसका मुख कल्पित हुआ, दोनों भुजा क्षत्रिय कल्पना कियागया। इसकी दोनों रानें वह कल्पित हुआ, जो वैश्य है, और पाओंरूपसे (पाओं) शूद्र कल्पित हुआ। बस ॥ ४ ॥ (६।२१)

इति स्वाध्यायसंहितायां ब्राह्मणकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

गृहस्थाश्रमः।

"पुरुषः=मनुष्यः"

(१) नव वै पुरुषे प्राणाः (तै० ब्रा० १।८।५)। **सप्त शीर्षन्, अवाञ्चौ द्वौ। नाभिः दशमी। प्राणाः इन्द्रियं वीर्यम् ॥ १ ॥** (शत० ६।४।२।५) (तै० ब्रा० १।८।५)

अर्थ—नौ निश्चय पुरुष(पुरुषशरीर)में प्राण हैं, सात सिर में, और दो नीचे। नाभि (नाफ) दसवीं है। प्राण इन्द्रियां अर्थात् देखने सुनने आदि की शक्तियां हैं ॥१॥

दश वै इमे पुरुषे प्राणाः, आत्मा एकादशः, यस्मिन् एते प्राणाः प्रतिष्ठिताः। एतावान् वै पुरुषः ॥ २ ॥ (शत० ३।८।१।३)

अर्थ—दस निश्चय ये पुरुष(पुरुषशरीर)में नाभिसहित प्राण हैं, और आत्मा ग्यारवां है, जिसके आश्रय(सहारे) ये सब प्राण(इन्द्रियां) ठहरेहुए हैं। बस इतना ही पुरुष (पुरुषशरीर) है ॥ २ ॥

अयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः। तद् आत्मना आत्मानं विधाय तद् एव अनुप्राविशत् ॥ ३ ॥ (ऐ० आ० २।१।३) (तै० सं० १।२३।८)

अर्थ—यह पुरुष (पुरुषशरीर) ब्रह्म(ईश्वर)का लोक(वासस्थान–रहनेका घर) है। उस(ब्रह्म)ने अपने आपसे(दूसरेकी सहायताकेविना) अपने आपको पुरुषशरीर बनाकर आप ही उसमें प्रवेश किया है ॥ ३ ॥

तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा–"शरीरं ब्रह्म प्राविशत्" (अथर्व० ११।८।३०) **इति ४॥**

अर्थ—वह यह कहा है ऋषिने "शरीरमें ब्रह्मने प्रवेश किया" बस ॥ ४ ॥

"श्वासप्रश्वासगणना"

(२) [स एष पुरुषः कतिकृत्वः प्राणिति च अपानिति च अहोरात्राभ्याम्? इति अभ्युक्त–प्रत्युक्त–श्लोकौ अत्र भवतः]। तद् एष श्लोकोऽभ्युक्तः ॥१॥

(शत० १२।३।२।७)

अर्थ—वह यह पुरुष दिन और रात, दोनोंमें कितनी बार प्राणनक्रिया करता (श्वास लेता) और कितनी बार पुनः अपाननक्रिया करता (प्रश्वास लेता) है? इसके निर्णयकेलिये यहां प्रश्न–उत्तर–रूप दो श्लोक हैं। उनमें यह श्लोक प्रश्नरूप है ॥ १ ॥

श्रमाद् अन्यत्र परिवर्तमानः, तिष्ठन् आसीनो यदि वा स्वपन् अपि । अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन, कतिकृत्वः प्राणिति च अप चाणिति ॥ २ ॥
(शत० १२।३।२।७)

अर्थ—श्रमसे विना (श्रमके सिवा) वर्तमान हुआ=खडा हुआ, बैठा हुआ अथवा सोया हुआ भी पुरुष(मनुष्य) दिन रात, दोनोंमें समरूपसे(एकजैसी) कितनी बार प्राणनक्रिया करता है, और कितनी बार पुनः अपाननक्रिया करता है? ॥ २ ॥

तद् एष श्लोकः प्रत्युक्तः—

अर्थ—उनमें यह श्लोक उत्तररूप है—

शतं शतानि पुरुषः समेन, अष्टौ शता यत् मितं तद् वदन्ति । अहो-रात्राभ्यां पुरुषः समेन, तावत्कृत्वः प्राणिति च अप चाणिति ॥ ३ ॥
(शत० १२।३।२।८)

अर्थ—पुरुष (मनुष्य) समरूपसे सौ गुणा सौ (दस हजार) और आठ सौ श्वास प्रश्वास लेता है, जो वह मापा हुआ (बडी सावधानीसे गिना हुआ) आचार्य कहते हैं । दिन रात, दोनोंमें पुरुष समरूपसे दसहजार आठसौ १०८०० प्राणनक्रिया और दसहजार आठसौ १०८०० पुनः अपानन क्रिया करता है ॥ ३ ॥

"पुरुषायुः"

(३) शतायुः वै पुरुषः । अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति ॥ १ ॥ (तै० ब्रा० १।७।६) (शत० १।९।३।१९)

अर्थ—सौ बरसकी आयुवाला निश्चय पुरुष है । कदाचित् सौ बरससे अधिक बरस भी पुरुष जीता है ॥ १ ॥

यः एव शतं वर्षाणि जीवति, यो वा भूयांसि जीवति, स ह एतद् अमृतम् आप्नोति ॥ २ ॥ (शत० १०।२।६।८)

अर्थ—जो (पुरुष) निश्चय सौ बरस जीता है, अथवा जो सौबरससे अधिक-बरस जीता है, वह (पुरुष) निःसन्देह इस (शास्त्रोक्त) अमरजीवनको प्राप्त होता है ॥२॥

एतद् वाव मनुष्यस्य अमृतत्वं, यत् सर्वम् आयुः एति, वसीयान् भवति ॥ ३ ॥ (ताण्ड्य० २२।१२।२)

अर्थ—यही निश्चय मनुष्य(पुरुष)का अमरपना है; जो वह सब आयु(पूरी आयु)को प्राप्त होता है, और नीरोग होता है ॥ ३ ॥

[तद् उ वाव अपरे आहुः] प्रजाम् अनु प्रजायसे तद् उ ते मर्त्य ! अमृतम् ॥ ४ ॥ (तै० ब्रा० १।५।५)

अर्थ—उसमें (अमृतत्वके विषयमें) निश्चय दूसरे यह कहते हैं—हे मनुष्य! जो तू प्रजा(पुत्रों)के पीछे प्रजा(पौत्रों)वाला होता है, वही तेरा निश्चय अमृतजीवन अर्थात् अमरपना है ॥ ४ ॥

तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा—"प्रजाभिः अग्ने! अमृतत्वम् अश्याम्" (ऋ० ५।४।१०) इति ॥ ५ ॥

अर्थ—वह यह कहा है ऋषिने—हे अग्नि ! मैं पुत्रों पौत्रोंसे अमृतत्वको प्राप्त होवूं ॥५॥

"स्त्री"

(४) पुरुषो वै यज्ञः । अयज्ञो वै एष, यो अपत्नीकः । अर्धो वै एष आत्मनो, यत् पत्नी ॥ १ ॥ (तै० ब्रा० ३।८।२३) (तै० ब्रा० ३।३।३) (तै० सं० ६।१।८)

अर्थ—पुरुष (मनुष्य) निश्चय यज्ञ (यज्ञकर्मकेलिये) है । यह (पुरुष) निःसन्देह अयज्ञ (यज्ञकर्मके अयोग्य) है, जो पत्नी(विवाहिता स्त्री)से रहित है । क्योंकि पुरुषके शरीरका यह आधा भाग है जो पत्नी (विवाहिता स्त्री) है ॥ १ ॥

योषा वै पत्नी । [एवम् इव हि योषां प्रशंसन्ति] पृथुश्रोणिः, विमृष्टान्तरांसा, मध्ये संग्राह्या ॥ २ ॥ (शत० ३।८।२।५) (शत० १।२।३।६)

अर्थ—योषा (पुरुषकेसाथ रहनेवाली) निश्चय पत्नी है । इसप्रकार ही प्रायः योषा(स्त्री)की प्रशंसा (स्तुति) करते हैं—जिसकी श्रोणि(दोनों जङ्घोंका मूलभाग-नितम्ब-चत्तुड)विस्तृत(मोटी), दोनों कन्धोंका वीचला भाग खुलाहुआ, और मध्यमें पतली (पतले कटिभागवाली) है, वह अच्छी योषा (स्त्री) है ॥ २ ॥

[योषिति एव रूपं दधाति]। तस्माद् रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका ॥३॥ (शत० १३।१।९।६)

अर्थ—योषा(स्त्री)में ही त्वष्टा (रूपशक्ति परमात्मा)ने रूप (सौन्दर्य) रक्खा है । इसलिये सुन्दररूपवाली, युवति (जवान), मीठा बोलनेवाली और प्रेम करनेवाली योषा (स्त्री) होती है ॥ ३ ॥

योषा वै जाया । योषायै वै इमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥ ४ ॥ (शत० ३।८।२।५)

अर्थ—योषा ही जाया(पुत्री–पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्री) है । क्योंकि योषासे ही ये सब (पुत्री पुत्र आदि) प्रजायें उत्पन्न होती हैं ॥ ४ ॥

"पाणिग्रहः"

(५) प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः । सर्वं वै पूर्णम् ॥१॥ (तै० ब्रा० ३।३।१०) (शत० ५।२।३।१)

अर्थ—प्रजासे ही निश्चय मनुष्य (पुरुष) पूर्ण (पूरा) होता है । जो सब (स्त्री तथा प्रजासहित) है, वही निश्चय पूर्ण (पूरा) है ॥ १ ॥

अर्धो ह वै एष आत्मनो, यत् जाया । तस्माद् यावत् जायां न विन्दते, न एव तावत् प्रजायते । असर्वो हि तावद् भवति ॥ २ ॥ (शत० ५।२।१।१०)

अर्थ—आधा भाग है प्रसिद्ध निश्चय यह पुरुष(मनुष्य)का, जो स्त्री है । इसलिये मनुष्य जबतक स्त्रीको नहीं लेभता(नही विवाहता)है, नहीं निश्चय तबतक प्रजावाला होता है । निःसन्देह अपूर्ण ही तबतक होता है ॥ २ ॥

अथ यदा एव जायां विन्दते, अथ प्रजायते । तर्हि हि सर्वो भवति । तस्मात् जायां [विन्देत, नेद् असर्वः स्यात्] ॥ ३ ॥ (शत० ५।२।१।१०)

अर्थ—और जब निश्चय स्त्रीको लभता (विवाहता) है, तब प्रजावाला होता है । निःसन्देह तभी पूर्ण (पूरा) होता है । इसलिये पुरुष स्त्रीको लभे (विवाहे), नहो कि अपूर्ण रहे (आधा हुआ कष्टमय जीवन व्यतीत करे) ॥ ३ ॥

"स्त्रीप्रतिष्ठा"

(६) यत्र एव पतिः, तत्र एव जाया । जाया पत्नी । गृहाः वै पत्न्यै प्रतिष्ठा । तद् गृहेषु एव एनाम् एतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ १ ॥

(शत० १२।८।२।६) (शत० ३।३।१।१०)

अर्थ—जहां ही पति (पुरुष) रहे, वहां ही स्त्री रहे । जो स्त्री (विवाहिता स्त्री) है, वही पत्नी (धर्मपत्नी) है । घर ही निश्चय पत्नीकी प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठाका कारण) हैं । इसलिये घरोंमें ही इसको जो इसकी प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठाका कारण) हैं, प्रतिष्ठा-पूर्वक (आदर पूर्वक) रखे ॥ १ ॥

पत्नी हि पारिणह्यस्य ईशे ॥ २ ॥ (तै० सं० ६।२।१)

अर्थ—पत्नी (स्त्री) निःसन्देह घरके पदार्थमात्रकी ईश्वरा अर्थात् स्वामिनी है ॥२॥

स्त्री वै एषा यत् श्रीः । न वै [तस्मात्] स्त्रियं घ्नन्ति ॥३॥ (शत० ११।४।३।२)

अर्थ—स्त्री (पत्नी) निःसन्देह यह है, जो घरका ऐश्वर्य है । इसलिये घरके ऐश्वर्यकी कामनावाले मनुष्य निश्चय स्त्रीको नहीं ताडते (किसीकालमें किसीप्रकारसे भी अनादर नही करते) हैं ॥ ३ ॥

[स्त्रियो वै मासि मासि मलवद्वाससो भवन्ति । न ह वै श्रीमान् भवन्] मलवद्वाससा संवदेत्, न सह आसीत, न अस्यै अन्नम् अद्यात् ॥ ४ ॥

(तै० सं० २।५।१)

अर्थ—स्त्रियां निश्चय मास मासमें रजस्वला होती हैं । श्रीमान् (ऐश्वर्यवाला) हुआ मनुष्य निश्चय कभी रजस्वला स्त्रीकेसाथ न मुख (मुंह) जोडकर बातें करे, न उसकेसाथ एक आसन पर बैठे, और नही इसके हाथका पकाया हुआ अन्न खाये ॥ ४ ॥

"स्त्रीधर्म"

(७) अश्विनौ ह वै भिषज्यन्तौ चेरतुः । तौ सुकन्याम् (शर्यातपुत्रीं, च्यवनपत्नीम्) उपेयतुः । तौ ह ऊचतुः-सुकन्ये ! कम् इमं जीर्णि कृत्या-रूपम् उपशेषे, आवाम् अनुप्रेहि, इति । सा ह उवाच-यस्मै मां पिता अदात् न एव अहं तं जीवन्तं हास्यामि, इति [हि नः स्त्रीणां धर्मः] ॥१॥

(शत० ४।१।५।९)

अर्थ—प्रसिद्ध वैद्यराज अश्वी निश्चय औषधि करतेहुए फिरते (देशमें विचरते) थे । वे दोनों शर्यातकी पुत्री, च्यवनकी धर्मपत्नी सुकन्याके पास आये । उन्होंने निश्चय

परीक्षा बुद्धिसे सुकन्याको यह कहा 'हे सुकन्या! किसे इस अतिवृद्ध (बुड्ढे) अमंगल-रूपके पास रहती है, हमारेसाथ चल'। उसने तब यह कहा जिसको मुझे पिताने दिया है, उस जीतेको (जबतक वह जीता है, तबतक उसको) मैं निश्चय नहीं छोडूंगी, क्योंकि यही हम स्त्रियोंका धर्म है॥ १॥

"स्त्रीकर्म"

(८) तद् वै एतत् स्त्रीणां कर्म यत् [कार्पाससूत्रं] यद् ऊर्णासूत्रम् ॥१॥
(शत० १२।७।२।२१)

अर्थ—वह यह निश्चय स्त्रियोंका कर्म (कर्तव्यकर्म) है, जो कपासका सूत और जो ऊनका सूत बनाना (कातना) है॥ १॥

[एतेन ह वै मनुष्याः श्रियं गच्छन्ति, गृहाश्च नित्यं वीणावदनाः हसामुदाः भवन्ति। तस्माद् आहुः] यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति, वीणा अस्मै वाद्यते। श्रियै वै एतद् रूपं, यद् वीणा॥ २॥ (शत० १३।१।५।१)

अर्थ—इस कर्मसे (स्त्रियोंके इस कर्मसे) ही मनुष्य निश्चय ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं और घर सदा वीणाआदि बाजोंवाले तथा हंसीखेलनेके आनन्दोंवाले होते हैं। इसीलिये कहतेहैं-जब ही मनुष्य ऐश्वर्यको प्राप्त होता है, इसके घरमें वीणा (वीणा आदि) बाजा बजता है। निःसन्देह ऐश्वर्यका यह रूप (चिन्ह) है, जो वीणा (वीणा आदि बाजेका बजना) है॥ २॥

अत्र एते गृहमेधिनां गृहमन्त्राः भवन्ति—

अर्थ—यहां ये गृहमेधियोंके गृहसम्बन्धी मन्त्र हैं—

इमे गृहाः मयोभुवः, ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः। पूर्णाः वामेन तिष्ठन्तः, ते नो जानन्तु आयतः॥ ३॥ (अथर्व० ७।६२।२)

अर्थ—ये घर जो दर्शन मात्रसे (देखने हीसे) सुखके उत्पन्न करनेवाले, अन्नोंवाले, दूधवाले और सुवर्ण आदि अच्छे धनसे पूर्ण हुए (भरे हुए) खडे हैं (शोभायमान हैं), वे बाहरसे आते हुए हम गृहस्वामियोंको जानें (हमारे सुखका कारण होवें)॥ ३॥

उपहूताः इह गावः, उपहूताः अजावयः। अथो अन्नस्य कीलालः, उपहूतो गृहेषु नः॥ ४॥ (अथर्व० ७।६२।५)

अर्थ—हमारे इन घरोंमें गौआं बुलाई हुई अपने अपने समयमें आवें, भेडें और बकरियां बुलाई हुई अपने अपने समयमें आवें। और ओषधियोंका सार दूध तथा शहत, बुलाया हुआ (लानेकेलिये कहा हुआ) अपने अपने समयमें आवे॥ ४॥

सूनृतावन्तः सुभगाः, इरावन्तो हसामुदाः। अतृष्याः अक्षुध्याः स्त, गृहाः! मा अस्मद् बिभीतन॥ ५॥ (अथर्व० ७।६२।६)

अर्थ—प्यारी और सच्ची बाणीवाले (पुत्र पौत्रोंवाले), सौभाग्य (नानाविध ऐश्वर्य)-वाले, अनेक प्रकारके अन्नोंवाले, हँसीलानेके आनन्दोंवाले, प्यासोंसेरहित और भूखोंसे-रहित हे घरो! तुम सदा होवो, और हमसे (हम गृहस्वामियोंसे) किसी कालमें भी मत भयभीत अर्थात् हताश होवो ॥ ५ ॥

"पुत्रः"

(९) हरिश्चन्द्रो ह वै वैधसः ऐक्ष्वाको राजा अपुत्रः आस। [सोऽमन्यत] न अपुत्रस्य लोकोऽस्ति, सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेण एव जय्यो, न अन्येन कर्मणा, [कथं नु मे पुत्रः स्याद् इति] ॥ १ ॥

(ऐ० ब्रा० ३३।१) (शत० १४।४।३।२४)

अर्थ—हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध निश्चय वेधाका पुत्र इक्ष्वाकुवंशी राजा पुत्रसेरहित (निःसन्तान) था। उसने यह विचारा-जो पुत्ररहित है, उसका मनुष्यलोक (मनुष्यलोकका सुख) नहीं है, वह यह मनुष्यलोक (मनुष्यलोकका सुख) पुत्रसे ही जीता जाता (प्राप्त किया जाता) है, दूसरे कर्म (यज्ञ, दान, तप आदि कर्म) से नहीं, कैसे फिर मुझ अपुत्रके पुत्र हो ॥ १ ॥

तस्य ह पर्वतनारदौ गृहे ऊषतुः। स ह नारदं पप्रच्छ—
यं नु इमं पुत्रम् इच्छन्ति, ये विजानन्ति ये च न। किंस्वित् पुत्रेण विन्दते, तत् मे आचक्ष्व नारद! ॥ २ ॥ (ऐ० ब्रा० ३३।१)

अर्थ—किसी कालमें उस (हरिश्चन्द्र) के घरमें पर्वत और नारद आकर बसे (रहे)। उस (हरिश्चन्द्र) ने तब नारदसे पूछा—निःसन्देह जिस इस पुत्रकी इच्छा करते हैं वे, जो विशेष ज्ञानवाले (मनुष्य) हैं, और वे, जो विशेष ज्ञानवाले नहीं हैं। क्या कुछ पुत्रसे पिता लभता (पिताको मिलता) है, हे नारद! वह मुझे कहो ॥ २ ॥

स प्रत्युवाच—
ऋणम् अस्मिन् संनयति, अमृतत्वं च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येत् जीवतो मुखम् ॥ ३ ॥ (ऐ० ब्रा० ३३।१)

अर्थ—उसने (नारदने) आगेसे कहा (उत्तर दिया) पिता इस (पुत्र) में ऋण (ऋषिऋण, पितृऋण, देवऋण) को रखता है, और उऋण हुआ आप अमरपनको प्राप्त होता है। इसलिये वह चाहता है कि उत्पन्न हुए जीवित पुत्रका मुख देखे ॥ ३ ॥

यावन्तः पृथिव्यां भोगाः, यावन्तो जातवेदसि। यावन्तो अप्सु प्राणिनां, भूयान् पुत्रे पितुः ततः ॥ ४ ॥ (ऐ० ब्रा० ३३।१)

अर्थ—जितने सुख मनुष्यलोकमें, जितने द्युलोकमें और जितने अन्तरिक्षलोकमें प्राणियों (मनुष्यों) को प्राप्त होते हैं, उससे बहुत अधिक पिताको पुत्रमें (पुत्रके होनेमें) होते हैं ४

शश्वत् पुत्रेण पितरो, अत्यायन् बहुलं तमः। आत्मा हि जज्ञे आत्मनः, स इरावती अतितारिणी ॥ ५॥ (ऐ० ब्रा० ३३।१)

अर्थ—सदा पुत्रसे पितर (पिता, पितामह, प्रपितामह) घोर अन्धकारको (सांसारिक दुःखको) उलांघते हैं। क्योंकि पिताके शरीरका अंश ही पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह(पुत्र) अन्न(सांसारिक सुखउपभोग)से पूर्ण (भरीहुई) अच्छीतरह संसार-यात्रा सागरसे तारनेवाली (पार करनेवाली) नौका है ॥ ५ ॥

किं नु मलं किम् अजिनं, किं श्मश्रूणि किं तपः। पुत्रं ब्राह्मणाः! इच्छध्वं, स वै लोकोऽवदावदः ॥ ६ ॥ (ऐ० ब्रा० ३३।१)

अर्थ—क्या है ऐसा मैला (भगवा) वस्त्र, क्या है मृगका चर्म, क्या है लम्बी दाढी और सिरके खुले बाल, क्या है तप। हे ब्राह्मणो! पुत्रकी इच्छा करो (गृहस्थ हो कर पुत्र उत्पन्न करो), वही (पुत्र) निश्चय अनिन्दनीय लोक (लोक सुखका साधन) है ॥६॥

एष पन्थाः उरुगायः सुशेवो, यं पुत्रिणः आक्रमन्ते विशोकाः। तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च, तस्मात् ते पुत्राय मिथुनीभवन्ति ॥७॥ (ऐ० ब्रा० ३३।१)

अर्थ—यह मार्ग (लोकपरलोकरूपी मार्ग), बडा प्रशंसनीय और अच्छे सुखों-वाला है, जिस(मार्ग)को पुत्रोंवाले शोकरहित हुए(आनन्दित हुए), उलांघते हैं। उस(मार्ग)को मनुष्योंके समान पशू औ पक्षी भी देखते (जानते) हैं, इसलिये वे पुत्रकेलिये स्त्रीसे जुडते(स्त्रीकेसाथ मिलकर विशेष प्रयत्न करते) हैं ॥ ७ ॥

"पुत्रकर्म"

(१०) पुत्रम् अनुशिष्टं लोक्यम् आहुः। स यदि अनेन किञ्चिद् अक्ष्णया अकृतं भवति, तस्माद् एनं सर्वस्मात् पुत्रो मुञ्चति, तस्मात् पुत्रो नाम १ (शत० १४।४।३।२६)

अर्थ—पितासे शिक्षा पायेहुए पुत्रको लोक(लोकसुख)का साधन कहते हैं। यदि इस(पिता)से कोई भी कर्म सब साधनोंके न मिलनेसे न पूरा किया हुआ होता है, तो वह (पुत्र) उस सबसे (ऐसे सब अधूरेकर्मोंसे) इस(पिता)को छुडाता (स्वयं पूरा करके मुक्त करता) है, उसीसे (अधूरे छोडेहुए कर्मको पूरा करके पिताको छुडानेसे) पुत्र (पु=पूरा करके त्र=बचानेवाला—छुडानेवाला) नाम है ॥ १ ॥

पूर्ववयसे पुत्राः पितरम् उपजीवन्ति, उत्तरवयसे पुत्रान् पिता उप-जीवति ॥ २ ॥ (शत० १२।२।३।४)

अर्थ—पहली अवस्था(बाल्य अवस्था)में पुत्र पिताका आश्रय लेते हैं और उत्तर अवस्था(वृद्ध अवस्था)में पिता पुत्रोंका आश्रय लेता है ॥ २ ॥

अत्र एतम् आशीर्मन्त्रं पठन्ति–"अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवसि, हृदयाद् अधिजायसे। आत्मा वै पुत्र! नामासि, स जीव शरदः शतम्" (कौ० ब्रा० २।१६) **इति ॥ ३ ॥**

अर्थ—यहां पिताके इस आशीर्वाद मन्त्रको पढते हैं—हे पुत्र! तू मेरे अंग अंगसे उत्पन्न हुआ है, मेरे हृदयसे प्रकट हुआ है। तू निश्चय मेरा आत्मा ही है, वह तू सौ बरस जीउ। बस ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्याश्रमः ।

"ऋणम्"

(११) ऋणं ह वै जायते, यो अस्ति। स जायमानः एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः ॥ १ ॥ (शत० १।७।२।१)

अर्थ—वह निश्चय ऋणी ही उत्पन्न होता है, जो मनुष्य है। वह (मनुष्य) उत्पन्न होता हुआ ही (जन्मदिनसे लेकर ही) देवताओंका, ऋषियोंका, पितरोंका और मनुष्योंका ऋणी है ॥ १ ॥

स यद् एव यजेत, तेन देवेभ्यः ऋणं जायते (अपजायते निवर्तते)। तद् हि एभ्यः एतत् करोति, यद् एनान् यजते, यद् एभ्यो जुहोति ॥ २ ॥

(शत० १।७।२।२)

अर्थ—वह (मनुष्य) जो ही हवन अथवा यज्ञ करता है, उससे देवताओंका ऋण निर्वृत्त होता है। क्योंकि इनकेलिये ही वह यह सब करता है, जो इनका यज्ञ करता है, और जो इनकेलिये हवन करता है ॥ २ ॥

अथ यद् एव अनुब्रवीत, तेन ऋषिभ्यः ऋणं जायते। तद् हि एभ्यः एतत् करोति। ऋषीणां निधिगोपः" इति हि अनूचानम् आहुः ॥ ३ ॥

(शत० १।७।२।३)

अर्थ—अब जो ही वेद आदि समस्त विद्यायें पढता है, उससे ऋषियोंका ऋण निर्वृत्त होता है। क्योंकि इनकेलिये ही वह यह सब करता है। इसलिये ही वेद आदि समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वानको ऋषियोंकी निधिका रक्षक कहते हैं ॥ ३ ॥

अथ यद् एव प्रजाम् इच्छेत, तेन पितृभ्यः ऋणं जायते। तद् हि एभ्यः एतत् करोति, यद् एषां सन्तता अव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति ॥ ४ ॥

(शत० १।७।२।४)

अर्थ—अब जो ही प्रजाकी (पुत्री पुत्र उत्पन्न करनेकी) इच्छा करता (यथाविधि प्रजा उत्पन्न करता) है, उससे पितरोंका ऋण निर्वृत्त होता है। क्योंकि इनकेलिये ही वह यह सब करता है जिससे इन (पितरों) की प्रजा (प्रजातन्तु) सदा विस्तारवाली और बीचमें न टूटनेवाली होती है ॥ ४ ॥

अथ यद् एव वासयेत, तेन मनुष्येभ्यः ऋणं जायते। तद् हि एभ्यः एतत् करोति, यद् एनान् वासयते, यद् एभ्यो अशनं ददाति ॥ ५ ॥

(शत० १।७।२।५)

अर्थ—अब जो ही बसाता है (घरमें अतिथि होकर आये मनुष्योंको वास देता=रहनेकी जगह देता और खानेको अन्न देता है), उससे मनुष्योंका ऋण निर्वृत्त होता है। क्योंकि इनकेलिये ही वह यह सब करता है, जो इनको वास देता है, जो इनको खाना देता है ॥ ५ ॥

स यः एतानि सर्वाणि करोति, स कृतकर्मा, तस्य सर्वम् आप्तं, सर्वं जितम् ॥ ६ ॥ (शत० १।७।२।५)

अर्थ—वह जो मनुष्य ये सब कर्म (यज्ञ, स्वाध्याय, प्रजोत्पत्ति और अतिथिसेवा) करता है, वह (मनुष्य) सब कर्मोंको कियेहुआ होता है, उसको सब कुछ प्राप्त हुआ, और उसने सब कुछ जीत लिया (प्राप्त किया) ॥ ६ ॥

जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिः ऋणैः ऋणवा जायते (उत्पद्यते) । ब्रह्मचर्य्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः । एष वै अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी ॥ ७ ॥ (तै० सं० ६।३।१०)

अर्थ—उत्पन्न होताहुआ ही निश्चय शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, तीन ऋणोंसे ऋणवान् (ऋणी) उत्पन्न होता है, ब्रह्मचर्यसे(ब्रह्मचर्यरूपी ऋणसे) ऋषियोंका, यज्ञसे(यज्ञरूपी ऋणसे) देवताओंका, और प्रजासे(प्रजारूपी ऋणसे) पितरोंका । यह निश्चय ऋणसे रहित(ऋणको निवृत्त कियेहुआ)है, जो पुत्री (पुत्ररूपी प्रजावाला) यज्ञोंवाला और ब्रह्मचारी होकर गुरुकुलवासी है ॥ ७ ॥

"ब्रह्मचारी"

(१२) अधीहि भो ! किं पुण्यम् ? इति । ब्रह्मचर्यम् इति । किं लोक्यम् ? इति । ब्रह्मचर्यम् एव इति ॥ १ ॥ (गो० पू० २।५)

अर्थ—हे गुरो ! मुझे स्मरण करायें (उपदेश करें) कौन ऐसा सबसे बढकर पुण्य कर्म है ? ब्रह्मचर्य सबसे बढकर पुण्य कर्म है, यह गुरुने कहा । लोकसुखका साधन कर्म कौन है ? । यह शिष्यने पूछा। ब्रह्मचर्य ही लोकसुखका साधन कर्म है, यह गुरुने कहा ॥१॥

दीर्घसत्रं वै एष उपैति, यो ब्रह्मचर्यम् उपैति ॥ २ ॥ (शत० ११।३।३।१)

अर्थ—दीर्घसत्र (बहुत दिनोंमें होनेवाले सोमयज्ञ)को निश्चय वह यह (मनुष्य) करता है, जो ब्रह्मचर्यको करता है ॥ २ ॥

ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यम् उपयन् चतुर्धा भूतानि प्रविशति । अग्निं पदा, मृत्युं पदा, आचार्यं पदा, आत्मनि एव अस्य चतुर्थः पादः परिशिष्यते ॥३॥ (शत० ११।३।३।२-३)

अर्थ—शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्रह्मचर्यको करताहुआ चारभागोंसे (अपने शरीरके चार भागोंसे) भूतोंमें(अग्नि, मृत्यु, आचार्य और अपने शरीरमें) प्रवेश करता है । अग्निमें एक भागसे, मृत्युमें एक भागसे, आचार्यमें एक भागसे और अपने शरीरमें निश्चय इस(ब्रह्मचारी)का चौथा भाग रहता है ॥ ३ ॥

स यद् अग्नये समिधम् आहरति, यः एव अस्य अग्नौ पादः, तम् एव तेन परिक्रीणाति । तं संस्कृत्य आत्मन् धत्ते । स एनम् आविशति ॥४॥
(शत० ११।३।३।४)

अर्थ—वह (ब्रह्मचारी) जो अग्निकेलिये (अग्निहोत्रकेलिये) समिधा (यज्ञिय लकडी) वनसे लाता है, जो ही इस (ब्रह्मचारी) का अग्निमें एक भाग है, उसको निश्चय उससे (समिधा लानेसे) मूल्य लेलेता है। उस (एक भाग) को स्वच्छ (निर्मल) करके अपने शरीरमें रखता है। वह इसमें (इसके शरीरमें) मिलजाता है ॥ ४ ॥

अथ यद् आत्मानं दरिद्रीकृत्य अह्रीः भूत्वा भिक्षते, यः एव अस्य मृत्यौ पादः, तम् एव तेन परिक्रीणाति । तं संस्कृत्य आत्मन् धत्ते । स एनम् आविशति ॥ ५ ॥ (शत० ११।३।३।५)

अर्थ—अब जो अपनेआपको कँगाल (धनाभिमानरहित) करके निर्लज्ज होकर भिक्षा मांगता है, जो ही इसका मृत्यु (मृत्युके साधन भूख) में भाग है, उसको निश्चय उससे (भिक्षावृत्तिसे) मूल्य लेलेता है। उसको स्वच्छ करके अपने शरीरमें रखता है। वह इसमें मिलै जाता है ॥ ५ ॥

अथ यद् आचार्यवचसं करोति, यद् आचार्याय कर्म करोति, यः एव अस्य आचार्ये पादः, तम् एव तेन परिक्रीणाति । तं संस्कृत्य आत्मन् धत्ते । स एनम् आविशति ॥ ६ ॥ (शत० ११।३।३।६)

अर्थ—अब जो वह (ब्रह्मचारी) आचार्यका वचन पालन करता (आचार्यकी आज्ञा मानता) है और जो आचार्यकेलिये (आचार्यकी प्रसन्नताकेलिये) कर्म (पाठ कण्ठ करना, सत्य और प्रिय बोलना, यथासमय सन्ध्यावन्दन करना आदिकर्म) करता है, जो ही इसका आचार्यमें एक भाग है, उसको निश्चय उससे मूल्य लेलेता है। उसको स्वच्छ करके अपने शरीरमें रखता है। वह इसमें मिलै जाता है ॥ ६ ॥

न ह वै स्नात्वा भिक्षेत, [पूर्वम् एव भिक्षेत] । यस्याः एव भूयिष्ठं श्लाघेत, तां भिक्षेत, इति आहुः, तत् लोक्यम् इति ॥७॥ (शत० ११।३।३।७)

अर्थ—स्नातक हो कर निश्चय कभी न मांगे, स्नातक होनेसे पहले ही मांगे। जिस (स्त्री) की लोकमें बहुत ही श्लाघा (धर्म, आचार, उदारभाव आदिसे प्रशंसा) हो, उससे मांगे, यह आचार्य कहते हैं, और वही (ऐसी स्त्रीसे मांगना ही) लोक (शरीर) का हितकर है, यह कहते हैं ॥ ७ ॥

स यदि अन्यां भिक्षितव्यां न विन्देत्, अपि स्वाम् एव आचार्यजायां भिक्षेत । अथो स्वां मातरम् । न एनं सप्तमी अभिक्षिता अतीयात् ॥ ८ ॥
(शत० ११।३।३।७)

अर्थ—वह (ब्रह्मचारी) यदि कोई दूसरी स्त्री भिक्षा देनेयोग्य न लभे (न पाये),

तो अपने आचार्यकी स्त्रीसे ही भिक्षा मांगे । अथवा अपनी मातासे भिक्षा मांगे । इस(ब्रह्मचारी)को सातवीं स्त्री विना मांगे न छूटे ॥ ८ ॥

तम् एवं विद्वांसम्, एवं चरन्तं, सर्वे वेदाः आविशन्ति । यथा ह वै अग्निः समिद्धो रोचते, एवं ह वै स स्नात्वा रोचते, यः एवं विद्वान् ब्रह्मचर्यं चरति ॥ ९ ॥ (शत० ११।३।३।७)

अर्थ—उस इसप्रकार ब्रह्मचर्यके जाननेवालेमें, इसप्रकार ब्रह्मचर्य करनेवालेमें सब विद्यायें प्रवेश करती हैं । और जैसे निश्चय प्रज्वलित हुई अग्नि चमकती है, इसी प्रकार ही निश्चय वह(ब्रह्मचारी) स्नातक होकर चमकता है, जो इसप्रकार, ब्रह्मचर्यके अनुष्ठान (अमलमें लाने)को जानता हुआ ब्रह्मचर्य करता है ॥ ९ ॥

"ब्रह्मचारिकर्म"

(१३) ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत्, तस्मै ब्रह्मचारिणम् एव न प्रायच्छत् । सोऽब्रवीद् अस्तु मह्यम् अपि एतस्मिन् भागः इति । याम् एव रात्रिं समिधं न आहरातै इति ॥ १ ॥ (शत० ११।३।३।१)

अर्थ—ब्रह्म(प्रजापति)ने निश्चय मृत्युको ये सब प्रजायें दीं, उसे केवल (सिरफ) ब्रह्मचारीको न दिया । उस(मृत्यु)ने यह कहा मेरा भी इस(ब्रह्मचारी)में भाग(हिस्सा) हो । जिस ही रात्री (सायंकालमें) ब्रह्मचारी समिधा न लायेगा [उस रात्रीमें तेरा भाग इस ब्रह्मचारीमें होगा,] यह ब्रह्म(प्रजापति)ने कहा ॥ १ ॥

तस्माद् याम् एव रात्रिं ब्रह्मचारी समिधं न आहरति, आयुषः एव ताम् अवदाय वसति । तस्माद् ब्रह्मचारी समिधम् आहरेत् नेत्, आयुषो अवदाय वसानि इति ॥ २ ॥ (शत० ११।३।३।१)

अर्थ—इसलिये जिस ही रात्रि(सायंकाल)में ब्रह्मचारी समिधा नही लाता है, उस रात्रीमें निश्चय आयुकी समिधाको(अपनी आयुके कुछ भागको) काटकर वास करता (आचार्यकुलमें रहता) है । इसलिये ब्रह्मचारी समिधा लाये, न हो कि मैं अपनी आयुके कुछ भागको काटकर वास करूं, यह जानता हुआ ॥ २ ॥

समिधः आहृत्य च अहरहः सायं प्रातः अग्निं परिचरेत् ॥३॥ (गो० पू० २।६)

अर्थ—समिधा लाकर निश्चय प्रतिदिन (हररोज) सायं प्रातः (सांझ सवेरे) अग्निको सेवे (अग्निहोत्र करे) ॥ ३ ॥

न उपरिशायी स्यात्, न गायनः, न नर्तनः, न सरणः, न निष्ठीवेत् ॥५॥ (गो० पू० २।७)

अर्थ—गुरु(आचार्य)से ऊचे आसन पर सोनेवाला तथा बैठनेवाला न होवे, न गानेवाला, न नाचनेवाला, न इधरउधर व्यर्थ फिरनेवाला और न बारबार थूकनेवाला होवे॥५॥

"आचार्यादरः"

(१४) शिशुः वै आङ्गिरसः मन्त्रकृतां मन्त्रकृद् आसीत्। [सः अध्यापयन्] पितॄन् पुत्रकाः! इति आमन्त्रयत। तं पितरो अब्रुवन् अधर्मं करोषि यो नः पितॄन् सतः पुत्रकाः! इति आमन्त्रयसे ॥ १ ॥ (ताण्ड्य० १३।३।२४)

अर्थ—अङ्गिराका पुत्र शिशु निश्चय मन्त्रकर्ताओं(मन्त्रोंकी व्याख्या करनेवालों)में अद्वितीय मन्त्रकर्ता(मन्त्रोंकी व्याख्याकरनेवाला) था। उसने पढातेहुए अपने पितरों (ताऊ, काका, आदि बडों)को हे पुत्रो! यह कहकर बुलाया। उसको पितरोंने कहा तू अधर्म करता है, जो हमें अपने पितर हुओंको हे पुत्रो! ऐसे कहकर बुलाता है ॥ १ ॥

सोऽब्रवीत् अहं वाव पिता, यो मन्त्रकृद् अस्मि इति ॥२॥ (ताण्ड्य० १३।३।२४)

अर्थ—उस(शिशु)ने यह कहा मैं निःसन्देह पिता हूं, क्योंकि मन्त्रकर्ता (मन्त्रोंकी व्याख्या करनेवाला) हूं ॥ २ ॥

ते देवेषु अपृच्छन्त। ते देवाः अब्रुवन् एष वाव पिता यो मन्त्रकृद् इति। तद् वै सः उदजयत् ॥ ३ ॥ (ताण्ड्य० १३।३।२४)

अर्थ—उन्होंने (पितरोंने) दूसरे विद्वानोंसे पुछा। उन विद्वानोंने ऐसे कहा यह निःसन्देह पिता है, जो मन्त्रकर्ता है। उससे (दूसरे विद्वानोंके कहनेसे) वह (शिशु) निश्चय विजयको प्राप्त हुआ (जीतगया) ॥ ३ ॥

(१५) अत्र एते श्लोकाः भवन्ति—

अर्थ—यहां ये श्लोक हैं—

यः आतृणत्ति अवितथेन कर्णौ, अदुःखं कुर्वन् अमृतं सम्प्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च, तस्मै न द्रुह्येत कतमत् चनाहं ॥ १ ॥ (निरु० २।४)

अर्थ—जो सत्यसे (सत्यब्रह्मके प्रतिपादक गुरुमन्त्रसे) कानोंको खोलता है, दुःखका अभाव (अविद्यारूपी मृत्युकी निवृत्ति) करताहुआ और विद्यारूपी अमृत देता हुआ। उस गुरु(आचार्य)को पिता और माता माने, उससे कोईभी कुछ भी न द्रोह करे ॥१॥

अध्यापिताः ये गुरुं नाद्रियन्ते, विप्राः! वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोः भोजनीयाः, तथैव तान् न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥२॥ (निरु० २।४)

अर्थ—हे बुद्धिमानो! पढायेहुए जो ब्रह्मचारी वाणीसे, मनसे और शरीरकी क्रिया(उत्थान आदि क्रिया)से गुरु(आचार्य)का नही आदर करते हैं। वे निश्चय जैसे गुरुसे पालनीय (गुरुकी कृपाका पात्र) नही होते हैं, वैसे ही गुरुसे सुना (पढा)हुआ वह सब (शास्त्र) भी उनका नही पालन करता है ॥ २ ॥

विद्या ह वै ब्राह्मणम् आजगाम, गोपाय मा शेवधिः ते अहम् अस्मि। असूयकाय अनृजवे अयताय न मा ब्रूयाः, वीर्यवती तथा स्याम् ॥ ३ ॥ (निरु० २।४)

अर्थ—विद्या निश्चय वेदआदि समस्त विद्याओंकेपारंगत विद्वान्के पास आई, और आकर कहा मेरी रक्षा कर मैं तेरी निधि(खजाना) हूं । असूयावाले(झूठी निन्दाकरनेवाले)को, जो सरल(ऋजु)नही अर्थात् कुटिल है उसको और अजितेन्द्रियको मुझे न कहो (न दे), ऐसा होनेसे मैं तेरेलिये बलवती (शक्तिवाली) हूंगी ॥ ३ ॥

यम् एव विद्याः शुचिम् अप्रमत्तं, मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । यः ते न द्रुह्येत कतमत् चनाहं, तस्मै मा ब्रूयाः निधिपाय ब्रह्मन्! ॥ ४ ॥

(निरु० २।४)

अर्थ—जिसको निःसन्देह तू पवित्र (सदाचारी), अप्रमादी, मेधावी, ब्रह्मचर्यसे युक्त जाने। और जो तेरेलिये कोईभी कुछ भी न द्रोह करे, उस विद्यानिधिके रक्षकको हे विद्वान्! मुझे कहो (दे) ॥ ४ ॥

विद्यया तद् आरोहन्ति, यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणाः यान्ति, न अविद्वांसः तपस्विनः ॥ ५ ॥ (शत० १०।५।४।१६)

अर्थ—विद्यासे उस पद(पदवी)को पहुचते हैं, जहां सब कामनायें (इच्छायें) निवृत्त होजाती (पूरी होजाती) हैं। न वहां दानी जाते(पहुंचते) हैं, और नही वे तपस्वी, जो विद्वान् नही (विद्यासे रहित) हैं ॥ ५ ॥ (१५।६८)

इति स्वाध्यायसंहितायां ब्राह्मणकाण्डे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

पूर्वार्धम् ।

“यज्ञः”

(१) मनुः ह वै [प्रजापतिः] अग्रे यज्ञेन ईजे। तद् अनुकृत्य इमाः प्रजाः यजन्ते ॥ १ ॥ (शत० ११।५।२।७)

अर्थ—सबसे पहले निश्चय प्रसिद्ध प्रजापति मनुने यज्ञसे ईश्वरका पूजन किया। उसका अनुकरण कर (पीछे चलकर) ये सब प्रजायें यज्ञसे ईश्वरका पूजन करती हैं ॥१॥

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। तस्मात् मनुष्येभ्यो यज्ञं प्राह ॥ २ ॥

(गो० उ० २।१३)

अर्थ—यज्ञ निश्चय सब कर्मोंसे बढकर श्रेष्ठ कर्म है। इसीलिये सब मनुष्यों के लिये यज्ञ करना कहा है ॥ २ ॥

सर्वेषां वै एष भूतानां, सर्वेषां देवानाम् आत्मा, यद् यज्ञः । तस्य समृद्धिम् अनु यजमानः प्रजया पशुभिः ऋध्यते ॥ ३ ॥ (शत० १४।३।२।१)

अर्थ—निःसन्देह यह सब प्राणियोंका और सब देवताओं (अग्नि आदि देवताओं और मनुष्यदेवताओं)का जीवन है, जो यज्ञ है। उस (यज्ञ)की समृद्धि (सर्वाङ्गपूर्ण अनुष्ठान) से यजमान (यज्ञकर्ता) प्रजा और पशुओंसे समृद्धि (बहुतायत)को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

"हविः"

(२) हवींषि हि वै आत्मा यज्ञस्य । एतद् वै हविः अमृतं, यद् अग्निना पचन्ति ॥ १ ॥ (शत० १।६।२।३९) (शत० ६।२।१।१९)

अर्थ—हवियां ही निश्चय यज्ञका प्राण हैं। वह यह हवि, निःसन्देह अमृत है, जिसको अग्निसे पकाते हैं ॥ १ ॥

एष वाव यज्ञः, यद् आज्यम् । तस्माद् आज्यस्य एव यजेत ॥ २ ॥
(तै० सं० २।६।३) (शत० २।४।३।१०)

अर्थ—यह निश्चय यज्ञ (यज्ञका प्राण) है, जो आज्य (घी) है। इसलिये आज्यसे और हवियोंसे यज्ञ करे ॥ २ ॥

"समिधः"

(३) प्राणाः वै यज्ञस्य समिधः । नैयग्रोधः औदुम्बरः आश्वत्थः प्लाक्षः इति इध्मो भवति । एते वै गन्धर्वाप्सरसां गृहाः ॥ १ ॥
(शत० ११।५।४।१) (तै० सं० ३।४।८)

अर्थ—यज्ञका प्राण (जीवन) निश्चय समिधा (लकडियां) हैं। बड (न्यग्रोध)की लकडी, गूलर (उदुम्बर)की लकडी, पीपल (अश्वत्थ)की लकडी, और पिलाही (प्लक्ष)की लकडी, ये चारों यज्ञिय समिधा हैं। क्योंकि ये (चारों वृक्ष) निश्चय सूर्य्यरश्मियोंके विशेषरूपसे घर हैं ॥ १ ॥

ते वा पालाशाः स्युः । यदि पालाशान् न विन्देद्, अथो अपि वैकङ्कताः स्युः । यदि वैकङ्कतान् न विन्देद्, अथो अपि बैल्वाः स्युः । अथो खादिराः । एते हि वृक्षाः यज्ञियाः । तस्माद् एतेषां वृक्षाणां भवन्ति ॥२॥
(शत० १।३।३।१९।२०)

अर्थ—वे (समिधा) अथवा (चाहे) पलाश (छाक)की हों। यदि पलाशकी न मिलें, तो फिर विकङ्कतकी हों, यदि विकङ्कतकी न मिलें, तो फिर बिल्वकी हों, अथवा खदिर (खैर)की हों। ये निश्चय सब वृक्ष यज्ञके योग्य हैं। इसलिये इन्ही वृक्षोंकी समिधायें होती हैं ॥ २ ॥

"वेदिः"

(४) पृथिवी वै सर्वेषां देवानाम् आयतनम् । सा वै इयं सर्वा एव वेदिः ॥ १ ॥
(शत० १४।१।१।१) (तै० सं० ६।२।४)

अर्थ—पृथिवी निश्चय सब देवताओंका घर (रहनेका स्थान) है। इसलिये वह यह (पृथिवी) सब ही निश्चय वेदि (यज्ञानुष्ठानभूमि) है ॥ १ ॥

ताम् एतद् देवाः च पर्य्यासते, ये च इमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानाः २

(शत० १।३।३।९)

अर्थ—उस(वेदि)पर ये (अग्नि आदि) देवता निश्चय बैठते हैं, और जो ये ब्राह्मण मनुष्यमात्रके सेवक (मनुष्यमात्रके सुख दुःखको सुननेकी इच्छावाले) तथा वेद आदि समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान् हैं, वे बैठते हैं ॥ २ ॥

यत्र इदम् उक्तम् ऋषिणा—

अर्थ—जिसपर यह कहा है ऋषिने।

"प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्याः, वस्तोः अस्याः वृज्यते अग्रे अन्हाम्। वि उ प्रथते वितरं वरीयो, देवेभ्यो अदितये स्योनम्" (ऋ० १०।११०।४)**इति ३**

अर्थ—यह पहली यज्ञियवस्तु कुशा इस पृथिवी (वेदि)के ढांपनेकेलिये दिनके पूर्वभाग(पूर्वाह्न)में विधिसे काटी जाती (काटकर लाई जाती) है। और वह सबसे श्रेष्ठ बहुत फैलाकर बिछाई जाती है, जिससे देवताओंकेलिये और अदितिपुत्रों(भूमिमाताके पुत्र विद्वानों)केलिये बैठनेमें सुखदायी हो। बस ॥ ३ ॥

"ऋत्विजः"

(५) ऋत्विजो ह एव देवयजनं, ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानाः विद्वांसः ॥ १ ॥ (शत० ३।१।१।५)

अर्थ—ऋत्विज ही निश्चय देवयज्ञके साधन (बनानेवाले) हैं, वे जो ब्राह्मण मनुष्यमात्रके सेवक (सबके सुख दुःखकी बातको सुननेकी इच्छावाले) वेद आदि समस्त विद्याओंके पारंगत और आत्माके ठीक ठीक जाननेवाले हैं ॥ १ ॥

एते वै यज्ञम् अवन्ति। ब्रह्मा वै ऋत्विजां भिषक्तमः ॥ २ ॥

(शत० १।८।१।२८) (शत० १।७।४।१९)

अर्थ—ये(ऋत्विज)निश्चय यज्ञकी रक्षा करते (यज्ञको निष्फल होनेसे बचाते)हैं। ब्रह्मा (ऋत्विज) निःसन्देह, ऋत्विजोंमें सबसे बढिया वैद्य (ऋत्विजोंकी भूलसे यज्ञमें होनेवाली त्रुटियों=बीमारियोंसे यज्ञको बचानेवाला) है ॥ २ ॥

तद् इदम् उक्तम् ऋषिणा—"ऋचां त्वः पोषम् आस्ते पुपुष्वान्, गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां, यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः" (ऋ० १०।७१।११) **इति ॥ ३ ॥**

अर्थ—वह यह ऋषिने कहा है—एक (होता) ऋचाओं(ऋचा मन्त्रों)की पुष्टि (बार बार उच्चारण) करताहुआ यज्ञवेदिपर बैठता है, एक(उद्गाता) ऋचाओंमें गायत्र नामके साम (गाने)को गाता है। एक ब्रह्मा नामका ऋत्विज् यज्ञमें त्रुटिहोजानेपर उसके ठीक करनेकी विद्याको कहता है, और एक (अध्वर्यु) यज्ञकेशरीरको (स्वरूपको) बनाता है। बस ॥३॥

यत्र ब्रह्मा, तत्र एव यज्ञः श्रितः । (गो० उ० १।४) **[स हि यज्ञरथस्य, सारथिः] । यत्र इदम् उक्तम् ऋषिणा "दीर्घतमाः मामतेयो, जुजुर्वान् दशमे युगे । अपाम्* अर्थं यतीनां, ब्रह्मा भवति सारथिः"** (ऋ० १।१५८।६) **इति ॥ ४ ॥**

अर्थ—जहां ब्रह्मा है, वहां ही यज्ञ है । क्योंकि वह यज्ञरूपी रथका सारथि है । जिसके विषयमें यह ऋषिने कहा है—ममताका पुत्र दीर्घतमा अत्यन्त जीर्ण अवस्था (वृद्धावस्था)को प्राप्त हुआ अपनी आयुके दसवें युगमें (नव्वे बरससे ऊपरकी आयुमें) यज्ञकेलिये (दौष्यन्ति भरतके† राजसूय यज्ञकेलिये) ऋषियों (ऋत्विजों)के मध्यमें ब्रह्मा होता है, जो यज्ञरूपी रथका सारथि है । बस ॥ ४ ॥

ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुम् अर्हति ॥ ५ ॥ (निरु० १।८)

अर्थ—ब्रह्मा-सबविद्याओंवाला और सबविद्याओंकेमूल ब्रह्मको जाननेके योग्य होता है ॥ ५ ॥

"व्याहृतयः"

(५) ताः वै एताः पञ्च व्याहृतयो भवन्ति—ओ! श्रावय, अस्तु श्रौषट्, यज, ये यजामहे, वौषट् इति ॥ १ ॥ (गो० पू० ५।१०)

अर्थ—वे ये निश्चय पांच व्याहृतियां (यज्ञमन्त्र) हैं—ओ श्रावय १ अस्तु श्रौषट् २ यज ३ ये यजामहे ४ और वौषट् ५ । बस ॥ १ ॥

तासां वै एतासां पञ्चानां व्याहृतीनां सप्तदश अक्षराणि ॥ २ ॥
(शत० १२।३।३।३)

अर्थ—उन इन पांचों व्याहृतियोंके निश्चय सत्तरह अक्षर हैं ॥ २ ॥

"दक्षिणा"

(६) भेषजं [ह वै यज्ञस्य] दक्षिणा । तस्माद् ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति ॥ १ ॥ (शत० १२।७।१।१४) (शत० ४।३।४।२५)

अर्थ—ओषधि (निष्फलताको दूर करनेवाली) है प्रसिद्ध निश्चय यज्ञकी दक्षिणा । इसलिये ऋत्विजोंको दक्षिणा दे ॥ १ ॥

श्लेष्म वै एतद् यज्ञस्य यद् दक्षिणा । न वै अश्लेष्मा रथो वहति । अथ यथा श्लेष्मवता यं कामं कामयते तम् अभ्यश्नुते, एवम् एतेन दक्षिणावता ॥२॥
(ताण्ड्य० १६।१।१३)

अर्थ—रोगन (पालश) है निश्चय यह यज्ञरूपी रथका, जो दक्षिणा है । निःसन्देह रोगन(पालश)न कियाहुआ रथ नहीं चलता है (अभीष्ट स्थानपर पहुंचानेकेलिये समर्थ नहीं

---

*आपो हि यज्ञः (शत० ३।१।४।१५) । †(ऐ० ब्रा० ३९।९)

होता है) । अब जैसे रोगनवाले(पालश किये हुए)रथसे जिस अभीष्टस्थानको प्राप्त होना (पहुचना) चाहता है, उसको प्राप्त होता (पहुच जाता) है, ऐसे ही इस दक्षिणावाले यज्ञसे अभीष्ट फलको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

शुभो वै एताः यज्ञस्य, यद् दक्षिणाः । यद् दक्षिणावता यजते, शुभम् एव अस्मिन् दधाति ॥ ३ ॥ (ताण्ड्य० १६।१।१४)

अर्थ—ये निश्चय यज्ञको शुभ फलका दाता बनानेवाली हैं, जो दक्षिणायें हैं । जो दक्षिणावाले यज्ञसे यजन(ईश्वरका पूजन)करता है, वह शुभफलकेदेनेको निश्चय इस यज्ञमें रखता है ॥ ३ ॥

या मितदक्षिणा एव स्यात्, एष एव कार्यः ॥ ४ ॥ (ताण्ड्य० १६।१।७)

अर्थ—जिस प्रकार होसके, परिमित दक्षिणा(गिनी मिनी दक्षिणा)ही हो, यह (प्रयत्न) ही सदा कर्तव्य है ॥ ४ ॥

अत्र एष मन्त्रो भवति—

अर्थ—यहां यह मन्त्र है—

"उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः, ये अश्वदाः सह ते सूर्येण । हिरण्यदाः अमृतत्वं भजन्ते, वासोदाः सोम ! प्रतिरन्त आयुः"(ऋ० १०।१०७।२)**इति॥५॥**

अर्थ—दक्षिणादेनवाले सबसेऊंचे द्युलोकमें स्थित होतेहैं, जो घोडोंकी दक्षिणा देते हैं, वे इस लोकमें सूर्यसमान ज्योतिके साथ स्थित होते हैं । सोने चांदीके देनेवाले पूर्ण आयुको सेवते (प्राप्त होते) हैं, वस्त्रोंके देनेवाले प्रियदर्शन ! आयुको बढाते (लम्बा करते) हैं । बस ॥ ५ ॥

"ब्राह्मणभोजनम्"

(७) संस्थिते यज्ञे ब्राह्मणं तर्पयितवै ब्रूयाद्, यज्ञम् एव एतत् तर्पयति॥१॥

(शत० ११।७।३।२८)

अर्थ—यज्ञ समाप्त हो जानेपर यजमान वेदआदि समस्तविद्याओंके पारंगत विद्वानको तृप्तिकेलिये (तृप्तिपूर्वक भोजनकेलिये)कहे(आमन्त्रित करे) । वह यज्ञको ही इससे (ब्राह्मणकी तृप्तिसे) तृप्त (फलदेनेमें समर्थ) करता है ॥ १ ॥

अत्र एते यजमानब्राह्मणमन्त्राः भवन्ति—

अर्थ—यहां ये यजमान और ब्राह्मणके मन्त्र हैं—

"अस्माकं देवाः ! उभयाय जन्मने, शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे । अदत् पिबद् ऊर्जयमानम् आशितं, तद् अस्मे शं योः अरपो दधातन" ॥२॥

(ऋ० १०।३७।११)

अर्थ—हे भूदेवो ! (हे विद्वानो !) आप हमको दोनों जन्मों(लोकों)केलिये (इस लोककेलिये और परलोककेलिये) सुख दें, हमारे दोपायों(स्त्री, पुत्र, आदि)केलिये और चौपायों(गौ, घोडा भेड बकरी आदि)केलिये सुख दें । जो खाया और पीया,

खिलाया और पिलाया, वह सब बलकारक हो, आप हमें सुख दें, और दुःखोंका अभाव तथा पापकर्मसे निवृत्ति दें ॥ २ ॥

वाजे वाजे अवत वाजिनो! नो, धनेषु विप्राः! अमृताः! ऋतज्ञाः! । अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं, तृप्ताः यात पथिभिः देवयानैः ॥ ३ ॥ (यजु० ९।१८)

अर्थ—हे सब प्रकारके शत्रुओंको कंपानेवालो! युद्धकर्ममें युद्धकर्ममें (हरएक युद्धकर्ममें) हमारी रक्षाकरो, हे बुद्धिमानों! हे अमृत जीवन (नीरोग जीवन) वालों! हे सत्यके (सत्यकी महिमाके) जाननेवालो! धन प्राप्तिकेलिये कियेजानेवाले सब कर्मोंमें हमारी रक्षाकरो। इस शहतसमान मधुर दूधको पीवो, नाना प्रकारके भोजनोंसे हर्ष (आनन्द) को प्राप्त होवो, और सब प्रकारसे तृप्त (आनन्दित) हुए विद्वानोंके आने जानेके मार्गोंसे अपने अपने वास स्थानको जाओ ॥ ३ ॥

यद् अन्नम् अद्मि बहुधा विरूपं, हिरण्यम् अश्वम् उत गाम् अजाम् अविम्। यद् एव किंच प्रतिजग्राह अहम्, अग्निः तद् होता सुहुतं कृणोतु ४ (अथर्व० ६।७२।१)

अर्थ—जो अन्न मैंने खाया है अनेक प्रकारका तथा अनेक रूपों (आकारों) वाला, और चांदी, सोना, घोडा, गौ, बकरी तथा भेड, जो ही कुछ मैंने प्रतिग्रह (दान) लिया है, वह सब, सबको फल देनेवाला सबका अग्रणी जगद्गुरु ईश्वर अच्छा दिया हुआ (अच्छे फलका देनेवाला) करे ॥ ४ ॥ (७२२)

अथ उत्तरार्धम् ।

"यज्ञक्रमः"

(१) अथातो यज्ञक्रमः—अग्न्याधेयम्, अग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः, पूर्णाहुतेः अग्निहोत्रम्, अग्निहोत्राद् दर्शपूर्णमासौ, दर्शपूर्णमासाभ्यां चातुर्मास्यानि, चातुर्मास्येभ्यो अग्निष्टोमः (सोमयज्ञः), अग्निष्टोमाद् राजसूयः, राजसूयाद् अश्वमेधः। ते वै एते यज्ञक्रमाः ॥ १ ॥ (गो० पू० ५।७)

अर्थ—अब यज्ञोंका क्रम कहा जाता है—अग्न्याधान, अग्न्याधानसे पूर्णाहुति (पवमानेष्टि), पूर्णाहुतिसे अग्निहोत्र, अग्निहोत्रसे दर्शपूर्णमास, दर्शपूर्णमासोंसे चातुर्मास्य, चातुर्मास्योंसे अग्निष्टोम (सोमयज्ञ), अग्निष्टोमसे राजसूय और राजसूयसे अश्वमेध। वे ये निश्चय क्रमसे यज्ञ हैं ॥ १ ॥

"अग्न्याधानम्"

(२) [अग्न्याधानपूर्वाः वै सर्वे यज्ञाः, तस्माद्] अग्निम् आदधीत ॥ १ ॥

(तै० ब्रा० ११।१२)

अर्थ—अग्न्याधानपूर्वक निश्चय सब यज्ञ होते हैं, इसलिये पहले अग्निका आधान करे (यज्ञिय लकडियोंसे अग्नि प्रज्वलित करे) ॥ १ ॥

यदा एव एनं कदा च यज्ञः उपनमेद्, अथ अग्नी आदधीत, न श्वः-श्वम् उपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ॥ २ ॥ (शत० २।१।३।९)

अर्थ—जब ही कभी निश्चय इसको यज्ञ कर्तव्यरूपसे उपस्थित हो (मैं अब यज्ञ करूं, यह बुद्धि उदय हो) तब ही अग्निका आधान करे (लकडियोंसे अग्नि प्रदीप्त करे), कल कल न करे। क्योंकि कौन मनुष्यके कलको (कलके जीनेको) निश्चय जानता है ॥२॥

अग्नीन् आधाय पूर्णाहुत्या यजेत [पूर्णाहुत्यन्तं हि अग्न्याधानम्]॥ ३ ॥

(गो० पू० ५।८)

अर्थ—अग्निका आधान (स्थापन) करके पूर्णाहुति (पवमान+इष्टि) से अग्न्याधानको पूर्ण बनाये। क्योंकि पूर्णाहुतिपर्य्यन्त ही अग्न्याधान माना जाता है ॥ ३ ॥

"अग्निहोत्रम्"

(३) यज्ञमुखं वै अग्निहोत्रम् (तै० सं० १।६।१०) **। यथा वै इषोः अनीकम्, एवं यज्ञानाम् अग्निहोत्रम्। [तस्मात्] सायं प्रातर् अग्निहोत्रं जुहोति ॥१॥**

(शत० २।३।३।१०) (तै० सं ३।४।१०)

अर्थ—सब यज्ञोंका मुख निःसन्देह अग्निहोत्र है। जैसे बाणका मुख निश्चय लोहखण्ड है, वैसेही सब यज्ञोंका मुख अग्निहोत्र है। इसलिये प्रतिदिन सायं प्रातः (सांझ सुवेरे) अग्निहोत्र होमे (करे) ॥ १ ॥

अग्नये एव सायं, सूर्याय प्रातः। एवं ह वै अग्निहोत्रं जुहोति ॥ २ ॥

(शत० २।२।४।१७) (तै० सं० १।५।९)

अर्थ—अग्निकेलिये निश्चय सायं कालमें, और सूर्यकेलिये प्रातःकालमें, इस प्रकार ही प्रतिदिन सायं प्रातः (सांझ सुवेरे) निःसन्देह अग्निहोत्र करे ॥ २ ॥

अग्निर्ज्योतिः, ज्योतिरग्निः स्वाहा, अग्निर् वर्चो, ज्योतिर् वर्चः स्वाहा, सजूर् देवेन सवित्रा, सजूः रात्र्या इन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर् वेतु स्वाहा, इति सायम् ॥ ३ ॥ (यजु० ३।९-१०) (शत० २।३।१।३१-३७)

अर्थ—अग्नि ज्योति (प्रकाश) है, ज्योति अग्नि है, उस (ज्योतिरूप अग्नि) को हवि दी १ अग्नि तेज है, तेज अग्नि है, उस (तेजरूप अग्नि) को हवि दी २ देव सविता (सूर्य) केसाथ इन्द्रवती (सूर्यपत्नीवाली) रात्रीकेसाथ प्रीति करताहुआ अग्नि हविको खाये, उसको हवि दी ३ इन मन्त्रोंसे सायं कालमें हवन करे ॥ ३ ॥

सूर्यो ज्योतिः, ज्योतिः सूर्यः स्वाहा, सूर्यो वर्चो ज्योतिर् वर्चः स्वाहा, सजूर् देवेन सवित्रा, सजूर् उषसा इन्द्रवत्या, जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा, इति प्रातर् जुहोति ॥ ४ ॥ (यजु० ३।९-१०)(शत० २।३।१।३८)

अर्थ—सूर्य ज्योति है, ज्योति सूर्य है, उसको हवि दी। सूर्य तेज है, तेज सूर्य है, उसको हवि दी, देव सविता (अग्नि) के साथ, इन्द्रवती (सूर्य शक्तिवाली) उषाके साथ प्रीति करताहुआ सूर्य हविको भक्षण करे (खाये), सूर्यको हवि दी, इन मन्त्रोंसे प्रातःकालमें हवन करे ॥ ४ ॥

एतद् वै जरामर्यं सत्रं, यद् अग्निहोत्रम्। जरया वा हि एव अस्मात् मुच्यन्ते, मृत्युना वा ॥ ५ ॥ (शत० १२।४।१।१)

अर्थ—यह निश्चय जरामर्य्य नामका सोमयज्ञ है, जो अग्निहोत्र है। क्योंकि जरा (अतिवृद्धअवस्था) आजानेसे ही निश्चय इससे (अग्निहोत्रसे) छूटते (छुटकारा पावे) हैं, अथवा मृत्यु आजानेसे ॥ ५ ॥

"दर्शपूर्णमासौ"

(४) सुवर्गाय हि वै लोकाय दर्शपूर्णमासौ इज्येते ॥ १ ॥ (तै० सं० २।२।५)

अर्थ—स्वर्ग लोककी प्राप्तिकेलिये ही निश्चय दर्श और पूर्णमास, दोनों यज्ञ किये जाते हैं ॥ १ ॥

एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी, यद् दर्शपूर्णमासौ। एष वै देवयानः पन्थाः, यद् दर्शपूर्णमासौ। न आमावास्यायां पौर्णमास्यां च स्त्रियम् उपेयात् २ (तै० सं० २।५।६)

अर्थ—ये निश्चय बरसकी आंखें हैं, जो दर्श (अमावस्या) और पूर्णमास है। यही निःसन्देह देवयान मार्ग (विद्वानोंके चलनेका रस्ता) है, जो दर्श और पूर्णमास है। इसलिये न दर्श (अमावास्या) में और न पूर्णमासीमें स्त्रीके पास जाये ॥ २ ॥

स यो विद्वान् अग्निहोत्रं च जुहोति, दर्शपूर्णमासाभ्यां च यजते, मासि मासि ह एव अस्य अश्वमेधेन इष्टं भवति। एतद् उ ह अस्य अग्निहोत्रं च दर्शपूर्णमासौ च अश्वमेधम् अभिसम्पद्येते ॥ ३ ॥ (शत० ११।२।५।५)

अर्थ—वह जो विद्वान् अग्निहोत्र नामका हवन करता (अग्निहोत्र करता) है और दर्शपूर्णमास-यज्ञ भी करता है, मास मासमें (महीने महीनेमें) निःसन्देह इसका प्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ किया गया होताहै। यही निश्चय इसके प्रसिद्ध अग्निहोत्र और दर्श पूर्णमास दोनों अश्वमेध यज्ञ होजाते हैं ॥ ३ ॥

"चातुर्मास्यानि"

(५) अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति। संवत्सरं हि जयति। तेन अस्य अक्षय्यं भवति ॥ १ ॥ (शत० २।६।३।१)

अर्थ—कभी न क्षय(नाश)होनेकेयोग्य पुण्य निश्चय चातुर्मास्य यज्ञकेकरनेवालेको होताहै । क्योंकि वह बरस भरको चातुर्मास्य यज्ञसे जीतलेता है । इसलिये इस(यज्ञकर्ता)को अक्षय पुण्य होता है ॥ १ ॥

तं वै त्रेधा विभज्य यजति । वैश्वदेवेन यजते, अथ वरुणप्रघासैः यजते, अथ साकमेधैः यजते, अथ शुनासीर्येण यजते ॥ २ ॥ (शत० २।६।३।१)
(शत० ५।२।४।१-२-३-४)

अर्थ—उस(बरस)का निश्चय तीन प्रकारसे विभाग करके (बरसके चार चार मासके तीन तीन भाग करके) चातुर्मास्य यज्ञ करे । पहले वैश्वदेव नामका यज्ञ करे, पीछे वरुणप्रघास नामके यज्ञकरे, तत्पश्चात् साकमेध नामके यज्ञकरे, फिर शुनासीर्य नामका यज्ञ करे ॥ २ ॥

फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत । मुखं वै एतत् संवत्सरस्य, यत् फाल्गुनी पौर्णमासी ॥ ३ ॥ (गो० उ० १।१९)

अर्थ—फाल्गुन मास(महीने)की पूर्णमासीमें चातुर्मास्य यज्ञोंका अनुष्ठान करे (चातुर्मास्य यज्ञोंके अनुष्ठानका आरम्भ करे) । मुख(प्रथमदिन) है निश्चय यह बरसका, जो फाल्गुन मासकी पूर्णमासी है ॥ ३ ॥

"अग्निष्टोमः"

(६) अग्निष्टोमेन वै प्रजापतिः प्रजाः असृजत । [तस्माद् आहुः] एष वाव यज्ञो यद् अग्निष्टोमः ॥ १ ॥ (तै० सं० ७।१।१) (ताण्ड्य० ६।१।१)

अर्थ—अग्निष्टोम यज्ञसे निश्चय प्रजापति(मनु)ने प्रजाको उत्पन्न किया (धनधान्यसे समृद्ध किया) । इसलिये कहते हैं, यही निःसन्देह यज्ञ है, जो अग्निष्टोम है ॥ १ ॥

एष वै ज्येष्ठो यज्ञो यज्ञानां यद् अग्निष्टोमः । [तस्माद् उ ह वसन्ते वसन्ते] ज्योतिष्टोमेन एव अग्निष्टोमेन यजेत ॥ २ ॥ (ताण्ड० ६।३।८)
(शत० १०।१।२।९)

अर्थ—यह निश्चय सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ यज्ञ है, जो अग्निष्टोम है । इसलिये ही निश्चय वसन्त वसन्तमें अवश्य ज्योतिष्टोम दूसरा नाम अग्निष्टोम यज्ञको करे ॥ २ ॥

एष सौम्योऽध्वरः चतुष्टोमो अग्निष्टोमः । (शत० १०।४।१।१९) (ताण्ड्य० ६।३।१६)
[एष एव सवो नाम] । यत्र इदम् उक्तम् ऋषिणा-"अमन्दान् स्तोमान् प्रभरे मनीषा, सिन्धौ अधिक्षियतो भाव्यस्य । यो मे सहस्रम् अमिमीत सवान्, अतूर्तो राजा श्रवः इच्छमानः" (ऋ० १।१२६।१) **इति ॥ ३ ॥**

अर्थ—यह सोमरससे होनेवाला यज्ञ है, जो अग्निष्टोम है, और जिसका दूसरा नाम ज्योतिष्टोमकीनाई चतुष्टोम है । यही (अग्निष्टोम) निश्चय सव नामवाला है । जिसके विषयमें यह ऋषिने कहा है-मैं कक्षीवान् सिन्धु देश(भारतवर्ष)में अधीश्वर (राजाधिराज)

होकर रहनेवाले भावयव्यके पुत्र स्वनयके उत्तम स्तोत्रोंको अपनी बुद्धिसे बनाता हूं । जिस यशके चाहनेवाले जलदी न करनेवाले (धैर्यवाले) राजोंके राजा (सम्राट्) ने मेरे अनेक सोमयज्ञ पूरे किये (मुझसे अनेक सोमयज्ञ कराये)। बस ॥ ३ ॥

अग्निष्टोमः अत्यग्निष्टोमः उक्थ्यः षोडशी वाजपेयः अतिरात्रः आप्तोर्यामः इति एते सप्त सुत्याः ॥ ४ ॥ (गो० पू० ५।२३)

अर्थ—अग्निष्टोम १ अत्यग्निष्टोम २ उक्थ्य ३ षोडशी ४ वाजपेय ५ अतिरात्र ६ आप्तोर्याम, इसप्रकार ये सात सोमयज्ञ (अग्निष्टोम) के भेद हैं ॥ ४ ॥

"राजसूयः"

(७) राजा सुवर्गकामः राजसूयेन यजेत ॥ १ ॥ (आश्व० श्रौ० ९।३।१)

अर्थ—राजा स्वर्ग(राज्यसुख)की कामनावाला राजसूय (राज्याभिषेक=राजतिलक) नाम यज्ञको करे ॥ १ ॥

राज्ञः एव राजसूयं कर्म । राजा वै राजसूयेन इष्ट्वा भवति ॥ २ ॥ (शत० ५।१।१।१२)

अर्थ—राजाका ही राजसूय यज्ञ कर्तव्य कर्म है । क्योंकि राजसूय यज्ञको करके ही राजा (सच्चा राजा) होता है ॥ २ ॥

सर्वान् वै एष यज्ञक्रतून् अवरुन्धे, सर्वाः इष्टीः, अपि दर्विहोमान्, यो राजसूयेन यजते ॥ ३ ॥ (शत० ५।२।३।९)

अर्थ—यह (राजा) निःसन्देह सब सोमयज्ञों(यज्ञक्रतुओं)को, सब इष्टियों (हविर्यज्ञों)को और सब ही दर्विहोम नामके होमोंको नीचे कर देता है जो राजसूय यज्ञ करता है ॥ ३ ॥

अत्र एते राजमन्त्राः भवन्ति—

अर्थ—यहां ये राजाके मन्त्र हैं—

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसा उदिहि, प्राङ् विशां पतिः एकराट् त्वं विराज । सर्वाः त्वा राजन्! प्रदिशो ह्वयन्तु, उपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ ४ ॥ (अथर्व० ३।४।१)

अर्थ—तुझको राज्य प्राप्त हुआहै, तू क्षात्रतेजके साथ उन्नतिको प्राप्त हो, तू पहलेसे(जन्मसे) ही सब प्रजाका स्वामी है, तू अद्वितीय राजा(सम्राट्)हुआ विराजमान (प्रकाशमान) हो । हे राजन्! सब दिशायें और उपदिशायें (दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग) तुह्मारा सदा आह्वान करें, तू इस राज्यमें सबको मिलनेयोग्य और नमस्कार करनेयोग्य हो ॥ ४ ॥

त्वां विशो वृणुतां राज्याय, त्वाम् इमाः प्रदिशः पञ्च देवीः । वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व, ततो नः उग्रो विभजा वसूनि ॥५॥ (अथर्व० ३।४।२)

अर्थ—तुझे सब प्रजाओंने राज्यकेलिये चुना है, सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाली ये पांचो प्रकारकी देवी (विद्या, धन, शौर्य और यशसे चमकती हुई) प्रजायें तुझारा अभिनन्दन करती हैं। तू राष्ट्रके डिलेकी नाईं ऊंचे राज्यासनपर बैठ और तत्पश्चात् शत्रुओंकेलिये भयानक हुआ हमको अनेकप्रकारके धन दे ॥ ५ ॥

अच्छा त्वाऽऽयन्तु हविनः सजाताः, अग्निर् दूतो अजिरः संचराते। जाया पुत्राः सुमनसो भवन्तु, बहुं बलिं प्रतिपश्यासै उग्रः ॥ ६ ॥ (अथर्व० ३।४।३)

अर्थ—तुझारे सामने जय जय शब्द करतेहुए सब सजाती (दूसरे राजा) आवें, अग्निकी नाईं जाज्वल्यमान तुम्हारा भेजा हुआ दूत मित्रराष्ट्रोंमें संचार करे (जाये)। तुझारी स्त्री और तुझारे पुत्र सदा प्रसन्न मनवाले होवें, और तू सदा शत्रुओंकेलिये भयानक हुआ प्रजाकी अनेक प्रकारकी भेंटको देखे ॥ ६ ॥

पथ्याः रेवतीः बहुधा विरूपाः, सर्वाः संगत्य वरीयस् ते अक्रन्। ताः त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु, दशमीम् उग्रः सुमनाः वसेह ॥ ७ ॥

(अथर्व० ३।४।७)

अर्थ—राजाज्ञा-पथमें अच्छीतरह चलनेवालीं, धनवालीं, अनेक भेदोंवालीं, अनेक रूपोंवालीं सब प्रजायें मिलकर तुझारेलिये अच्छेसे अच्छा कर्म करें। और वे सब ऐकमत्य हुईं सदा तुझारा आह्वान करें, तू शत्रुओंकेलिये भयानक हुआ और बडे मनवाला हुआ इस अपने राज्यमें दसवीं अवस्थातक (सौ बरसकी आयुतक) वास कर ॥ ७ ॥

"अश्वमेधः"

(८) राजा वै एष यज्ञानां, यद् अश्वमेधः ॥ १ ॥ (शत० १३।२।२।१)

अर्थ—राजा है निश्चय सब यज्ञोंका यह, जो अश्वमेध (साम्राज्यदुन्दुभि-यज्ञ) है ॥ १ ॥

सर्वाः वै देवताः अश्वमेधे अन्वायत्ताः। तस्माद् अश्वमेधयाजी सर्वाः दिशो अभिजयति ॥ २ ॥ (शत० १३।१।२।९।३)

अर्थ—निःसन्देह सब देवता अश्वमेध यज्ञमें आयेहुए होते हैं। इसलिये अश्वमेध यज्ञका करनेवाला सब दिशाओं (देशों) का जीतनेवाला होता है ॥ २ ॥

श्रीः वै राष्ट्रम्। राष्ट्रं वै अश्वमेधः। तस्माद् राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत ॥ ३ ॥

(शत० ६।७।३।७) (शत० १३।१।६।३)

अर्थ—ऐश्वर्य है निश्चय राज्य। और राज्य निश्चय अश्वमेध (अश्वमेधका साधन) है। इसलिये राजा अश्वमेध यज्ञ करे ॥ ३ ॥

एष वै प्रजापतिं सर्वं करोति, यो अश्वमेधेन यजते ॥ ४ ॥ (तै० सं० ५।३।१२)

अर्थ—यह (अश्वमेधयाजी) निश्चय अपनेको सर्वाङ्गपूर्ण प्रजापति (सब प्रजाओंका स्वामी) बनाता है, जो अश्वमेध यज्ञ करता है ॥ ४ ॥

सर्वस्य वै एषा पाप्मनः प्रायश्चित्तिः, सर्वस्य वै एतद् भेषजम् [यद् अश्वमेधः] ॥ ५ ॥ (तै० सं० ५।३।१२)

अर्थ—सब पापोंका निःसन्देह यह प्रायश्चित्त है, सब पापोंकी निश्चय यह ओषधि है, जो अश्वमेध है ॥ ५ ॥

सर्वं वै एतेन पाप्मानं देवाः अतरन्, अपि वै एतेन ब्रह्महत्याम् अतरन्। सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्महत्यां, यो अश्वमेधेन यजते ॥ ६ ॥

(तै० सं० ५।३।१२)

अर्थ—निःसन्देह पहले सम्राटोंने इससे (अश्वमेध यज्ञसे) सब पापोंको तरा है, और निश्चय इससे ब्रह्महत्याको तरा है। वह सब पापोंको तर जाता है, और ब्रह्महत्याको तरजाता है, जो अश्वमेध यज्ञ करता है ॥ ६ ॥ (८।३२) (१५।५४)

इति स्वाध्यायसंहितायां ब्राह्मणकाण्डे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

"महायज्ञाः"

(१) अयं वै आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः। सः यत् जुहोति, यद् यजते, तेन देवानां लोकः। अथ यद् अनुब्रूते, तेन ऋषीणाम्। अथ यत् प्रजाम् इच्छते, यत् पितृभ्यो निपृणाति, तेन पितॄणाम्। अथ यत् मनुष्यान् वासयते, यद् एभ्यो अशनं ददाति, तेन मनुष्याणाम्। अथ यत् पशुभ्यः तृणोदकं ददाति, तेन पशूनाम्। यद् अस्य गृहेषु श्वापदाः वयांसि आ पिपीलिकाभ्यः उपजीवन्ति, तेन तेषां लोकः ॥ १ ॥

(शत० १४।४।२।२९)

अर्थ—यह निश्चय मनुष्य प्राणी अप्राणी सब भूतोंका लोक (जीनेका सहारा) है। वह (मनुष्य) जो हवन करता है, जो यज्ञ करता है, उससे देवताओंका लोक है। अब जो वेदआदि समस्तविद्यायें पढता है, उससे ऋषियोंका लोक है। अब जो पुत्री पुत्र आदि प्रजाको चाहता(विवाह करके प्रजा उत्पन्न करता) है, और जो माता, पिता, पितामह आदि पितरोंको यथाशक्ति अन्नजलसे तृप्तकरता है, उससे पितरोंका लोक है। अब जो मनुष्यों(अतिथियों, विद्वानों)को घरमें बासदेता (रहनेको जगह देता) है, और जो उनको भोजन देता है, उससे मनुष्योंका लोक है। अब जो पशुओं(गौ, घोडा, आदि घरके पशुओं)को घास पानी देता है, उससे पशुओंका लोक है। और जो इसके घरमें कुत्ते, कुक्कड कबूतर आदि चिउंटियोंतक पलते हैं, उससे वह उनका लोक है ॥ १ ॥

यथा ह वै स्वाय लोकाय अरिष्टिम् इच्छेत्, एवं ह एवंविदे सर्वाणि भूतानि अरिष्टिम् इच्छन्ति ॥ २ ॥ (शत० १४।४।२।२९)

अर्थ—जैसे निश्चय प्रसिद्ध अपने शरीरकेलिये हर एक अहानि(न नुकसान)की इच्छा करता (मेरी हानि न हो, यह चाहता) है, ऐसे ही ऐसा जाननेवाले(प्राणी अप्राणी सब भूतोंका लोक मनुष्य है, ऐसा जाननेवाले)केलिये प्राणी अप्राणी सब भूत अहानिकी इच्छा करते (इसकी हानि न हो, यह चाहते) हैं ॥ २ ॥

पञ्च वै एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते, सतति सन्तिष्ठन्ते-देवयज्ञः, पितृयज्ञः, भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञः, ब्रह्मयज्ञः इति ॥ ३ ॥ (तै० आ० २।१०)

अर्थ—पांच निश्चय ये महायज्ञ हैं, जो सदा (विना नागा हरदिन) आरम्भ किये जाते हैं, और सदा समाप्त किये जाते हैं, देवयज्ञ १ पितृयज्ञ २ भूतयज्ञ ३ अतिथियज्ञ ४ और ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याययज्ञ), ये उनके नाम हैं ॥ ३ ॥

यद् अग्नौ जुहोति, तद् देवयज्ञः सन्तिष्ठते। यत् पितृभ्यः स्वधा करोति, तत् पितृयज्ञः सन्तिष्ठते। यद् भूतेभ्यो बलिं हरति, तद् भूतयज्ञः सन्तिष्ठते। यद् ब्राह्मणेभ्यो अन्नं ददाति, तत् मनुष्ययज्ञः सन्तिष्ठते। यत् स्वाध्यायम् अधीयीत, तद् ब्रह्मयज्ञः सन्तिष्ठते ॥ ४ ॥ (तै० आ० २।१०)

अर्थ—जो अग्निमें होमता है, उससे देवयज्ञ समाप्त होता है। जो पितरोंको अन्न-जल देता है, उससे पितृयज्ञ समाप्त होता है। जो भूतों(गौ, घोडा, आदि घरके प्राणियों=पशुओं)को घासपानी देता है, उससे भूतयज्ञ समाप्त होता है। जो वेद-आदि समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वानों(अतिथियों)को भोजन तथा वास देता है, उससे मनुष्ययज्ञ (अतिथियज्ञ) समाप्त होता है। जो स्वाध्याय करता है, उससे ब्रह्मयज्ञ समाप्त होता है ॥ ४ ॥

"ब्रह्मयज्ञः"

(२) स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। प्रिये स्वाध्याय-प्रवचने भवतः, युक्तमनाः भवति, अपराधीनः अहरहः अर्थान् साधयते, सुखं स्वपिति, परम-चिकित्सकः आत्मनो भवति, इन्द्रियसंयमश्च, एकारामता च प्रज्ञावृद्धिः, यशो, लोकपक्तिः। प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणम् अभिनिष्पादयति-ब्राह्मण्यं, प्रतिरूपचर्यां, यशो, लोकपक्तिम्। लोकः पच्यमानः चतुर्भिः धर्मैः ब्राह्मणं भुनक्ति-अर्चया च, दानेन च, अज्येयतया, अवध्यतया च ॥ १ ॥ (शत० ११।५।६।३) (शत० ११।५।७।१)

अर्थ—स्वाध्याय (वेदादि समस्त विद्याओंका प्रतिदिन नियमसे पढना) निश्चय ब्रह्मयज्ञ है। प्रिय(आनन्दके देनेवाले) हैं ये दोनों, जो स्वाध्याय(वेद आदि समस्त विद्याओंका पढना) और प्रवचन(वेद आदि समस्त विद्याओंका पढाना) है। इन दोनोंसे

मनुष्य एकाग्रचित्त होता है, और स्वतन्त्र हुआ प्रतिदिन धन धान्य आदि अनेकविध पदार्थोंको प्राप्त करता है, सुखसे सोता है, अपना परम(उत्तम)चिकित्सक (वैद्य) होता है, और इन्द्रियोंका संयम, सदा एकरसता (प्रसन्नचित्तता), बुद्धि(ज्ञान)की वृद्धि, यश तथा लोगोंकी अतिश्रद्धा, स्वाध्याय और प्रवचनसे होती है । वृद्धिको प्राप्त हुई बुद्धि (ज्ञान) स्वाध्याय और प्रवचन करनेवाले विद्वान्को ये चार पदार्थ प्राप्त कराती (देती) है–विद्वत्ता, यथोचित आचार, यश और लोगोंकी अतिश्रद्धा । लोग अतिश्रद्धावाले हुए इन चार पदार्थोंसे विद्वान्का पालन करते हैं–आदर(सत्कार)से, और दानसे, तथा अत्याचार न करनेसे और वधके अयोग्य समझनेसे ॥ १ ॥

ये वै के च श्रमाः इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण, स्वाध्यायो ह एव तेषां परमता काष्ठा । तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ २ ॥ (शत० ११।५।७।२)

अर्थ—निःसन्देह जो कोई भी श्रम (श्रमसे अर्थात् मिहनतसे होनेवाले काम) हैं, इस द्युलोक और पृथिवीलोकके भीतर(अन्दर), स्वाध्याय ही निश्चय उन सबकी अन्तली हद (सीमा) है । इसलिये स्वाध्याय करे ॥ २ ॥

यद् यद् ह वै अयं छन्दतः स्वाध्यायम् अधीते, तेन तेन ह एव अस्य यज्ञक्रतुना इष्टं भवति । तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥३॥ (शत० ११।५।७।३)

अर्थ—जितना जितना भी निश्चय यह अपनी इच्छासे प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, उतने उतने से ही निःसन्देह इसका सोमयज्ञोंसे यजन किया गया होता है । इसलिये स्वाध्याय करे ॥ ३ ॥

यदि ह वै अपि अभ्यक्तः अलङ्कृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायम् अधीते, आ ह एव स नखाग्रेभ्यः तपः तप्यते, यः स्वाध्यायम् अधीते । तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः ॥४॥ (शत० ११।५।७।४)

अर्थ—और यदि वह कदाचित् निश्चय तैल लगायेहुआ, अलङ्कार किये हुआ (अच्छे वस्त्र आभूषण पहरेहुआ), भोजनआदिसे अच्छीतरह तृप्त हुआ, और सुखदायी (नरम) बिछौनेपर लेटाहुआ स्वाध्याय करता है, तो भी वह निःसन्देह सिरसे लेकर नखोंके अग्र तक, तप तपता (करता) है, जो स्वाध्याय करता है। इसलिये स्वाध्याय करे ॥४॥

यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति, त्रिः तावन्तं जयति, भूयासं च अक्षय्यम्, यः स्वाध्यायम् अधीते । तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः ॥ ५ ॥ (शत० ११।५।६।२)

अर्थ—वह निःसन्देह धनसे पूर्ण (भरीहुई) इस पृथिवी को देता हुआ (दान करता हुआ) जितने निश्चय लोक(फल)को जीतता(प्राप्त करता) है, तीनबार उतने लोकको (उससे तिगुणे लोकको) जीतता है, उससे भी बहुत अधिक और अक्षय लोकको जीतता है, जो स्वाध्याय करता है । इसलिये स्वाध्याय करे ॥ ५ ॥

"अनध्यायः"

(३) तस्य ह वै एतस्य यज्ञस्य द्वौ अनध्यायौ यद् आत्मा अशुचिः, यद् देशः ॥ १ ॥ (तै० आ० २।१५)

अर्थ—उस इस प्रसिद्ध ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याययज्ञ) के निश्चय दो अनध्याय हैं, जो शरीर अपवित्र होना और जो देश (जगह) अपवित्र होना ॥ १ ॥

यः एवं विद्वान् महारात्रे उषसि उदिते व्रजन् तिष्ठन् आसीनः शयानः अरण्ये ग्रामे वा यावत्तरसं स्वाध्यायम् अधीते, सर्वान् लोकान् जयति, सर्वान् लोकान् अनृणो अनुसञ्चरति ॥ २ ॥ (तै० आ० २।१५)

अर्थ—जो इसप्रकार अनध्यायको जानताहुआ रात्रीके मध्यमें, उषाकाल (प्रातःकाल) में अथवा सूर्यके उदयकालमें, चलताहुआ, खडाहुआ, बैठा हुआ अथवा लेटाहुआ, वन (जंगल) में अथवा गाओंमें यथाशक्ति स्वाध्याय करता है, वह सब लोकोंको जीत लेता है और सब लोकोंमें उऋण हुआ विचरता है ॥ २ ॥

अपहतपाप्मा हि स्वाध्यायः । देवपवित्रं वै एतत् । तं यो अनूत्सृजति, अभागो वाचि भवति, अभागो नाके । तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः ॥ ३ ॥ (तै० आ० २।१५)

अर्थ—निःसन्देह सब पापोंको नाश करनेवाला स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञ) है । निश्चय देवताओंके समान पवित्र करनेवाला यह स्वाध्याय है । उस (स्वाध्याय) को जो फिर छोड देता (प्रतिदिन नियमसे नही पढता) है, वह वाणी (वाणीके ऐश्वर्य) में भाग (हिस्से) से रहित (न हिस्सेवाला) होता है, वह दुःखरहित सुखमें (मोक्षमें) भागसे रहित (न हिस्सेवाला) होता है । इसलिये स्वाध्याय करे ॥ ३ ॥

एष पन्थाः, एतत् कर्म, एतद् ब्रह्म, एतत् सत्यम् । तस्मात् न प्रमाद्येत् तत् न अतीयात् ॥ ४ ॥ (ऐ० आ० २।१।१)

अर्थ—यह (स्वाध्याय) है लोकसुख तथा परलोकसुखकी प्राप्तिका मार्ग, यह है सब कर्तव्य कर्मोंसे मुख्य कर्तव्य कर्म, यह है ब्रह्मकी प्राप्तिका सबसे बडा साधन, यह है सत्यपर आरूढ करनेवाला सच्चा साधन । इसलिये स्वाध्याय करनेमें प्रमाद (जानबूझ न करना) न करे, न उसको उलांघे (उसमें नागा करे) ॥ ४ ॥

(४) अत्र एते श्लोकाः भवन्ति—

अर्थ—यहां (स्वाध्यायके विषयमें) ये श्लोक हैं—

स्थाणुः अयं भारहारः किल अभूद्, अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
यो अर्थज्ञः इत् सकलं भद्रम् अश्नुते, नाकम् एति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ १ ॥
(निरु० १।१८)

अर्थ—गदहा है यह भार उठानेवाला निःसन्देह, जो वेदको (मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद और गीताको) पढकर अर्थको नही जानता है । जो अर्थका जाननेवाला है,

वह निर्भय पूरे कल्याण(लोक सुख)को प्राप्त होता है, वह ज्ञान(आत्मज्ञान)से परेफेंके हुए पापोंवाला हुआ दुःखरहित सुख(मोक्ष)को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यः तित्याज सचिविदं सखायं, न तस्य वाचि अपि भागो अस्ति । यद् ईं शृणोति अलकं शृणोति, नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥२॥ (ऋ० १०।७१।७)

अर्थ—जिस(मनुष्य)ने त्याग दिया है मित्रताके जाननेवाले मित्र (स्वाध्याय)को, उसका वाणीमें(वाणीके ऐश्वर्यमें) कुछभी भाग(हिस्सा) नही है । जो कुछ सुनता है, व्यर्थ(निष्फल) सुनता है, क्योंकि वह अच्छेकर्मके मार्गको नही जानता है ॥ २ ॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतम् आहुः, न एनं हिन्वन्ति अपि वाजिनेषु । अधेन्वा चरति मायया एष, वाचं शुश्रुवान् अफलाम् अपुष्पाम् ॥ ३ ॥
(ऋ० १०।७१।५)

अर्थ—एकको वाणीकी(वेद आदि शास्त्रोंकी) मित्रता(प्रतिदिन स्वाध्याय)में पक्के अनुभववाला कहते हैं, और इसको वाणीके अच्छे जाननेवालोंमें (विद्वानोंमें) कोई भी नही पहुच सकते (इसकी बराबरी नहीं कर सकते)हैं । यह (दूसरा) झूठी, न दूधदेनेवाली वाणीरूपी गौके साथ फिरता है, जिसने वाणीको विना फूल(अर्थ) और विना फल (अनुभव)के सुना(गुरुसे पढ़ा) है ॥ ३ ॥

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन् न शृणोति एनाम् । उत उ त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जाया इव पत्ये उशती सुवासाः ॥ ४ ॥
(ऋ० १०।७१।४)

अर्थ—एक (अविवेकी=बे समझ) फिर देखता हुआ (अर्थको जानता हुआ) भी वाणी(बाणीके रहस्य=मतलब)को नही देखता(जानता) है और एक(मूढबुद्धि) सुनता हुआ (गुरुसे पढता हुआ) भी इस(बाणी)को नही सुनता(पढता) है । और एक(विवेकी=समझदार)केलिये तो यह(बाणी) अपने शरीरको(वास्तव रहस्यको) ऐसे खोल देती (नंगा करदेती) है, जैसे ऋतुकालमें इच्छावाली हुई (चाहती हुई) अच्छे वस्त्रोंवाली स्त्री पतिकेलिये [अपने शरीरको खोल देती है] ॥ ४ ॥ (४।१७)

इति स्वाध्यायसंहितायां ब्राह्मणकाण्डे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ।

(१) प्राजापत्यो ह वै आरुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरम् उपससार किं भगवन्तः! परमं वदन्ति इति ॥ १ ॥ (तै० आ० १०।६३)

अर्थ—प्रजापति(कश्यप)का पुत्र सुपर्णा माताकी सन्तान प्रसिद्ध निश्चय आरुणि, प्रजापति पिताके पास गया और यह पूछा–हे पूज्यो! सबसे श्रेष्ठ किसको कहते हैं ॥१॥

तस्मै ह वै प्रोवाच प्रजापतिः-सत्येन वायुः आवाति, सत्येन आदित्यः रोचते दिवि। सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति ॥ २ ॥ (तै० आ० १०।६३)

अर्थ—उसको निश्चय प्रसिद्ध प्रजापतिने कहा (उत्तर दिया) सत्यसे वायु बहता (आता जाता) है, सत्यसे सूर्य द्युलोक (चमकीले आकाश)में चमकता है, सत्यसे वाणीकी प्रतिष्ठा (आदर) है, सत्यमें सब कुछ ठहरा हुआ है (सत्यमें ही सब कुछ है) । इसलिये सत्यको सबसे श्रेष्ठ (बढिया) कहते हैं ॥ २ ॥

दमेन दान्ताः किल्बिषम् अवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवर् अगच्छन्। दमो भूतानां दुराधर्षम्, दमे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् दमं परमं वदन्ति ॥ ३ ॥ (तै० आ० १०।६३)

अर्थ—दमसे(इन्द्रियोंके निग्रह=काबूमें रखनेसे) दान्त हुए (इन्द्रियोंको काबूमें किये हुए) मनुष्य पापको झाड देते (परे फैंक देते) हैं, दमसे ब्रह्मचारी स्वर्ग सुख (स्वास्थ्य सुख)को प्राप्त होते हैं । दम मनुष्योंका दुःसह कर्म है, दममें सब कुछ ठहरा हुआ है (दममें सब कुछ है) । इसलिये दमको सबसेश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ३ ॥

शमेन शान्ताः शिवम् आचरन्ति, शमेन नाकं मुनयो अन्वविन्दन्। शमो भूतानां दुराधर्षम्, शमे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् शमं परमं वदन्ति ॥ ४ ॥ (तै० आ० १०।६३)

अर्थ—शमसे(मनके निग्रहसे) शान्त हुए (मनको वशमें किये हुए) मनुष्य मङ्गलरूप(शुभ)आचरण करते हैं, शमसे ऋषी दुःखरहित सुख(ब्रह्म)को प्राप्त होते हैं । शम मनुष्योंका दुःसह कर्म है, शममें सब प्रतिष्ठित है । इसलिये शमको सबसे श्रेष्ठ (बढिया) कहते हैं ॥ ४ ॥

दानं यज्ञानां वरूथं, लोके दातारं सर्वाणि भूतानि उपजीवन्ति। दानेन अरातीः अपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्राणि भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् दानं परमं वदन्ति ॥ ५ ॥ (तै० आ० १०।६३)

अर्थ—दान शुभकर्मोंकी त्रुटियोंका निवारण करनेवाला है, लोकमें दाता (दान करनेवाले)का सब प्राणी आश्रय लेते हैं। दानसे शत्रु दब जाते हैं, दानसे द्वेषी मित्र हो-जाते हैं, दानमें सब प्रतिष्ठित है । इसलिये दानको सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ५ ॥

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजाः उपसर्पन्ति । धर्मेण पापम् अपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ॥६॥

(तै० आ० १०।६३)

अर्थ—धर्म सब जगत्की प्रतिष्ठा (आश्रय-सहारा) है, लोकमें धर्मात्माकेपास सब प्रजायें (स्त्री, पुरुष, छोटे बडे) आती हैं । धर्मसे पापको दूर करते हैं, धर्ममें सब प्रतिष्ठित है । इसलिये धर्मको सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ६ ॥

प्रजननं वै प्रतिष्ठा लोके साधु । प्रजातन्तुं तन्वानः पितॄणाम् अनृणो भवति । तद् एव तस्य अनृणम् । तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति ॥ ७ ॥

(तै० आ० १०।६३)

अर्थ—सन्तान उत्पन्न करना निःसन्देह लोकमें भली प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठाका कारण) है । प्रजातन्तुका विस्तार करता हुआ (सन्तान उत्पन्न करता हुआ) पितरोंका अनृणी (ऋणसे मुक्त) होता है । वही (सन्तान उत्पन्न करना ही) निश्चय उस (मनुष्य)का ऋणसे मुक्त होना है । इसलिये सन्तान उत्पन्न करनेको सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥ ७ ॥

अग्निहोत्रं सायं प्रातः गृहाणां निष्कृतिः, स्विष्टं सुहुतं यज्ञक्रतूनां परायणं, सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिः। तस्माद् अग्निहोत्रं परमं वदन्ति ॥८॥

(तै० आ० १०।६३)

अर्थ—अग्निहोत्र सांझ सुवेरे किया हुआ घरोंकी शुद्धि है, अच्छी तरह (यथा-विधि) किया हुआ, अच्छी तरह होमा हुआ, सब यज्ञोंका परला आश्रय है, और स्वर्ग लोक (स्वर्गसुख) की ज्योति (प्रकाश) है । इसलिये अग्निहोत्रको सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥८

(२) तपसा देवाः देवताम् अग्रे आयन्, तपसा ऋषयः स्वर् अन्वविन्दन्। तपसा सपत्नान् प्रणुदाम अरातीः, येन इदं विश्वं परिभूतं यद् अस्ति ॥१॥

(तै० ब्रा० ३।१२।३)

अर्थ—तप (परिश्रम)से देवताओंने सबसे पहले देवतापनको प्राप्त किया, तपसे ऋषियोंने स्वर्गसुखको लभा है । हम उस तपसे अपने सब शत्रुओंको जो दाता (यज्ञकर्ता) नही हैं, दूर करेंगे (जीतेंगे), जिस तपसे यह सब दब जाता है, जो है ॥ १ ॥

श्रद्धया देवो देवत्वम् अश्नुते, श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी । सा नो जुषाणा उप यज्ञम् आगात्, कामवत्सा अमृतं दुहाना ॥२॥ (तै० ब्रा० ३।१२।३)

अर्थ—श्रद्धासे देवता देवतापनको प्राप्त होता है, श्रद्धा देवी सब लोकोंकी प्रतिष्ठा (स्थितिका कारण) है । वह (श्रद्धा) जो इच्छारूप बच्छेवाली, अमृतके देनेवाली धेनू (दूधारी गौ) है, हमसे प्रीति करती हुई यज्ञमें आवे ॥ २ ॥

चरणं पवित्रं विततं पुराणं, येन पूतः तरति दुष्कृतानि । तेन पवित्रेण शुद्धेन पूताः, अति पाप्मानम् अरातिं तरेम ॥ ३ ॥ (तै० ब्रा० ३।१२।३)

अर्थ—आचरण पवित्र करनेवाला, विस्तारवाला (बडी विभूतिवाला) और सबसे प्राचीन धर्म है, जिससे पवित्र हुआ मनुष्य पापोंको (सब पापोंको) तर जाता है । उस परम पवित्र शुद्ध आचरणसे पवित्र हुए हम पापरूपी शत्रुको तरें ॥ ३ ॥

लोकस्य द्वारम् अर्चिष्मत् पवित्रं, ज्योतिष्मद् भ्राजमानं महस्वत् । अमृतस्य धाराः बहुधा दोहमानं, चरणं नो लोके सुधितां दधातु ॥ ४ ॥

(तै० ब्रा० ३।१२।३)

अर्थ—लोक(लोकश्रद्धा)का द्वार, अर्चिः(कीर्ति)वाला, पवित्र करनेवाला, ज्योतिः(प्रसिद्धि)वाला, दीप्ति(शोभा)वाला, बडाईवाला और अमृतकी धारोंका अनेकप्रकारसे दोहनेवाला (अनेक प्रकारके स्थायी सुखोंका देनेवाला) जो यह आचरण है, वह हमको लोकमें अच्छी स्थिति दे ॥ ४ ॥

(३) देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकः तिरोऽभवत् । ते प्रजापतिम् अब्रुवन् प्रजापते ! स्वर्गो वै नो लोकः तिरो अभूत्, तम् अन्विच्छ इति ॥१॥

(तै० ब्रा० ३।१२।४)

अर्थ—देवताओंसे निश्चय स्वर्ग लोक (स्वर्गसुख) छिप गया (आडमें होगया) । उन्होंने प्रजापतिसे यह कहा हे प्रजापति ! निश्चय हमारा स्वर्गलोक छिप गया है, उसको ढूंढ ॥१॥

तं यज्ञक्रतुभिः अन्वैच्छत् । तं यज्ञक्रतुभिः न अन्वविन्दत् । तं तपो अब्रवीत् "प्रजापते ! मां नु यजस्व, अथानु स्वर्गं लोकं वेत्स्यसि" इति । तं श्रद्धा अब्रवीत् "प्रजापते ! मां नु यजस्व, अथानु स्वर्गं लोकं वेत्स्यसि" इति । तं सत्यम् अब्रवीत् "प्रजापते ! मां नु यजस्व अथानु स्वर्गं लोकं वेत्स्यसि" इति । तं चरणम् अब्रवीत् "प्रजापते ! मां नु यजस्व, अथानु स्वर्गं लोकं वेत्स्यसि" इति । स तथा अयजत । अथानु स्वर्गं लोकम् अविन्दत् ॥ २ ॥ (तै० ब्रा० ३।१२।४)

अर्थ—प्रजापतिने उस(स्वर्गलोक)को सब बडे यज्ञों(सोम यज्ञों)से ढूंढा, उसको उन सब बडे यज्ञोंसे न लभा (पाया) । उस(प्रजापति)को तपने यह कहा—हे प्रजापति ! मेरा निश्चय यजनकर (मुझे तप), तब फिर तू स्वर्ग लोकको लभेगा । उसको श्रद्धाने यह कहा—हे प्रजापति ! तू मेरा निश्चय यजनकर, तब फिर तू स्वर्ग लोकको लभेगा । उसको सत्यने यह कहा—हे प्रजापति ! तू मेरा निश्चय यजनकर, तब फिर तू स्वर्गलोकको लभेगा । उसको आचरणने यह कहा—हे प्रजापति ! तू मेरा निश्चय यजनकर, तब फिर तू स्वर्ग लोकको लभेगा । उस(प्रजापति)ने वैसेही (जैसे तप आदिने कहाथा, वैसेही) तप आदिका यजन किया, और फिर स्वर्ग लोकको लभलिया ॥ २ ॥

(४) ब्रह्म देवान् अजनयद्, ब्रह्म विश्वम् इदं जगत्। ब्रह्मणा क्षत्रं निर्मितं, ब्रह्म ब्राह्मणः आत्मना ॥ १ ॥ (तै० ब्रा० २।८।८)

अर्थ—ब्रह्म(परमात्मा)ने अपने आपसे देवताओंको उत्पन्न किया है, ब्रह्मने अपने आपसे इस सब जगत्को उत्पन्न किया है। ब्रह्मने अपने आपसे शूद्र, वैश्य और क्षत्रियको बनाया है, ब्रह्म अपने आपसे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है ॥ १ ॥

अन्तर् अस्मिन् इमे लोकाः, अन्तर् विश्वम् इदं जगत्। ब्रह्म एव भूतानां ज्येष्ठं, तेन को अर्हति स्पर्धितुम् ॥ २ ॥ (तै० ब्रा० २।८।८)

अर्थ—इस(ब्रह्म)में भीतर(इस ब्रह्मके अन्दर) ये सब लोक हैं, इस ब्रह्मके भीतर(अन्दर) यह सब जगत् है। ब्रह्म ही प्राणी अप्राणी सब पदार्थोंके मध्यमें श्रेष्ठ है, कौन उसके साथ स्पर्द्धा(बराबरी)करने योग्य है ॥ २ ॥

किं स्विद् वनं कः उ स वृक्षः आसीद्, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणः! मनसा पृच्छत इद् उ, तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ३ (तै० ब्रा० २।८।९)

अर्थ—कौन फिर वह वन है और कौन वह वृक्ष है, जिससे द्युलोक और पृथिवीलोकको देवताओंने (ईश्वरीय जगत्निर्माणशक्तियोंने) घडा । हे मनीषियो! (बुद्धिमानों!) मनसे ही पूछो, और कौन है वह, जो सब भुवनों(पदार्थों)को धारण करता हुआ उन सबका अधिष्ठाता है ॥ ३ ॥

ब्रह्म वनं ब्रह्म सः वृक्षः आसीद्, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणः! मनसा विब्रवीमि वः, ब्रह्म अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ४ (तै० ब्रा० २।८।९)

अर्थ—ब्रह्म(परमात्मा) वह वन है, ब्रह्म वह वृक्ष है, जिससे द्युलोक और पृथिवीलोकको घडा । हे मनीषियो! मनसे पूछ कर ही तुमको कहता हूं, ब्रह्म ही है वह, जो सब भुवनोंको धारण करताहुआ उन सबका अधिष्ठाता है ॥ ४ ॥

(५) अग्निः इव अनाधृष्यः, पृथिवी इव सुषदा भूयासम्। सूर्य्यः इव अप्रतिधृष्यः, चन्द्रमाः इव पुनर्भूः भूयासम्। मनः इव अपूर्व, वायुः इव श्लोकभूः भूयासम्। ब्रह्म इव लोके, क्षत्रम् इव श्रियां भूयासम्॥१॥ (ऐ० आ० ५।१।१)

अर्थ—हे परमात्मा! (ब्रह्म!) मैं अग्निकी नाईं सब ओरसे न सहार सकने योग्य तेजवाला, पृथिवीकी नाईं अच्छी स्थिति(धृति)वाला होवूं। सूर्यकी नाईं सामनेसे किसीकी दृष्टिमें न आ सकनेवाला (सामनेसे मुझे कोई दृष्टि उठाकर न देख सके, ऐसा महातेजस्वी) और चन्द्रमाकी नाईं पुनः पुनः (प्रतिदिन) नया होनेवाला होवूं। मनकी नाईं सबका प्रेरक और स्वयं अप्रेर्य (प्रेरकरहित), वायुकी नाईं यशकेसाथ सर्वत्र गतिवाला होवूं। ब्राह्मणकी नाईं लोक(लोकसन्मान)में और क्षत्रियकी नाईं ऐश्वर्यमें मैं होवूं ॥ १ ॥

शर्म मे द्यौः, शर्म मे पृथिवी, शर्म विश्वम् इदं जगत्। शर्म चन्द्रश्च सूर्यश्च, शर्म ब्रह्मप्रजापती ॥ २ ॥ (तै० आ० ४।१)

अर्थ—द्युलोक मेरेलिये सुखकारि हो, पृथिवीलोक मेरेलिये सुखकारी हो, यह सब जगत् मेरेलिये सुखकारी हो। चन्द्रमा मेरेलिये सुखकारी हो और सूर्य निश्चय मेरेलिये सुखकारी हो, ब्राह्मण मेरेलिये सुखकारी और क्षत्रिय मेरेलिये सुखकारी हो ॥ २ ॥

मयि भर्गो* मयि महो, मयि यशो मयि सर्वम् ॥ ३ ॥ (शत० १२।३।४।६)

अर्थ—हे जगदीश! मुझमें शत्रुओंके दबानेका सामर्थ्य(बल) हो, मुझमें तेज हो, मुझमें यश हो और मुझमें सब (ऐश्वर्य) हो ॥ ३ ॥

भूतं वदिष्ये, भुवनं वदिष्ये, तेजो वदिष्ये, यशो वदिष्ये, तपो वदिष्ये, ब्रह्म वदिष्ये, सत्यं वदिष्ये ॥ ४ ॥ (तै० आ० ४।१)

अर्थ—हे भगवन्! मैं यथार्थ(आत्मदृष्ट) कहूंगा, लोकसिद्ध (आप्तदृष्ट) कहूंगा, तेजस्वी कहूंगा, यशस्वी कहूंगा, तप(ब्रह्मचर्य)युक्त कहूंगा, वेदआदि समस्त विद्याओंसे सिद्धको कहूंगा, त्रिकालाबाध्य अविनाशी परमात्माको कहूंगा ॥ ४ ॥

आयुः धेहि, प्राणं धेहि, अपानं धेहि, व्यानं धेहि, चक्षुः धेहि, श्रोत्रं धेहि, मनो धेहि, वाचं धेहि, आत्मानं धेहि, प्रतिष्ठां धेहि, मां धेहि, मयि धेहि ॥ ५ ॥ (तै० आ० ४।२)

अर्थ—हे ईश्वर! मुझे आयु (पूरी आयु) दे, मुझे प्राण (श्वास) दे, मुझे अपान (प्रश्वास) दे, मुझे व्यान (सब शरीरमें एकरस व्याप्त वायु) दे, मुझे आंख दे, मुझे कान दे, मुझे मन (शिव सङ्कल्प मन) दे, मुझे वाणी (सच्ची और मधुर वाणी) दे, मुझे शरीर (नीरोग शरीर) दे, मुझे प्रतिष्ठा दे, मुझको अदीनता दे, और मुझमें मनुष्यपना दे ॥ ५ ॥

ब्रह्म मे दाः, क्षत्रं मे दाः। तेजो मे धाः, वर्चो मे धाः। यशो मे धाः, तपो मे धाः, मनो मे धाः ॥ ६ ॥ (तै० आ० ४।५)

अर्थ—मुझे वेद आदि समस्त विद्या दे, मुझे क्षात्र बल दे, मुझे तेज (शरीरिक कान्ति) दे, मुझे विद्याज्योति दे, मुझे यश दे, मुझे तप (परिश्रम करना) दे, मुझे मन (उत्साही मन) दे ॥ ६ ॥

पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, नन्दाम शरदः शतं, मोदाम शरदः शतं, भवाम शरदः शतं, शृणवाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतम्, अजीताः स्याम शरदः शतं, ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ७ ॥

(तै० आ० ४।४२)

अर्थ—हे स्वामिन्! (मालिक!) हम सौ बरस देखें, सौ बरस जीवें, सौ बरस

* वीर्यं वै भर्गः (शत० ५।४।५।१)।

समृद्ध(धन धान्यसे बढेहुए) होवें, सौ बरस मुदित(पुत्र पौत्रोंके साथ हर्षित) होवें। सौ बरस स्वतन्त्र सत्तावाले (स्वराज्यको प्राप्त) होवें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बोलें, सौ बरस अजित(किसीसे न जीते गये) होवें, और चिरंजीवी हुए (सौ बरससे अधिक जीवी हुए) हम सूर्यको (निरावरण सूर्य ज्योतिको) देखनेकेलिये होवें ॥ ७ ॥

(९) याम् ऋषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः, अन्वैच्छन् देवाः तपसा श्रमेण। तां देवीं वाचं हविषा यजामहे, सा नो दधातु सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

(तै० ब्रा० २।८।८)

अर्थ—जिस बाणी(वेदमाता)को मन्त्रकर्ता (मन्त्रद्रष्टा) बुद्धिमान् ऋषियोंने ढूंढे पाया है, विद्वानोंने ब्रह्मचर्यरूपी तपसे और बुद्धिके निरन्तर परिश्रम(चिन्तन)से जिस बाणीको प्राप्त किया है । उस देवी (ऐश्वर्य आदिकी देनेवाली) वाणीका श्रद्धा भक्तिरूपी हविसे हम यजन (प्रतिदिन नियमपूर्वक अध्ययन)करते हैं, वह हमको सदा शुभकर्मके लोकमें (शुभ कर्मोंके करनेमें) रखे (प्रवृत्त रखे) ॥ १ ॥

स्तुता मया वरदा वेदमाता, प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं, मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥२॥

(अथर्व० १९।७१।१)

अर्थ—मैंने वाञ्छितफलके देनेवाली वेदमाता(स्वाध्यायसंहिता)की स्तुतिकी है (आदरपूर्वक पढा है), वह द्विजोंको (प्रतिदिन नियमपूर्वक पढनेवालोंको) पवित्र करनेवाली आयुः, प्राण(नीरोग-जीवन), प्रजा (पुत्र पौत्र आदि सन्तान), पशु (गौ, घोडा, भेड, बकरी) कीर्ति (व्यापक यश) धन तथा विद्या-ज्योति(विद्यातेज)को मुझे देकर प्रेरे कि तुम सब इस लोकका पूर्णसुख(अभ्युदय सुख) भोगकर अन्तमें ब्रह्मलोकको (परमात्मारूपी लोकको) अर्थात् मोक्षको प्राप्त होवो ॥ २ ॥

नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः । मा माम् ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुः, मा अहम् ऋषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम्, मा अहम् ऋषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम् ॥ ३ ॥ (तै० आ० ४।१)

अर्थ—नमस्कार है उन सब ऋषियोंको, जो मन्त्रोंके कर्ता (द्रष्टा) और मन्त्रोंके रक्षक(अध्ययन अध्यापन आदिसे रक्षक) हैं । मत मुझे मन्त्रोंके कर्ता, मन्त्रोंके रक्षक ऋषी अपनेसे परे करें, मत मैं मन्त्रोंके कर्ता, मन्त्रोंके रक्षक ऋषियोंको अपनेसे परे करूं, मत मैं मन्त्रोंके कर्ता, मन्त्रोंके रक्षक ऋषियोंको अपनेसे परे करूं ॥ ३ ॥ (६।२८)

(८।६७।३१५)

इति स्वाध्यायसंहितायां ब्राह्मणकाण्डे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति ब्राह्मणकाण्डम् ।

स्वाध्यायसंहिता।

अथ उपनिषत्काण्डम्।

अथ प्रथमोऽध्यायः।

"शान्तिः"

ओ३म्-पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं, पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते। पूर्णस्य पूर्णम् आदाय, पूर्णम् एव अव+शिष्यते॥१॥ ओम्! शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अर्थ—वह (ब्रह्म) पूर्ण (ऊनतासे रहित) है, यह (जगत्) पूर्ण (ऊनतासे रहित) है, क्योंकि उस पूर्णसे यह पूर्ण उत्पन्न होता है। वह पूर्ण इस पूर्णको लेकर (अपनेमें लीन कर) अन्तमें पूर्ण ही अवशेष (बाकी) रहता है॥ १॥

हे आदि, अन्त और मध्यमें पूर्ण! आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिभौतिक दुःखोंकी निवृत्ति हो*॥

(१) ईशाऽऽवास्यम् इदं सर्वं, यत् किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, कस्य स्वित् धनम्॥ १॥

अर्थ—यह सब (जगत्) ईश्वर (पूर्ण परमात्मा) से ढांपने (आच्छादन करने)-योग्य है (इस सबको ईश्वरसे ढांप) अर्थात् इस सबमें भीतर बाहर ईश्वरको देख और जो पृथिवीपर जंगमस्थावरधन है, उस त्यागेहुए (आसक्ति छोडे हुए) से अपना पालन (रक्षण) कर, मत ललचा (न तृष्णातन्तुको बढा), धन किसका है? ॥ १॥

कुर्वन् एव इह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। एवं त्वयि न अन्यथा इतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

अर्थ—यहां कर्मोंको कर्तव्य बुद्धिसे करता हुआ ही सौ बरस जीनेकी इच्छा कर। इस प्रकार (कर्तव्य बुद्धिसे कर्म करते हुए) तुझ मनुष्य श्रेष्ठमें कर्म (किया हुआ कर्म)

*काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, असूया, राग, द्वेष आदिसे जो मानस दुःख और ज्वर पीडा अतिसार आदिसे जो शारीरिक दुःख होते हैं, उनका नाम **आध्यात्मिक दुःख**, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अग्निदाह, जलप्लावन, विद्युत्पात आदिसे जो दुःख होते हैं, उनका नाम **आधिदैविक दुःख** और सांप बिच्छू सिंह व्याघ्र चोर डाकू, राजा तथा राजकर्मचारी आदिसे जो दुःख होते हैं, उनका नाम **आधिभौतिक दुःख** है।

न लिपटेगा(जन्ममरणरूपी संसारचक्रमें न डालेगा), इससे भिन्न दूसरा प्रकार (कर्मके न लिपटनेका कोई दूसरा उपाय) नही है ॥ २ ॥

असुर्याः नाम ते लोकाः, अन्धेन तमसाऽऽवृताः । तान् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये के च आत्महनो जनाः ॥ ३ ॥

अर्थ—असुरोंके (प्राणोंके पालन पोषण मात्रमें रत निकृष्ट प्राणियोंके) वे प्रसिद्ध लोक(शरीर) जो गाढ अन्धकार (घोर अज्ञान)से ढंपेहुए हैं। उन(लोकों)को वे मरकर प्राप्त होते हैं, जो कोई मनुष्य निश्चय आत्महत्यारे (अपने आपको जन्ममरणरूपी संसारचक्रमें डालनेवाले) हैं ॥ ३ ॥

अनेजद् एकं मनसो जवीयो, न एनद् देवाः आप्नुवन् पूर्वम् अर्षत् । तद् धावतो अन्यान् अत्येति तिष्ठत् तस्मिन् अपो मातरिश्वा* दधाति ॥४॥

अर्थ—वह (पूर्ण ब्रह्म) एक है, अकम्प (अडोल) है, और मनसे बढकर वेगवाला (मनकी पहुचसे परे) है, इसको इन्द्रियां नही प्राप्त होतीं (पहुचतीं), वह पहले (उन सबसे पहले) प्राप्त(पहुचा हुआ) है । वह स्थित हुआ (न चलता हुआ) दूसरे दौडनेवालों(वेगसे चलनेवालों)को उलांघ जाता है, उसीमें आश्रय पाये हुई प्रकृति जगत्‌रूपी गर्भको धारण करती है ॥ ४ ॥

तद् एजति तत् न एजति, तत् दूरे तद् उ अन्तके । तद् अन्तर् अस्य सर्वस्य, तद् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

अर्थ—वह सबको कंपाता (चलाता) है, वह आप नही कांपता (चलता) है, वह स्थूलदर्शियोंकेलिये दूरमें(दूर) और सूक्ष्मदर्शियोंकेलिये वह समीपमें(समीप) है, वह इस(जड, चेतन) सबके भीतर और वह इस सबके बाहर है ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मनि एव अनुपश्यति । सर्वभूतेषु च आत्मानं, ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो फिर सब (जड, चेतन सब) पदार्थोंको निश्चय आत्मा(पूर्ण ब्रह्म)में देखता है। और आत्माको सब पदार्थोंमें, उस(आत्मदर्शी)से कोई नही घृणा(द्वेष) करता है ॥६॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि, आत्मा एव अभूद् विजानतः । तत्र को मोहः कः शोकः, एकत्वम् अनुपश्यतः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस कालमें आत्मज्ञानीको सब पदार्थ आत्मा ही (आत्मरूप ही) हो जाते हैं । उस कालमें उस आत्माकी एकताके(एक आत्माके) देखनेवालेको कौन मोह (पदार्थोंमें ममताभिमान) और कौन शोक (पदार्थोंके वियोगसे दुःख) है, अर्थात् न मोह होता है, न शोक होता है ॥ ७ ॥

स परि+अगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम्, अस्नाविरं शुद्धम् अपापविद्धम् ।

---

* कारणे कार्यप्रयोगः ।

कविः मनीषी परिभूः स्वयंभूः, याथातथ्यतो अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अर्थ—वह (एक आत्मदर्शी) प्रकाशवाले(प्रकाशस्वरूप) पूर्णब्रह्मको प्राप्त होता है, जो (ब्रह्म) शरीरसे रहित है, व्रण(घाओ)से रहित है, स्नायुओं(नाडियों)से रहित है, शुद्ध है (राग, द्वेष आदिमलसे रहित है,) और पुण्य पापसे न बींधा हुआ है । और जो द्रष्टा है, बुद्धिवाला है, अध्यक्ष है तथा अपने आपसे बनाहुआ (स्वयंसिद्ध) है, और जिसने जैसे होने चाहिये, वैसे ही पदार्थोंको अनादि वर्षोंसे बनाया है ॥ ८ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते । ततो भूयः इव ते तमो, ये उ विद्यायां रताः ॥ ९ ॥

अर्थ—गाढे अन्धेरेमें वे प्रवेश करते(जाते)हैं, जो ज्ञानसे भिन्न कर्म(केवल कर्म)की उपासना करते (दिनरात कर्म करनेमें ही लगेरहते) हैं । उससे अधिक मानों वे अन्धेरेमें प्रवेश करते हैं, जो ज्ञानमें ही निमग्न हैं ॥ ९ ॥

अन्यद् एव आहुः विद्यया, अन्यद् आहुः अविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां, ये नः तद् विचचक्षिरे ॥ १० ॥

अर्थ—दूसरा ही फल ज्ञानसे होता कहते हैं, और दूसरा ही कर्मसे होता कहते हैं। यह हमने बुद्धिमानोंसे सुना है, जिन्होंने हमको वह(फलभेद) खोलकर कहा है ॥१०॥

विद्यां च अविद्यां च, यस्तद् वेद उभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्यया अमृतम् अश्नुते ॥ ११ ॥

अर्थ—जो उस ज्ञानको और निश्चय कर्मको अर्थात् दोनोंको साथी जानता (साथी समझकर उपासता) है । वह कर्मसे मृत्यु(चित्तकी मलिनता)को उलांघकर ज्ञानसे अमृत(ब्रह्म)को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिम् उपासते । ततो भूयः इव ते तमो, ये उ सम्भूत्यां रताः ॥ १२ ॥

अर्थ—गाढे अन्धेरेमें वे प्रवेश करते(जाते) हैं, जो आत्मासे भिन्न शरीर(केवल शरीर)की उपासना करते(दिनरात शरीरके लालन पालनमेंही लगेरहते) हैं । उससे अधिक मानों वे अन्धेरेमें प्रवेश करते हैं, जो आत्मामें ही (दिनरात आत्माके चिन्तनमें ही) निमग्न हैं ॥ १२ ॥

अन्यद् एव आहुः सम्भवात्, अन्यद् आहुः असम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां, ये नः तद् विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

अर्थ—दूसरा ही फल आत्मासे(आत्माकी उपासनासे) होता कहते हैं और दूसराही शरीरसे (शरीरकी उपासनासे) होता कहते हैं। यह हमने बुद्धिमानोंसे सुना है, जिन्होंने हमको वह (फलभेद) खोलकर कहा है ॥ १३ ॥

सम्भूतिं च विनाशं च, यस्तद् वेद उभयं सह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा, सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो इस आत्माको और निश्चय विनश्वर शरीरको अर्थात् दोनोंको साथी जानता (साथी समझकर उपासता=स्वस्थ रखता) है । वह शरीरसे रोगोंको उलांघ कर आत्मासे अमर जीवनको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण, सत्यस्य अपिहितं मुखम् । तत् त्वं पूषन्! अपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

अर्थ—हे पूर्ण परमात्मा! सोनेके ढकनेसे (सोनेकेसमान मनको लुभानेवाले विषयरूपी मायावी परदेसे) तुझ सत्यका मुख (मुंह) ढंका हुआ है । हे सबके पोषक! उस ढकने(परदे)को मुझ सत्यधर्मा(सत्य परायण)के दर्शनकेलिये उठा दे ॥ १५ ॥

पूषन्! एकर्षे! यम! सूर्य्य! प्राजापत्य! व्यूह रश्मीन् समूह तेजः । यत् ते रूपं कल्याणतमं, तत् ते पश्यामि, यो असौ असौ पुरुषः, सोऽहम् अस्मि ॥ १६ ॥

अर्थ—हे जगत्पोषक! हे अद्वितीयद्रष्टा! हे सबको नियममें रखनेवाले! हे सूरियों(विद्वानों)से प्राप्त होने योग्य! हे प्रजापतियोंके प्रजापति! अपने मुखकी किरणों (शुआओं)को बखेर और अपने प्रकाशको इकठ्ठा कर। तेरी जो सबसे बढकर मंगलमय स्वरूप है, उस तेरे स्वरूपको मैं देखूं (देख सकूं), जो वह वह (चिरकालसे बिछडा हुआ) आपका जन है, वह मैं हूं ॥ १६ ॥

वायुः अनिलम् अमृतम् अथ इदं भस्मान्तं शरीरम् । ओम् क्रतो! स्मर, कृतं स्मर, क्रतो! स्मर कृतं स्मर ॥ १७ ॥

अर्थ—हे मनुष्य! प्राण जीवन-रूपी समष्टि वायुमें और यह शरीर भस्म हुआ पृथिवीमें मिल जाता है । हे सङ्कल्पमय! तू अनन्तशक्ति पूर्ण परमात्माका स्मरणकर, कर्तव्य कर्मका स्मरणकर, हे सङ्कल्पमय! तू परब्रह्म परमात्माका स्मरणकर, कर्तव्य कर्मका स्मरणकर॥१७॥

अग्ने! नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव! वयुनानि विद्वान्। युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनो, भूयिष्ठां ते नमः+उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

हे सबके अग्रणी! (जगद्गुरु!) तू हमको धनकेलिये(लोकसुख तथा परलोकसुख-रूपी धनकेलिये) अच्छेमार्गसे (नेकीके रस्तेसे) चला, हे सबके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे प्रकाशमान! तू हमारे सब ज्ञानों(समझों)का जाननेवाला है । हमसे कुटिल (अच्छे मार्गपर चलनेसे रोकनेवाले) पापको अलगकर, हम बहुत बडा नमस्कारवचन तुझे भेंट करते हैं (वारंवारं प्रणाम करते है) ॥ १८ ॥ (११९८)

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण-मेवावशिष्यते ॥ १ ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

"शान्तिः"

ओम्-आप्यायन्तु मम अङ्गानि, वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि च । सर्वाणि, सर्वं ब्रह्मोपनिषदं मा अहं ब्रह्म निराकुर्याम्, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणम् अस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—हे परमात्मा ! मेरे अङ्ग वृद्धिको प्राप्त हों (प्रतिदिन बढती हुई शक्तिवाले हों) वाणी(वाग् इन्द्रिय), प्राण, आंख, कान और त्वक् (स्पर्श इन्द्रिय) और शेष सब इन्द्रियां वृद्धिको प्राप्त हों । यह जो सर्वरूप (सबका आत्मा) उपनिषदोंमें कहाहुआ ब्रह्म है, मैं न मैं उस ब्रह्मको भूलूं, मैं न मुझे वह ब्रह्म भूले। यह न भूलना परस्पर हो, न भूलना मेरेलिये हो। उस सबके आत्मा(सर्वरूप ब्रह्म)में निमग्नकेलिये जो धर्म उपनिषदोंमें कहे हैं, वे (सब धर्म) मुझमें हों, वे (सब धर्म) मुझमें हों। हे सर्वरूप परमात्मा ! आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिभौतिक दुःखोंकी निवृत्ति हो ॥

(१) केन इषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केन इषितां वाचम् इमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं कः उ देवो युनक्ति ॥१॥

अर्थ—हे गुरु ! किसका चाहा हुआ, किसका भेजा हुआ मन विषयोंमें गिरता (दौड दौड जाता) है, किससे आज्ञा पायेहुआ मुख्य प्राण (श्वास, प्रश्वास) चलता है । किससे चाही हुई इस वाणीको बोलते हैं और आंख कानको कौन देव देखने सुननेकी आज्ञा देता है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनः, यद् वाचो ह वाचं, स उ प्राणस्य प्राणः, चक्षुषः चक्षुः, अतिमुच्य धीराः प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति २

अर्थ—हे शिष्य ! जो कानका कान, मनका मन, और वाणीकी वाणी है, वह ही प्राणका प्राण और नेत्रका नेत्र है, उसके जाननेवाले बुद्धिमान् श्रोत्र(कान)आदि इन्द्रियों और उनके शब्द आदि विषयोंकी पकडसे अत्यन्त-छूटकर, इस शरीरसे मरकर अमर(जन्ममरणसे रहित) होजाते हैं ॥ २ ॥

न तत्र चक्षुः गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनः, न विद्मो न विजानीमो, यथा एतद् अनुशिष्यात्। अन्यद् एव तद् विदितात्, अथो अविदिताद् अधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नः तद् व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

अर्थ—उसमें (नेत्रके नेत्र, मनके मनमें) न नेत्र जाता है, न बाणी जाती है, और न मन जाता है, न हम उसको वैसे जानते हैं न समझते हैं जैसे नेत्र आदिके गोचर पदार्थोंको, तब उन पदार्थों जैसा कौन इसका उपदेश करे। वह दूसरा है निश्चय जानेहुए पदार्थसे, और न जानेहुए पदार्थसे भी दूसरा है। यह हमने पहलों(पूर्वजों)से सुना है, जिन्होंने हमको उसे खोलकर कहा है ॥ ३ ॥

यद् वाचा अनभ्युदितं, येन वाग् अभि+उद्यते। तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं, यद् इदम् उपासते ॥ ४ ॥

अर्थ—जो बाणीसे नही कहाजाता, जिससे बाणी कहीजाती (कहनेवाली होती) है। उसको ही तू ब्रह्म जान, न इसको, जिसको लोग यह अर्थात् बाणीका विषय जानते हैं ॥ ४ ॥

यत् मनसा न मनुते, येन आहुः मनो मतम्। तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं, यद् इदम् उपासते ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसको मनसे कोई नही समझता है, जिससे मन समझा हुआ(समझनेकी शक्ति पायाहुआ) कहते हैं। उसको ही तू ब्रह्म जान, न इसको, जिसको लोग यह अर्थात् मनका विषय जानते (समझते) हैं ॥ ५ ॥

यत् चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति। तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं, यद् इदम् उपासते ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसको आंखसे कोई नही देखता है, जिससे आंखें सबको देखती हैं। उसको ही तू ब्रह्म जान, न इसको, जिसको लोग यह अर्थात् आंखका विषय जानते हैं ॥६॥

यत् श्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रम् इदं श्रुतम्। तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं, यद् इदम् उपासते ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसको कानसे कोई नही सुनता है, जिससे यह कान सुनाहुआ (सुननेकी शक्ति पायाहुआ) होता है। उसको ही तू ब्रह्म जान, न इसको, जिसको यह अर्थात् कानका विषय जानते हैं ॥ ७ ॥

यत् प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते। तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं, यद् इदम् उपासते ॥ ८ ॥

अर्थ—जो प्राणसे नही प्राणन–क्रिया करता(सांस लेता) है, जिससे प्राण प्राणन–क्रियावाला होता है। उसको ही तू ब्रह्म जान, न इसको, जिसको लोग यह अर्थात् प्राणसे प्राणनक्रिया करता जानते हैं ॥ ८ ॥

(२) यदि मन्यसे सुवेद इति, दभ्रम् एव अपि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो

रूपम्। यद् अस्य त्वं, यद् अस्य च देवेषु, अथ नु मीमांस्यम् एव, ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे शिष्य! यदि तू यह मानता (समझता) है कि मैं ब्रह्मको अच्छीतरह (ठीक ठीक) जानता हूं, तो तू अल्प(परिच्छिन्न) ही निश्चय ब्रह्मका स्वरूप जानता है। इस(ब्रह्म)का जो रूप तू है (तुझमें है) और जो इसका रूप अग्निआदि देवताओंमें है, अब निःसन्देह वही तुझे विचारणीय(विचार कर जानने योग्य) है, तब मैं ब्रह्मका स्वरूप तुझे ज्ञात हुआ समझूं॥ १ ॥

न अहं मन्ये सुवेद इति, नो न वेद इति, वेद च। यो नः तद् वेद तद् वेद, नो न वेद इति वेद च ॥ २ ॥

अर्थ—हे गुरु! मैं न यह मानता(समझता)हूं कि मैं ब्रह्मको अच्छीतरह जानता हूं, और न यह कि नहीं जानता हूं, किन्तु जानता हूं। जो हममें से उस (ब्रह्म)को जानता है, वह ऐसेही उसको जानता है, कि मैं उसको नहीं जानताहूं नहीं, किन्तु जानता हूं॥ २ ॥

यस्य अमतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातम् अविजानताम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे शिष्य! जिसको इन्द्रियोंके विषयकी नाईं ब्रह्म नें समझा हुआ है, उसको ही समझाहुआ है, और जिसको इन्द्रियोंके विषयकी नाईं समझाहुआ है, वह ब्रह्मको नहीं जानता है। क्योंकि वह जाननेवालोंको नं जानाहुआ और नं जाननेवालोंको जानाहुआ होता है॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदितं मतम्, अमृतत्वं हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्यया विन्दते अमृतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे शिष्य! जब गुरुके उपदेशसे जानाहुआ और समझाहुआ ब्रह्म होता है, तब निश्चय मनुष्य अमृतत्वको लभता(पाता) है। पहले शरीर और मनसे साधनरूपीबलको लभता है, पीछे ज्ञान(ब्रह्मज्ञान)से अमृतब्रह्म(अमृतत्व)को लभता है॥ ४ ॥

इह चेद् अवेदीद् अथ सत्यम् अस्ति, न चेद् इह अवेदीत् महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः, प्रेत्य अस्मात् लोकाद् अमृताः भवन्ति ॥ ५ ॥

अर्थ—हे शिष्य! यदि मनुष्यने यहां (इस मनुष्यशरीरमें) ब्रह्मको जाना, तब वह सत्य (जन्ममरणसे रहित) है, यदि यहां न जाना, तब उसकेलिये बडा विनाश (वारंवार जन्मना और मरना) है। बुद्धिमान् प्राणियों प्राणियों अर्थात् सब प्राणियोंमें ब्रह्मको जानकर इस शरीरसे मरकर जन्ममरणसे रहित हो जाते हैं॥ ५ ॥

(३) ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवाः अमही-

यन्त । ते ऐक्षन्त अस्माकम् एव अयं विजयः, अस्माकम् एव अयं महिमा इति ॥ १ ॥

अर्थ—ब्रह्मने निश्चय देवताओंकेलिये विजय प्राप्त किया । निःसन्देह उस ब्रह्मके विजयमें देवता बडप्पनको प्राप्त हुए । उन्होंने यह विचारा—हमारा ही यह विजय है, हमारा ही यह बडप्पन है ॥ १ ॥

तद् ह एषां विजज्ञौ । तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव । तत् न व्यजानन्त किम् इदं यक्षम् इति ॥ २ ॥

अर्थ—उस(ब्रह्म)ने निःसन्देह इनको (इनके विचारको) जाना (जानलिया) । और उनकेलिये (उनके मिथ्या–विचारकी निवृत्तिकेलिये) निश्चय प्रकट हुआ । उसको उन्होंने न जाना और आपसमें यह कहने लगे 'यह यक्ष (पूज्य) कौन है' ॥ २ ॥

ते अग्निम् अब्रुवन् जातवेदः! एतद् विजानीहि किम् एतद् यक्षम् इति । तथा इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उन्होंने अग्निसे यह कहा—हे जातवेदा! (सब धनोंके मालिक!) इसको तू जान 'कौन यह यक्ष है' । बहुत अच्छा, यह अग्निने कहा ॥ ३ ॥

तद् अभि+अद्रवत् । तम् अभि+अवदत् 'को असि' इति । अग्निः वै अहम् अस्मि इति अब्रवीत्, जातवेदाः वै अहम् अस्मि इति ॥ ४ ॥

अर्थ—अग्नि उस(यक्ष)के सामने दौडकर गया । उस(अग्नि)को यक्षने यह आगेसे कहा—तू कौन है । मैं निश्चय अग्नि हूं, यह अग्निने कहा, जातवेदा निश्चय मैं हूं, यह अग्निने कहा ॥ ४ ॥

तस्मिन् त्वयि किं वीर्यम् इति । अपि इदं सर्वं दहेयं यद् इदं पृथिव्याम् इति ॥ ५ ॥

अर्थ—उस तुझ अग्निमें क्या बल(शक्ति) है? यह यक्षने पूछा । यह सब ही जला दूं जो यह पृथिवीमें है, यह अग्निने कहा ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधौ 'एतद् दह' इति । तद् उपप्रेयाय सर्वजवेन । तत् न शशाक दग्धुम् । स ततः एव निववृते, न एतद् अशकं विज्ञातुं यद् एतद् यक्षम् इति ॥ ६ ॥

अर्थ—उसके सामने यक्षने एक तिनका रखा और 'इसको जला' यह कहा । अग्नि अपने पूरे वेगसे उस(तिनके)के पास गया । परन्तु उसको जलानेकेलिये न समर्थ हुआ । वह वहांसे ही लौट आया और आकर यह कहा 'मैं इसको जाननेकेलिये न समर्थ हुआ, जो यह यक्ष है ॥ ६ ॥

अथ वायुम् अब्रुवन् वायो! एतद् विजानीहि किम् एतद् यक्षम् इति । तथा इति ॥ ७ ॥

अर्थ—अब वायुसे यह कहा—हे वायु! तू इसको जान कौन यह यक्ष है। बहुत अच्छा, यह वायुने कहा ॥ ७ ॥

तद् अभ्यद्रवत् । तम् अभ्यवदत् 'कोऽसि' इति । वायुः वै अहम् अस्मि इति अब्रवीत्, मातरिश्वा वै अहं अस्मि इति ॥ ८ ॥

अर्थ—वायु उसके सामने दौडकर गया । उसको यक्षने यह आगेसे कहा तू कौन है? । वायु निश्चय मैं हूं, यह वायुने कहा, मातरिश्वा निश्चय मैं हूं, यह वायुने कहा॥८॥

तस्मिन् त्वयि किं वीर्य्यम् इति । अपि इदं सर्वम् आददीयं, यद् इदं पृथिव्याम् इति ॥ ९ ॥

अर्थ—उस तुझमें क्या बल है, यह यक्षने कहा । यह सब ही उडा-लेजाऊं जो यह पृथिवीमें है, यह वायुने कहा ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधौ 'एतद् आदत्स्व' इति । तद् उपप्रेयाय सर्वजवेन । तत् न शशाक आदातुम् । स ततः एव निववृते, न एतद् अशकं विज्ञातुं यद् एतद् यक्षम् इति ॥ १० ॥

अर्थ—उसके सामने यक्षने एक तिनका रखा और 'इसको उडा लेजा' यह कहा। वायु अपने पूरे वेगसे उस(तिनके)के समीप गया, परंतु उसको उडालेजानेकेलिये न समर्थ हुआ । वह (वायु) वहांसे ही लौट आया, और आ कर यह कहा—'मैं इसको जाननेकेलिये न समर्थ हुआ, जो यह यक्ष है' ॥ १० ॥

अथ इन्द्रम् अब्रुवन् मघवन्! एतद् विजानीहि किम् एतद् यक्षम् इति । तथा इति । तद् अभ्यद्रवत् । तस्मात् तिरोदधे ॥ ११ ॥

अर्थ—अब देवताओंने इन्द्र(सूर्य्य)से यह कहा हे मघवन्! (सब धनोंवाले!) इसको तू जान कौन यह यक्ष है । बहुत अच्छा, यह इन्द्रने कहा । और उसके सामने दौडकर गया । उस(इन्द्र) से वह छिप गया ॥ ११ ॥

स तस्मिन् एव आकाशे स्त्रियम् आजगाम बहुशोभमानाम् उमां हैमवतीम् । तां ह उवाच किम् एतद् यक्षम् इति ॥ १२ ॥

अर्थ—वह (इन्द्र) उस ही स्थानमें बडी शोभावाली, हिमालयकी पुत्री उमाजैसी एक स्त्री(विद्यादेवी)को मिला । उस(स्त्री)को निश्चय इन्द्रने यह कहा(पूछा)—यह यक्ष कौन था ॥ १२ ॥

(४) सा ब्रह्म इति ह उवाच, ब्रह्मणो वै एतद् विजये महीयध्वम् इति । ततो ह एव विदांचकार 'ब्रह्म' इति ॥ १ ॥

अर्थ—उस(स्त्री)नें कहा यह निश्चय ब्रह्म था और ब्रह्मके इस विजयमें ही निःसन्देह तुम बडप्पनको प्राप्तहुए, यह कहा । उससे(उस स्त्रीके कहनेसे) ही निश्चय इन्द्रने 'यक्ष ब्रह्म था,' यह जाना ॥ १ ॥

तस्माद् वै एते देवाः अतितराम् इव अन्यान् देवान्, यद् अग्निः वायुः इन्द्रः । ते हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्शुः, ते हि एनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्म इति ॥ २ ॥

अर्थ—इसलिये ही ये देवता मानों दूसरे देवताओंको बहुत उलांघेहुए(दूसरे देवताओंसे बहुत बढेहुए) हैं जो अग्नि, वायु और इन्द्र है । क्योंकि उन्होंने इस(ब्रह्म)को अतिनिकटसा छुआ है, उन्होंने ही इसको सबसे पहले जाना है कि यह ब्रह्म है ॥२॥

तस्माद् वै इन्द्रो अतितराम् इव अन्यान् देवान् । स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श, स हि एनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्म इति ॥ ३ ॥

अर्थ—इसलिये ही इन्द्र(सूर्य्य) मानों दूसरे सब देवताओंको बहुत उलांघे हुए है । क्योंकि उसने इसको अतिनिकटसा छुआ है, उसने ही इसको सबसे पहले जाना है कि यह ब्रह्म है ॥ ३ ॥

तस्य एष आदेशः-यद् एतद् विद्युतो व्यद्युतदा ३ इति, इति न्यमीमिषदा ३, इति अधिदैवतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—उस(ब्रह्म)का यह उपदेश है-जो इन चमकनेवालों (अग्नि, वायु, इन्द्र)को सृष्टिकालमें चमकाता है, वह ब्रह्म है, जो प्रलयकालमें संकोचता (अपनेमें लीन करता)है, वह ब्रह्म है, यह देवताओंके सम्बन्धमें ब्रह्मका उपदेश है ॥ ४ ॥

अथ अध्यात्मम्-यद् एतद् गच्छति इव च मनः अनेन च एतद् उपस्मरति, अभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

अर्थ—अब मन(आत्मा)के सम्बन्धमें ब्रह्मका उपदेश किया जाता है-यह जो मन मानों विषयोंमें जाता है, इस(ब्रह्म)से ही जाता है, और जो यह प्रतिपल विषयोंका चिन्तन करता है, इससे ही करता है, और जो इसका वारंवार सङ्कल्प (इरादा) है, वहभी इससे ही है ॥ ५ ॥

तद् ह तद्वनं नाम, तद्वनम् इति उपासितव्यम् । स यः एतद् एवं वेद अभि ह एनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—वह (ब्रह्म) निश्चय तद्+वन (उस सबका प्यारा, जो उसने उत्पन्न किया है) प्रसिद्ध है, इसलिये वह 'तद्वन' इसरूपसे उपासने(चिन्तन करने)योग्य है। वह जो इसको इस रूपसे उपासता है, निश्चय इसको सब ओरसे सब प्राणी चाहते (प्यार करते) हैं ॥६॥

उपनिषदं भो! ब्रूहि इति । उक्ता ते उपनिषद्, ब्राह्मीं वाव ते उपनिषदम् अब्रूम इति ॥ ७ ॥

अर्थ—हे गुरु ! मुझे ब्रह्मविद्या कहो, यह शिष्यने कहा । तुझे ब्रह्मविद्या कहदी, निःसन्देह तुझे मैंने ब्रह्मकी पूरी विद्या कहदी, यह गुरुने कहा ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्म इति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वा अङ्गानि । सत्यम् आयतनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—उस(ब्रह्मविद्या)के तप(द्वन्द्वसहन और हित-मित-अशन) दम (इन्द्रिय-निग्रह) और कर्म (नित्यनैमित्तिक कर्म) यह तीनों पाओं हैं, वेद(मन्त्र, ब्राह्मण, और उपनिषद्) शेष सब अङ्ग हैं । और सत्य (सत्यभाषण) रहनेका स्थान है ॥ ८ ॥

यो वै एताम् एवं वेद, अपहत्य पाप्मानम् अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

अर्थ—जो निश्चय इस (ब्रह्मविद्यारूपी उपनिषद्)को ऐसे (पाओं आदि अंगोंसहित) जानता है, वह पाप(जन्ममरणकेहेतु पुण्य पाप)को मारकर अन्तरहित तथा सबसे श्रेष्ठ स्वर्गलोक(ब्रह्म)में प्रतिष्ठित (पुनरावृत्तिरहित स्थितिवाला) होता है, प्रतिष्ठित होता है ९

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं, माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ओम् शान्तिः ३ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

"शान्तिः"

ओम् सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्विनौ अधीतम् अस्तु, मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—हे परमात्मा ! आप हम पतिपत्नी दोनोंकी एकसाथ रक्षा करें, हम दोनोंको एकसाथ भुगायें (सांसारिक सुखका भोग करायें), हम दोनों एकसाथ बलको (सांसारिक सुखके साधनको) सम्पादन करें । हम दोनोंका पढा हुआ तेजस्वी हो, हम आपसमें मत(न) द्वेष करें ॥ हे परमात्मा ! आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिभौतिक दुःखोंकी निवृत्ति हो ॥

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ । तस्य ह नचिकेताः नाम पुत्रः आस ॥ १ ॥

अर्थ—स्वर्ग-सुख चाहते हुए प्रसिद्ध निश्चय वाजश्रवाके पुत्र 'उद्दालक'ने अपना

सब धन देदिया (विश्वजित् यज्ञकी दक्षिणामें देदिया) । उसका निश्चय नचिकेता नाम एक पुत्र था ॥ १ ॥

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा आविवेश । सोऽमन्यत ॥ २ ॥

अर्थ—उस निश्चय कुमार हुएहीको दक्षिणामें दी जानेवाली गौओंके लाये जानेपर आत्मामें श्रद्धा(शास्त्रीय बुद्धि) उत्पन्न हुई। उसने विचारा (सोचा) ॥ २ ॥

पीतोदका: जग्धतृणाः दुग्धदोहाः निरिन्द्रियाः । अनन्दाः नाम ते लोकाः, तान् स गच्छति ताः ददत् ॥ ३ ॥

अर्थ—ये(गौएं) पानी पीचुकी हैं, घास खाचुकी हैं, दूध दुहाचुकी हैं, प्रजनन+इन्द्रिय खोचुकी (बच्चे उत्पन्न करनेमें असमर्थ होचुकी) हैं । वे जो प्रसिद्ध सुखरहित लोक हैं, उन(लोकों)को वह(मनुष्य) प्राप्त होता है, जो उन(गौओं)को (ऐसी गौओंको) दक्षिणामें देता है ॥ ३ ॥

स ह उवाच पितरं-तत! कस्मै मां दास्यसि इति । द्वितीयं तृतीयम् । तं ह उवाच 'मृत्यवे त्वा ददामि' इति ॥ ४ ॥

अर्थ—उसने अपने प्रसिद्ध पिता उद्दालकसे यह कहा-हे प्रजातन्तुके बढानेवाले ! मुझे किसको दोगे ? । दो बार कहा, तीन बार कहा । उससे प्रसिद्ध पिता उद्दालकने यह कहा-तुझे यमको देता हूं ॥ ४ ॥

बहूनाम् एमि प्रथमः, बहूनाम् एमि मध्यमः । किंस्विद् यमस्य कर्तव्यं, यत् मया अद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—[नचिकेता सोचनेलगा]बहुतोंमें मैं पहला(पहलीश्रेणीका) यमके पास जाता हूं, बहुतोंमें मझला (वीचली श्रेणीका) जाता हूं । कौन निश्चय यमका करनेयोग्य काम है, जिसको वह आज मुझसे पूरा करेगा (मुझसे करायेगा) ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे, प्रतिपश्य तथाऽपरे । सस्यम् इव मर्त्यः पच्यते, सस्यम् इवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

अर्थ—[सोचकर जातेहुए नचिकेताने अपने शोकातुर पितासे कहा] हे पिता ! शास्त्रानुसार(शास्त्रीय दृष्टिसे)देख-जैसे पहले(हमारे पूर्वज पितामह, प्रपितामह आदि) यमके पास गये हैं, वैसेही मैं जाता हूं, फिर उलटकर देख-जैसे दूसरे (हमारे सखा, मित्र, बन्धु आदि सब) गये हैं, वैसेही मैं जाता हूं । मनुष्य खेतीकी नाई पकता (पक कर गिरता) है और फिर खेती की नाई उपजता है, [शोक करना व्यर्थ है] ॥ ६ ॥

वैश्वानरः प्रविशति, अतिथिः ब्राह्मणो गृहान् । तस्य एतां शान्तिं कुर्वन्ति, हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

अर्थ—[नचिकेताके जानेपर यम घरमें नहीथा, वापस आनेपर उसकी धर्मप-

कीने कहा] विश्वका नेता ब्राह्मण अतिथि हुआ घरोंमें प्रविष्ट हुआ(घरमें आया) है। उसकी (घरमें आये अथितिकी) इस(शास्त्रोक्त)शान्तिको(अन्नजल और फलपुष्पसे परिश्रमनिवृत्तिको) सद्गृहस्थ करते हैं, हे वैवस्वत! (विवस्वान्के पुत्र!) जल (अन्नजल और फलपुष्प) लेजा ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च, इष्टापूर्ते पुत्रपशूंन् च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्य अल्पमेधसो, यस्य अनश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस अल्पबुद्धि मनुष्य(गृहस्थके)के घरमें अतिथि ब्राह्मण न खाता हुआ (भूखा रहता हुआ) निवास करता है, उसके आशा(इष्टपदार्थके मिलनेकी उम्मीद), प्रतीक्षा (मिलनेकी उडीक), सञ्चितपुण्य और मीठी तथा सच्ची बाणी, यज्ञकर्म तथा लोकोपकारक दूसरे कर्म, और पुत्र तथा पशु, इन सबको वह नष्ट करता है ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीः यद् अवात्सीः गृहे मे, अनश्नन् ब्रह्मन्! अतिथिः नमस्यः। नमस्ते अस्तु ब्रह्मन्! स्वस्ति मेऽस्तु, तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ९

अर्थ—[यमने अन्नजल और फलपुष्प देकर नचिकेतासे कहा] हे ब्राह्मण! तुझे नमस्कार हो, मुझे कल्याण हो, और हे ब्राह्मण! जिसलिये तूने नमस्कारके योग्य(माननीय) अतिथि होकर मेरे घरमें कुछ न खातेहुए (भूखे रहते हुए) तीन रात्री निवास किया है, इसलिये तू उसके बदले तीन वर मांगले ॥ ९ ॥

शान्तसङ्कल्पः सुमनाः यथा स्याद्, वीतमन्युः गौतमो माऽभि मृत्यो!। त्वत् प्रसृष्टं माऽभिवदेत् प्रतीतः, एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

अर्थ—नचिकेताने कहा हे यम! निवृत्तचिन्तावाला, प्रसन्नमनवाला और क्रोधसे रहित जैसे गोतमगोत्री मेरा पिता(उद्दालक) पहले था, वैसे अब मेरी ओरसे हो। और तुझसे वापस भेजेहुए मुझको प्रसन्नहुआ "आओ पुत्र!" सामनेसे बोले, यह तीनों वरोंमें पहला वर मैं मांगता हूं ॥ १० ॥

यथापुरस्तात् भविता प्रतीतः, औद्दालकिः* आरुणिः मत् प्रसृष्टः। सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युः, त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ११

अर्थ—यमने कहा-हे नचिकेता! मुझसे प्रेराहुआ अरुणका पुत्र तेरा पिता उद्दालक पहलेकी नाई प्रसन्न होगा। क्रोधसे रहितहुआ सब रातें सुखपूर्वक सोयेगा, और मुझ मृत्युके मुखसे छूटेहुए(वापस घर गयेहुए) तुझको देखताहुआ पहलेकी नाई प्रसन्नतापूर्वक आओ पुत्र! सामनेसे बोलेगा ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके न भयं किं चन अस्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

अर्थ—हे यम! मैंने सुना है-स्वर्ग लोकमें कोई भी भय(डर) नही है, न वहां तू

* स्वार्थे इञ्।

(तुझ यमका डर अर्थात् मरनेका डर)है, न कोई बुढापेसे डरता है। भूख तथा प्यास दोनोंको उलांघकर शोकसे रहित हुआ मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रसन्न(खुश) रहता है ॥ १२ ॥

स त्वम् अग्निं स्वर्ग्यम् अध्येषि मृत्यो!, प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोकाः अमृतत्वं भजन्ते, एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

अर्थ—हे यम ! मैं सुनता हूं—स्वर्गलोकमें रहनेवाले अमरजीवनको सेवते(पाते) हैं, वह वरदाता तू उस स्वर्गकेसाधन(उस स्वर्गकी प्राप्तिके साधन) अग्नि विद्याको जानता है, उसे मुझ श्रद्धालुको कहो, यह मैं दूसरे वरसे मांगता हूं ॥ १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि तद् उ मे निबोध, स्वर्ग्यम् अग्निं नचिकेतः! प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिम् अथो प्रतिष्ठां,विद्धि त्वम् एतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥

अर्थ—हे नचिकेता ! स्वर्गके साधन अग्नि(अग्निविद्या)को तुझे कहता हूं, तू अब उसको सावधान हुआ मुझसे समझ। और स्वर्गलोककी प्राप्तिके साधन तथा लोकप्रतिष्ठाके कारण इस अग्निविद्याको तू हृदयगुफा(बुद्धि)में रखाहुआ ही जान ॥ १४ ॥

लोकादिम् अग्निं तम् उवाच तस्मै, याः इष्टकाः यावतीः वा यथा वा । स चापि तत् प्रत्यवदद् यथोक्तम्, अथास्य मृत्युः पुनर् एव आह तुष्टः १५

अर्थ—स्वर्गलोकके मुख्यसाधन उस अग्नि(अग्निविद्या)को उसे यमने कहा, और जो ईंटें तथा जितनी ईंटें और जैसी ईंटें कुण्डकेलिये आवश्यक हैं, वे भी उसे कहीं ! और उस(नचिकेता)ने भी वह सब जैसा कहा था, वैसा आगेसे कह सुनाया, अब निःसन्देह प्रसन्न हुए यमने फिर इस(नचिकेता)से कहा ॥ १५ ॥

एष ते अग्निः नचिकेतः! स्वर्ग्यः, यम् अवृणीथाः द्वितीयेन वरेण । एतम् अग्निं तव एव प्रवक्ष्यन्ति जनासः, तृतीयं वरं नचिकेतो! वृणीष्व ॥१६॥

अर्थ—हे नचिकेता ! यह है तेरा स्वर्गकासाधन अग्नि(अग्निविद्या), जिसको दूसरे वरसे मांगा था । लोग इस अग्निको तेरेनामसे(नाचिकेत-नामसे) ही पढे पढायेंगे, अब तू हे नचिकेता ! तीसरे वरको मांग ॥ १६ ॥

या इयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये, अस्ति इति एके, न अयम् अस्ति इति च एके । एतद् विद्याम् अनुशिष्टः त्वयाऽहं, वराणाम् एष वरः तृतीयः॥१७॥

अर्थ—जो यह मरेहुए मनुष्यकेविषयमें(मनुष्यकी बावत)विरुद्ध विचार(संशय) है— एक यह कहते हैं 'आत्मा शरीरसे अलग है और मरने पीछे रहता है, तथा कई एक यह कहते हैं—यह(आत्मा) शरीरसे अलग नहीं है, और न मरने पीछे रहता है । मैं तुझसे अनुशासन(शिक्षा) पायाहुआ इस आत्माके होने न होनेको जानूं, यह वरोंमें मेरा तीसरा वर है ॥ १७ ॥

देवैः अत्रापि विचिकित्सितं पुरा, न हि सुविज्ञेयम् अणुः एष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो! वृणीष्व, मा मोपरोत्सीः अति मा सृज एनम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यमने कहा–हे नचिकेता ! पहले देवताओंने भी इसमें (आत्माके होने, न होनेमें) सन्देह (संशय) किया है, क्योंकि यह देह-इन्द्रिय-संघातका धारनेवाला (आत्मा) बहुत बारीक (सूक्ष्म) है, सुख (आसानी) से जानने योग्य नही । तू कोई दूसरा वर मांगले, मुझे इसकेलिये न उपरुद्ध (सब ओरसे रुका हुआ=मजबूर) कर, इस (वर) को मेरेलिये छोड दे ॥ १८ ॥

देवैः अत्रापि विचिकित्सितं किल, त्वं च मृत्यो! यं न सुविज्ञेयम् आत्थ। वक्ता च अस्य त्वादृग् अन्यो न लभ्यो, न अन्यो वरः तुल्यः एतस्य कश्चित् ॥ १९ ॥

अर्थ—नचिकेताने कहा–यदि देवताओंने भी इसमें सन्देह किया है, और तू हे यम ! जिस (आत्मा) को सुखसे जाननेयोग्य नही कहता। और इसका कहनेवाला (उपदेष्टा) दूसरा तेरेजैसा ढूंढनेपरभी न लभेगा (मिलेगा), तो मेरी समझमें इस (वर) के बराबर दूसरा वर कोई भी नही है ॥ १९ ॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यम् अश्वान्। भूमेः महद् आयतनं वृणीष्व, स्वयं च जीव शरदो यावद् इच्छसि ॥२०॥

अर्थ—यमने कहा–सौसौ बरसकी आयुवाले पुत्र और पौत्र मांगले, बहुत पशू, सुनहरी झूलोंवाले हाथी और घोडे मांगले। पृथिवीका कोई बडा प्रदेश मांगले और आप उतने बरस जीय, जितने बरस तू चाहता है ॥ २० ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं, वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतः! त्वम् एधि, कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २१ ॥

अर्थ—यदि इस (वर) के बराबर कोई दूसरा वर तू समझता है, तो मांगले, सब प्रकारका धन और चिरकालका जीवन मांगले। हे नचिकेता ! सबसे पूज्य भारत-भूमिमें तू राजा हो, मैं तुझे वाञ्छित पदार्थोंका यथेष्ट भोगनेवाला बनाता हूं ॥ २१ ॥

ये ये कामाः दुर्लभाः मर्त्यलोके, सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व। इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः, नहि ईदृशाः लम्भनीयाः मनुष्यैः। आभिः मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व, नचिकेतो! मरणं मा नु प्राक्षीः ॥२२॥

अर्थ—जो जो वाञ्छित पदार्थ मनुष्यलोकमें दुर्लभ हैं, उन सब वाञ्छित पदार्थोंको इच्छानुसार मांगले। ये सुन्दर स्त्रियां रथोंसहित और बाजोंसहित तुझे देता हूं, ऐसी स्त्रियां मनुष्योंको प्राप्त होनेयोग्य नही हैं। इन मेरी दीहुई स्त्रियोंसे हे नचिकेता ! सेवा करा, और मरनेको (मरने पीछे आत्माके रहने न रहनेको) न पूछ ॥ २२ ॥

श्वोभावाः मर्त्यस्य यद् अन्तक! एतत्, सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पम् एव, तव एव वाहाः तव नृत्यगीते ॥ २३ ॥

अर्थ—नचिकेताने कहा–हे अन्तक !(सबका अन्त करनेवाले !) ये जो पदार्थ आपने कहे हैं, वे सब कलकेपदार्थ(मुशकलसे कलतक रहनेवाले पदार्थ) हैं, और अतिभोगसे मनुष्यके सब इन्द्रियोंके तेजको नष्ट करते हैं। दूसरा, जब अन्तमें मरना है, तो चिर हो अथवा अचिर, सब जीना थोडा ही है, इसलिये तेरे ही हों (तेरे पास ही रहें) पुत्र, पौत्र तथा स्त्रियोंके सहित रथ, हाथी और घोडे, तथा तेरा ही हो नाचना और गाना ॥२३॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः, लप्स्यामहे वित्तम् अद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावद् ईशिष्यसि त्वं, वरः तु मे वरणीयः स एव ॥२४॥

अर्थ—हे यम ! मनुष्य धनसे तृप्त होनेयोग्य नही है, और जब तुझे देखलिया (पा लिया) है, तब धनको अवश्य प्राप्त होंगे (पायेंगे)। और अवश्य, जियेंगे जबतक तू ईश्वर होगा (यमपदपर विराजेगा), इसलिये ये सब मांगनेयोग्य नही, मांगने योग्य वर तो मेरा निश्चय वही है ॥ २४ ॥

अजीर्य्यताम् अमृतानाम् उपेत्य, जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान्, अतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २५ ॥

अर्थ—न जीर्ण(बूढे) होनेवाले, न मरनेवाले देवताओं(द्युलोकमें रहनेवालों)के समीप जाकर(पास पहुचकर) जीर्ण होनेवाला, मरनेवाला, पृथिवीतलपर रहनेवाला, सब कुछ अच्छीतरह जानताहुआ(समझदार) और रूप (सौन्दर्य) तथा विषयभोगोंके प्रमोदों (आनन्दों)को सबओरसे(स्वरूपसे, परिणामसे) चिन्तन करताहुआ (विचारता हुआ) कौन(मनुष्य) बहुतलम्बे जीनेमें प्रसन्न(खुश) होगा ॥ २५ ॥

यस्मिन् इदं विचिकित्सन्ति मृत्यो !, यत् साम्पराये महति, ब्रूहि नः तत्।
यो अयं वरो गूढम् अनुप्रविष्टो, न अन्यं तस्मात् नचिकेताः वृणीते ॥२६॥

अर्थ—हे यम ! जिस(आत्मा)में लोग 'है. अथवा नहीं' यह संशय करते हैं, और जिसके परलोकसम्बन्धमें, जो इसलोकके सम्बन्धसे बहुत बडा (अति लम्बा सम्बन्ध) है, संशय करते हैं, उसको हमें कहो। जो यह वर ढकेहुए स्थानमें प्रवेश कियाहुआ (अतिगहन) है, उससे भिन्न किसी दूसरे वरको नचिकेता नही मांगता॥ २६ ॥

(२) अन्यत् श्रेयो अन्यद् उत एव प्रेयः, ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति, हीयते अर्थाद् यः उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

अर्थ—हे नचिकेता ! श्रेय(मोक्षसुखका साधन आत्मविद्या) दूसरा पदार्थ है और प्रेय(सांसारिकसुखका साधन स्त्री पुत्र, गृह धन, आदि)निश्चय दूसरा पदार्थ है, और वे अलग अलग प्रयोजन(फल)वाले दोनों मनुष्यको बांधे हुए (मनुष्यके साथ लगे हुए)हैं। उन दोनोंमेंसे जो श्रेयको ग्रहण करता(मांगता) है, उसका भला(लोक–परलोकमें कल्याण)

होता है, और वह मनुष्यके असली प्रयोजन(उद्देश)से गिरजाता है, जो प्रेयको ही मांगता है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यम् एतः, तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरो अभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

अर्थ—श्रेय और प्रेय, दोनों मनुष्यको प्राप्त हैं, बुद्धिमान् उन दोनोंको ठीक ठीक परीक्षा(जांच) करके अलगअलग करता है। निःसन्देह बुद्धिमान् मनुष्य प्रेयके मुकाबले श्रेयको मांगता है, और बुद्धिहीन (थोडी बुद्धिवाला) सांसारिक सुखकीप्राप्ति तथा रक्षाकेलिये प्रेयको मांगता है ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपान् च कामान्, अभिध्यायन् नचिकेतो! अति+अस्राक्षीः। न एतां सृङ्कां वित्तमयीम् अवाप्तः, यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे नचिकेता! वह तू है, जिसने सबओरसे विचारकरते हुए प्यारे (राज्य, गृह, धन, धान्य आदि नानाविध ऐश्वर्य) और प्यारे रूपोंवाले(स्त्री, पुत्र, हाथी, घोडे, भेड, बकरी आदि) वाञ्छित पदार्थोंको त्यागा है। और इस धनरूपी (सांसारिक ऐश्वर्यरूपी) मार्गको नही प्राप्त हुआ, जिसमें चलते चलते अनेक मनुष्य लीन होजाते (डूब जाते) हैं ॥३॥

दूरम् एते विपरीते विषूची, अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये, न त्वा कामाः बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

अर्थ—ये दोनों आपसमें अत्यन्त उलटी और विरुद्ध फलवाली हैं, जो अविद्या(प्रेय) है और जो विद्या(श्रेय) इस नामसे प्रसिद्ध है। मैं तुझ नचिकेताको विद्याका अभिलाषी समझता हूं, क्योंकि ये सब पदार्थ बहुत होनेपरभी तुझे नही ललचा सके ॥ ४ ॥

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः, स्वयं धीराः पण्डितं+मन्यानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः, अन्धेन एव नीयमानाः यथाऽन्धाः ॥ ५ ॥

अर्थ—अविद्याके भीतर रहतेहुए अपने आप बुद्धिमान् बनेहुए, अपने आपको पण्डित मानते हुए अविवेकी(मनुष्य) निःसन्देह अन्धेसे लेजाये हुए अन्धोंकी नाई इधर उधर भटकते हुए फिरते (ठोकरें खातेहुए चक्र लगाते) हैं ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति परः इति मानी, पुनः पुनर्वशम् आपद्यते मे ॥ ६ ॥

अर्थ—परलोकका सम्बन्ध उस मूर्खको नही भासता (दीखता) है, जो असावधान है और धनके मोहसे विवेकशून्य है। यही लोक है, दूसरा लोक नही है, ऐसा माननेवाला हे नचिकेता! बारबार मेरे (मुझ यमके) वशमें पडता है ॥ ६ ॥

श्रवणाय अपि बहुभिः यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

अर्थ—जो (आत्मा) बहुतोंको सुननेकेलिये भी नही लभता (प्राप्त होता), सुनते हुए भी बहुत जिसको नही जानते हैं । इसका कहनेवाला (उपदेष्टा) कोई कहीं, इसका लभने (पाने)वाला बडा निपुण, और बडेनिपुण गुरुसे शिक्षा पायाहुआ इस का जाननेवाला कोई कहीं है ॥ ७ ॥

न नरेण अवरेण प्रोक्तः एषः, सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः । अनन्य-प्रोक्ते गतिः अत्र नास्ति, अणीयान् हि अतर्क्यम् अनुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो आत्माको नही जानता, ऐसे अश्रेष्ठ मनुष्यसे प्रवचन (उपदेश) किया गया यह (आत्मा) अनेक प्रकारसे चिन्तन कियाहुआ (विचारा हुआ) भी सुखसे (आसानीसे)जानने योग्य नही (नही जाना जाता) । असाधारण मनुष्यसे प्रवचन (उपदेश) कियेजानेवाले इस आत्मामें साधारण मनुष्यकी पहुच नही है, क्योंकि वह प्रमाण गोचर पदार्थसे बहुत सूक्ष्म है, और तर्क (अनुमान)का अविषय है ॥ ८ ॥

न एषा तर्केण मतिः आपनेया, प्रोक्ता अन्येन एव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ! । यां त्वम् आपः सत्यधृतिः बतासि, त्वादृग् नः भूयात् नचिकेतः ! प्रेष्टा ॥९॥

अर्थ—यह बुद्धि (आत्मज्ञान) तर्क (अनुमान)से प्राप्त होनेयोग्य नही है, हे अति प्यारे ! यह दूसरे (आत्माके जाननेवाले असाधारण मनुष्य)से प्रवचनकी गई (सिखाई गई) ही सुखसे (आसनीसे)जानने (समझने)केलिये होती है । जिसको तू ने प्राप्त किया है, सच मुच तू अचल धैर्यवाला है, हे नचिकेता ! तेरे जैसा पूछनेवाला दूसरा न होगा ॥ ९ ॥

जानामि अहं शेवधिः इति अनित्यं, नहि अध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् । ततो मया नचिकेतः ! चितोऽग्निः, अनित्यैः द्रव्यैः प्राप्तवान् अस्मि नित्यम् ? ॥ १० ॥

अर्थ—मैं यह जानता हूं कर्मफलरूपी खजाना (स्त्री, पुत्र, गृह, धन, धान्य आदि रूप निधि) अस्थायी है, और अस्थायी पदार्थोंसे निश्चय वह स्थायीपद (आत्मा) नही प्राप्त होता । तो भी (यह जानतेहुए भी) मैंने अस्थायी पदार्थोंसे (घी, दूध, चरु पुरोडाश आदि अनित्य पदार्थोंसे) हे नचिकेता ! अग्निका चयन (यथाविधि अनुष्ठान) किया, क्या मैं इससे स्थायीपदको प्राप्त हुआ हूं ? ॥ १० ॥

कामस्य आप्तिं जगतः प्रतिष्ठां, क्रतोः अनन्त्यम् अभयस्य पारम् । स्तोमं महद् उरुगायं प्रतिष्ठां, दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतो ! अत्यस्राक्षीः ॥११॥

अर्थ—जहां इच्छाकी समाप्ति है, जो जगत्का आश्रय है, जहां ज्ञानकी

अनन्तता और जो अभयका परला किनारा है। जो स्तुतिके योग्य(तारीफके लायक)है, सबसे बडा है, जो बहुतोंसे स्तुति कियागया और आप अपनी प्रतिष्ठा है, उस(आत्मा)को देखकर (मुकाबलेमें रखकर) बडेधैर्यके साथ तुझ बुद्धिमान् ने हे नचिकेता ! इस अस्थायी खजानेको त्यागा है ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढम् अनुप्रविष्टं, गुहाहितं गव्हरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

अर्थ—हे नचिकेता ! उस देवोंके देव(आत्मा), दुःखसे(बडे परिश्रमसे)दर्शन करने योग्य, ढके हुए स्थानमें प्रवेश कियेहुए, दुर्गम स्थानमें स्थितिवाले, हृदय गुफामें वर्तमान (मौजूद) सनातन को। अध्यात्मयोग(ज्ञानयोग)की प्राप्तिसे जानकर बुद्धिमान् हर्षशोकको छोड देता (हर्ष शोकसे ऊपर हो जाता) है ॥ १२ ॥

एतत् श्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः, प्रवृह्य धर्म्यम् अणुम् एतम् आप्य। स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा, विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

अर्थ—इसको सुनकर, ठीकठीक पकडकर (दृढ कर) इस धर्माधर्म(पुण्यपाप)के सम्बन्धवाले सूक्ष्म (आत्मा)को शरीरेन्द्रियसङ्घातसे अलग करके जिस मनुष्यने प्राप्त करलिया (पालिया) है। वह निःसन्देह उस आनन्द दाताको प्राप्त करके आनन्दको प्राप्त होता है, मैं तुझ नचिकेताकेलिये वह आनन्दका घर खुला हुआ (विना किवाड) समझता हूं ॥१३॥

अन्यत्र धर्माद् अन्यत्र अधर्माद्, अन्यत्र अस्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च, यत् तत् पश्यसि तद् वद ॥ १४ ॥

अर्थ—हेयम ! धर्मसे अलग (धर्मके सम्बन्धसे रहित) अधर्मसे अलग (अधर्मके सम्बन्धसे रहित), इस कार्य्य अकार्य्य (स्थूल सूक्ष्म) शरीरसे अलग (कार्य्य अकार्य्य शरीरके सम्बन्धसे रहित) भूत और भविष्यत् (मरने और जन्मने), दोनोंसे अलग, जो वह वस्तु (आत्मवस्तु) तू देखता(जानता) है, उसे कहो ॥ १४ ॥

सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि 'ओम्' इति एतत् १५

अर्थ—हेनचिकेता ! सब वेद(मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्) जिस पद (प्राप्तव्य आत्मवस्तु)को बार बार पढते हैं, और तपस्वियों(संन्यासियों तथा वानप्रस्थियों)के सब तप जिसको कहते(अपना लक्ष्य सूचन करते) हैं। जिसकी इच्छा (प्राप्तिकी इच्छा) करतेहुए जिज्ञासु गृहस्थ गुरुके समीप ब्रह्मचर्य्यवास करते हैं, वह पद मैं तुझे संक्षेपसे कहता हूं, यह ओम् अक्षर है (ओम् अक्षरके सहारे से प्राप्त होता है) १५

एतद् हि एव अक्षरं ब्रह्म, एतद् एव अक्षरं परम्। एतद् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा, यो यद् इच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

अर्थ—यह अक्षर(ओम्) ही निश्चय ब्रह्म (ब्रह्मका नाम होनेसे ब्रह्म) है,

यह अक्षर ही पर ब्रह्म (धर्माधर्म आदिके सम्बन्धसे रहित ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन होनेसे परब्रह्म) है । निःसन्देह इस अक्षरको ही जानकर (समझकर) जो जो वस्तु चाहता है, उसकी वह है (उसको वह प्राप्त होती है) ॥ १६ ॥

एतद् आलम्बनं श्रेष्ठम्, एतद् आलम्बनं परम् । एतद् आलम्बनं ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

अर्थ—यह (ओम्) सब सहारोंसे बढिया सहारा है, यह सब सहारोंसे परला सहारा है । इस (सबसे बढिये तथा परले) सहारेको जानकर मनुष्य ब्रह्मलोकमें (ब्रह्मरूपी निजलोकमें) महिमा (बडप्पन) को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चित्, नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

अर्थ—यह सबका द्रष्टा आत्मा न जन्मता है और न मरता है, न यह किसीसे कभी हुआ है, और न इससे कोई कभी हुआ है । यह अजन्मा है, नित्य है, एकरस रहनेवाला (निर्विकार) है, सनातन है, और न शरीरके मारे जानेपर मारा जाता है॥१८॥

हन्ता चेत् मन्यते हन्तुं, हतश्चेत् मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो, न अयं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—मारनेवाला (शस्त्र अस्त्रका प्रहार करनेवाला) यदि अपनेआपको मारनेवाला समझता है, और मारा गया (शस्त्रअस्त्रका प्रहार खाया हुआ) यदि अपनेआपको मारा गया समझता है । तो वे दोनों नही जानते (आत्माके स्वरूपको नही समझते) हैं, क्योंकि न यह (आत्मा) मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

अणोः अणीयान् महतो महीयान्, आत्माऽस्य जन्तोः निहितो गुहायाम् । तम् अक्रतुः पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादात् महिमानम् आत्मनः ॥ २० ॥

अर्थ—सूक्ष्मसे बहुतसूक्ष्म और बडेसे बहुतबडा आत्मा इस प्राणीके हृदय-गुफामें स्थित है । उसको निःसङ्कल्प हुआ (सब कामनाओंसे रहित हुआ) मनुष्य विधाता (जगत्कर्ता) की कृपासे देखता (साक्षात् करता) है, और शोकसे रहित हुआ आत्माकी महिमाको प्राप्त होता (जीवन्मुक्त हुआ आत्मानन्दको भोगता) है ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति, शयानोऽऽयाति* सर्वतः । कस्तं मदामदं देवं, मद् अन्यो ज्ञातुम् अर्हति ॥ २१ ॥

अर्थ—वह (आत्मा) बैठा हुआ (जागता हुआ) दूर जाता (जगत् रूपसे फैल जाता)

---

* सन्धिः आर्षः, यथा गूढोऽऽत्मा (कठ० ३।१२) इत्यत्र ।

है, और सोयाहुआ सबओरसे लौट आता(जगत्‌रूपी फैलावको सङ्कोचकर एक हो-जाता)है। उस देवोंकेदेव और मदकी सामग्री होनेपर भी मदसेरहितको कौन दूसरा कोई (तुझसे भिन्न दूसरा कोई)मुझसे जाननेकेलिये योग्य है॥ २१ ॥

अशरीरं शरीरेषु, अनवस्थेषु अवस्थितम्। महान्तं विभुम् आत्मानं, मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥

अर्थ—हेनचिकेता! वह जो सब शरीरोंमें वर्तमान हुआ शरीरसे रहित है, और जगत्‌के सब अस्थिर पदार्थोंमें वर्तमान हुआ स्थिर (अचल) है। उस सबसे बडे व्यापक आत्माको जानकर बुद्धिमान् नही शोक करता (शोकसे रहित हो जाता) है॥ २२॥

न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन। यम् एव एष वृणुते तेन लभ्यः, तस्य एष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ २३॥

अर्थ—यह आत्मा पढने पढानेसे नही लभता (मिलता), न बुद्धि (बुद्धिकीतर्क)से और न बहुत सुनने(कथा व्याख्यानोंके सुनने)से लभता है। जिसको निश्चय यह(आत्मा) चुनलेना (अपना लेता) है, उसको लभता (मिलता) है, उसकेलिये यह आत्मा अपने शरीर(स्वरूप)को खोलदेता (अपने शरीरसे मायारूपी परदेको उठा देता) है॥२३॥

न अविरतो दुश्चरितात्, न अशान्तो न असमाहितः। न अशान्त-मानसो वाऽपि, प्रज्ञानेन एनम् आप्नुयात्॥ २४॥

अर्थ—जो दुराचारसे नही विरत(हटा हुआ) है, वह ज्ञानसे इसको नही पासकता, जो नही शान्त (विषयोंसे निवृत्त इन्द्रियोंवाला) है, वह ज्ञानसे इसको नही पासकता, जो नहीएकाग्रमनवाला है, वह ज्ञानसे इस(आत्मा)को नही पासकता। और जो नहीशान्त(विषयोंसे निवृत्त मनवाला) है, वह भी ज्ञानसे इसको नही पासकता॥२४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च, उभे भवतः ओदनः। मृत्युः यस्य उपसेचनं, कः इत्था वेद यत्र सः॥ २५॥

अर्थ—जिसका ब्राह्मण और क्षत्रिय, दोनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब जगत्) निश्चय भात (भातके समान खाद्य) हैं। और सबका मारनेवाला यम जिसका भातके साथ खानेकी वस्तु (घी, दही, दाल, साग और चटनी) है, उसको कौन (अधिकारी विना दूसरा कौन) इस रूपसे जानता (जानसकता) है, जिस रूपमें वह है॥ २५॥

(३) ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ १॥

अर्थ—पुण्यकर्मके लोक(मनुष्यशरीर)में कर्मफलरूपीअमृतको पीते प्याते(भोगते भुगाते) हुए, हृदय गुफामें प्रवेश कियेहुए, सबसे ऊंचे परलेस्थान(हृदयाकाश)में जो दो (जीवात्मा और परमात्मा) रहते हैं। उनको ब्रह्मके जाननेवाले (चतुर्थाश्रमी), पांच

अग्नियोंवाले(वानप्रस्थ) और जो तीन *यज्ञाग्नियोंवाले(गृहस्थ) हैं, वे छाया आतप (धूप) कीनाई (जीवात्माको छायाकीनाई और परमात्माको आतपकीनाई) कहते हैं ॥१॥

यः सेतुः ईजानानाम्, अक्षरं ब्रह्म यत् परम् । अभयं तितीर्षतां पारं, नाचिकेतं शकेमहि ॥ २ ॥

अर्थ—जो उन दोनोंमेंसें सब गतिवालों(ग्रह, उपग्रहों)को अपनी अपनी मर्य्यादामें बांधनेवाला है, जो अविनाशी परला ब्रह्म है । और संसारसागरको तैरना चाहते हुओंकेलिये निर्भय परला किनारा है, वह (परब्रह्म परमात्मा) तुझ नचिकेताको प्राप्त होने योग्य हम कहसकते हैं ॥ २ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथम् एव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहम् एव च ॥ ३ ॥

अर्थ—हे नचिकेता ! आत्माको रथी (रथवाला) और शरीरको निश्चय रथ जान । बुद्धिको निश्चय सारथि (रथ चलानेवाला) और मनको केवल लगाम जान ॥३॥

इन्द्रियाणि हयान् आहुः, विषयान् तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता इति आहुः मनीषिणः ॥ ४ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंको घोडे और उन(इन्द्रियों)के विषयोंको मार्ग(सडकें) कहते हैं । शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त(मिलेहुए) आत्माको भोक्ता (रथपर बैठाहुआ सब पदार्थोंको देखनेवाला) ऐसा बुद्धिमान् कहते हैं ॥ ४ ॥

यस्तु अविज्ञानवान् भवति, अयुक्तेन मनसा सदा । तस्य इन्द्रियाणि अवश्यानि, दुष्टाश्वाः इव सारथेः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो (मनुष्य) निश्चय अबुद्धिमान् (बुद्धिरहित) है, और रातदिन न वशमें कियेहुए मनके साथ है । इन्द्रियां उसके वशमें नही होतीं, जैसे दुष्ट घोडे सारथिके वशमें नही होते हैं ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति, युक्तेन मनसा सदा । तस्य इन्द्रियाणि वश्यानि, सदश्वाः इव सारथेः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो निश्चय बुद्धिमान् है, और रातदिन वशमें कियेहुए मनके साथ है । इन्द्रियां उसके वशमें होती हैं, जैसे भले घोडे सारथिके वशमें होते हैं ॥ ६ ॥

यस्तु अविज्ञानवान् भवति, अमनस्कः सदाऽशुचिः । न स तत् पदम् आप्नोति, संसारं च अधिगच्छति ॥७॥

अर्थ—जो निश्चय नही बुद्धिमान् है, और न वशमें कियेहुए मनवाला है, और हमेशा बाहर भीतरकी पवित्रतासे रहित है । वह उस पद (विष्णुके परम पद)को नही पाता है, और वारंवार जन्ममरणरूपी संसारको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

---

* गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ।

यस्तु विज्ञानवान् भवति, समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत् पदम् आप्नोति, यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

अर्थ—और जो निश्चय बुद्धिमान् है, वशमें कियेहुए मनवाला और सदा पवित्र है। वह निःसन्देह उस पदको प्राप्त होता है, जिससे लौटकर फिर नही जन्मता है ॥ ८ ॥

विज्ञानसारथिः यस्तु, मनःप्रग्रहवान् नरः। सोऽध्वनः पारम् आप्नोति, तद् विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो मनुष्य निश्चय बुद्धिरूपी सारथिवाला और मनरूपी लगामवाला है। वह संसारमार्गके परले किनारेको प्राप्त होता है, वही विष्णुका श्रेष्ठ स्वरूप है ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यः पराः हि अर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धेः आत्मा महान् परः ॥ १० ॥ महतः परम् अव्यक्तम्, अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषात् न परं किंचित्, सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंसे परे निःसन्देह उनके अर्थ (इन्द्रियों द्वारा मनमें पहुचे हुए उनके विषय) हैं, अर्थोंसे परे निश्चय मन है। मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे उसका कारण महत् तत्त्व (प्रकृतिका पहला परिणाम) है ॥ १० ॥ महत्तत्वसे परे प्रकृति और प्रकृतिसे परे पुरुष (पूर्ण परमात्मा) है। पुरुषसे परे कोई भी वस्तु नही, वही (पुरुष ही) हद्द और वही परली गति है ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु, गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते तु अग्र्यया बुद्ध्या, सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

अर्थ—यह आत्मा(पुरुष) सब प्राणियोंमें(सब प्राणियोंके हृदय गुफामें)ढँपाहुआ होनेसे सबको नही प्रकाशता (देखनेमें आता) है। परन्तु जो सूक्ष्मदर्शी हैं, उनको सबसे आगे गई हुई (अध्यात्मयोगसे तीक्ष्ण कीहुई) सूक्ष्म बुद्धिसे देखनेमें आता है ॥ १२ ॥

यच्छेद् वाक् मनसी प्राज्ञः, तद् यच्छेत् ज्ञाने आत्मनि। ज्ञानम् आत्मनि महति नियच्छेत्, तद् यच्छेत् शान्ते आत्मनि ॥ १३ ॥

अर्थ—आत्माके देखनेकी इच्छावाला बुद्धिमान् वाणी(नेत्र आदि इन्द्रियोंके सहित वाग् इन्द्रिय)को मनमें लीन करे, उस(मन)को बुद्धि तत्त्वमें लीन करे। बुद्धिको महत् तत्त्व(प्रकृतिके पहले परिणाम कारणबुद्धि)में लीन करे, और उस(महत्तत्त्व)को अपने कारण(प्रकृति)सहित निष्प्रपञ्च तुरीय आत्मामें लीन करे ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथः तत् कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

अर्थ—उठो (अज्ञान निद्राको छोडो), जागो (विषयोंके चिन्तनका परित्याग करो) और अपनेसे श्रेष्ठों(गुरुजनों)को प्राप्त होकर(मिलकर) समझो(आत्माके स्वरूपको ठीकठीक जानो)। छुरेकी तेज धाराकी नाई 'जिसके ऊपरसे उलांघना कठिन है, उस

मार्गको (उस आत्माकी प्राप्तिके मार्गको) उलांघनेमें अत्यन्त कठिन, उलांघेहुए बुद्धिमान् कहते हैं ॥ १४ ॥

अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययं, तथाऽरसं नित्यम् अगन्धवच्च यत् । अनादि अनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तत् मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥१५॥

अर्थ—जिसमें नही शब्द है, नही स्पर्श है, नही रूप है और नही व्यय (कम होना) है, जिसमें नही रस है, नही गन्ध है और जो नित्य है । अनादि है, अनन्त है, महत्तत्व तथा उसकेकारण त्रिगुण प्रकृतिसे परे है, और अटल है, उस (आत्मवस्तु)को देखकर (साक्षात् कर) मनुष्य मृत्युके मुखसे (जन्ममरणरूपीसंसारसे) अत्यन्त छूट जाता अर्थात् हमेशा केलिये मुक्त होजाता है ॥ १५ ॥

नाचिकेतम् उपाख्यानं, मृत्युप्रोक्तं सनातनम् । उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी, ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

अर्थ—नचिकेतासे यमकी कहीहुई इस सनातन कथाको जो बुद्धिमान् कहता और सुनता है, वह उस कहने और सुननेसे ब्रह्मलोकमें महिमाको प्राप्त होता है ॥१६॥

यः इमं परमं गुह्यं, श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि । प्रयतः श्राद्धकाले वा, तद् आनन्त्याय कल्पते ॥ १७ ॥

अर्थ—जो पवित्रहुआ इस सबसे ऊंचे रहस्यको वेदवादियोंकी सभामें सुनाता है । अथवा श्राद्धकालमें (द्वादशाह में) सुनाता है, वह (सुनाना, सुनना) अनन्त फलके लिये समर्थ होता है ॥ १७ ॥

ओम् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतम् अस्तु, मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिः ३ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् सह नौ अवतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्वि नौ अधीतम् अस्तु, मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः, तस्मात् पराङ् पश्यति न अन्तर् आत्मन् । कश्चिद् धीरः प्रत्यग्+आत्मानम् ऐक्षद्, आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन् ॥ १ ॥

अर्थ—हे नचिकेता ! स्वयंसिद्ध परमात्माने इन्द्रियोंके छेदोंको बाहरकी ओर मुखवाला छेदा है, इसलिये मनुष्य बाहर(बाह्य विषयोंको) देखता है, भीतर आत्मामें नही (शरीरके भीतर आत्माको नही) । कोई एक बुद्धिमान् जिसने नेत्रआदि इन्द्रियोंको बाहर से(बाह्य विषयों से)हटाया हुआ है, अमृतत्व(मोक्ष)को चाहताहुआ भीतर आत्माको देखता है ॥ १ ॥

पराचः कामान् अनुयन्ति बालाः, ते मृत्योः यन्ति विततस्य पाशम् । अथ धीराः अमृतत्वं विदित्वा, ध्रुवम् अध्रुवेषु इह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

अर्थ—जो मूर्ख (बुद्धिहीन) बाह्य (बाहरी) विषयोंके पीछे जाते हैं, वे फैली हुई यमकी फांसको प्राप्त होते हैं । और जो बुद्धिमान् हैं, वे अमृतत्वको स्थिर (अटल) जानकर यहां अस्थिर पदार्थोंमें से किसीको भी नही चाहते (मांगते) हैं ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं, शब्दान् स्पर्शान् च मैथुनान् । एतेन एव विजानाति, किम् अत्र परिशिष्यते ॥ एतद् वै तद् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस इस(आत्मा)से रूपको, रसको, गन्धको, शब्दोंको, स्पर्शोंको और निःसंन्देह स्त्रीपुरुषके मेलसे होनेवाले सुखोंको जानता है, उस(आत्मा)के जाननेवालेके लिये फिर यहां क्या जाननेयोग्य बाकी रहता है ? । यह है निश्चय वह, जो तूने पूछा है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं च, उभौ येन अनुपश्यति । महान्तं विभुम् आत्मानं, मत्वा धीरो न शोचति ॥ एतद् वै तद् ॥ ४ ॥

अर्थ—स्वप्नावस्था और जाग्रतावस्था, दोनोंको (दोनोंके पदार्थोंको) जिससे देखता है । उस सबसे बडे व्यापक आत्माको जानकर बुद्धिमान् नही शोक करता है (शोकसे ऊपर होजाता है) ॥ यह है निश्चय वह ॥ ४ ॥

यः इमं मध्वदं वेद, आत्मानं जीवम् अन्तिकात् । ईशानं भूतभव्यस्य, ततो न विजुगुप्सते ॥ एतद् वै तद् ॥ ५ ॥

अर्थ—जो(मनुष्य)शहतकी नाई मीठे विषयोंके खानेवाले (अनुभव करनेवाले) प्राणोंके धारनेवाले, समीपमें(हृदयगुफामें)वर्तमान और भूत भविष्यत्के शासक (हाकिम) इस आत्माको जानता है, उस(जाननेवाले)से फिर कोई घृणा (द्वेष) नही करता है ॥ यह है निश्चय वह ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसो जातम्, अद्भ्यः पूर्वम् अजायत । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं, यो भूतेभिः व्यपश्यत ॥ एतद् वै तद् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो (आत्मा) सृष्टिसङ्कल्पसे पैहले प्रकट(अपने स्वरूपसे जाहिर) था, जो वाष्परूप स्थूल-सूक्ष्म सृज्यमान सब पदार्थोंसे पैहले सृष्टिकर्ता रूपसे प्रकटहुआ । इस हृदयगुफामें प्रवेश करके स्थितहुए (आत्मा)को जो सब प्राणियोंमें साक्षात् देखता है, उससे कोई फिर घृणा (द्वेष) नही करता । यह है निश्चय वह ॥ ६ ॥

या प्राणेन सम्भवति, अदितिः देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती, या भूतेभिः व्यजायत ॥ एतद् वै तद् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो सबको खानेवाली (अपनेमें लीन करनेवाली) सर्वशक्तिमयी चेतन-शक्ति आरम्भमें प्राण(सूर्य्य) रूपसे प्रकट होती है । जो हृदयगुफामें प्रवेश करके स्थित हुई सब प्राणियोंमें विविध(अनेक) रूपसे प्रकट है । यह है निश्चय वह ॥ ७ ॥

अरण्योः निहितो जातवेदाः, गर्भः इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिः, हविष्मद्भिः मनुष्येभिः अग्निः ॥ एतद् वै तद् ॥८॥

अर्थ—जो सब धनोंका स्वामी द्यौ-पृथिवी-रूपी लकडियोंमें स्थित(मौजूद)है, और गर्भवतीस्त्रियोंसे गर्भकी नाई सुरक्षित है । जो सबका अग्रणी(अगुआ) दिन प्रतिदिन मनुष्योंसे स्तुतिकरने योग्य है, जो जागते(अज्ञानरूपी निद्रा छोडे हुए) हैं, और श्रद्धाभक्तिपूर्वक हविर्यज्ञोंवाले हैं ॥ यह है निश्चय वह ॥ ८ ॥

यतश्च उदेति सूर्यः, अस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाः अर्पिताः सर्वे, तद् उ न अत्येति कश्चन ॥ एतद् वै तद् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिससे निश्चय सूर्य्य उत्पन्न होता है, और जिसमें लय होजाता है । उसीमें सब देवता ठहरे हुए हैं, उसको कभी कोई भी नही उलांघता है । यह है निश्चय वह ॥ ९ ॥

यद् एव इह तद् अमुत्र, यद् अमुत्र तद् अनु इह । मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति, यः इह नाना इव पश्यति ॥ १० ॥

अर्थ—जो निश्चय यहां (पृथिवीमें और आंखमें) है, वह वहां (द्यौमें और सूर्य्यमें) है, जो वहां है, वह ही यहां है । वह मरनेसे मरनेको (बार बार जन्मने मरनेको) प्राप्त होता है, जो इस(आत्मा)में भेदकी नाई (कुछभी भेद) देखता है १०

मनसा एव इदम् आप्तव्यं, न इह नाना अस्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति, यः इह नाना इव पश्यति ॥ ११ ॥

अर्थ—मनसे ही यह (ब्रह्म) प्राप्त करने योग्य है, इसमें कुछ भी भेद नही है । वह मरनेसे मरने(बार बार जन्मने मरने)को प्राप्त होता है, जो इसमें भेदकी नाई (कुछभी भेद) देखता है ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो, मध्ये आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य, न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद् वै तद् ॥ १२ ॥

अर्थ—अंगूठेबराबर हृदयमें रहनेसे अंगूठापरिमाण आत्मा शरीरमें भीतर स्थित है। और भूत भविष्यत् सब जगत्का ईश्वर है, उसको जो जानता है, उससे कोई घृणा (द्वेष) नही करता है। यह है निश्चय वह ॥ १२ ॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो, ज्योतिः इव अधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य, सः एव अद्य सः उ श्वः ॥ एतद् वै तद् ॥ १३ ॥

अर्थ—अंगूठापरिमाण आत्मा निर्धूम अग्नि(अंगारे)की नाई है। भूत भविष्यत् सब जगत्का ईश्वर है, वह ही आज है और वही कल होगा। यह है निश्चय वह ॥१३॥

यथा उदकं दुर्गे वृष्टं, पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यन्, तान् एव अनु विधावति ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे शिखर(चोटी)पर बरसा हुआ पानी इधर उधर पर्वतोंमें दौडता है। ऐसेही जड चेतन सब पदार्थोंको आत्मासे अलग इष्टानिष्टबुद्धिसे देखता हुआ मनुष्य उन हीके पीछे दौडता (जन्मता और मरता) है ॥ १४ ॥

यथा उदकं शुद्धे शुद्धम्, आसिक्तं तादृग् एव भवति। एवं मुनेः विजानतः, आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसे निर्मल पानी निर्मल पानीमें डालाहुआ वैसा ही (निर्मल पानीही) हो जाता है। ऐसे ब्रह्मके जाननेवाले मुनिका(ब्रह्मविद् वरिष्ठका)आत्मा हेगोतमवंशी! ब्रह्म हो जाता है ॥ १५ ॥

(२) पुरम् एकादशद्वारम्, अजस्य अवक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति, विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद् वै तद् ॥ १ ॥

अर्थ—जिस एकरस चेतनतावाले अजन्मा (उत्पत्तिरहित) आत्माका ग्यारह (सिरके सात, नीचेके दो, नाभि और ब्रह्मरन्ध्र=तालुका छेद) द्वारों(दरवाजों)वाला यह शरीररूपी नगर है। उसको प्राप्त करके विद्वान् नही शोक करता (शोकसे ऊपर हो जाता) है और सब बन्धनोंसे अत्यन्त छुटकारा पाया हुआ अन्तमें जन्ममरण चक्रसे अत्यन्त छुटकारा पा जाता है। यह है निश्चय वह ॥ १ ॥

हंसः शुचिषद् वसुः अन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिः द्रोणसद्। नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहद् ॥ २ ॥

अर्थ—वह सूर्य्य है द्यौमें रहनेवाला, वायु है अन्तरिक्षमें रहनेवाला, अग्नि है पृथिवीमें रहनेवाला और अतिथि है घरोंमें रहनेवाला। वह मनुष्योंमें रहनेवाला है, वह श्रेष्ठोंमें(ज्ञानियोंमें) रहनेवाला है, वह सत्यवादियोंमें रहनेवाला है, वह हृदयाकाशमें रहनेवाला है, वह जलमें अनेक रूपसे प्रकट होनेवाला है, वह पृथिवीमें अनेक रूपसे प्रकट होने-

वाला है, वह यज्ञकर्मोंमें अनेक रूपसे प्रकट होनेवाला है, वह मेघोंमें अनेक रूपसे प्रकट होनेवाला है, वह आप सत्य है और सबसे बडा है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं प्राणम् उन्नयति, अपानं प्रत्यग् अस्यति । मध्ये वामनमासीनं, विश्वे देवाः उपासते ॥ ३ ॥

अर्थ—जो प्राणको ऊपर (बाहर) लेजाता है, अपानको नीचे फैंकता है। उस शरीरके बीच हृदयाकाशमें बैठे हुए सुन्दरकी सब देवता (इन्द्रियां) उपासना करते(अपने अपने विषयोंकी भेंट देते) हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य, शरीरस्थस्य देहिनः । देहाद् विमुच्यमानस्य, किम् अत्र परिशिष्यते ॥ एतद् वै तद् ॥ ४ ॥

अर्थ—जब यह शरीरमें रहनेवाला शरीरका स्वामी पडनेवाला (शरीरसे अलग होनेवाला) होता है। और शरीरसे अलग होजाता है, तब यहां (शरीरमें) क्या बाकी रहता है ? ॥ यह है निश्चय वह ॥ ४ ॥

न प्राणेन न अपानेन, मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति, यस्मिन् एतौ उपाश्रितौ ॥ ५ ॥

अर्थ—न प्राण(श्वास)से न अपान(प्रश्वास)से कोई भी मनुष्य जीता है। निःसन्देह उस दूसरे (आत्मा)से सब जीते हैं, जिसमें ये (प्राण, अपान) दोनों आश्रय (सहारा) पायेहुए (जिसके सहारे ये दोनों) हैं ॥ ५ ॥

हन्त ते इदं प्रवक्ष्यामि, गुह्यं ब्रह्म सनातनम् । यथा च मरणं प्राप्य, आत्मा भवति गौतम ! ॥ ६ ॥

अर्थ—अब मैं तुझे यह गोप्य सनातन वेद (वेदमत) कहूंगा। जिस प्रकार निश्चय मरनेको पाकर (मरकर) आत्मा हे गोतमवंशी ! होता है ॥ ६ ॥

योनिम् अन्ये प्रपद्यन्ते, शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुम् अन्येऽनुसंयन्ति, यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—कई एक शरीरधारी अपने कर्मानुसार दूसरे शरीरकेलिये स्त्रीयोनिको प्राप्त होते(माताके गर्भमें आते) हैं। और कई एक अपने ज्ञानानुसार अटल ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

यः एष सुप्तेषु जागर्ति, कामं कामं रूपं निर्मिमाणः । तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म, तद् एव अमृतम् उच्यते । तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे, तद् उ न अति+एति कश्चन ॥ एतद् वै तद् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो यह (आत्मा) सोये हुओं(इन्द्रियों)में वांछित वांछित (हर एक वांछित) पदार्थ(विषय)को रचता हुआ जागता है। वह ही शुक्र है, वही ब्रह्म है,

और वह ही अमृत कहा जाता है । उसीमें सब लोक ठहरे हुए हैं, उसको कभी कोई भी नहीं उलांघता है ॥ यह है निश्चय वह ॥ ८ ॥

अग्निः यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकः तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे एक अग्नि सब जगत्में प्रविष्ट हुआ पदार्थ पदार्थ(हरएक पदार्थ)में पदार्थ पदार्थके सदृश (हरएक पदार्थके समानाकार) हुआ है । वैसे एक सब भूतोंका अन्तरात्मा (भीतर प्रविष्ट आत्मा) पदार्थ पदार्थमें पदार्थ पदार्थके सदृश (समानाकार) हुआ है, और बाहर है ॥ ९ ॥

वायुः यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकः तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे एक वायु सब जगत्में प्रविष्ट हुआ पदार्थ पदार्थमें (हरएक पदार्थमें) पदार्थ पदार्थके समानाकार हुआ है । वैसे एक सब प्राणियोंका अन्तरात्मा (भीतर प्रविष्ट आत्मा) पदार्थ पदार्थमें हरएक पदार्थके समानाकार हुआ है, और बाहर है १०

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः, न लिप्यते चाक्षुषैः बाह्यदोषैः । एकः तथा सर्वभूतान्तरात्मा, न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसे सब जगत्का नेत्र सूर्य, नेत्र(सूर्य)से प्रकाशित होनेवाले मलमूत्रादि बाह्य पदार्थोंके अपवित्रता आदि दोषोंसे नहीं लिप्त (दूषित) होता है । वैसे एक सब प्राणियोंका अन्तरात्मा लोकमें होनेवाले दुःखसे नहीं लिप्त (दुःखी) होता है, क्योंकि सबके अंदर रहकरभी बाहर (असंग) है ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति । तम् आत्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः, तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो वह अकेला सबको वशमें रखनेवाला और सबप्राणियोंका अन्तरात्मा है, जो अपने एक रूप(स्वरूप)को बहुत(अनेक) प्रकारसे करता(बनाता) है । उसको अपने शरीरमें स्थित(मौजूद) जो बुद्धिमान् देखते हैं, उनको सदा रहनेवाला सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानाम्, एको बहूनां यो विदधाति कामान् । तम् आत्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः, तेषां शान्तिःशाश्वतीनेतरेषाम् १३॥

अर्थ—जो नित्योंका नित्य और चेतनोंका चेतन है, जो अकेला बहुतोंकी कामनाओंको पूरा करता है । उसको अपने शरीरमें स्थित जो बुद्धिमान् देखते हैं, उनको सदा रहनेवाली शान्ति (दुखोंकी निवृत्ति) प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं ॥ १३ ॥

तद् एतद् इति मन्यन्ते, अनिर्देश्यं परमं सुखम् । कथं नु तद् विजानीयां, किम् उ भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

अर्थ—हे यम! उस परम सुखरूप आत्माको 'वह यह है' इसप्रकार नकहाजानेयोग्य आत्मदर्शी (ब्रह्मवेत्ता) मानते (समझते) हैं । उसको मैं अब कैसे जानूं? कौन निश्चय उसको प्रकाशता है, अथवा वही सबको प्रकाशता है? ॥ १४ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, न इमाः विद्युतो भान्ति कुतो अयम् अग्निः । तम् एव भान्तम् अनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति ॥ १५ ॥

अर्थ—हे नचिकेता वहां(उस आत्मामें) न सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्रमा, न तारे, न ये विजलियां प्रकाशती हैं, यह अग्नि तो कहांसे प्रकाशेगी । सब (सूर्यआदि सब) उस प्रकाशते हुएके ही पीछे प्रकाशता है, उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशता है॥१५॥

(३) ऊर्ध्वमूलो अवाक्+शाखः, एषो अश्वत्थः सनातनः । तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म, तद् एव अमृतम् उच्यते । तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे, तद् उ न अत्येति कश्चन । एतद् वै तद् ॥ १ ॥

अर्थ—ऊपर(सब लोकोंमें रहकर सबलोकोंसे ऊपर=ब्रह्म) जिसका मूल है, नीचे [सबलोक और सब लोकोंमें होनेवालीं मनुष्य आदि अनेक योनियां) जिसकी शाखा उपशाखा हैं, ऐसा यह अनादि संसाररूपी पीपलका वृक्ष है । इसका जो मूल है, वही निश्चय शुक्र है, वही ब्रह्म है और वही निःसन्देह अमृत कहा जाता है । उसीमें सब लोक ठहरे हुए हैं, उसको निश्चय कोई भी नही उलांघता है । यह है निश्चय वह ॥१॥

यद् इदं किंच जगत् सर्वं, प्राणे एजति निःसृतम् । महद् भयं वज्रम् उद्यतं, ये एतद् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—जो यह कुछ जगत् है, वह सब प्राणरूपी (जीवनरूपी) ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ प्राणरूपी ब्रह्ममें भयभीतहुआ चलरहा (अपनी अपनी क्रिया कर रहा) है। वह (प्राणरूपी ब्रह्म) सबसे बडा और मारनेकेलिये उठायेहुए वज्रकी नाई भयका जनक (भयङ्कर) है, जो उसको जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ॥ २ ॥

भयाद् अस्य अग्निः तपति, भयात् तपति सूर्यः । भयाद् इन्द्रश्च वायुश्च, मृत्युः धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

अर्थ—इसके भयसे अग्नि तपता है, इसके भयसे सूर्य तपता है । इसके भयसे इन्द्र(विजली) और वायु और पांचवा काल दौडता है ॥ ३ ॥

इह चेद् अशकद्* बोद्धुं, प्राक् शरीरस्य विस्रसः । ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

अर्थ—हे नचिकेता ! यदि यहां शरीरके पडने(मरने)से पहले मनुष्य प्राणरूपी ब्रह्मको जाननेकेलिये नही समर्थ होता है । तो उत्पन्न होनेवाले लोकों(शरीरों)में शरीर ग्रहणकरनेकेलिये समर्थ होता(पुनः पुनः शरीरको ग्रहण करता) है ॥ ४ ॥

---

* न शक्नोति ।

यथा आदर्शे तथा आत्मनि, यथा स्वप्ने तथा पितृलोके । यथा अप्सु परि इव ददृशे, तथा गन्धर्वलोके, छायातपयोः इव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसा शीशेमें, वैसा अधिकारीके शरीरमें, जैसा स्वप्नमें, वैसा कर्मीके शरीरमें। जैसा मानों डोलते जलमें, वैसा विषयीके शरीरमें और छाया धूपकी नांई ब्रह्मज्ञानीके शरीरमें आत्मा देखाई देता है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्+भावम्, उदयास्तमयौ च यत् । पृथग् उत्पद्यमानानां, मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

अर्थ—इस आत्मासे इन्द्रियोंके अलग होनेको और जो उनका आत्मासे उत्पत्ति विनाश है, उसको तथा सब उत्पन्न होनेवालों(कार्यों)के आत्मासे उत्पत्ति, विनाश और अलग होनेको जानकर (समझकर) बुद्धिमान् नहीं शोक करता(शोकसे ऊपर हो जाता) है ॥ ६ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः सत्त्वम् उत्तमम् । सत्त्वाद् अधि महान् आत्मा, महतो अव्यक्तम् उत्तमम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है । बुद्धिसे परे (ऊपर) महत् तत्त्व (प्रकृतिका प्रथमपरिणाम-कारण बुद्धि) है, महत्तत्वसे परे अव्यक्त (प्रकृति) है ॥ ७ ॥

अव्यक्तात् तु परः पुरुषः, व्यापको अलिङ्गः एव च । यद् ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुः, अमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अर्थ—और अव्यक्तसे परे पुरुष(आत्मा) है, जो व्यापक और निश्चय अकार्य है । जिसको जानकर मनुष्य जन्ममरणसे छूट जाता है और अमृतत्व (ब्रह्मभाव) को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपम् अस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चन एनम् । हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः, ये एतद् विदुः अमृताः ते भवन्ति ॥ ९ ॥

अर्थ—इस(आत्मा)का स्वरूप देखनेकेलिये नहीं है, कोई भी इसको आंखसे नहीं देखता है । वह हृदयसे (हृदयकी श्रद्धा भक्तिसे), सूक्ष्म बुद्धिसे, एकाग्रमनसे कथञ्चित् सामने प्रकाशित हुआसा होता है, जो इसको जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥९॥

यदा पञ्च अवतिष्ठन्ते, ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टते, ताम् आहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

अर्थ—जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मनके सहित स्थिर हो जाती हैं । और नहीं बुद्धि कोई चेष्टा (क्रिया) करती है, उसको योगकी सबसे ऊची अवस्था कहते हैं ॥ १० ॥

तां योगम् इति मन्यन्ते, स्थिराम् इन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तः तदा भवति, योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

अर्थ—उस निश्चल मन-बुद्धिके सहित इन्द्रियोंकी स्थितिको योगीजन योग ऐसा मानते (इस नामसे कहते) हैं । उस समय (योगकालमें) योगी प्रमादसे रहित

(आत्मामें सावधान) अर्थात् आत्मनिष्ठ होता है, क्योंकि आत्मनिष्ठताकी प्रतिक्षण बढती और अनात्मनिष्ठताकी प्रतिक्षण हानिका नाम ही योग है ॥ ११ ॥

न एव वाचा न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा । अस्ति इति ब्रुवतो अन्यत्र, कथं तद् उपलभ्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—हे नचिकेता ! आत्मा निश्चय न बाणीसे, न मनसे और न आंखसे प्राप्त किया जा सकता है । 'आत्मा है' ऐसा कथन करनेवाले(माननेवाले)से भिन्न दूसरेको (नास्तिकको) योगसे भी कैसे वह (आत्मा) प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥

अस्ति इति एव उपलब्धव्यः, तत्त्वभावेन चोभयोः । अस्ति इति उपलब्धस्य, तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

अर्थ—आत्मा है, आत्मा नहीं है, इन दोनोंमेंसे आत्मा है, इसप्रकार ही आत्मा प्राप्त करने(जानने)योग्य है, और वास्तवरूपसे प्राप्त करनेयोग्य है । आत्मा है, इसप्रकार प्राप्त कियेहुए आत्माका वास्तवरूप, शनैः शनैः योगाभ्याससे स्वयं खिलजाता (स्फुट हो जाता) है ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामाः ये अस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

अर्थ—जब सब कामनायें (इच्छायें) जो इसके मनमें रहती हैं, निवृत्त हो जाती हैं । तब मनुष्य अमृत(जन्ममरणसे रहित) हो जाता है, और यहां (इस शरीरमें) ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते, हृदयस्य इह ग्रन्थयः । अथ मर्त्योऽमृतो भवति, एतावद् अनुशासनम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जब हृदयकी अहंता ममतारूपी सब गांठें यहां खुल जाती हैं । तब मनुष्य अमृत हो जाता है, बस इतना ही उपदेश (आत्मोपदेश) है ॥ १५ ॥

शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः, तासां मूर्द्धानम् अभिनिःसृतैका । तया ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वम् एति, विष्वङ् अन्याः उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

अर्थ—सौ और एक(एक सौ एक) निश्चय हृदयकी(हृदयके साथ सम्बन्धवाली) नाडियां हैं, उनमेंसे एक सिरकी ओर निकलीहुई(गई हुई) है । उस(एक नाडी)से ऊपरको आता हुआ(मरते समय शरीरसे बाहर निकलता हुआ) मनुष्य अमृतत्वको प्राप्तहोता है, दूसरी नाडियां शरीरसे बाहर निकलनेमें भिन्नभिन्नगतिकी देनेवाली होती हैं ॥ १६ ॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो अन्तरात्मा, सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । तं स्वात् शरीरात् प्रवृहेत् मुञ्जाद् इव इषीकां धैर्येण, तं विद्यात् शुक्रम् अमृतम्, तं विद्यात् शुक्रम् अमृतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—हे नचिकेता! अंगुठा-परिमाण अन्तरात्मा पुरुष दिनरात (निरन्तर) मनुष्योंके हृदय (अंगूठे बराबर हृदय)में रहता है। उसको अपने शरीरसे (हृदयसे) धैर्यके साथ (शनैः शनैः योगाभ्यासकी बढतीके साथ) मुंजसे तीलकी नाई अलग करे, और उसको (शरीरसे अलग कियेहुए अन्तरात्मा पुरुषको) शुक्र (प्रकाशस्वरूप) तथा अमृत (कभी न मरनेवाला) जाने, उसको शुक्र तथा अमृत जाने ॥ १७ ॥

ओम् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः! भद्रं पश्येम अक्षभिः यजत्राः! । स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः, व्यशेम देवहितं यद् आयुः ॥ स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नः तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिः दधातु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(ऋ० १।८९।८–९)

अर्थ—हे विद्वानो! हम कानोंसे सुखदायी वचन सुनें, हे पूजनीयो! हम आंखोंसे सुखदायी(शुभ) पदार्थको देखें। दृढ(मजबूत) अंगों(कर, चरण आदि अंगों)से और शरीरोंसे युक्त होकर स्तुति करतेहुए हम ईश्वरदत्त यावद् आयु(पूरी आयु)को भोगें ॥ बढेहुए यशवाला इन्द्र(परम ऐश्वर्यवान्) हमको सुख दे, सब धनोंवाला पूषा(सबका पोषक) हमको सुख दे। अटूट तथा अकुण्ठित वज्र(असि)वाला तार्क्ष्य (भक्तोंकी रक्षाकेलिये तुरत पहुचनेवाला) हमको सुख दे, बृहस्पति (बडी वाणीका स्वामी) हमको सुख दे ॥ हे परमात्मा! आध्यात्मिकदुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिभौतिक दुःखोंकी निवृत्ति हो ॥

(१) सुकेशाः च भारद्वाजः १ शैब्यः च सत्यकामः २ सौर्यायणी च गार्ग्यः ३ कौसल्यः च आश्वलायनः ४ भार्गवो वैदर्भिः ५ कबन्धी कात्यायनः ६, ते ह एते ब्रह्मपराः ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्म अन्वेषमाणाः 'एष ह वै तत् सर्वं वक्ष्यति' इति ते ह समित्पाणयः भगवन्तं पिप्पलादम् उपसन्नाः ॥ १ ॥

अर्थ—भरद्वाजगोत्री सुकेशा और शिबिका पुत्र सत्यकाम दोनों, गर्गगोत्री सौर्यायणी और अश्वलका पुत्र कौसल्य दोनों, विदर्भका पुत्र भार्गव और कतका पौत्र कबन्धी, वे ये प्रसिद्ध वेदको सबसे ऊंचा प्रमाण माननेवाले, वेदमें अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिवाले सबसे उत्कृष्ट(ऊंचे) ब्रह्म(परमात्मा)को ढुंढतेहुए(जानना चाहतेहुए) निःसन्देह यह ही (पिप्पलाद) वह सब (जो हम पूछेंगे, वह सब) हमें कहेगा, यह विचार कर वे प्रसिद्ध हाथोंमें सिमधा लियेहुए भगवान् पिप्पलादके पास आये ॥ १ ॥

तान् ह स ऋषिः उवाच "भूयः एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ, यदि विज्ञास्यामः, सर्वं ह वो वक्ष्यामः" इति ॥ २ ॥

अर्थ—उनको उस प्रसिद्ध ऋषिने यह कहा निश्चय फिर तुम यहां तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धाके साथ एक बरस अच्छी तरह रहो, पीछे इच्छानुसार प्रश्नोंको पूछो, यदि हम जानते होंगे, निःसन्देह सब (सबका उत्तर) तुमको कहेंगे ॥ २ ॥

अथ कबन्धी कात्यायनः उपेत्य पप्रच्छ "भगवन्! कुतो ह वै इमाः प्रजाः प्रजायन्ते" इति ॥ ३ ॥

अर्थ—अब (बरस पूरा हो जानेपर) कतकेपौत्र कबन्धीने पास जाकर यह पूछा-हे पूज्य ! किससे प्रसिद्ध ये सब प्रजायें निश्चय उत्पन्न होती हैं ॥ ३ ॥

तस्मै स ह उवाच-प्रजाकामो वै प्रजापतिः, स तपो अतप्यत, स तपः तप्त्वा, स मिथुनम् उत्पादयते रयिं च प्राणं च इति, एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः इति ॥ ४ ॥

अर्थ—उसको उस प्रसिद्ध ऋषिने कहा-प्रजापति निश्चय प्रजाकी इच्छावाला हुआ, उस (प्रजापति)ने तप तपा, उसने तप तपकर, उसने यह विचार कर रयि (प्रकृति) और प्राण (जीवन) इन दोनोंका एक जोडा उत्पन्न किया, कि यह जोडा मेरी अनेक प्रकारकी प्रजायें उत्पन्न करेगा ॥ ४ ॥

आदित्य ह वै प्राणः, रयिः एव चन्द्रमाः । रयिः वै एतत् सर्वं, यत् मूर्तं च अमूर्तं च । तस्मात् मूर्तिः एव रयिः ॥ ५ ॥

अर्थ—सूर्य ही निश्चय बाहर जगत्में प्राण(जीवन) है, और चन्द्रमा निश्चय रयि है । निःसन्देह यह सब कुछ रयि है जो मूर्त(स्थूल) है और जो निश्चय अमूर्त(सूक्ष्म) है । इसलिये प्राण(जीवन)से भिन्न जो मूर्ति (मूर्त, अमूर्त प्रकृति) है, वह सब निश्चय रयि है ॥ ५ ॥

अथ आदित्यः उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते । यद् दक्षिणां, यत् प्रतीचीं, यद् उदीचीं, यद् अधः, यद् ऊर्ध्वं, यद् अन्तराः दिशो, यत् सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

अर्थ—अब उदय होता हुआ सूर्य जो पूर्व दिशामें प्रवेश करता(पूर्व दिशाको प्रकाशता) है, उससे वह पूर्वदिशाके प्राणोंको अपनी रश्मियों(किरणों)में मिलाता (रश्मियों द्वारा जीवन देताहुआ व्याप्त करता) है । जो दक्षिण दिशाको, जो पश्चिम दिशाको, जो उत्तर दिशाको, जो नीचेकी दिशाको, जो ऊपरकी दिशाको और जो बीचैली दिशाओंको, जो सबको (हरएक वस्तुको) प्रकाशता है, उससे सब प्राणोंको अपनी रश्मियोंमें मिलाता (रश्मियोंद्वारा जीवन देताहुआ व्याप्त करता) है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणो अग्निः उदयते । तद् एतद् ऋचा अभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

अर्थ—वह यह सबका नेता(अपनेअपने कामोंमें लगानेवाला), सब रूपोंवाला, सबका प्राण(जीवन) सूर्य, प्रतिदिन पूर्वदिशासे उदय होता है । वह इस मंत्रने कहा है ॥७॥

"विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं, परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः, प्राणः प्रजानाम् उदयति एष सूर्यः" इति ॥ ८ ॥

अर्थ—"सब रूपोंवाले, सब रोगोंको हरनेवाले(सबको स्वास्थ्य देनेवाले), सबको ज्ञान देनेवाले, सबको तपानेवाले उस परमगति, अद्वितीय ज्योतिको विद्वानोंने जाना है । जो यह हजारों किरणोंवाला सैकडों प्रकारसे वर्तमान हुआ प्रजाओंका प्राण सूर्य उदय होता है" यह मन्त्र है ॥ ८ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिः । तस्य अयने दक्षिणं च उत्तरं च । तद् ये ह वै तद् इष्टापूर्ते 'कृतम्' इति उपासते, ते चन्द्रमसम् एव लोकम् अभिजयन्ते । ते एव पुनर् आवर्तन्ते । तस्माद् एते ऋषयः प्रजाकामाः दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिः यत् पितृयाणः ॥ ९ ॥

अर्थ—बरस निश्चय प्रजापति (प्रजापालक) है । उसके दक्षिण और उत्तर, दो मार्ग हैं । उनमें जो ही निश्चय यज्ञकर्म और दूसरे भलाईके कर्म, उन दोनोंको पर्याप्त(काफी) ऐसा समझकर लगातार करते हैं, वे निश्चय चन्द्रमारूपी लोकको(चन्द्रमाकी नाई चमकीले मंगल, बुध, बृहस्पति आदि लोकोंको) प्राप्त होते हैं, वे निःसन्देह फिर लौट आते हैं । इसलिये ये सब ऋषी जो प्रजा(प्रकृति)की इच्छावाले हैं, दक्षिण मार्गको प्राप्त होते हैं । यह है प्रसिद्ध निश्चय रयि, जो दक्षिणमार्ग(कर्मियोंका मार्ग) है ॥ ९ ॥

अथ उत्तरेण—तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानम् अन्विष्य आदित्यम् अभिजयन्ते । एतद् वै प्राणानाम् आयतनम्, एतद् अमृतम्, अभयम्, एतत् परायणम्, एतस्मात् न पुनर् आवर्तन्ते, इति एष निरोधः । तद् एष श्लोकः ॥ १० ॥

अर्थ—अब उत्तर मार्ग(देवयान)से तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्याके द्वारा परब्रह्मको ढूंढकर(जानकर) सूर्यरूपीलोकको(सूर्यकी नाई चमकीले ब्रह्मलोकको)

प्राप्त होते हैं। यह निश्चय प्राणोंका घर है, यह अमृत है, अभय है, यह परमगति है, इससे नहीं फिरे लौटते हैं, क्योंकि यह रुकावट(हद) है । उसमें यह मन्त्र प्रमाण है ॥ १० ॥

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं, दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथ इमे अन्ये उपरे विचक्षणं, सप्तचक्रे षडरे आहुःअर्पितम्" (ऋ० १।१६४।१२) **इति ११**

अर्थ—कई एक उस सबके जनक(प्रजापति)को द्युलोकमें सबसे ऊंचे आधे भाग(उत्तर भाग)में कहते हैं, जो पांच पाओं(शिशर हेमन्तको एक मानकर पांच ऋतुओं)वाला, बारह आकृतियों(शकलों)वाला और जलका स्वामी है । और ये दूसरे उस सबके दृष्टिदाताको द्युलोकके नीचले भाग(दक्षिणभाग)में सात प्रकारकी किरणोंके पहियोंवाले और छे ऋतुओंके अरोंवाले रथमें बैठाहुआ कहते हैं । बस ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिः । तस्य कृष्णपक्षः एव रयिः, शुक्लः प्राणः । तस्माद् एते ऋषयः शुक्ले इष्टिं कुर्वन्ति, इतरे इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

अर्थ—महीना निश्चय प्रजापति है । उसका कृष्णपक्ष रयि और शुक्लपक्ष निश्चय प्राण है । इसलिये ये प्राणविद्याके जाननेवाले ऋषी शुक्लपक्षमें यज्ञ करते हैं और दूसरे, दूसरे(कृष्ण) पक्षमें ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिः । तस्य अहर् एव प्राणः, रात्रिः एव रयिः । प्राणं वै एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यम् एव तद्, यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

अर्थ—दिन और रात, दोनों निश्चय प्रजापति हैं । उसका(दिनरातरूपी प्रजापतिका) दिन निश्चय प्राण और रात निश्चय रयि है । अपने प्राणको निःसन्देह ये (मनुष्य) सुकाते(हानि पहुंचाते) हैं, जो दिनमें स्त्रीके साथ जुडते हैं, वह निःसन्देह उनका ब्रह्मचर्य है, जो रातमें स्त्रीके साथ जुडते हैं ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिः । ततो ह वै तद् रेतः । तस्माद् इमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति ॥ १४ ॥

अर्थ—अन्न निश्चय प्रजापति है । उससे ही निश्चय वह (प्रजाको उत्पन्न करनेवाला) वीर्य बनता है । बस उसी(वीर्य)से ये सब प्रजायें उत्पन्न होती हैं ॥ १४ ॥

तद् ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति, ते मिथुनम् उत्पादयन्ते । तेषाम् एव एष ब्रह्मलोकः, येषां तपो ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥१५॥

अर्थ—वे जो निश्चय उस प्रसिद्ध प्रजापतिके व्रत(रातमें स्त्री संयोगरूप व्रत)का आचरण(पालन) करते हैं, वे जोडेको(पुत्री पुत्ररूप दो प्रकारकी सन्तानको) उत्पन्न करते हैं । और उनकेलिये ही यह (चन्द्रमा जैसा चमकीला) ब्रह्मलोक है, जिनमें तप, ब्रह्मचर्य और जिनमें सत्य (सच्चाई) स्थिर है ॥ १५ ॥

तेषाम् असौ विरजो ब्रह्मलोको, न येषु जिह्मम् अनृतं न माया च ॥ इति ॥ १६ ॥

अर्थ—और उनकेलिये वह निष्पाप(शुद्ध) ब्रह्मलोक (सूर्यकी नाईं चमकीला ब्रह्म-लोक) है, जिनमें न कुटिलता है, न झूठ है और नही देखावा(शो) है ॥ बस ॥१६॥

(२) अथ ह एनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ-भगवन् ! कति एव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतरे एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनर् एषां वरिष्ठः इति ॥ १ ॥

अर्थ—अब विदर्भके पुत्र भार्गवने इस प्रसिद्ध ऋषि(पिप्पलाद)को यह पूछा–हे भगवन् ! कितने निश्चय देवता प्राणियोंके शरीरको धारण करते(खडा रखते) हैं, कितने उनमेंसे इसमें प्रकाश करते हैं, और कौन फिर इनमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

तस्मै स ह उवाच-आकाशो ह वै एष देवो वायुः अग्निः आपः पृथिवी, वाक् मनः चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्य अभिवदन्ति "वयम् एतद् बाणम् अवष्टभ्य विधारयामः" इति ॥ २ ॥

अर्थ—उसको उस प्रसिद्ध ऋषिने कहा–यह निश्चय प्रसिद्ध आकाश देवता है, वायु अग्नि जल और पृथिवी देवता है शरीरको धारण करनेवाला, और बाणी (वाग् इन्द्रिय) मन, नेत्र तथा त्वचा(स्पर्शेन्द्रिय), घ्राण, और रसनेन्द्रियके सहित कान, देवता है, शरीरमें प्रकाश करनेवाला। वे ये (वाग् आदि देवता) सब अपनी अपनी शक्ति(ताकत)का प्रकाश(बखान) करके इसप्रकार आमने सामने बोले–हम ही इस शरीरको सहारा देकर धारण कियेहुए(खडा रखे हुए) हैं ॥ २ ॥

तान् वरिष्ठः प्राणः उवाच "मा मोहम् आपद्यथ, अहम् एव एतत् पञ्चधा आत्मानं प्रविभज्य एतद् बाणम् अवष्टभ्य विधारयामि" इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उनको सबसे श्रेष्ठ प्राणने यह कहा–मत अविवेक(बे समझी)को प्राप्त होवो, मैं ही इस अपने आपको पांच प्रकारसे बांटकर इस शरीरको थामकर खडा रखे हुआ हूं ॥३॥

ते अश्रद्दधानाः बभूवुः । सोऽभिमानाद् ऊर्ध्वम् उत्क्रमते इव। तस्मिन् उत्क्रामति अथ इतरे सर्वे एव उत्क्रामन्ते, तस्मिन् च प्रतिष्ठ-माने सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते। तद् यथा मक्षिकाः मधुकरराजानम् उत्क्रा-मन्तं सर्वाः एव उत्क्रामन्ते, तस्मिन् च प्रतिष्ठमाने सर्वाः एव प्रातिष्ठन्ते, एवं वाक् मनः चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—वे (वाग् आदि सब देवता) नविश्वासवाले हुए। तब वह(प्राण) अभि-मानसे ऊपर(शरीरसे बाहर) निकलता है की नाईं हुआ। उसके ऊपर(शरीरसे बाहर) निकलनेके नाईं होनेपर अब दूसरे सब ही ऊपरको (शरीरसे बाहर) मानों निकले, और उसके प्रतिष्ठित(स्वस्थानमें अच्छीतरह स्थित) होनेपर सब ही प्रतिष्ठित हुए। वे जैसे मधुमक्खियां शहतके छत्ताको छोडकर ऊपर निकलते हुए(उडकर जाते हुए) मधुकरराजा(राजा मक्खी)के पीछे सब ही ऊपरको निकलती(उड-जाती) हैं, और उसके प्रतिष्ठित(स्वस्थानमें अच्छीतरह स्थित) होनेपर सब ही प्रतिष्ठित होती हैं, ऐसेही बाणी, मन, नेत्र और कान हुआ। वे प्रसन्न हुए अब प्राणकी स्तुति करते हैं ॥४॥

एषोऽग्निः तपति एष सूर्य्यः, एष पर्जन्यो मघवान् एषः । वायुः एष पृथिवी रयिः देवः, सद् असत् च, अमृतं च यत् ॥ ५ ॥

अर्थ—यह (प्राण) अग्नि हुआ तपता है, यह सूर्य हुआ प्रकाशता है, यह मेघ हुआ बरसता है, यह धनवाला इन्द्र है । यह वायु है, पृथिवी है, अन्न है, देवताओंका देवता है, मूर्त(स्थूल) है, और अमूर्त(सूक्ष्म) है, और यही है वह, जो अमृत है ॥५॥

अराः इव रथनाभौ, प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । ऋचो यजूंषि सामानि, यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे रथकी(रथचक्रकी) नाभि(नाफ)में अरे ठहरे हुए हैं, वैसे प्राणमें सब ठहरा हुआ है । ऋचायें, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्रिय और जो ब्राह्मण है ॥ ६ ॥

प्रजापतिः चरसि गर्भे, त्वम् एव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण ! प्रजाः तु इमाः बलिं हरन्ति, यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

अर्थ—तू प्रजापति (उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंका स्वामी) हुआ गर्भमें चलता है, तू ही फिर उत्पन्न होता है । तेरेलिये ही हे प्राण ! ये सब प्रजायें भेंट लातीहैं, जो तू अपान, समान आदि दूसरे प्राणों के साथ शरीरमें प्रतिष्ठित है ॥ ७ ॥

देवानाम् असि वह्नितमः, पितॄणां प्रथमा स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यम्, अथर्वाङ्गिरसाम् असि ॥ ८ ॥

अर्थ—देवताओं(ज्ञानेन्द्रियों)का सबसेअच्छा हवि लेजानेवाला (सिरमें पहुचानेवाला) तू है, पितरों (कर्मेन्द्रियों)का मुख्य अन्न लेजानेवाला तू है। और अथर्वाङ्गिरा ऋषियोंका (अथर्ववेद-मन्त्रोंके द्रष्टा प्रवक्ता ऋषियोंका) सच्चा चरित्र (आचरण) तू ही है ॥ ८ ॥

इन्द्रः त्वं प्राण ! तेजसा, रुद्रो असि परिरक्षिता । त्वम् अन्तरिक्षे चरसि, सूर्य्यः त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

अर्थ—हे प्राण ! तू ऐश्वर्यसे इन्द्र है, तेजसे रुद्र है। तू सब ओरसे रक्षाकरनेवाला वायु हुआ आकाशमें चलता है, तू सब ज्योतियोंका स्वामी सूर्य्य है ॥ ९ ॥

यदा त्वम् अभिवर्षसि, अथ इमाः प्राण ! ते प्रजाः । आनन्दरूपाः तिष्ठन्ति, कामाय अन्नं भविष्यति ॥ १० ॥

अर्थ—जब तू मेघ होकर सब ओर बरसता है, तब हे प्राण ! तेरी ये सब प्रजायें आनन्दरूप हुई स्थित होती हैं कि अब इच्छाभर अन्न होगा ॥ १० ॥

व्रात्यः त्वं प्राण ! एक ऋषिः, अत्ता विश्वस्य सत्पतिः । वयम् आद्यस्य दातारः, पिता त्वं मातरिश्व ! नः ॥ ११ ॥

अर्थ—हे प्राण ! तू अटूट व्रतवाला, अद्वितीय ऋषि और सबका खानेवाला तथा श्रेष्ठ स्वामी है । हम तुझे खानेयोग्य वस्तुके देनेवाले, और हे आकाशमें (अवकाशसे) चलनेवाले ! तू हमारा पालक है ॥ ११ ॥

या ते तनूः वाचि प्रतिष्ठिता, या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या च मनसि सन्तता, शिवां तां कुरु मा उत्क्रमीः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो तेरा शरीर वाणीमें, जो कानमें और जो नेत्रमें प्रतिष्ठित है। और जो मनमें फैला हुआ (व्याप्त) है, उसको मंगलरूप बना, न बाहर (शरीरसे बाहर) निकल ॥१२॥

प्राणस्य इदं वशे सर्वं, त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम् । माता इव पुत्रान् रक्षस्व, श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः ॥ इति ॥ १३ ॥

अर्थ—प्राणके यह सब वशमें है, जो त्रिलोकीमें प्रतिष्ठित (मौजूद) है । हे प्राण! माताकी नाई हम सब पुत्रोंकी रक्षाकर, ऐश्वर्य्य और अच्छी बुद्धि, दोनों हमें दे ॥ समाप्त ॥

(३) अथ है एनं कौसल्यः आश्वलायनः पप्रच्छ–भगवन् ! कुतः एष प्राणो जायते १ कथम् आयाति अस्मिन् शरीरे २ आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते ३ केन उत्क्रमते ४ कथं बाह्यम् अभिधत्ते, कथम् अध्यात्मम् ५ इति ॥ १ ॥

अर्थ—अब इस प्रसिद्ध ऋषिको अश्वलके पुत्र कौसल्यने पूछा–हे भगवन्! किससे यह प्राण उत्पन्न होता है १ कैसे इस शरीरमें आता है २ और अपने आपको पांच भागोंमें बांटकर कैसे रहता है ३ किसकेद्वारा बाहर निकलता है ४ किस नामसे बाहर कहाजाता है, और किस नामसे शरीरमें ५ बस ॥ १ ॥

तस्मै स ह उवाच–अतिप्रश्नान् पृच्छसि । ब्रह्मिष्ठोऽसि इति । तस्मात् ते अहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

अर्थ—उसको उस प्रसिद्ध ऋषिने कहा–बडे कठिन प्रश्नोंको पूछता है । क्योंकि सबसे बढकर वेदका जाननेवाला है। इसलिये मैं तुझे कहता हूं ॥ २ ॥

आत्मनः एष प्राणो जायते । यथा एषा पुरुषे छाया, एतस्मिन् एतद् आततं, मनोकृतेन आयाति अस्मिन् शरीरे ॥ ३ ॥

अर्थ—पर ब्रह्मसे यह प्राण उत्पन्न होता है । जैसे शरीरके होनेपर (शरीरके सहारे) यह छाया है, वैसे इस(परमात्मा)के होनेपर(परब्रह्मके सहारे) यह(प्राण) सर्वत्र फैला हुआ है, मनोमय आत्मा (जीवात्मा)के कियेहुए कर्मसे इस शरीरमें आता है ॥ ३ ॥

यथा सम्राड् एव अधिकृतान् विनियुङ्क्ते एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति, एवम् एव एष प्राणः इतरान् प्राणान् पृथक् पृथग् एव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे सार्वभौम राजा निश्चय अपने अधिकारियोंको इस प्रकार नियुक्त करता है–इन गाओंका तू अधिष्ठाता है, इन गाओंका तू अधिष्ठाता है, ऐसे ही यह प्राण दूसरे अपान, समान आदि प्राणोंको निश्चय अलग अलग स्थानमें नियुक्त करता है ॥ ४ ॥

पायूपस्थे अपानं, चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः । एष हि एतद् हुतम् अन्नं समुन्नयति । तस्माद् एताः सप्त अर्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

अर्थ—पायु(मलत्यागनेकी इन्द्रिय गुदा) और उपस्थ(सन्तान उत्पन्नकरनेकी इन्द्रिय शेप)में अपानको नियुक्त करता है, नेत्र और कानमें मुख तथा नासिकासे निकलनेवाला प्राण आप प्रतिष्ठित होता है(सार्वभौम राजाकी नाई रहता है) और मध्य(नाभिदेश)में समान प्रतिष्ठित होता है । यही(समान) निश्चय इस प्राणाग्निमें होमेहुए अन्नको सब जगह एकजैसा लेजाता है । उसीसे ये सात ज्ञान-इन्द्रियरूपी ज्योतियां देदीप्यमान होती हैं ॥ ५ ॥

हृदि हि एष आत्मा । अत्र एतद् एकशतं नाडीनाम् । तासां शतं शतम् एकैकस्यां, द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति । आसु व्यानः चरति ॥ ६ ॥

अर्थ—हृदयमें निःसन्देह यह आत्मा(जीवात्मा) रहता है । इस(हृदय)में इन(प्रसिद्ध) एक सौ एक स्कन्धस्थानी नाडियों(प्रधाननाडियों)का सम्बन्ध है । उनमेंसे एकएककी फिर सौ सौ शाखा नाडियां हैं, और इन सौ सौ शाखा नाडियोंमेंसे फिर एकएककी बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाडियां हैं । इन सब (७२, ७२, १०, २०१) नाडियोंमें व्यान विचरता(घूमता) है ॥ ६ ॥

अथ एकया ऊर्ध्वः उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्याम् एव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अब उन एक सौ एक स्कन्धनाडियों (प्रधान नाडियों)मेंसे सिरमें गई हुई एक सुषुम्नानाडीसे ऊपर(शरीरसे बाहर)लेजानेवाला उदान पुण्यसे पुण्यलोकमें, पापसे पापलोकमें और पुण्य पाप दोनोंसे निश्चय मनुष्यलोकमें आत्माको लेजाता है ॥ ७ ॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः । उदयति एष हि एनं चाक्षुषं प्राणम् अनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता, सा एषा पुरुषस्य अपानम् अवष्टभ्य । अन्तरा यद् आकाशः, स समानः । वायुः व्यानः ॥ ८ ॥

अर्थ—सूर्य ही निश्चय बाहर प्राण है । यह निःसन्देह इस आंखमें रहनेवाले नेत्र इन्द्रियपर अनुग्रह(रूपग्रहणमें सहायता)करताहुआ उदय होताहै । पृथिवीमें जो आकर्षण शक्ति है, वह यह मनुष्यके अपानको थांमकर (अपानका सहायक होकर) स्थितहुई अपान है । पृथिवी लोक और द्युलोकके मध्यमें जो आकाश है, वह समान है । और वायु व्यान है ॥ ८ ॥

तेजो ह वै उदानः । तस्माद् उपशान्ततेजाः पुनर्भवम् इन्द्रियैः मनसि संपद्यमानैः ॥ ९ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध अग्नि निश्चय उदान है। इसीलिये जिसके शरीरका तेज(अग्नि)ठण्डा होजाता है, वह मनमें लीनहुई इन्द्रियोंकेसाथ पुनर्जन्मको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

यत्चित्तः तेन एष प्राणम् आयाति, प्राणः तेजसा युक्तः सह आत्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

अर्थ—अब(मरनेके समय) जिस सङ्कल्पवाला होता है, उस(सङ्कल्प)केसाथ यह आत्मा (जीवात्मा) प्राणकी ओर आता है, प्राण आत्मा(जीवात्मा)के संहित उदानसे युक्त हुआ उस (जीवात्मा)को सङ्कल्पेहुए शरीरमें लेजाता है ॥ १० ॥

यः एवं विद्वान् प्राणं वेद, न ह अस्य प्रजा हीयते, अमृतो भवति। तद् एष श्लोकः "उत्पत्तिम् आयतिं स्थानं, विभुत्वं च एव पञ्चधा। अध्यात्मं च एव प्राणस्य, विज्ञाय अमृतम् अश्नुते" इति ॥ १० ॥

अर्थ—जो इसप्रकार जानता हुआ प्राणको उपासता (ठीकठीक रखता) है, निःसन्देह इसकी प्रजातन्तु नही टूटती, और वह अमर (लोकमें चिरजीवी) होजाता है। उसमें यह श्लोक प्रमाण है–प्राणकी आत्मासे उत्पत्तिको, शरीरमें आनेको, पायुउपस्थआदिमें रहनेको और सूर्यआदि रूपसे निश्चय बाहर जगत्में तथा प्राण अपान आदिरूपसे निश्चय भीतर शरीरमें पांचप्रकारसे व्यापकताको जानकर अमरभावको प्राप्त होता है, बस ॥१०॥

(४) अथ ह एनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ भगवन्! एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति, कानि अस्मिन् जाग्रति १ कतरः एष देवः स्वप्नान् पश्यति २ कस्य एतत् सुखं भवति ३ कस्मिन् नु सर्वे संप्रतिष्ठिताः भवन्ति ४ इति ॥ १ ॥

अर्थ—अब इस प्रसिद्ध ऋषिको गर्गगोत्री सौर्यायणीने यह पूछा–हे भगवन्! सोनेके समय इस शरीरमे कौन(वाग् आदि इन्द्रियों और प्राण, दोनों में से कौन) सोते हैं, कौन इसमें जागते(नही सोते) हैं, दोनोंमेंसे कौन यह देव स्वप्नोंको देखता है, किसको यह सुख(सुषुप्तिसुख) होता है, और किसमें ये सब इकट्ठेहुए रहते हैं, बस ॥१॥

तस्मै स ह उवाच–यथा गार्ग्य! मरीचयो अर्कस्य अस्तं गच्छतः सर्वाः एतस्मिन् तेजोमण्डले एकीभवन्ति, ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनसि एकीभवति। तेन तर्हि एष पुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, न अभिवदते, न आदत्ते, न आनन्दयते, न विसृजते, न इयायते, 'स्वपिति' इति आचक्षते ॥ २ ॥

अर्थ—उसको उस प्रसिद्ध ऋषिने कहा–हे गार्ग्य! जैसे अस्त(अदर्शन)को प्राप्तहोते हुए सूर्यकी सब किरणें इस तेजके गोले सूर्यमें एक(इकट्ठी) हो जाती हैं और फिर उदय होतेहुए की वे(सब किरणें) फैल जाती हैं, ऐसे ही निश्चय सोनेके

समय वह सब (वाग् आदि इन्द्रियगण) अपनेसे ऊंचे इन्द्रिय मनमें एक (इकट्ठा) हो जाता है, इससे तब (उससमय) यह जीवात्मा न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न रसलेता है, न छूता है, न बोलता है, न पकडता है, न आनन्दलेता है, न मलत्यागता है, न चलता है, सोता है, ऐसा लोग कहते हैं ॥ २ ॥

प्राणाग्नयः एव एतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वै एषोऽपानः । व्यानोऽन्वाहार्यपचनः । यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते, प्रणयनात् आहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

अर्थ—उस समय केवल प्राणरूपी अग्नियां इस शरीरमें जागती हैं । प्रसिद्ध गार्हपत्य अग्नि निश्चय यह अपान है । व्यान दक्षिणाग्नि है । जिसलिये गार्हपत्याग्निसे बाहर लाया जाता (बाहर लाकर हवनकुण्डमें प्रज्वलित किया जाता) है, इसलिये बाहर लाया गया होनेसे आहवनीय अग्नि प्राण है ॥ ३ ॥

यद् उच्छ्वासनिःश्वासौ एतौ आहुती समं नयति, इति स समानः । मनो ह वाव यजमानः । इष्टफलम् एव उदानः । स एनं यजमानम् अहरहः ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसलिये ऊपर (बाहर) सांस निकालना, नीचे सांस लेजाना (खेंचना) यह श्वास-प्रश्वासरूपी दो आहुतियां एकजैसा लेजाता है, इसलिये वह (एकजैसा ले जानेवाला) समान है । प्रसिद्ध मनोमय (मनोविशिष्ट) आत्मा (जीवात्मा) निश्चय यजमान है । और यज्ञफल (रातदिन निरन्तर होनेवाले इस अग्निहोत्ररूपी यज्ञका फल) निःसन्देह उदान (प्रतिदिन ब्रह्ममें पहुचानेकी सामर्थ्यसे युक्त उदान) है । वह (उदान) इस यजमानको दिन प्रतिदिन ब्रह्ममें पहुचाता है ॥ ४ ॥

अत्र एष देवः स्वप्ने महिमानम् अनुभवति । यद् दृष्टं दृष्टम् अनुपश्यति, श्रुतं श्रुतम् एव अर्थम् अनुशृणोति, देशदिगन्तरैः च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं च अदृष्टं च, श्रुतं च अश्रुतं च, अनुभूतं च अननुभूतं च, सत् च असत् च, सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—इस स्वप्न अवस्थामें यह देवोंका देव मनोमय आत्मा (जीवात्मा) अपनी विभूतिका अनुभव करता है । जो देखाहुआ देखाहुआ (कईबार देखाहुआ) पदार्थ है, उसको फिरदेखता है, जो केवल सुनाहुआ सुनाहुआ पदार्थ है, उसको फिरसुनता है, जो भिन्नभिन्नदेशों और भिन्नभिन्न दिशाओंमें अनुभव कियाहुआ पदार्थ है, उसको फिरफिर अनुभव करता है, देखाहुआ और न देखाहुआ दोनों, सुनाहुआ और न सुनाहुआ दोनों, अनुभव कियाहुआ और न अनुभव कियाहुआ दोनों, विद्यमान और नविद्यमान दोनोंको देखता है, सब कुछ देखता है, सब कुछ हुआ (वीर कातर, धनी अधनी, सुखी दुःखी हुआ) देखता है ॥ ५ ॥

स यदा तेजसा अभिभूतो भवति, अत्र एष देवः स्वप्नान् न पश्यति। अथ तदा एतस्मिन् शरीरे एतत् सुखं भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस समय वह (सब इन्द्रियोंकी एकताका स्थान परला मनरूपी देव) उदानरूपी तेजसे दबाया गया होता है, इस अवस्थामें यह देव (मनोमयआत्मा) स्वप्नोंको नहीं देखता है। तब उस समय इस शरीरमें इस सुषुप्तिसुखको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

स यथा सोम्य! वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

अर्थ—वह जैसे हे सोम्य! (सोमपानार्ह!) पक्षी सबओर उड उडकर पुनः अपने वासवृक्ष(रहनेके वृक्ष)में एक हुए (इकट्ठे हुए) स्थित होते हैं, ऐसे ही निश्चय वह सब (धारणकरनेवाले और प्रकाशकरनेवाले भूत–इन्द्रिआदि सब) अर्थात् वक्ष्यमाण पृथिवीपृथिवीमात्रादि सब, सबसे परले आत्मामें (अक्षरब्रह्ममें) एक हुआ स्थित होता है ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा च, आपश्च आपोमात्रा च, तेजश्च तेजोमात्रा च, वायुश्च वायुमात्रा च, आकाशश्च आकाशमात्रा च, चक्षुश्च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक् च स्पर्शयितव्यं च, वाक् च वक्तव्यं च, हस्तौ च आदातव्यं च, उपस्थश्च आनन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, मनश्च मन्तव्यं च, बुद्धिश्च बोद्धव्यं च, अहङ्कारश्च अहङ्कर्तव्यं च, चित्तं च चेतयितव्यं च, तेजश्च विद्योतव्यं च, प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

अर्थ—पृथिवी और पृथिवीकी मात्रा(कारणरूप सूक्ष्म पृथिवी) दोनों, जल और जलकी मात्रा दोनों, तेज और तेजकी मात्रा दोनों, वायु और वायुकी मात्रा दोनों, आकाश और आकाशकी मात्रा दोनों, नेत्र और नेत्रसे देखनेयोग्य (जो कुछ नेत्रसे देखा जाता है) दोनों, कान और कानसे सुननेयोग्य दोनों, नाक और नाकसे सूंघनेयोग्य दोनों, रसना और रसनासे रसलेनेयोग्य दोनों, त्वचा और त्वचासे छूनेयोग्य दोनों, वाणी और वाणीसे बोलनेयोग्य दोनों, हाथ और हाथोंसे पकडनेयोग्य दोनों, उपस्थ और उपस्थसे आनन्दलेनेयोग्य दोनों, पायु (गुदा) और पायुसे त्यागनेयोग्य दोनों, पाँओं और पाँओंसे चलनेयोग्य दोनों, मन और माननेयोग्य (समझनेयोग्य) दोनों, बुद्धि और जाननेयोग्य दोनों, अहङ्कार और अहङ्कारनेयोग्य(अहङ्कारका विषय) दोनों, चित्त और चिन्तन(स्मरण) करनेयोग्य दोनों, तेज(उदान) और तेजस्वी करनेयोग्य (तेजसे दबानेयोग्य) दोनों, प्राण और धारण करनेयोग्य (थामकर खडा रखनेयोग्य) दोनों ॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स परे अक्षरे आत्मनि सं+प्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

अर्थ—और जो यह निश्चय देखनेवाला छूनेवाला सुननेवाला सूंघनेवाला रसलेनेवाला माननेवाला (समझनेवाला) जाननेवाला करनेवाला मनोमय आत्मा (जीवात्मा) पुरुष है । वह भी सबसे परले अविनाशी आत्मामें एकहुआ स्थित होता है ॥ ९ ॥

परम् एव अक्षरं प्रतिपद्यते, स यो ह वै तद् अच्छायम् अशरीरम् अलोहितं, शुभ्रम् अक्षरं वेदयते, यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तद् एष श्लोकः–"विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः, प्राणाः भूतानि संप्रतिष्ठन्ते यत्र । तद् अक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य !, स सर्वज्ञः सर्वम् एव आविवेश" इति ॥ १० ॥

अर्थ—निःसन्देह सबसे परले अविनाशी आत्मा (ब्रह्म) को प्राप्त होता है वह, जो निश्चय उस प्रसिद्ध छायारहित शरीररहित रंगरहित शुद्ध अविनाशी आत्मा(ब्रह्म)को जानता है, हे सोम्य ! जो ही जानता है, वह सबका जाननेवाला हुआ सब (ब्रह्म) होता है । उसमें यह श्लोक प्रमाण है—"जीवात्मा और सब देवताओं(इन्द्रियों)के सहित प्राण तथा पृथिवी आदि स्थूल सूक्ष्म भूत, जिसमें एकहुए स्थित होते हैं । हे सोम्य ! उस अविनाशी ब्रह्मको जो ही जानता है, वह सबका जाननेवाला हुआ निःसन्देह ब्रह्ममें प्रवेश करता(लीन होता) है" बस ॥ १० ॥

(५) अथ ह एनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ–स यो ह वै तद् भगवन् ! मनुष्येषु प्रायणान्तम् ओंकारम् अभिध्यायीत, कतमं वाव स तेन लोकं जयति इति ॥ १ ॥

अर्थ—अब इस प्रसिद्ध ऋषिको शिबिके पुत्र सत्यकामने यह पूछा–हे भगवन् ! वह जो कोई निश्चय मनुष्योंमेंसे मरनेतक उस ओङ्कारके वाच्य(अर्थ) ब्रह्मका ध्यान (बारबार चिन्तनरूप ब्रह्मकी उपासना) करे, वह उस(ध्यान)से निश्चय किस लोकको (त्रिलोकी और परब्रह्म, चारोंमेंसे किस लोकको) जीतता (प्राप्तकरता) है ॥ १ ॥

तस्मै स ह उवाच–एतद् वै सत्यकाम ! परं च अपरं च ब्रह्म, यद् ओङ्कारः । तस्माद् विद्वान् एतेन एव आयतनेन एकतरम् अन्वेति ॥ २ ॥

अर्थ—उसको उस प्रसिद्ध ऋषिने कहा हे सत्यकाम ! यह निःसन्देह पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म(कार्य ब्रह्म=त्रिलोकी जगत्) दोनों (दोनोंकी प्राप्तिका साधन) है, जो ओङ्कार (ओङ्कारका वाच्य ब्रह्म) है । इसलिये विद्वान्(उपासक) इस ही सहारेसे (इस ओङ्कारके वाच्य ब्रह्महीके ध्यानसे) परब्रह्म और अपरब्रह्म, दोनोंमेंसे एकको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

स यदि एकमात्रम् अभिध्यायीत, स तेन एव संवेदितः तूर्णम् एव जगत्याम् अभिसम्पद्यते। तम् ऋचो मनुष्यलोकम् उपनयन्ते। स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानम् अनुभवति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह यदि एकमात्रा(अ)रूप ओङ्कारका(एकमात्रारूप–ओम्का वाच्य ब्रह्म है, इस बुद्धिसे ओम्के वाच्य ब्रह्मका) ध्यान करे, तो वह उस हीसे ब्रह्मके साथ एकताको प्राप्त हुआ (ब्रह्ममय हुआ) मरकर शीघ्र ही पृथिवीके किसी भागमें इकठ्ठाहुआ(मूर्छित हुआ) स्थित होता है। उसको ऋचा मन्त्र(ऋचा–मन्त्रोंके सार–एकमात्रारूप ओम्के वाच्य ब्रह्मका ध्यान) मनुष्यशरीरमें लेजाते हैं। वह वहां तपसे, ब्रह्मचर्यसे और श्रद्धासे युक्त हुआ विभूति(सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्यसुख)को अनुभव करता(भोगता) है ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण, स मनसि सम्पद्यते, सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिः उन्नीयते। स सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिम् अनुभूय पुनर् आवर्तते ॥४॥

अर्थ—अब यदि दोमात्रा(अ, उ)रूप ओङ्कारसे(दोमात्रारूप ओंकारका वाच्य-ब्रह्म है, इस बुद्धिसे) ब्रह्मका ध्यान करे, तो वह उसीसे ब्रह्ममय हुआ मरकर मनमें(सूक्ष्म शरीरमें) इकठ्ठाहुआ स्थित होता है। वह अन्तरिक्षलोक(स्वर्ग)में यजुमन्त्रोंसे(यजु मन्त्रोंके सार द्वितीयमात्रा (उ)रूप ओङ्कारके वाच्य ब्रह्मके ध्यानसे) ऊपर लेजाया जाता है। वह वहां सौम्य शरीर(स्वर्गीय शरीर)को प्राप्त होता है। वह स्वर्गलोकमें ऐश्वर्यको भोग कर फिर लौट आता है ॥ ४ ॥

यः पुनः एतं त्रिमात्रेण एव ओम् इति एतेन एव अक्षरेण परं पुरुषम् अभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरः त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै सः पाप्मना विनिर्मुक्तः। स सामभिः उन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्मात् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषम् ईक्षते ॥ ५ ॥

अर्थ—जो फिर निश्चय तीनमात्रा(अ, उ, म्)रूप 'ओम्' ऐसे इस अक्षरसे (तीन मात्रारूप ओम् इस अक्षरका वाच्य ब्रह्म है, इस बुद्धिसे) निःसन्देह इस (अन्तरात्मा) पर ब्रह्मका ध्यान करे, वह मरकर तेजस्स्वरूप सूर्यमें (द्युलोकमें) इकठ्ठा हुआ स्थित होता है। जैसे सांप कैंचुलीसे छूट जाता है, ऐसे ही निश्चय वह पापसे छूटाहुआ होता है। वह साममन्त्रोंसे(साममन्त्रोंकेसार तृतीयमात्रारूप ओङ्कारके वाच्य ब्रह्मके ध्यानसे) ब्रह्मलोकमें ऊपर लेजाया जाता है। वह वहां इस भीतर बाहर जीवन ही जीवन परले ब्रह्मलोकसे परे सबशरीरोंमें स्थित अन्तरात्मा परब्रह्मको देखता (साक्षात् करता) है ॥५॥

तद् एतौ श्लोकौ भवतः–"तिस्रो मात्राः मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः, अन्योऽन्यसक्ताः अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु, सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः" ॥ १ ॥

अर्थ—उस(उक्तअर्थ)में ये दोश्लोक प्रमाण हैं— तीनों(अ, उ, म्)मात्रा मृत्युवाली(विनाशी फलवाली) हैं, यदि एकदूसरीकेसाथ अत्यन्त मिली हुई अथवा अलग अलग हुई (एक दूसरीकेसाथ अत्यन्त न मिली हुई) प्रयोग(उच्चारण)कीगई होती हैं । और यदि बाह्य (ऊंची) आभ्यन्तर(मानस) तथा मध्यम(उपांशु) क्रियाओं(जपरूपी क्रियाओं) में ठीक ठीक(न एकदूसरीकेसाथ अत्यन्त मिली हुई, न अत्यन्त अलग अलग) प्रयोगकी गई होती हैं, तो ज्ञानवान्(तीनों मात्राओंके ठीक ठीक उच्चारणको जाननेवाला) मनुष्य फिर जन्ममरणके भयसे नहीं कांपता(भयसे रहित हो जाता) है ॥ १ ॥

"ऋग्भिः एतं यजुर्भिः अन्तरिक्षं, स सामभिः यत् तत् कवयो वेदयन्ते । तम् ओङ्कारेण एव आयतनेन अन्वेति विद्वान्, यत् तत् शान्तम् अजरम् अमृतम् अभयं परं च" ॥ २ ॥ इति ॥ ६ ॥

अर्थ—वह ऋचा मन्त्रोंसे(आ—मात्रासे)इस लोक(पृथिवी लोक) को, यजुमन्त्रोंसे (उ—मात्रासे) अन्तरिक्ष(स्वर्ग) लोकको और साममन्त्रोंसे(म्—मात्रासे) उसलोक(ब्रह्मलोक)को, जिसको ऋषी जानते हैं । निश्चय इस उस त्रिलोकीरूपी अपर ब्रह्मको ओङ्काररूपी सहारेसे विद्वान् प्राप्तहोता है, और उस(परब्रह्म)को भी, जो तीनोंलोकोंके सम्बन्धसेरहित, जरासेरहित, मरणसेरहित, भयसेरहित और सबसेउत्कृष्ट(ऊंचा) है ॥ २ ॥ बस ॥ ६ ॥

(६) अथ ह एनं सुकेशाः भारद्वाजः पप्रच्छ—भगवन् ! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रः माम् उपेत्य एतं प्रश्नम् अपृच्छत्—षोडशकलं भारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ । तम् अहं कुमारम् अब्रुवं—न अहम् इमं वेद, यदि अहम् इमम् अवेदिषं, कथं ते न अवक्ष्यम् इति । समूलो वै एष परिशुष्यति, यो अनृतम् अभिवदति । तस्मात् न अर्हामि अनृतं वक्तुम् । स तूष्णीं रथम् आरुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्व असौ पुरुषः इति ॥१॥

अर्थ—अब इस प्रसिद्ध ऋषिको भरद्वाजगोत्री सुकेशाने पूछा—हे भगवन् ! कोसला(अयोध्या)के राजपुत्र हिरण्यनाभने मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछा—हे भारद्वाज ! सोलह कलावाले पुरुषको तू जानता है । मैंने उस राजकुमारको यह कहा— मैं इसको नहीं जानता, यदि मैं इसको जानता, कैसे तुझे न कहता । मूलसहित(जडोंतक) निश्चय यह सुक जाता है, जो झूठ बोलता है । इसलिये मैं झूठ बोलनेकेलिये नहीं समर्थ हूं । वह चुपचाप रथपर बैठकर चलागया । अब मैं उस (सोलह कलावाले पुरुष)को तुझसे पूछता हूं—कहां वह(सोलह कलावाला) पुरुष है । बस ॥ १ ॥

तस्मै स ह उवाच—इह एव अन्तः शरीरे सोम्य ! स पुरुषः, यस्मिन् एताः षोडश कलाः प्रभवन्ति इति ॥ २ ॥

अर्थ—इसको उस प्रसिद्ध ऋषिने यह कहा—हे सोम्य ! यहां ही भीतर शरीरमें वह पुरुष है, जिसमें ये सोलह कला उत्पन्न हुई प्रतिष्ठित होती और लय होती हैं ॥ २ ॥

स ईक्षांचक्रे कस्मिन् अहम् उत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस(पुरुष)ने यह देखा(विचारा)-किसके शरीरसे निकलने पर मैं निकला हुआ हूंगा और किसके शरीरमें ठहरा हुआ होनेपर मैं ठहरा हुआ हूंगा ॥ ३ ॥

स प्राणम् असृजत, प्राणात् श्रद्धां, खं वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी, इन्द्रियम् । मनो, अन्नम्, अन्नाद् वीर्यं, तपो मन्त्राः कर्म लोकाः, लोकेषु च नाम ॥ ४ ॥

अर्थ—उसने प्राण को उत्पन्न किया, प्राणके पीछे श्रद्धाको, आकाश, वायु तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रियगण, मन, अन्न और अन्नके पीछे वीर्यको, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और लोकोंमें नामको उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

स यथा इमाः नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इति एवं प्रोच्यते, एवम् एव अस्य परिद्रष्टुः इमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुषः इति एवं प्रोच्यते । स एषो अकलो अमृतो भवति । तद् एष श्लोकः ॥ ५ ॥

अर्थ—वह जैसे ये नदियां बहतीहुई समुद्रकी ओर जातीहुई समुद्रको प्राप्त होकर लोप होजाती हैं, उनके नाम और रूप (आकार) टूट जाते (निवृत्त हो जाते) हैं, समुद्र, बस ऐसा कहा जाता है, ऐसे ही इस सबकेदेखनेवाले(पुरुष)की ये सोलह कला पुरुषकी ओर जातीहुई पुरुषको प्राप्त होकर लोप होजाती हैं, उनके नाम और रूप टूट जाते हैं, पुरुष, बस ऐसा कहा जाता है । वह यह कलासे रहित है, मरणसे रहित है, वही परब्रह्म है, और वही जानने योग्य है । उसमें यह श्लोक है ॥५॥

अराः इव रथनाभौ, कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः । तं वेद्यं पुरुषं वेद, यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः ॥ १ ॥ इति ॥ ६ ॥

अर्थ— जैसे रथकी(रथचक्रकी) नाभिमें अरे ठहरेहुए हैं, वैसे जिस (पुरुष)में सोलह कला ठहरी हुई हैं । उस जानने योग्य पुरुषको (परब्रह्म पुरुषको) जानो, जिससे तुमको मृत्यु ने पीडा दे(बारबार जन्मना मरना न पडे) ॥१॥ बस ॥ ६ ॥

तान् ह उवाच एतावद् एव अहम् एतत् परं ब्रह्म वेद, न अतः परम् अस्ति इति ॥ ७ ॥

अर्थ—अब उन सबको प्रसिद्ध ऋषिने यह कहा-बस इतना ही मैं इस पर ब्रह्मको जानता हूं, इससे परे कुछ नहीं है ॥ ७ ॥

ते तम् अर्चयन्तः 'त्वं हि नः पिता यो अस्माकम् अविद्यायाः परं पारं तारयसि' इति । नमः परमऋषिभ्यः, नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

अर्थ—वे सब उस (ऋषि) का पूजन करते हुए यह बोले—तू निःसन्देह हमारा पिता है, जो हमको अविद्या(अज्ञान)के परले(दूसरे) पार(किनारे) तारकर ले आया है। नमस्कार है आप बडे ऋषियोंको, नमस्कार है आप बडे ऋषियोंको ॥ ८ ॥

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः !, भद्रं पश्येम अक्षभिर्यजत्राः ! । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः, व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायामुपनिषत्काण्डे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः !, भद्रं पश्येम अक्षभिः यजत्राः ! । स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः, व्यशेम देवहितं यद् आयुः ॥ स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नः तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिः दधातु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता । स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

अर्थ—ब्रह्मा (सृष्टिशक्ति परमात्मा) जो देवताओंमें सबसे मुख्य है, और सब जगत्का कर्ता तथा प्राणिमात्रका रक्षक है । उसने सब विद्याओंसे प्रतिष्ठावाली ब्रह्मविद्या अपने सबसे श्रेष्ठ पुत्र अथर्वा को (अथर्व वेदके प्रवक्ता अथर्वा ऋषिको) कही ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा, अथर्वा तां पुरा उवाच अङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् । स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह, भारद्वाजो अङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

अर्थ—ब्रह्माने जो विद्या अथर्वाको कहीथी, अथर्वाने वह ब्रह्मविद्या पहले अङ्गीको कही । उसने (अङ्गीने) भरद्वाजगोत्री सत्यवाहको कही, भारद्वाज सत्यवाहने वह परलेसे वरलेमें आई हुई ब्रह्मविद्या अङ्गिराको कही ॥ २ ॥

शौनको ह वै महाशालो अङ्गिरसं विधिवद् उपसन्नः पप्रच्छ—कस्मिन् नु भगवो ! विज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातं भवति, इति ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध महागृहस्थ(बडा कुटुम्बी) शौनक निश्चय शास्त्रीय विधिके अनुसार अङ्गिराके पास आया और यह पूछा—हे भगवन् ! किसके जानने पर निःसन्देह यह सब जानाहुआ होता है ? ॥ ३ ॥

तस्मै स ह उवाच—द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा च एव अपरा च ॥ ४ ॥

अर्थ—उसको उस प्रसिद्ध अङ्गिराने कहा—दो विद्या जाननेयोग्य हैं, जो यह प्रसिद्ध ब्रह्मके जाननेवाले(ब्रह्मवेत्ता) कहते हैं, एक निश्चय परा विद्या, और दूसरी अपरा विद्या ॥ ४ ॥

तत्र अपरा—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति । अथ परा, यया तद् अक्षरम् अधिगम्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—उनमें ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद, शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष, यह अपरा विद्या है । और परा विद्या वह है, जिससे वह अक्षर(अविनाशी)ब्रह्म जाना जाता है ॥ ५ ॥

यत् तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम् अचक्षुःश्रोत्रं, तद् अपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं, तद् अव्ययं, तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो वह देखनेयोग्य नही(आंखसे नही देखा जाता), पकडनेयोग्य नही, (हाथसे नही पकडा जाता), जिसका कोई गोत्र(वंश) नही, वर्ण(जाति) नही, जिसके न नेत्र हैं, न कान हैं, जो वह हाथ पाओंसे रहित है, नित्य है, व्यापक(सबको घेरे हुए) है, सबके भीतर है (अंदर है,) बडा सूक्ष्म है, वह नाश होनेवाला नही, वह सब भूतों(पदार्थों) का कारण है, उसको बुद्धिमान् देखते हैं ॥ ६ ॥

यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्याम् ओषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम् ॥ ७

अर्थ—जैसे मकडी तन्तुओंको उत्पन्न करती (भीतरसे बाहर निकालती) और लेलेती(अपने भीतर समेट लेती) है, जैसे पृथिवीमें ओषधियां उत्पन्न होती और लीन होती हैं । जैसे जीते मनुष्य(मनुष्यशरीर)से केश(सिरके बाल) और लोम (शरीरपरके बाल) उत्पन्न होते हैं, वैसे यहां(ब्रह्माण्डमें) जो कुछ है, वह सब अक्षर(अविनाशी) ब्रह्मसे उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

तपसा चीयते ब्रह्म, ततो अन्नम् अभिजायते । अन्नात् प्राणो मनः सत्यं, लोकाः कर्मसु च अमृतम् ॥ ८ ॥

अर्थ—आरम्भमें तपसे (सृष्टिसङ्कल्पसे) अक्षर ब्रह्म उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता (मानों हर्षसे फूला हुआ सृष्टि करने लगता) है, उससे (तपसे उपचयको प्राप्त हुए अक्षर ब्रह्मसे) भोग्यशक्ति प्रकृति उत्पन्न होती है । भोग्यशक्ति प्रकृतिसे प्राण(जीवन), महत्तत्त्व, इंद्रियां और उनके विषय स्थूल सूक्ष्म भूत, तीनों लोक, कर्म और कर्मोंके होने पर उनका अवश्यंभावी फल—सुख दुःख उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपम्, अन्नं च जायते ॥ ९ ॥

अर्थ—जो सबका जाननेवाला और सबका समझनेवाला है, जिसका तप केवल ज्ञान (सृष्टिसङ्कल्प)है । उस(अक्षर ब्रह्म)से ही यह नाम-रूप ब्रह्माण्ड और उसका कारण (नामरूप ब्रह्माण्डका कारण) भोग्यशक्ति प्रकृति उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

(२) तद् एतत् सत्यम्—मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यानि अपश्यन्, तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तानि आचरथ नियतं सत्यकामाः !, एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

अर्थ—वह यह सत्य(सच) है-वेदमन्त्रोंमें जिन कर्मों(अग्निहोत्रआदि यज्ञों)को ऋषियोंने देखा (कर्तव्य रूपसे अनुभव किया), वे गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन और आहवनीय, इन तीनों अग्नियों में अनेक प्रकारसे अनुष्ठान कियेजाते हैं । हे सत्य(अक्षर ब्रह्म)के अभिलाषियो! तुम नियमसे उन(कर्मों) का आचरण(अनुष्ठान) करो, यही पुण्यके लोकमें लेजानेवाला तुह्मारा रस्ता(मार्ग) है ॥ १ ॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमानाः, वयं कृतार्थाः इति अभिमन्यन्ति बालाः । यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्, तेन आतुराः क्षीणलोकाः च्यवन्ते २

अर्थ—अविद्या(बे समझी)में अनेक प्रकारसे वर्तमान हुए(फंसेहुए) मूर्ख हम कृतकृत्य(करने योग्यको किये हुए) हैं, यह मानते हैं । ये ज्ञानसे शून्य हुए, कर्मोंके करनेवाले पारलौकिक विषयों(स्वर्गीय पदार्थों)की तीव्र लालसा(खाहश)से जिसलिये तत्त्वको नही जानते हैं, इसीलिये जब उनका कर्मोंसे प्राप्त कियाहुआ लोक क्षीण होजाता है, तब दुःखी हुए गिरते हैं ॥ २ ॥

इष्टापूर्तं मन्यमानाः वरिष्ठं, न अन्यत् श्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—इष्ट(अग्निहोत्रादि कर्म) और पूर्त(मन्दिर, धर्मशाला, कूएं आदि बनाना और अन्नक्षेत्र-लगाना आदि कर्म) दोनोंकोही सबसेश्रेष्ठ मानते हुए जो महामूर्ख दूसरा

कोई(उन दोनोंसे भिन्न दूसरा कोई) सुखका साधन नही जानते हैं । वे स्वर्गकी पीठपर (स्वर्गमें) अपने कर्मोंको भोगकर इस लोक(मनुष्यशरीर)में अथवा किसी बहुत ही निचले लोकमें (पशुआदि शरीरोंमें) प्रवेश करते हैं ॥ ३ ॥

तपःश्रद्धे ये हि उपवसन्ति* अरण्ये, शान्ताः विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, यत्र अमृतः स पुरुषो हि अव्ययात्मा ॥ ४ ॥

अर्थ—और जो आश्रमकर्मरूपी–तपको(फलकी कामना छोडकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे आश्रमकर्मको) तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक ईश्वरोपासनाको उपासते हुए (यथाविधि करते हुए) वसते(घरोंमें रहते) हैं, जैसे भिक्षावृत्तिको करतेहुए विषयोंसे निवृत्त इन्द्रियोंवाले विद्वान् (विद्वान् संन्यासी) वनमें (ग्रामसे बाहर एकान्त स्थानमें) । वे निष्पाप हुए सूर्यके रस्तेसे वहां जाते हैं, जहां वह निःसन्देह अविनाशीस्वरूप अमृत पुरुष है ॥ ४ ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदम् आयात्, न अस्ति अकृतः कृतेन । तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ ५ ॥

अर्थ—कर्मोंसे प्राप्त कियेजानेवाले लोकोंकी परीक्षा करके(अनित्यताको जानकर) ब्राह्मण(वेद आदि समस्तविद्याओंका पारंगत विद्वान्) वैराग्यको प्राप्त हो । क्योंकि अकृत (न बना हुआ अक्षरब्रह्म) कृतसे(वनेहुए कर्मसे) नही जाना जाता(नही प्राप्त किया जाता है । वह (ब्राह्मण) उस(अक्षरब्रह्म)के जाननेकेलिये समिधा हाथमें लियेहुआ निःसन्देह श्रोत्रिय (वेदविद्वान्) और ब्रह्मनिष्ठ(ब्रह्ममें चित्तकी अचल स्थितिवाले) गुरुके पास जाये ॥ ५ ॥

तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक्, प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । येन अक्षरं पुरुषं वेद सत्यं, प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ ६ ॥

अर्थ—वह विद्वान् (श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, गुरु) उस यथाविधि पास आये ब्राह्मणको जो विषयोंसे अत्यन्तनिवृत्त चित्तवाला और पूरी शान्तिसे युक्त है, उस ब्रह्मविद्याका यथार्थ-रूपसे उपदेश करे, जिससे उसने स्वयं अक्षरब्रह्मको जो सत्य है और परिपूर्ण है, जाना है ६

(२) तद् एतत् सत्यम्-यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथा अक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः, प्रजायन्ते तत्र च एव अपियन्ति ॥ १ ॥

अर्थ—वह यह सत्य है-जैसे प्रज्वलितहुई अग्निसे एकजैसी हजारों चिंगाडियां उत्पन्न होती हैं । वैसे हे सोम्य ! अक्षरब्रह्मसे अनेक प्रकारके पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और फिर उसमें ही लय होजाते हैं ॥ १ ॥

---

* उपासीनाः वसन्ति ।

दिव्यो हि अमूर्तः पुरुषः, स बाह्याभ्यन्तरो हि अजः । अप्राणो हि अमनाः शुभ्रो, हि अक्षरात् परतः परः ॥ २ ॥

अर्थ—वह अद्भुत पुरुष (अक्षरब्रह्म) निश्चय शरीरसे रहित है, वह निःसन्देह बाहर भीतर सब जगह है और जन्मसे रहित है । वह प्राणसे रहित और निःसंन्देह मनसे रहित है, शुद्ध है और व्यक्त जगत्से परे जो अव्यक्त(प्रकृति), उससे भी निश्चय परे है ॥२॥

एतस्माद् जायते प्राणो, मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुः ज्योतिः आपः, पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

अर्थ—इस(पुरुष)से ही प्राण उत्पन्न होता है, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और सबको धारनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥

अग्निः मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताः च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वम् अस्य, पद्भ्यां* पृथिवी, हि एष सर्व-भूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

अर्थ—इस(पुरुष) का सिर द्युलोक, आंखें सूर्य चन्द्र, कान दिशायें और खुले(सबकेलिये खुले) वेद इसकी वाणी है । वायु प्राण, विश्व (सब प्राणी) हृदय, और पृथिवी पाओं हैं, यह निःसंन्देह सब भूतोंका अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

पुरुषः एव इदं विश्वं कर्म, तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद् यो वेद निहितं गुहायां, सो अविद्याग्रन्थिं विकिरति इह सोम्य ! ॥ ५ ॥

अर्थ—पुरुष ही निश्चय यह सब जगत् है, पुरुष ही कर्म, तप, वेद और परला अमृत (कर्मफल) है । जो मनुष्य हृदय–गुफामें स्थित इस पुरुषको जानता है, वह हे सोम्य ! यहां ही अविद्यारूपी गांठको बिखेर देता(खोल देता) है ॥ ५ ॥

(४)आविः संनिहितं गुहाचरं नाम, महत् पदम् अत्र एतत् समर्पितम् । एजत् प्राणत् निमिषत् च यद्, एतद् जानथ सद् असद् वरेण्यं परं विज्ञानात्, यद् वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥

अर्थ—वह प्रकट(जाहर) है, निकट है, प्रसिद्ध प्राणियोंकी हृदयगुफामें रहनेवाला है, सबसे बडा स्थान है, इसीमें यह सब ठेहरा हुआ है जो चलता है, सांस लेता है, आंख झपकता है और जो यह व्यक्त, अव्यक्त तुम जानते हो, वह (ब्रह्म) वरने योग्य (चुननेयोग्य) है, जो यह प्राणियोंकी बुद्धि(समझ)से परे है और सबसे श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

यद् अर्चिमद् यद् अणुभ्यो अणु च, यस्मिन् लोकाः निहिताः लोकिनश्च । तद् एतद् अक्षरं ब्रह्म, स प्राणः तद् उ वाग् मनः । तद् एतत् सत्यं, तद् अमृतं, तद् वेद्धव्यं सोम्य ! विद्धि ॥ २ ॥

---

* प्रथमार्थे पञ्चमी ।   आर जब हा अपन दूसरे प्रियतम (मित्र)

अर्थ—जो प्रकाशवाला है, जो सूक्ष्मोंसे सूक्ष्म है, और जिसमें लोक और लोकोंमें रहनेवाले सबप्राणी ठेहरे हुए हैं । वह यह अक्षर(अविनाशी) ब्रह्म है, वह प्राण (प्राणका प्राण) हैं, वही निश्चय वाणी (वाणीका वाणी) और मन (मनका मन) है । वह यह सत्य है, वह अमृत है, वह वींधने (निशाना लगाने) योग्य है, हे सोम्य ! उसको वींध ॥ २ ॥

धनुः गृहीत्वा औपनिषदं महास्त्रं, शरं हि उपासानिशितं संधयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा, लक्ष्यं तद् एव अक्षरं सोम्य ! विद्धि ३

अर्थ—उपनिषदोंमें कहेहुए धनुषको जो बडा अस्त्र है, पकडकर निःसन्देह उपासनासे तीखे(तेज) कियेहुए बाणको जोड। और उस सत्तारूप–अक्षर ब्रह्ममें गयेहुए (लगेहुए) चित्तसे खींचकर उस ही अक्षरब्रह्मरूपी लक्ष्यको हेसोम्य ! वींध ॥ ३ ॥

प्रणवो धनुः शरो हि आत्मा, ब्रह्म तत्लक्ष्यम् उच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं, शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥

अर्थ—ओम् धनुष, बाण निश्चय आत्मा और अक्षर ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है । उसको पूरे सावधान हुए(प्रमादी न हुए) मनुष्यने वींधना चाहिये, जिससे वह लक्ष्यमें बाणकी नाई तद्रूप(ब्रह्मरूप=ब्रह्माकार) हो जाये ॥ ४ ॥

यस्मिन् द्यौः पृथिवी च अन्तरिक्षम्, ओतं मनः सह प्राणैः च सर्वैः । तम् एव एकं जानथ आत्मानम्, अन्याः वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्य एष सेतुः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसमें द्युलोक, पृथिवीलोक और अन्तरिक्षलोक और सब इन्द्रियोंके सहित मन प्रोयाहुआ (डोरेमें मणियोंकी नाई गुंथाहुआ) है । उस ही एक आत्मा (सबके आधार अन्तरात्मा अक्षर ब्रह्म)को जानो, दूसरी बातें छोडो, क्योंकि यह (आत्मा) ही अमृतका(अमृतजीवनकी प्राप्तिका) साधन सेतु (पुल) है ॥ ५ ॥

अराः इव रथनाभौ संहताः यत्र नाड्यः । स एषो अन्तः चरते बहुधा जायमानः । 'ओम्' इति एवं ध्यायथ आत्मानं, स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस हृदयमें रथकी नाभिमें अरोंकी नाई शाखा उपशाखा नाडियोंकेसहित प्रधान एकसौ एक १०१ नाडियां सम्बन्ध पायेहुई हैं । उसमें भीतर वह यह आत्मा अनेक प्रकारसे प्रकट होताहुआ रहता है । उस अन्तरआत्माका ओम् ओम् इस प्रकार चिन्तन (स्मरण) करो, तुमको पार(संसारसमुद्रके पार) पहुचनेकेलिये जो(पार) अविद्या अन्धकारसे परे है, कल्याण(शुभ) हो ॥ ६ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्य एष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे हि एष, व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठितः । मनोमयः प्राणशरीरनेता, प्रतिष्ठितो अन्ने

हृदयं संनिधाय । तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः, आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति ॥ ७ ॥

अर्थ—जो सबका जाननेवाला है, सबका समझनेवाला है और भूमिपर जिसकी यह सब विभूति है, वह यह आत्मा निश्चय अद्भुत ब्रह्मपुर(शरीर)में जो हृदयाकाश है, उसमें रहता है। वह मनरूप (मनका मन) है, और प्राणका शरीरमें चलानेवाला (प्राणका प्राण) है, वह इस अन्नमय शरीरमें हृदयको अपने रहनेका स्थान बनाकर ठहरा हुआ है। उसको बुद्धिमान् ज्ञानसे देखते हैं, जो आनन्दरूप है, अमृत है, और सबको प्रकाशता है ॥७॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिः, छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

अर्थ—उस सबसे परले और सबसे श्रेष्ठ आत्माके देखलेने पर इस(देखनेवाले)के हृदयकी गांठ खुलजाती है, सब संशय कट जाते हैं, और सब कर्म क्षीण(फलदेनेमें असमर्थ) हो जाते हैं ॥ ८ ॥

हिरण्मये परे कोशे, विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः, यत् तद् आत्मविदो विदुः ॥ ९ ॥

अर्थ—सुनहरी म्यानमें तलवारकी नाई सबसे ऊंचे हृदयमंदिरमें वह शुद्ध, ज्योतियोंका ज्योति, निर्मल, निरवयव अक्षरब्रह्म रहता है, उसको जो आत्मवेत्ता हैं, वे जानते हैं ॥ ९ ॥

ब्रह्म एव इदम् अमृतं पुरस्ताद्, ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्च उत्तरेण । अधश्च ऊर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्म एव, इदं विश्वम् इदं वरिष्ठम् ॥ १० ॥

अर्थ—यह अमृत रूप ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) ही आगे और ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायें और ब्रह्मही बायें है । ब्रह्मही नीचे और ब्रह्म ही ऊपर फैला हुआ है, ब्रह्म ही यह सब है, और यही (ब्रह्म) सबसे श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

(५) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति, अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥

अर्थ—दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा), जो साथ रहनेवाले और मित्र हैं, एक शरीररूपी वृक्षको आलिंगन किये हुए(स्वस्वामिभावसे पकडेहुए) हैं । उनमेंसे एक (जीवात्मा) उसके स्वादु फलको खाता है, और दूसरा (ईश्वर) न खाताहुआ देखता है॥१॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः, अनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यति अन्यम् ईशम्, अस्य महिमानम् इति वीतशोकः ॥ २ ॥

अर्थ—उस एक शरीररूपी वृक्षमें आसक्त हुआ, मायासे विवेकशून्य हुआ पुरुष (जीवात्मा) रात्रिन्दिवा शोक करता है । और जब ही अपने दूसरे प्रियतम (मित्र)

ईश्वरको देखता(साक्षात् करता) है, तथा यह सब इसकी महिमा है, यह देखता (अनुभव करता) है, तब शोकसे रहित होता है॥ २ ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं, कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति ॥ ३ ॥

अर्थ—जब यह देखनेवाला(ज्ञानवान् जीवात्मा) उस सोनेकी नाई चमकते रूपवाले, जगत्के कर्ता, सर्वत्र परिपूर्ण, ईश्वरको जो वेदआदि समस्त विद्याओंका चश्मा है, देखता है। तब वह ज्ञानवान् पुण्य और पापको झाडकर(परे फैंककर) कालुष्यसे (क्लेशकर्म और उनकी वासनासे) रहितहुआ अत्यन्त तुल्यता(ईश्वरके साथ अत्यन्ताभेद)को प्राप्त होता है ॥३॥

प्राणो हि एष यः सर्वभूतैः विभाति, विजानन् विद्वान् भवते न अतिवादी। आत्मक्रीडः आत्मरतिः, क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह निश्चय जीवन है, जो सब प्राणियोंके द्वारा प्रकाशता है, उसको जानताहुआ विद्वान् (ज्ञानवान्) शास्त्रमर्यादाको उलांघकर बोलनेवाला नहीं होता है। यह ब्रह्मवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ, सदा आत्मा(ब्रह्म)में खेलनेवाला, आत्मामें रमणेवाला और कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका करनेवाला होता है ॥ ४ ॥

सत्येन लभ्यः तपसा हि एष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥५॥

अर्थ—यह आत्मा निश्चय सत्यभाषणसे, तप(इन्द्रियोंके निग्रह)से, यथार्थ ज्ञानसे और ब्रह्मचर्यसे सदा प्राप्तकरने योग्य है। वह यह शुद्ध, प्रकाशस्वरूप, निःसन्देह भीतर शरीरमें विद्यमान है, जिसको क्षीन(निवृत्त)हुए रागद्वेषआदि दोषोंवाले जितेन्द्रिय देखते हैं ॥ ५ ॥

सत्यम् एव जयते न अनृतं, सत्येन पन्थाः विततो देवयानः। येन आक्रमन्ति ऋषयो हि आप्तकामाः, यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

अर्थ—सत्य ही सदा जीतता है झूठ नहीं, सत्यसे ही देवयान(विद्वानोंके चलनेका) मार्ग फैलाहुआ (खुला) होता है। जिससे निश्चय समाप्त हुई कामनाओंवाले विद्वान् वहां पहुंचते हैं, जहां वह सत्यका बडा खजाना(ब्रह्म) है ॥ ६ ॥

बृहत् च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं, सूक्ष्मात् च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात् सुदूरे तद् इह अन्तिके च, पश्यत्सु इह एव निहितं गुहायाम् ॥७॥

अर्थ—वह निःसन्देह बडा है, आश्चर्य और अचिन्त्यस्वरूप है, वह निश्चय सूक्ष्मसे अत्यन्त सूक्ष्म है और सबको प्रकाशता है। वह यहां ही रहाहुआ दूरसे बहुत दूर और निकटसे बहुत निकट है, वह देखनेवालोंके लिये यहां ही हृदयगुफामें स्थित है ॥ ७ ॥

न चक्षुषा गृह्यते न अपि वाचा, न अन्यैः देवैः तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः, ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

अर्थ—वह आंखसे नही पकडाजाता(देखाजाता) है, नही बाणीसे और नही दूसरी इन्द्रियोंसे, नही तपसे और नही किसी दूसरे कर्मसे पकडाजाता है। परन्तु जब मनुष्य ज्ञानकी निर्मलतासे(बाह्यविषयोंमें इष्टानिष्टताका ज्ञान उत्पन्न न होनेसे) शुद्धान्तःकरण होता है, तब ध्यानयोग करता हुआ(समाधियोगमें लगाहुआ) उस कलारहित अमृत आत्माको देखता है ॥ ८ ॥

एषो अणुः आत्मा चेतसा वेदितव्यो, यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैः चित्तं सर्वम् ओतं प्रजानां, यस्मिन् विशुद्धे विभवति एष आत्मा॥९॥

अर्थ—यह सूक्ष्म आत्मा शरीरमेंही ध्यानयोगसे एकाग्र हुए चित्त(मन)से जानने योग्य है, जिस शरीरमें पांच प्रकारसे विभक्त हुआ प्राण यथास्थान प्रवेश किये हुआ है। और जिस(शरीर)में इन्द्रियोंके सहित सबको विषय करनेवाला प्राणियोंका वह चित्त (मन) गुंथा हुआ है, जिस(चित्त)के शुद्ध होनेपर यह आत्मा अपने विशिष्टरूपसे (निजरूपसे) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्धसत्त्वः कामयते यान् च कामान्। तं तं लोकं जयते तान् च कामान्, तस्माद् आत्मज्ञं हि अर्चयेद् भूतिकामः ॥ १० ॥

अर्थ—आत्माका जाननेवाला शुद्धान्तःकरण मनुष्य जिस जिस लोकको मनसे संकल्पता(प्राप्त होनेयोग्य ख्याल करता) है और जिनजिन पदार्थोंको चाहता है। उस उस लोकको और उन उन पदार्थोंको जीतता(प्राप्त होता) है, इसलिये विभूति(ऐश्वर्य)की इच्छावाला मनुष्य निःसन्देह आत्मज्ञ(आत्माके जाननेवाले)का पूजन करे ॥ १० ॥

(६) स वेद एतत् परमं ब्रह्म धाम, यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये हि अकामाः, ते शुक्रम् एतद् अतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

अर्थ—वह(आत्मज्ञ) इस सबसे बडे ब्रह्मरूपी घरको जानता है, जिसमें सब जगत् स्थित है, और जो शुद्ध है, तथा सबको प्रकाशता है। जो ही बुद्धिमान् ऐश्वर्यकी कामनासे रहित(निष्काम)हुए उस आत्मज्ञ पुरुषका सेवन करतेहैं, वे इस वीर्य्य(जन्मके बीज अष्टम धातु)को निःसन्देह उलांघ जाते(फिर नही जन्मते) हैं ॥१॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः, स कामभिः जायते तत्र तत्र। पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु, इह एव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥

अर्थ—जो पदार्थोंकी कामना (इच्छा) करता है, उन्हीको श्रेष्ठ मानता हुआ, वह कामनाओंके अनुसार वहां वहां जन्मलेता है। परन्तु समाप्त होगई हैं कामनायें (इच्छायें) जिसकी और प्राप्त करलिया हैं आत्माको जिसने, उसकी सब कामनायें (भावी जन्मकी आरम्भिक सब वासनायें) यहां ही लीन होजाती (नष्ट हो जाती) हैं ॥ २ ॥

न अयम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः, न च प्रमादात् तपसो वाऽपि अलिङ्गात्। एतैः उपायैः यतते यस्तु विद्वान्, तस्य एष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ३ ॥

अर्थ—यह आत्मा साधन बलसे हीन पुरुषको प्राप्त होने योग्य नही, और नही असावधानीसे, अथवा अशास्त्रीय तपसे कभी प्राप्त होने योग्य है। परन्तु जो विद्वान् इन साधनोंसे जो शास्त्रमें कहे गये हैं, आत्माकी प्राप्तिकेलिये यत्न करता है, उसका यह (शास्त्रीय साधनोंसे प्राप्त किया हुआ) आत्मा ब्रह्मधाममें प्रवेश करता है ॥ ३ ॥

संप्राप्य एनम् ऋषयो ज्ञानतृप्ताः, कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः, युक्तात्मानः सर्वम् एव आविशन्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—जो विद्वान् इस(आत्मा)को प्राप्त करके ज्ञानमें तृप्त हैं, वशमें कियेहुए मनवाले हैं, राग द्वेषसे रहित और बडे शान्त हैं। वे बुद्धिमान् उस सबओरसे सबमें पहुंचेहुए (आत्मा)को पाकर कर्मयोगमें लगेहुए मनवालेहुए उस सर्वरूपमें ही प्रवेश करते हैं ॥४॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ५ ॥

अर्थ—जो जितेन्द्रिय पुरुष संन्यासपूर्वक कर्मयोगसे शुद्ध हुए मनवाले हैं, और वेदान्त(उपनिषद्)के श्रवणसे आत्मा(ब्रह्म)रूपी अर्थका ठीक ठीक निश्चय किये हुए हैं। वे सब ब्रह्मलोकों(ब्रह्मज्ञानी शरीरों)में परले अमृत(जीवन्मुक्ति सुख)को पाये हुए मरने पर सब ओरसे(जन्ममरनसे) छूट जाते हैं ॥ ५ ॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः, देवाः च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा, परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—उन सब ओरसे छूटेहुए मुक्तात्माओंकी पन्द्रह कला अपनेअपने कारणोंमें और उनकी सब इन्द्रियां अपने अपने अनुग्राहक देवताओंमें (सूर्य्यादि देवताओंमें) गईहुई होती (लीन होजाती) हैं। कर्म और बुद्धिमय(बुद्धिके रंगसे रंगाहुआ) आत्मा, सब (ये सब) उस परले अविनाशी ब्रह्ममें एक हो जाते हैं ॥ ६ ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे, अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः, परात् परं पुरुषम् उपैति दिव्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसे बहतीहुई नदियां समुद्रमें लीन हो जाती हैं, अपनेअपने नाम और रूप(आकार)को छोडकर। वैसे ब्रह्म(आत्मा)का जाननेवाला नाम और रूपसे अत्यन्त मुक्त हुआ परले(अव्यक्त प्रकृति)से परले अद्भुत पुरुष परमात्मामें मिलजाता है ॥ ७ ॥

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद, ब्रह्म एव भवति। न अस्य अब्रह्मवित् कुले भवति। तरति शोकं, तरति पाप्मानं, गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो अमृतो भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—वह जो कोई निश्चय उस सबसे ऊंचे ब्रह्मको जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है । इसके कुल(वंश)में ब्रह्मका न जाननेवाला नहीं जन्मता है । वह शोकको तर जाता है, पापको तर जाता है और हृदय की गांठोंसे अत्यन्त मुक्त हुआ, अमृत हो जाता है ॥ ८ ॥

तद् एतद् ऋचा अभ्युक्तम्—"क्रियावन्तः श्रोत्रियाः ब्रह्मनिष्ठाः, स्वयं जुह्वते एकर्षिं श्रद्धयन्तः । तेषाम् एव एतां ब्रह्मविद्यां वदेत, शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्" इति ॥ ९ ॥

अर्थ—वह यह ऋचा(मन्त्र)से कहा गया है 'जो कर्तव्य बुद्धिसे सब कर्मोंके करनेवाले, वेद आदि समस्त विद्याओंके जाननेवाले, ब्रह्ममें मनकी अचल स्थितिवाले हैं, और जो श्रद्धासे भरेहुए प्रतिदिन स्वयं अग्निमें होमते(अग्निहोत्र करते) हैं । निःसन्देह जिन्होंने विद्याप्राप्तिके मौलिक नियमोंको यथाविधि पूरा किया है, उनको ही यह ब्रह्मविद्या कहे, बस ॥ ९ ॥

तद् एतत् सत्यम् ऋषिः अङ्गिराः पुरा उवाच-न एतद् अचीर्णव्रतो अधीते । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ १० ॥

अर्थ—वह यह सत्य पहले अङ्गिरा ऋषिने कहा है । इसको न पूरा कियेहुए व्रतोंवाला नहीं पढ सकता । नमस्कार है बडे ऋषियोंको, नमस्कार है बडे ऋषियोंको ॥१०॥

(७) ओम् इति एतद् अक्षरम् इदं सर्वम् । तस्य उपव्याख्यानं-भूतं भवद् भविष्यत् इति सर्वम् ओङ्कारः एव । यत् च अन्यत् त्रिकालातीतं, तद् अपि ओङ्कारः एव ॥ १ ॥

अर्थ—ओम् ऐसा यह अक्षर ही यह सब है । उसका संक्षेपसे व्याख्यान किया जाता है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान, जो कुछ है यह सब निश्चय ओङ्कार(ओङ्कारका वाच्य होनेसे ओङ्कार) है, और जो इसके सिवा तीनों कालोंसे परे है, वह भी निश्चय ओङ्कार(ओङ्कारका वाच्य होनेसे ओङ्कार) है ॥ १ ॥

सर्वं हि एतद् ब्रह्म । अयम् आत्मा ब्रह्म । सो अयम् आत्मा चतुष्पात् ॥२॥

अर्थ—यह सब ही ब्रह्म है । यह आत्मा (शरीरके भीतर हृदयमें रहनेवाला आत्मा) ब्रह्म है । वह यह आत्मा कार्षापण(रुपये)की नाईं चार पादवाला है ॥ २ ॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

अ[illegible] जिसका स्थान(काम करनेकी जगह) है, बाहरकी ओर(बाह्य

पदार्थोंमें) जिसकी प्रज्ञा(ज्ञान) है, जो सातअङ्गोंवाला, उन्नीसमुखोंवाला* और स्थूलपदार्थोंका भोगनेवाला(अनुभवकरनेवाला) है, वह वैश्वानर पहला पाद है ॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानो अन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

अर्थ—स्वप्न जिसका स्थान है, भीतरकी ओर(शरीरके भीतर स्वप्नके पदार्थोंमें) जिसकी प्रज्ञा(ज्ञान) है, जो सात अङ्गोवाला, उन्नीस मुखोंवाला† और सूक्ष्म पदार्थोंका भोगनेवाला है, वह तैजस दूसरा पाद है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कं-चन कामं कामयते, न कं-चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थानः एकीभूतः प्रज्ञानघनः एव आनन्दमयो हि आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस अवस्थामें सोयाहुआ मनुष्य कोई भी पदार्थ नही चाहता है, कोई भी स्वप्न नही देखता है, उसको सुषुप्ति कहते हैं । सुषुप्ति जिसका स्थान है, जो एकरूप हुआ केवल प्रज्ञानघन(ज्ञानका एक ढेला) है, जो निश्चय आनन्दरूप हुआ आनन्दका भोगनेवाला और केवल चेतनतारूपी मुखवाला है, वह प्राज्ञ तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्यामी, एष योनिः सर्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—यह(प्राज्ञ) सबका ईश्वर है, यह सबका जाननेवाला है, यह अन्तर्यामी है, यह सबका कारण है, यह निःसन्देह सब भूतोंका उत्पत्तिस्थान और प्रलयस्थान है ॥ ७ ॥

न अन्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न उभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं न अप्रज्ञम् । अदृष्टम् अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम् अलक्षणम्, अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं, शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स आत्मा, स विज्ञेयः ॥ ८ ॥

---

* ओम् इस अक्षर(वर्ण)के वाच्य(अर्थ) ब्रह्मका दूसरा नाम आत्मा है । शरीरके सम्बन्धसे इसी आत्माका नाम जीवात्मा और जगत्के सम्बन्ध से ईश्वरात्मा नाम है । स्थूल शरीरकी नाईं स्थूल जगत् ईश्वरात्माकी जाग्रत् अवस्था, सूक्ष्म शरीरकी नाईं सूक्ष्म जगत् स्वप्नअवस्था और कारणशरीरकी नाईं अव्याकृत जगत् ईश्वरात्माकी सुषुप्ति अवस्था है । जाग्रत् अवस्थावाले जीवात्माका नाम विश्व और ईश्वरात्माका नाम वैश्वानर, यह विशेष है । जागरित स्थानवाले जीवात्माके एक सिर, दो भुजा, दो जंघा, और शरीरका ऊर्ध्व भाग तथा अधोभाग, ये सात अङ्ग और जागरित अवस्थावाले ईश्वरात्माके तीनों लोक तथा चारों दिशा, ये सात अङ्ग हैं । पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, ये उन्नीस जीवात्माके और बारह मास, पांच ऋतु और दो अयन, ये उन्नीस ईश्वरात्माके मुख हैं ।

† स्वप्नस्थानवाले जीवात्माके पांच सूक्ष्मभूत, कर्म और वासना, ये सात, और ईश्वरात्माके पांच सूक्ष्मभूत, अहंकार और महत्तत्त्व, ये सात अङ्ग हैं । उन्नीस मुख जीवात्मा और [illegible] वही हैं, जो जागरित स्थानमें उन्नीस मुख हैं ।

अर्थ—जो न भीतरकी ओर प्रज्ञा(ज्ञान)वाला, न बाहरकी ओर प्रज्ञावाला, न दोनों ओर प्रज्ञावाला, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ(जाननेवाला) और न अप्रज्ञ(न जाननेवाला) है, जो न देखनेमें आनेवाला, न व्यवहारमें (कहनेमें) आनेयोग्य, और न पकडने योग्य है, जो चिन्हसे रहित, चिन्तनमें न आनेयोग्य, शब्दसे न कहनेयोग्य, केवल आत्मानुभव-गम्य(आपही अपनेको जाननेवाला), सर्वथा जगत्के सम्बन्धसे रहित, शान्त, शिव, और अद्वैत(अखण्ड) है, उसको चौथा (तुरीय) ब्रह्मवादी मानते हैं । वही आत्मा है, वही जानने योग्य है ॥ ८ ॥

सोऽयम् आत्मा अध्यक्षरम्, ओङ्कारो अधिमात्रम् । पादाः मात्राः, मात्राश्च पादाः, अकारः उकारो मकारः इति ॥ ९ ॥

अर्थ—वह यह आत्मा (चतुष्पाद् आत्मा) ओम्का वाच्य होनेसे ओम्-अक्षरके अधिकार में है, और ओम्-अक्षर मात्रारूप होनेसे मात्राओंके अधिकार में है । पाद मात्रा हैं, और मात्रा पाद हैं, अकार उकार और मकार, यह तीन मात्रा हैं ॥ ९ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरो अकारः प्रथमा मात्रा । आप्तेः, आदिमत्त्वाद् वा । आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिः च भवति, यः एवं वेद १०

अर्थ—जागरित जिसका स्थान है, वह वैश्वानर पहली मात्रा अकार है। क्योंकि सबसे पहले उसकी प्राप्ति(उपस्थिति)होती है, अथवा वह सबसे आदि (मुख्य) है । वह निःसन्देह अवश्य ही सब कामनाओंको प्राप्त होता है और सबसे आदि (मुख्य=मुखिया) होता है, जो ऐसे उपासता (चिन्तन करता) है ॥ १० ॥

स्वप्नस्थानः तैजसः उकारो द्वितीया मात्रा । उत्कर्षाद्, उभयत्वाद् वा । उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं, समानश्च भवति, न अस्य अब्रह्मवित् कुले भवति, यः एवं वेद ॥ ११ ॥

अर्थ—स्वप्न जिसका स्थान है, वह तैजस दूसरी मात्रा उकार है । क्योंकि वह ऊंचा है, अथवा दोनोंके साथ(अकार और मकारके साथ) एकजैसा (समान) है । वह निःसन्देह अवश्यही ज्ञानधारा(ज्ञानके सिलसिले)को ऊंचा करता है, और सबके साथ एकजैसा (समान) होता है, इसके कुलमें कोई अब्रह्मवित्(ब्रह्मका न जाननेवाला) नहीं होता है, जो ऐसे उपसाता है ॥ ११ ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारः तृतीया मात्रा । मितेः, अपीतेः वा । मिनोति ह वै इदं सर्वम्, अपीतिः च भवति, यः एवं वेद ॥ १२ ॥

अर्थ—सुषप्ति जिसका स्थान है, वह प्राज्ञ तीसरी मात्रा मकार है । क्योंकि उससे मिनना(जानना) होता है, अथवा उसमें लय(विश्राम) होता है । वह निःसन्देह अवश्य ही यह सब मिन(जान)लेता है और सब के लय(विश्राम)का स्थान होता है, जो ऐ[illegible] ॥ १२ ॥

अमात्रः चतुर्थो अव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवो अद्वैतः । एवम् ओङ्कारः आत्मा एव । स विशति आत्मना आत्मानं, य एवं वेद ॥१३॥

अर्थ—जिसकी कोई मात्रा नहीं, वह ओङ्कार चौथा (तुरीय) आत्मा है, जो व्यवहारमें आने योग्य नहीं, जगत्‌के सम्बन्धसे रहित है, शिव है और अद्वैत है । इसप्रकार ओङ्कार निःसन्देह आत्मा है । वह आत्मासे आत्मामें प्रवेश करता(मिलजाता) है, जो ऐसे उपासता है ॥ १३ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः !, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ! । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः, व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् शं नो मित्रः शं वरुणः, शं नो भवतु अर्यमा । शं नः इन्द्रो बृहस्पतिः, शं नो विष्णुः उरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे, नमस्ते वायो ! । त्वम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि, त्वाम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तत् माम् अवतु, तद् वक्तारम् अवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—हे अनन्तशक्ति परमात्मा ! मित्र हमारेलिये सुखकारी हो, वरुण हमारेलिये सुखकारी हो, अर्यमा हमारेलिये सुखकारी हो । इन्द्र और बृहस्पति हमारेलिये सुखकारी हो, बडी पहुंचवाला विष्णु हमारेलिये सुखकारी हो । नमस्कार है ब्रह्मको, हे सबके प्राण ! (जीवन) नमस्कार है तुझको । तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, मैं तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा । ऋत कहूंगा, सत्य कहूंगा । वह(सत्यस्वरूप ब्रह्म) मेरी रक्षाकरे, वह वक्ता(आचार्य्य)की रक्षा करे, वह रक्षाकरे मेरी, वह रक्षाकरे वक्ता की ॥ हे परमात्मा ! आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिभौतिक दुःखोंकी निवृत्ति हो ॥

(१) यः छन्दसाम् ऋषभो विश्वरूपः, छन्दोभ्यो अधि अमृतात् सम्बभूव। स मा इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव! धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्, जिह्वा मे मधुमत्तमा, कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशो असि मेधया पिहितः, श्रुतं मे गोपाय॥ १॥

अर्थ—जो मंत्रों(वेदों)में सबसे श्रेष्ठ(मुख्य अर्थ) सर्वरूप ओम् (ओम्‌का वाच्य ब्रह्म) है, और मंत्रोंसे अमृतजीवनके निमित्त(सबको अमृतजीवन देनेके लिये) प्रकट हुआ है। वह इन्द्र(परम ऐश्वर्यवान्) मुझे बुद्धिसे बलवान् बनाये । हे देव! मैं अमृतजीवनका धारण करनेवाला होवूं। मेरा शरीर कार्य्य करनेयोग्य हो, मेरी वाणी बहुत मीठी हो, मैं कानोंसे बहुत सुनूं (अनेकविध उपदेश प्राप्त करूं) । तू बुद्धिसे ढंपाहुआ वेदआदि समस्त विद्याओंका खजाना है । मेरे श्रवण कियेहुए (गुरुसे पढे हुए) अर्थकी विस्मरणसे रक्षा कर ॥ १ ॥

यशो जने असानि, श्रेयान् वस्यसो असानि। तं त्वा भग! प्रविशानि, स मा भग! प्रविश। तस्मिन् सहस्रशाखे नि भग! अहं त्वयि मृजे ॥२॥

अर्थ—मैं यशवाले मनुष्योंमें यशवाला(यशस्वी) होवूं, मैं बडे धनियोंमें सबसे श्रेष्ठ(बडा) धनी होवूं। हे भगवन्! मैं उस तुझमें प्रविष्ट(प्रवेश कियाहुआ) होवूं, वह तू हे भगवन्! मुझमें प्रविष्ट हो । हे भगवन्! अनन्त शाखाओं(ब्रह्माण्डों)वाले उस परम पवित्र तुझ सबके मूलमें प्रविष्टहुआ मैं अपनेआपको पवित्र करता हूं ॥ २ ॥

यथा आपः प्रवता यन्ति, यथा मासाः अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातर्! आयन्तु सर्वतः ॥ ३ ॥

अर्थ—जैसे जल निम्न मार्गसे समुद्रको प्राप्त होते हैं, जैसे महीने बरसको प्राप्त होते हैं। ऐसे हे विधाता! वेदआदि समस्त विद्याओंके पढनेवाले मुझे सब ओरसे प्राप्त हों ॥३॥

प्रतिवेशो असि, प्र मा भाहि, प्र मा पद्यस्व ॥ ४ ॥

अर्थ—हे पूज्य! तू सबका विश्रामस्थान(बडाआश्रय) है, मुझे आश्रय देताहुआ जगत् में चमका (रोशन कर) और मुझे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

(२) स यः एषो अन्तर् हृदये आकाशः, तस्मिन् अयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः ॥ १ ॥

अर्थ—वह जो यह हृदयमें भीतर आकाश है, उसमें यह पुरुष है, जो मनरूप (मनका मन) है, अमृत है और ज्योतिर्मय (प्रकाशस्वरूप) है ॥ १ ॥

अन्तरेण तालुके यः एष स्तनः इव अवलम्बते, स इन्द्रयोनिः ॥ २ ॥

अर्थ—जो यह दोनों तालुओंके मध्यमें स्तनकी नांई मांसका एक टुकडा [illegible] रका स्थान(शरीरसे बाहर निकलनेके समयकी जगह) है ॥ २ ॥

आकाशशरीरं ब्रह्म, सत्यात्म, प्राणारामं, मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धम् अमृतम्, इति प्राचीनयोग्य ! उपास्व ॥ ३ ॥

अर्थ—ब्रह्म आकाशकी नाई व्यापक शरीर(स्वरूप)वाला है, सत्य स्वरूप है, प्राण(जीवन)रूपसे सर्वत्र रमणेवाला और मनको आनन्दित करनेवाला है । शान्तिसे भरपूर और अमृत है, इस प्रकार हे प्राचीनयोग्य ! तू उपासना (चिन्तन) कर ॥ ३ ॥

(१) ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च, तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च, दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च, शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च, अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च, अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च, अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च, मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ १ ॥

अर्थ—ऋत(मनका सत्य) और स्वाध्याय(पढना) तथा प्रवचन(पढाना) दोनों, सत्य(बाणी का सत्य)और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, तप और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, दम(इन्द्रियोंका वशीकार) और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, शम (मनकी विषयोंसे निवृत्ति) और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, अग्न्याधान और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, अग्निहोत्र और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, अतिथि-सेवा और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, मानुष(लोकव्यवहार) और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, प्रजा(सन्तानका पालन–पोषण) और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, प्रजा उत्पन्नकरना और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, प्रजाकी वृद्धि(पुत्र पौत्र आदिसे फैलाव) और स्वाध्याय तथा प्रवचन दोनों, प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य कर्म है ॥ १ ॥

सत्यम् इति सत्यवचाः राथीतरः । तपः इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एव इति नाको मौद्गल्यः । तद् हि तपः, तद् हि तपः ॥ २

अर्थ—सत्य(सत्य बोलना) ही एक पर्याप्त है, यह रथीतरगोत्री सत्यवचा ऋषि मानता है । तप ही, यह पुरुशिष्टका पुत्र तपोनित्य मानता है । स्वाध्याय और प्रवचन दोनों ही, यह मुद्गलकापुत्र नाक मानता है । क्योंकि वह (स्वाध्याय और प्रवचन) सत्य और तप दोनों है, निःसन्देह वह सत्य और तप दोनों है ॥ २ ॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा, कीर्तिः पृष्ठं गिरेः इव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनि इव स्वमृतम्, अस्मि द्रविणं सुवर्चसम् । सुमेधाः अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशङ्कोः वेदानुवचनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं संसारवृक्षका सबसे बढकर जाननेवाला हूं, मेरी कीर्ति(यश) पर्वतके शिखरकी नाई ऊंची है । मैं सबसे ऊंचा पवित्र करनेवाला और [illegible] मानों मैं हूं, सुन्दर चमकतेहुए ज्ञानधनवाला मैं हूं । ज्ञा[illegible]

बुद्धिवाला मैं हूं, तीनों कालोंमें न क्षीण होनेवाला अमृत (ब्रह्म) मैं हूं। यह त्रिशंकु ऋषिका वेदपाठ अर्थात् वेदपाठकी नाईं प्रतिदिनका चिन्तन है ॥ ३ ॥

(४) वेदम् अनूच्य आचार्यो अन्तेवासिनम् अनुशास्ति-सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायात् मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनम् आहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ॥ १ ॥

अर्थ—वेद को पढाकर आचार्य (गुरु) घर जातेहुए शिष्यको शिक्षा देता है-हे पुत्र! तूने सत्य(सच्च) बोलना, धर्मका (वेदविहित कर्मका) आचरण (अनुष्ठान) करना, स्वाध्यायसे न प्रमाद करना(जानबूझकर छोडना), आचार्यकेलिये प्यारा धन लाकर गार्हस्थ्यमें प्रवेश करना, प्रजातन्तु(सन्तानरूपी धागे)को न काटना (विना विवाहकिये न रहना) ॥१॥

सत्यात् न प्रमदितव्यं, धर्मात् न प्रमदितव्यं, कुशलात् न प्रमदितव्यं, भूत्यै न प्रमदितव्यं, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं, देवपितृ-कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ २ ॥

अर्थ—सत्य(सत्यभाषण)से न प्रमाद(जान बूझ न करना) करना, धर्मसे (धर्मो-नुष्ठानसे) न प्रमाद करना, स्वास्थ्यसे(स्वास्थ्य रक्षासे) न प्रमाद करना, ऐश्वर्यकेलिये (ऐश्वर्य्यसम्पादनकेलिये) न प्रमाद करना, स्वाध्याय और प्रवचनसे न प्रमाद करना, देवकार्य्यों तथा पितृकार्य्योंसे न प्रमाद करना ॥ २ ॥

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। यानि अनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यानि अस्माकं सुचरितानि, तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि ॥ ३ ॥

अर्थ—तू मातारूपी देवतावाला हो (माता तेरेलिये देवता हो), पितारूपी देवता-वाला हो, आचार्य्यरूपी देवतावाला हो, अतिथिरूपी देवतावाला हो। जो निर्दोष कर्म हैं, वे तुझे करनेयोग्य हैं, दूसरे(दोषवाले) नहीं। जो हमारे अच्छे आचरण हैं, वे तुझे उपासने(अनुकरण करने) योग्य हैं, दूसरे नहीं ॥ ३ ॥

ये के च अस्मत् श्रेयांसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया अदेयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो भी कोई हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण(वेद आदि समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान्) हैं, उनका आसनसे(उत्थान आदि आसन-प्रदानान्त-क्रियासे) तुझे आश्वासन करना (उन्हें) आराम देना)चाहिये। तुम अपनी कमाईमेंसे जो कुछ भले कामोंमें दो श्रद्धासे दो, अश्रद्धासे न दो, अपने ऐश्वर्य्यानुसार दो, विनीतभावसे दो, शास्त्रभयसे दो, ठीक ठीक ज्ञानसे दो ॥ ४ ॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ताः अयुक्ताः अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः ॥ ५ ॥

अर्थ—अब यदि तुझे कर्तव्यकर्ममें संशय हो, अथवा आचरणमें संशय हो, अथवा दोनोंमें संशय हो, तो वहां जो कोई ब्राह्मण यथार्थ निर्णय करनेवाले, राजा आदिकी ओरसे नियुक्त हों, चाहे अनियुक्त(स्वतन्त्र) हों, रूखे न हों(प्रेमसे वर्तनेवाले हों) और धर्मकी कामनावाले हों(अर्थ तथा काममें आसक्त न हों), वे(ब्राह्मण) जैसे उंसमें (कर्म और आचरणमें) वर्तें (जैसा कर्म और आचरण करें), वैसे उंसमें तू वर्त (वैसा कर्म और आचारण तू कर) ॥ ५ ॥

अथ अभ्याख्यातेषु—ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ताः अयुक्ताः अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन्, तथा तेषु वर्तेथाः ॥६॥

अर्थ—अब अभिशस्तों(सन्दिग्ध दोषवालों)में—जो वहां ब्राह्मण यथार्थ निर्णय करनेवाले, राजा आदिकी ओरसे नियुक्त हों, चाहे न नियुक्त हों, रूखें न हों, और धर्मकी कामनावाले हों, वे जैसे उनमें वर्तें, वैसे तू उनमें वर्त ॥ ६ ॥

एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषद्, एतद् अनुशासनम्। एवम् उपासितव्यम्, एवम् उ च एतद् उपास्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—यह वेदकी आज्ञा है, यह वेदका उपदेश है, यह वेदका रहस्य(सार) है, यही मेरी शिक्षा है। ऐसे ही अनुष्ठान करना चाहिये, निःसन्देह ऐसे ही यह सब अनुष्ठान करने योग्य है ॥ ७ ॥

ओम् शं नो मित्रः शं वरुणः, शं नो भवतु अर्यमा। शं नः इन्द्रो बृहस्पतिः, शं नो विष्णुः उरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे, नमस्ते वायो!, त्वम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वाम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि। तत् माम् अवतु, तद् वक्तारम् अवतु। अवतु माम्, अवतु वक्तारम्। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नौ अधीतम् अस्तु, मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) ब्रह्मविद् आप्नोति परम् । तद् एषा अभ्युक्ता—"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सो अश्नुते सर्वान् कामान्, सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति ॥ १ ॥

अर्थ—ब्रह्मका जाननेवाला(ब्रह्मवेत्ता) उस सबसे परले (ब्रह्म)को प्राप्त होता है । उसमें यह ऋचा (मन्त्र) कहीगई(प्रमाणरूपसे पढीगई) है—"सत्य(सदा एकरस) ज्ञान-(चित्=चेतन) तथा अन्तसेरहित ब्रह्म है और हृदयगुफामें सबसे श्रेष्ठ आकाश(हृदयाकाश)में स्थित है, उसको जो जानता है । वह उस सबके देखनेवाले ब्रह्मके साथ सब कामना-ओंको प्राप्त होता (ब्रह्मको प्राप्त हुआ सब कामनाओंसे रहित हो जाता) है" । बस ॥१॥

तस्माद् वै एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्याः ओषधयः, ओषधिभ्यो अन्नम्, अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः ॥ २ ॥

अर्थ—उस इस आत्मा(अन्तरात्मा ब्रह्म)से निश्चय आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथिवी, पृथिवीसे ओषधियां, ओषधियोंसे अन्न, अन्नसे वीर्य्य, और वीर्य्यसे पुरुष (पुरुषका स्थूलशरीर) उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

स वै एष पुरुषो अन्नरसमयः । तस्य इदम् एव शिरः, अयं दक्षिणः पक्षः, अयम् उत्तरः पक्षः, अयम् आत्मा, इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तद् अपि एष श्लोको भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह यह पुरुष (पुरुषका स्थूलशरीर) निश्चय अन्नरसमय(अन्नके सारका बनाहुआ) है । उस(अन्नरसमय–पुरुषशरीर)का यह सिरही निश्चय सिर है, यह दाई भुजा दायां पक्ष(पंख), यह बाई भुजा बायां पक्ष(पंख), यह धड (शरीरका मध्य-भा[illegible]) [illegible] है और यह(नाभिसे नीचेका अङ्ग) पुच्छ है, जो सहारा है । उ[illegible] [illegible] (श्लोकसमूह) है ॥ ३ ॥

अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते, याः काश्च पृथिवीं श्रिताः । अथो अन्नेन एव जीवन्ति, अथ एनद् अपियन्ति अन्ततः । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठं, तस्मात् सर्वौषधमुच्यते ॥ १ ॥ सर्वं वै ते अन्नम् आप्नुवन्ति, ये अन्नं ब्रह्म उपासते । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठं, तस्मात् सर्वौषधमुच्यते ॥ २ ॥ अन्नाद् भूतानि जायन्ते, जातानि अन्नेन वर्धन्ते । अद्यते अत्ति च भूतानि, तस्माद् अन्नं तद् उच्यते ॥ ३ ॥ इति ॥ ४ ॥

अर्थ—अन्नसे निःसन्देह वे सब प्रजायें उत्पन्न होती हैं, जो कोई भी पृथिवीका आश्रय लियेहुई (पृथिवीपर रहती) हैं । अब अन्नसे ही जीती हैं, और अन्तमें इस अन्नमेंही लीन होजाती हैं । अन्न निःसंदेह सब प्राणियोंमें बडा (सब प्राणियोंके उत्पत्तिप्रलयका स्थान) है, इसलिये सर्वौषध (ओषधियोंकी ओषधि) कहा जाता है ॥ १ ॥ वे मनुष्य निश्चय हरएक अन्नको प्राप्त होते हैं, जो इस सबप्राणियोंमें बडे अन्नको उपासते (अन्नके तत्त्वको समझते) हैं । अन्न जिसलिये सब प्राणियोंमें बडा है, इसलिये सर्वोषध कहा जाता है ॥ २ ॥ अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए अन्नसे बढते हैं । जिसलिये वह प्राणियोंसे खाया जाता है, और अन्तमें सब प्राणियोंको खाजाता है, इसलिये अन्न कहाजाता है ॥ ३ ॥ बस ॥ ४ ॥

तस्माद् वै एतस्माद् अन्नरसमयाद् अन्यो अन्तरः आत्मा प्राणमयः । तेन एष पूर्णः । स वै एष पुरुषविधः एव । तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः । तस्य प्राणः एव शिरः, व्यानो दक्षिणः पक्षः, अपानः उत्तरः पक्षः, आकाशः आत्मा, पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तद् अपि एष श्लोको भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—उस इस अन्नरसमय (स्थूल–शरीर)से भिन्न निश्चय भीतर प्राणमय (प्राणरूप) आत्मा है । उस (प्राणमय)से यह (अन्नरसमय) पूर्ण (भरपूर) है । वह यह (प्राणमय) निःसन्देह पुरुषाकार ही है । उसकी (अन्नरसमयकी) पुरुषाकारताके सदृश यह (प्राणमय) पुरुषाकार है । प्राण निश्चय उसका सिर है, व्यान दांयां पक्ष, अपान बांयां पक्ष, आकाश धड और पृथिवी पुच्छ है, सहारा है । उस (प्राणमय)में निश्चय यह श्लोक है ॥ ५ ॥

प्राणं देवाः अनुप्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये ।
प्राणो हि भूतानाम् आयुः, तस्मात् सर्वायुषमुच्यते ॥ १ ॥
सर्वम् एव ते आयुः यन्ति, ये प्राणं ब्रह्म उपासते ।
प्राणो हि भूतानाम् आयुः, तस्मात् सर्वायुषमुच्यते ॥ २ ॥ इति
तस्य एष एव शारीरः आत्मा, यः पूर्वस्य ॥ ६

अर्थ—देवता, मनुष्य और पशु, जितने प्राणी हैं, वे सब प्राणसे जीते हैं। प्राण जिसलिये सब प्राणियोंकी आयु है, इसलिये सर्वायुष (आयुकी आयु) कहा जाता है ॥ १ ॥ वे मनुष्य निश्चय सब (पूरी) आयुको प्राप्त होते हैं, जो सबसे बड़े (आयुके आयु) प्राणको उपासते (स्वस्थ रखनेका चिन्तन करते हैं) । प्राण जिसलिये प्राणियोंकी आयु है, इसलिये सर्वायुष (आयुकी आयु) कहाजाता है ॥ २ ॥ बस । उस (प्राणमय) का यही निश्चय शारीर (शरीरमें होनेवाला) आत्मा है, जो पहले (अन्नरसमय) का है ॥ ४ ॥

तस्माद् वै एतस्मात् प्राणमयाद् अन्यो अन्तरः आत्मा मनोमयः । तेन एष पूर्णः । स वै एष पुरुषविधः एव । तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः । तस्य यजुः एव शिरः, ऋग् दक्षिणः पक्षः, साम उत्तरः पक्षः, आदेशः आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तद् अपि एष श्लोको भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—उस इस प्राणमयसे भिन्न निश्चय भीतर मनोमय आत्मा है । उस (मनोमय) से यह (प्राणमय) पूर्ण (भरपूर) है । वह यह (मनोमय) निःसन्देह पुरुषाकार ही है । उस (प्राणमय) की पुरुषाकारताके सदृश यह पुरुषाकार है । यजु मन्त्र निश्चय उसका सिर, ऋचा मन्त्र दायां पक्ष, साम मन्त्र बायां पक्ष, विधि (ब्राह्मण) धड़ और अथर्वाङ्गिरस मन्त्र (अथर्वसंहिताके मन्त्र) पुच्छ हैं, सहारा हैं । उस (मनोमय) में निश्चय यह श्लोक है ॥ ७ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कदाचन ॥ १ ॥ इति । तस्य एष एव शारीरः आत्मा, यः पूर्वस्य ॥ ८ ॥

अर्थ—जिससे मनके सहित सब वाणियां (लोकवाणियां तथा वेदवाणियां) न पहुचकर लौट आती हैं । उस ब्रह्मके आनन्द (आनन्दमयस्वरूप) को जानता हुआ पुरुष किसीकालमें भी नहीं डरता (शरीरके जन्ममरणसे अपना जन्ममरण न समझता हुआ निडर हो जाता) है ॥ १ ॥ बस । उस (मनोमय) का यह ही शारीर आत्मा है, जो पहले (प्राणमय) का है ॥ ८ ॥

तस्माद् वै एतस्मात् मनोमयाद् अन्यो अन्तरः आत्मा विज्ञानमयः । तेन एष पूर्णः । सः वै एष पुरुषविधः एव । तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धा एव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यम् उत्तरः पक्षः, योगः आत्मा, महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तद् अपि एष श्लो

अर्थ—उस इस मनोमयसे भिन्न निश्चय भीतर विज्ञानमय(बुद्धिरूप) आत्मा है। उस(विज्ञानमय)से यह(मनोमय) पूर्ण(भरपूर) है। वह यह(विज्ञानमय)निःसन्देह पुरुषाकार ही है। उस(मनोमय)की पुरुषाकारताके सदृश यह पुरुषाकार है। श्रद्धा निश्चय उसका सिर, ऋत(मानस सत्य) दायां पक्ष, सत्य(वाचिक सत्य) बायां पक्ष, योग(चित्तका एकाग्र होना) धड और महः(आत्मा) पुच्छ है, सहारा है। उसमें (विज्ञानमयके विषयमें) निश्चय यह श्लोक है॥ ९॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवाः सर्वे, ब्रह्म ज्येष्ठम् उपासते॥ १॥
विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद, तस्मात् चेत् न प्रमाद्यति।
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते॥ २॥ इति।

तस्य एष एव शारीरः आत्मा, यः पूर्वस्य॥ १०॥

अर्थ—विज्ञान(विज्ञानमय आत्मा) यज्ञको फैलाता(पूरा करता) है और दूसरे कर्मोंको भी फैलाता है। उस सबसे बडे विज्ञानमय ब्रह्म(आत्मा)को सब देवता (इन्द्रियां) उपासते(उसके अनुशासनका पालन करते) हैं॥१॥ यदि कोई विज्ञानमय आत्माको जानता है, और उससे यदि नहीं प्रमाद (बेपरवाही) करता है। तो वह शरीरके होते हुए(रहते हुए) पापोंको परे फैंककर सब कामनाओंको प्राप्त होता है॥ २॥ बस। उस(विज्ञानमय)का यह ही शारीर आत्मा है, जो पहलेका है॥ १०॥

तस्माद् वै एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्यो अन्तरः आत्मा आनन्दमयः। तेन एष पूर्णः। स वै एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः। तस्य प्रियम् एव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोदः उत्तरः पक्षः, आनन्दः आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तद् अपि एष श्लोको भवति॥ ११॥

अर्थ—उस इस विज्ञानमयसे भिन्न निश्चय भीतर आनन्दमय आत्मा है। उस(आनन्दमय)से यह(विज्ञानमय) पूर्ण(भरपूर) है। वह यह निःसन्देह पुरुषाकार ही है। उस(विज्ञानमय)की पुरुषाकारताके सदृश यह पुरुषाकार है। प्रिय(दर्शनजन्य सुख) निश्चय उसका सिर, मोद (प्राप्तिजन्य सुख) दायां पक्ष, प्रमोद(भोगजन्य सुख) बायां पक्ष, आनन्द धड और ब्रह्म(आत्मा) पुच्छ है, सहारा है। उस (आनन्दमय)में निश्चय यह श्लोक है॥ ११॥

असन् एव स भवति, असद् ब्रह्म इति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद, सन्तम् एनं ततो विदुः॥ १॥ इति।

तस्य एष एव शारीरः आत्मा, यः पूर्वस्य॥ १२॥

यदि कोई ब्रह्म(आत्मा)को असत्(नही है) ऐसा जानता है, तो वह स्वयं निश्चय असत् (नही है) होता है। और यदि ब्रह्म है, ऐसा जानता है, तो उस उससे(ऐसा जाननेसे) इसको लोग सन्त(है) जानते हैं ॥ १ ॥ बस ।

(आनन्दमय)का यह ही शरीर आत्मा है, जो पहले(विज्ञानमय)का है ॥ १२ ॥

(२) अथ अतो अनुप्रश्नाः-उत अविद्वान् अमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छति? आहो विद्वान् अमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुते उ? ॥ १ ॥

अर्थ—अब इससे आगे उक्त अर्थके अनुकूल(साधक) प्रश्न हैं-क्या आत्मा (आनन्दमय ब्रह्म)को न जानता हुआ कोई भी मरकर उस लोक(आनन्दमय ब्रह्म)को प्राप्त होता है, अथवा जानता हुआ ही कोई मरकर उस लोकको प्राप्त होता है, अथवा दोनों ही नही प्राप्त होते हैं ? ॥ १ ॥

सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति। स तपो अतप्यत। स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किं च। तत् सृष्ट्वा तद् एव अनुप्राविशत्। तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च, अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च, सत्यम् अभवत्। यद् इदं किं च तत् सत्यम् इति आचक्षते। तद् अपि एष श्लोको भवति-

"असद् वै इदम् अग्रे आसीत्, ततो वै सद् अजायत। तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत, तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते" ॥ १ ॥ इति ॥ २ ॥

अर्थ—उस(आनन्दमय ब्रह्म)ने यह इच्छाकी मैं बहुत होवूं, मैं प्रजावाला होवूं। उसने तप तपा। उसने तप तपकर यह सब उत्पन्न किया जो कुछ भी यह है। उसको उत्पन्न करके उसने उसमें निश्चय प्रवेश किया। उसमें प्रवेश करके वह सत् (प्रत्यक्ष वस्तु) और त्यत् (अप्रत्यक्ष वस्तु) दोनों हुआ, निरुक्त(जो दूसरोंसे अलग करके कहा जा सकता है) और अनिरुक्त(जो दूसरोंसे अलग करके नही कहा जा सकता) दोनों, निलयन (दूसरोंका आधार) और अनिलयन(अनाधार) दोनों, विज्ञान(चेतन) और अविज्ञान (अचेतन) दोनों, सत्य(स्थायी) और अनृत(अस्थायी) दोनों, वह सत्य(ब्रह्म) हुआ। इसलिये जो कुछ भी यह है, उसको सत्य(ब्रह्म) ऐसा कहते हैं। उसमें निश्चय यह श्लोक है-यह सब निःसन्देह पहले असत् (व्यक्तनामरूपसेरहित ब्रह्म)था, उससे निश्चय सत्(व्यक्त-नामरूप जगत्) उत्पन्न हुआ। उसने अपने आप(दूसरेकी सहायताके विना) अपने आपको अनेकरूप बनाया (किया), इसलिये वह अच्छा बनानेवाला कहा जाता है ॥ १ ॥ बस ॥ २ ॥

यद् वै सुकृतं, रसो वै सः। रसं हि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति। को हि एव अन्यात्, कः प्राण्यात्, यद् एष आकाशः आनन्दो न [illegible] आनन्दयाति ॥ ३ ॥

अर्थ—जो यह निश्चय अच्छा बनानेवाला है, वही निश्चय आनन्द(आनन्दमय ब्रह्म) है । निःसन्देह उस आनन्द(आनन्दमय ब्रह्म)को ही पाकर यह (ब्रह्मवेत्ता) आनन्दवाला होता है । कौन निश्चय जीसके, कौन निश्चय सांस लेसके, यदि यह आनन्दरूप(आनन्दमय) ब्रह्म न हो । यह(आनन्दमय ब्रह्म) ही निश्चय सबको आनन्दवाला करता है ॥ ३ ॥

यदा हि एव एष एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा हि एव एष एतस्मिन् उद्+अरम् अन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति । तत् तु एव भयं विदुषो मन्वानस्य । तद् अपि एष श्लोको भवति—

"भीषा अस्माद् वातः पवते, भीषा उदेति सूर्यः । भीषा अस्माद् अग्निश्च इन्द्रश्च, मृत्युः धावति पञ्चमः ॥ १ ॥ इति ॥ ४ ॥

अर्थ—जब ही निश्चय यह इस अदृश्य, अशरीर, अनिरुक्त, अनाधार, आनन्दमय ब्रह्ममें अभय प्रतिष्ठा(गिरनेके डरसे रहित अचल स्थिति)को लभता(पाता) है, तब वह अभय(अमृतत्व)को प्राप्त हुआ होता है । जब ही निश्चय यह इस (हृदयस्थ आनन्दमय ब्रह्म)में और जितनाभी(थोडाभी) भेद करता है, तब उसको भय(जन्म-मरणका भय) होता है । परन्तु वह भय निश्चय विद्वान् न होकर विद्वान् माननेवाले (अज्ञानी मनुष्य)को ही होता है । उसमें निश्चय यह श्लोक है–इसके भयसे वायु चलता है, इसके भयसे सूर्य्य उदय होता है । इसके भयसे अग्नि और इन्द्र(बिजली) और पांचवां मृत्यु(काल) दौडता है ॥ १ ॥ बस ॥ ४ ॥

(३) सा एषा आनन्दस्य मीमांसा भवति–युवा स्यात् साधुयुवा, अध्यायकः, आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः, तस्य इयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्, सः एको मानुषः आनन्दः ॥ १ ॥

अर्थ—वह यह आनन्दकी मीमांस(विचार) है–युवा हो, अच्छा युवा(सर्वाङ्गपूर्ण युवा) हो, पढाहुआ, बडा फुर्तीला, बडा दृढ और बडा बलवान् हो, धनसे पूर्ण यह सब पृथिवी उसकी हो, वह एक मानुष आनन्द(मनुष्यका सुख) है ॥ १ ॥

ते ये शतं मानुषाः आनन्दाः, स एकः पितृणां चिरलोकलोकानाम् आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य । ते ये शतं पितृणां चिरलोक-लोकानाम् आनन्दाः, स एकः आजानजानां देवानाम् आनन्दः, श्रोत्रि-यस्य च अकामहतस्य । ते ये शतम् आजानजानां देवानाम् आनन्दाः, स एकः कर्मदेवानां देवानाम् आनन्दः, ये कर्मणा देवान् अपियन्ति, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानाम् आन-न्दाः, स एको देवानाम् आनन्दः, श्रोत्रियस्य च —— ॥

अर्थ—वे जो सौ मानुष आनन्द हैं, वह एक चिरलोक-लोक(चिरकालतक अपने कर्मोंका फल भोगनेवाले) पितरोंका आनन्द है, और श्रोत्रिय(वेदविद्वान्)का जो कामहत(कामनाओंसे दबाहुआ) नही है। वे जो सौ चिरलोक-लोक पितरोंके आनन्द हैं, वह एक आजानज(जन्मसिद्ध) देवताओंका आनन्द है और श्रोत्रियका जो कामहत नही है। वे जो सौ आजानज देवोंके आनन्द हैं, वह एक कर्मदेव देवों(देवताओं)का आनन्द है, और श्रोत्रियका जो कामहत नही है। जो कर्मसे (वेदविहित कर्मानुष्ठानसे) देवताओंमें मिलते(देवता होते) हैं, उनको कर्मदेव कहते हैं। वे जो सौ कर्मदेव देवोंके आनन्द हैं, वह एक देवों(मुख्य देवताओं)का आनन्द है, और श्रोत्रियका, जो कामहत नही है ॥ २ ॥

ते ये शतं देवानाम् आनन्दाः, स एकः इन्द्रस्य आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य। ते ये शतम् इन्द्रस्य आनन्दाः, स एको बृहस्पतेः आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेः आनन्दाः, स एकः प्रजापतेः आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेः आनन्दाः, स एको ब्रह्मणः आनन्दः, श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—वे जो सौ देवताओंके आनन्द हैं, वह एक इन्द्रका आनन्द है, और श्रोत्रियका, जो कामहत नही है। वे जो सौ इन्द्रके आनन्द हैं, वह एक बृहस्पतिका आनन्द है, और श्रोत्रियका, जो कामहत नही है। वे जो सौ बृहस्पतिके आनन्द हैं, वह एक प्रजापतिका आनन्द है, और श्रोत्रियका, जो कामहत नही है। वे जो सौ प्रजापतिके आनन्द हैं, वह एक ब्रह्मका आनन्द है, और श्रोत्रियका, जो कामहत नही है ॥ ३ ॥

स यश्च अयं पुरुषे, यश्च असौ आदित्ये, स एकः। स यः एवंविद् अस्मात् लोकात् प्रेत्य एतम् अन्नमयम् आत्मानम् उपसङ्क्रामति, एतं प्राणमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति, एतं मनोमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति, एतं विज्ञानमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति, एतम् आनन्दमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति। तद् अपि एष श्लोको भवति— "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" ॥ १ ॥ इति ॥ ४ ॥

अर्थ—वह जो यह (आनन्दमय ब्रह्म) निश्चय पुरुष (पुरुषशरीर)में है, और जो वह सूर्यमें(सूर्यमण्डलमें) है, वह एक है। जो ऐसा जाननेवाला है, वह इस लोकसे मरकर इस अन्नमय आत्माको प्राप्त होता है, इस प्राणमय आत्माको प्राप्त होता है, [illegible] प्राप्त होता है, इस विज्ञानमय आत्माको प्राप्त होता है, इस

आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है। उसमें निश्चय यह श्लोक है—जिससे मनके सहित वाणियां (लोकवाणियां तथा वेदवाणियां) न पहुचकर लौट आती हैं। उस ब्रह्मके आनन्द(आनन्दमयस्वरूप)को जानता हुआ पुरुष किसीसे भी नही डरता (आनन्दमय ब्रह्मको प्राप्त हुआ जन्म मरणके भयसे ऊपर होजाता) है ॥१॥ बस ॥४॥

एतं ह वाव न तपति 'किम् अहं साधु न अकरवम्, किम् अहं पापम् अकरवम्' इति। स यः एवं विद्वान् एते आत्मानं स्पृणुते । उभे हि एव एष एते आत्मानं स्पृणुते, यः एवं वेद । इति उपनिषत् ॥ ५ ॥

अर्थ—इस(आनन्दमय आत्माके जाननेवाले)को कभी निश्चय यह कल्पना नही तपाती—क्यों मैंने पुण्य कर्म न किया, क्यों मैंने पाप कर्म किया । क्योंकि जो इसप्रकार अनन्दमय आत्माका जाननेवाला है, वह इन (पुण्य, पाप) दोनोंके अन्तरात्मा(इन दोनोंकी पहुचसे परे आत्मा)को प्राप्त होता है। निःसन्देह यह अवश्य इन दोनों (पुण्य पाप दोनों)के अन्तरात्माको प्राप्त होता है, जो इसप्रकार आनन्दमय आत्माको जानता है। बस यह रहस्य (गोप्य ब्रह्मविद्या) है ॥ ५ ॥

(४) भृगुः वै वारुणिः वरुणं पितरम् उपससार अधीहि भगवो ! ब्रह्म इति। तस्मै स एतत् प्रोवाच अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनो, वाचम् इति। तं ह उवाच-यतो वै इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म इति ॥ १ ॥

अर्थ—वरुणका पुत्र निश्चय भृगु वरुण पिताके पास गया, और यह कहा हे भगवन्! मुझे ब्रह्मको जनायें (ब्रह्मका उपदेश करें) । उस(भृगु)को उसने यह कहा—अन्न (शरीर), नेत्र-कान-आदि ज्ञानेन्द्रियोंसहित प्राण, और वाणीआदि कर्मेन्द्रियोंसहित मन, इनको तू ब्रह्म जान। उस(भृगु)को फिर कहा—जिससे निश्चय ये सब भूत(प्राणी) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्नहुए जिससे जीतेहैं, और मरतेहुए जिसमें प्रवेश करते(लीन होते) हैं, उसको जाननेकी इच्छा(प्रयत्न) कर, बस वह ब्रह्म है ॥ १ ॥

स तपो अतप्यत। स तपः तप्त्वा अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात् । अन्नाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति ॥ २ ॥

अर्थ—उस(भृगु)ने तप तपा (एकाग्र मनसे विचारा) । उसने तप तपकर अन्न ब्रह्म है, यह जाना । क्योंकि अन्नसे ही निश्चय ये सब भूत(प्राणी) उत्पन्न होतेहैं, उत्पन्न हुए अन्नसे ही जीते हैं, और मरतेहुए अन्न (पृथिवी)में ही प्रवेश करते हैं, इसलिये अन्न ब्रह्म है॥ २ ॥

तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरम् उपससार, अधीहि भगवो! ब्रह्म इति । तं ह उवाच-तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो [illegible]

अर्थ—उसको (अन्नको) जानकर(ब्रह्म जानकर) वह फिर निश्चय वरुण पिताके पास गया और यह कहा—हे भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश करें। उसको प्रसिद्ध वरुणने यह कहा—तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ही ब्रह्म(ब्रह्मज्ञानका साधन) है ॥३॥

स तपो अतप्यत । स तपः तप्त्वा प्राणो ब्रह्म इति व्यजानात् । प्राणाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति, प्राणं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति ॥ ४ ॥

अर्थ—उस(भृगु)ने तप तपा। उसने तप तपकर 'प्राण ब्रह्म है, यह जाना। क्योंकि प्राणसे(प्राणशक्ति अहङ्कारसे) ही निश्चय ये सब भूत उत्पन्न होतेहैं, उत्पन्न हुए प्राणसे ही जीते हैं, और मरतेहुए प्राणमें ही प्रवेश करतेहैं, इसलिये प्राण ब्रह्म है ॥४॥

तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरम् उपससार अधीहि भगवो! ब्रह्म इति । तं ह उवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्म इति ॥ ५ ॥

अर्थ—उसको जानकर(प्राणको ब्रह्म जानकर) वह फिर निश्चय वरुण पिताके पास गया और यह कहा—हे भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश करें। उसको प्रसिद्ध वरुणने यह कहा—तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ब्रह्म है ॥ ५ ॥

स तपो अतप्यत । स तपः तप्त्वा मनो ब्रह्म इति व्यजानात् । मनसो हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, मनसा जातानि जीवन्ति, मनः प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति ॥ ६ ॥

अर्थ—उसने तप तपा। उसने तप तपकर 'मन ब्रह्म है, यह जाना। क्योंकि मनसे (महत्तत्त्वसे) ही निश्चय ये सब भूत उत्पन्न होतेहैं, उत्पन्नहुए मनसे ही जीतेहैं, और मरतेहुए मनमें ही प्रवेश करतेहैं, इसलिये मन ब्रह्म है ॥ ६ ॥

तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरम् उपससार अधीहि भगवो ब्रह्म इति । तं ह उवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्म इति ॥ ७ ॥

अर्थ—उसको जानकर(मनको ब्रह्म जानकर) वह फिर निश्चय वरुण पिताके पास गया और यह कहा—हे भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेशकरें। उसको प्रसिद्ध वरुणने यह कहा—तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छाकर, तप ब्रह्म है ॥ ७ ॥

स तपो अतप्यत । स तपः तप्त्वा विज्ञानं ब्रह्म इति व्यजानात् । विज्ञानाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति ॥ ८ ॥

अर्थ—उसने तप तपा। उसने तप तपकर 'विज्ञान(विज्ञानमय आत्मा) ब्रह्म है, यह जाना। क्योंकि विज्ञान(विज्ञानमय आत्मा)से ही निश्चय ये सब भूत उत्पन्न होतेहैं, उत्पन्नहुए विज्ञ[illegible] हैं, और मरतेहुए विज्ञानमें ही प्रवेश करतेहैं, इसलिये विज्ञान ब्रह्म है ॥८॥

तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरम् उपससार अधीहि भगवो ब्रह्म इति । तं ह उवाच–तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्म इति ॥ ९ ॥

अर्थ—उसको जानकर(विज्ञानमय आत्माको ब्रह्म जानकर) वह फिर निश्चय वरुण पिताके पास गया और यह कहा–हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मका उपदेश करें । उसको प्रसिद्ध वरुणने यह कहा–तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छाकर, तप ब्रह्म है ॥ ९ ॥

स तपो अतप्यत । स तपः तप्त्वा आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात् । आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति इति ॥ १० ॥

अर्थ—उसने तप तपा । उसने तप तपकर 'आनन्द(आनन्दमय आत्मा) ब्रह्म है, यह जाना । क्योंकि आनन्दसे ही निश्चय ये सब भूत उत्पन्न होतेहैं, उत्पन्न हुए आनन्दसे ही जीतेहैं, और मरतेहुए आनन्दमें ही प्रवेश करतेहैं, इसलिये आनन्द (आनन्दमय आत्मा) ब्रह्म है ॥ १० ॥

सा एषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । यः एवं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवान् अन्नादो भवति, महान् भवति प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥ ११ ॥

अर्थ—वह यह भृगुको वरुणकी उपदेश कीहुई विद्या(ब्रह्मविद्या) सबसे ऊचे ब्रह्म (आनन्दमय ब्रह्म)में प्रतिष्ठित हुई(जाकर ठहरी) । जो इसप्रकार जानता(आनन्दमय आत्मा ब्रह्मको जानता)है, वह प्रतिष्ठावाला होताहै, अन्नवाला और अन्नके खानेवाला (स्वस्थ) होताहै, प्रजा(पुत्र पौत्र आदि प्रजा)से, पशुओंसे, ब्रह्मवर्चस(विद्यातेज)से महान् होताहै, और कीर्ति(यश)से महान् होताहै ॥ ११ ॥

ओम् सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नौ अधीतम् अस्तु, मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् वाक् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् । आविः आवीः मे एधि । वेदस्य मे आणीस्थः । श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेन अधीतेन अहोरात्रान् संदधामि । ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तत् माम् अवतु, तद् वक्तारम् अवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—हे परमात्मा ! मेरी बाणी मनमें प्रतिष्ठित (ठहरी हुई) हो, मेरा मन बाणीमें प्रतिष्ठित (ठहरा हुआ) हो (जो बाणीमें, वही मनमें, जो मनमें, वही बाणीमें हो) । हे प्रकटस्वरूप ! मेरे बाणी और मनमें प्रकट हो । हे मेरी बाणी और मन ! तुम दोनों मेरेलिये वेदविद्याको अच्छीतरह प्राप्त करानेवाले होवो । हे अन्तर्यामी परमात्मा ! मेरा सुना हुआ (पढाहुआ) न भूले । मैं इस पढेहुएके साथ दिनरात जुडता हूं । मैं ऋत कहूंगा, सत्य कहूंगा । वह (सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा) मेरी रक्षाकरे, वह आचार्यकी रक्षाकरे । रक्षाकरे मेरी, रक्षाकरे आचार्यकी । हे परमात्मा ! आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिदैविकदुःखोंकी निवृत्ति हो, आधिभौतिकदुःखोंकी निवृत्ति हो ॥

(१) आत्मा वै इदम् एकः एव अग्रे आसीत्, न अन्यत् किं चन मिषत् । स ईक्षत लोकान् नु सृजै इति ॥ १ ॥

अर्थ—यह सब पहले (आरम्भमें) केवल एक आत्मा ही था, दूसरा कुछ भी आंख झपकनेवाला तथा न झपकनेवाला नही था । उस (आत्मा)ने यह विचारा (सोचा) मैं अब लोकोंको उत्पन्न करूं ॥ १ ॥

स इमान् लोकान् असृजत अम्भः मरीचिः मरम् आपः । अदो अम्भः परेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरः, याः अधस्तात्, ताः आपः ॥ २ ॥

अर्थ—उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप्, इन चार लोकोंको उत्पन्न किया । वह अम्भ है जो द्यौसे परे (ऊपर) है और द्यौ, जो सबका आश्रय है, मरीचि अन्तरिक्ष, मर पृथिवी और वह आप् है जो नीचे समुद्रतल है ॥ २ ॥

स ईक्षत इमे नु लोकाः, लोकपालान् नु सृजै इति । सो अद्भ्यः एव पुरु[illegible] छेयत् ॥ ३ ॥

अर्थ—उसने यह विचारा ये निश्चय लोक हैं (लोक उत्पन्न हुए), अब मैं लोकपालों (लोकोंके रक्षक मनुष्यों)को उत्पन्न करूं । उसने जलोंसे ही निकालकर पुरुषाकार (भविष्यमें पुरुषाकार होनेवाले) पिण्ड (मूर्ति)को बनाया ॥ ३ ॥

तम् अभ्यतपत् । तस्य अभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम् । मुखात् नासिके निरभिद्येताम् । नासिकाभ्याम् अक्षिणी निरभिद्येताम्, अक्षीभ्यां कर्णौ निरभिद्येताम्, कर्णाभ्यां त्वक् निरभिद्यत, त्वचो हृदयं निरभिद्यत, हृदयात् नाभिः निरभिद्यत, नाभ्यः शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नात् रेतः* ॥ ४ ॥

अर्थ—उस (पुरुषाकार पिण्ड)को उसने सबओरसे तपाया । उस सबओरसे तपेहुएका पहले मुख (मुखका छेद) निकला जैसे अण्डा फटता है । मुखसेपीछे नाकके दोनों छेद निकले, नाकके दोनों छेदोंसे पीछे आंखके दोनों छेद निकले, आंखेके दोनों छेदोंसे पीछे कानके दोनों छेद निकले, कानके दोनों छेदोंसे पीछे त्वचा निकली, त्वचासे पीछे हृदय निकला (बना), हृदयसे पीछे गुदा निकली, गुदासे पीछे प्रजनन इन्द्रिय निकला और प्रजनन इन्द्रियसे वीर्य निकला ॥ ४ ॥

अथ अग्निः वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्, आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशद्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन् चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युः अपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ५ ॥

अर्थ—अब अग्निने वाणी होकर मुखमें प्रवेशकिया, वायुने प्राण (घ्राण) होकर नाकके दोनों छेदोंमें प्रवेशकिया, सूर्यने दृष्टि(देखनेकी शक्ति) होकर आंखके दोनों छेदोंमें प्रवेशकिया, दिशाओंने श्रुति(सुननेकी शक्ति) होकर कानके दोनों छेदोंमें प्रवेश किया, ओषधियों और वनस्पतियोंने बाल और रोम होकर त्वचामें प्रवेश किया, चन्द्रमाने मन होकर हृदयमें प्रवेश किया, मृत्युने अपान होकर गुदामें प्रवेश किया, और प्रजापतिने वीर्य होकर प्रजननेन्द्रियमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

(२) स ईक्षत कथं नु इदं मद् ऋते स्याद् इति । स ईक्षत कतरेण प्रपद्यै इति ॥ १ ॥

---

* सर्गादौ वर्तुलाकारः, सत्त्वोऽणीयान् त्वगिन्द्रियः । मूलं विश्वस्य सत्त्वस्य, जज्ञे भगवदिच्छया ॥१॥
शब्दरागात् श्रोत्रम् अस्य, जायते भावितात्मनः । रूपरागात् तथा चक्षुः, घ्राणं गन्धजिघृक्षया ॥२॥
पादौ विहरणेच्छायां, हस्तौ आदातुम् इच्छया । रसनं रसगर्द्धायां, जायते वाग् विवक्षया ॥ ३ ॥

अर्थ—अब उसने यह विचारा (देखा) कैसे यह (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंसे युक्त पुरुषाकार पिण्ड) निश्चय मेरे विना लोकपाल होगा । उसने यह विचारा मैं दोनों (पादाग्र और ब्रह्मरन्ध्र) मेंसे किसएक मार्गसे इसमें (इस पुरुषकार पिण्डमें) प्रवेश करूं ॥ १ ॥

स एतम् एव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत । सा एषा विदृतिः नाम द्वाः, तद् एतद् नान्दनम् ॥ २ ॥

अर्थ—उसने इस ही सिरकी सीमा (हद) ब्रह्मरन्ध्रको फाडकर (खोलकर) इस द्वार (दरवाजे) से प्रवेश किया । वह यह द्वार (दरवाजा) विदृति (फाडा हुआ) नामवाला है, और वही यह नान्दन (आनन्दकी प्राप्तिका स्थान होनेसे नान्दन-नामवाला) कहा जाता है ॥ २ ॥

तस्य त्रयः आवसथाः । त्रयाः स्वप्नाः । अयम् आवसथः, अयम् आवसथः, अयम् आवसथः इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस (दसवें द्वार=ब्रह्मरन्ध्रसे शरीरमें प्रविष्टहुए आत्मा) के रहनेके स्थान तीन हैं । तीनों स्वप्नकी नाईं अस्थिर होनेसे स्वप्न कहे जाते हैं । उनमेंसे एक यह आंख जाग्रत अवस्थामें रहनेका स्थान है, दूसरा यह कण्ठ स्वप्नावस्थामें रहनेका स्थान है, और तीसरा यह हृदय सुषुप्ति अवस्थामें रहनेका स्थान है, बस ॥ ३ ॥

स जातो भूतानि अभिव्यैख्यत् किम् इह अन्यं वावदिषद् इति । स एतम् एव पुरुषं ब्रह्म ततमम् अपश्यत् 'इदम् अदर्शम्' इति । तस्माद् इदन्द्रो नाम ॥ ४ ॥

अर्थ—ब्रह्मरन्ध्रसे शरीरमें प्रविष्ट हुए उस (आत्मा) ने सब भूतों (पशुपक्षी आदि सब प्राणियों) को इस अभिप्रायसे ध्यानपूर्वक देखा कि वह इनमें अपनेसे भिन्न किस दूसरेको कहे । उसने इस पुरुषको ही (ब्रह्मरन्ध्रसे पुरुषशरीरमें प्रविष्ट आत्माकोही) जो सबसे बढकर फैलाहुआ (व्यापक) परला ब्रह्म है देखा, और यह कहा इसको मैंने देखा । इसलिये इसका (देखनेवालेका) नाम इदंद्र (इसका=शरीरमें प्रविष्ट आत्माका, देखनेवाला) हुआ ॥ ४ ॥

इदन्द्रो ह वै नाम । तम् इदन्द्रं सन्तम् इन्द्रः इति आचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रियाः इव हि देवाः ॥ ५ ॥

अर्थ—इदन्द्र ही निश्चय नाम है । विद्वान् उस इदन्द्र नामवाले हुएको ही इन्द्र इस परोक्ष (गुह्य) नामसे कहतेहैं, क्योंकि बहुत करकेपरोक्षसे प्यार करनेवाले ही विद्वान् होते हैं ॥ ५ ॥

(३) अपक्रामन्तु गर्भिण्यः । पुरुषे ह वै अयम् आदितो गर्भो भवति यद् एतद् रेतः । तद् एतत् सर्वेभ्यो अङ्गेभ्यः तेजः सम्भूतम् आत्मनि

एव आत्मानं बिभर्ति । तद् यदा स्त्रियां सिञ्चति, अथ एनद् जनयति । तद् अस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

अर्थ—गर्भिणी स्त्रियां चलीजायें । प्रसिद्ध पुरुषशरीरमें (पिताके शरीरमें) निश्चय यह आत्मा (ब्रह्मरन्ध्रसे शरीरमें प्रविष्ट आत्मा) पहले गर्भ होता (गर्भरूपसे स्थित होता) है, जो यह वीर्य (वीर्यरूपसे स्थिति) है । उस इस सब अङ्गोंसे सार इकट्ठेहुए आत्माको (आत्मासहित वीर्यको) निश्चय पुरुष (पिता) अपने शरीरमें गर्भरूपसे धारणकरता है । उसको (गर्भरूपसे धारण कियेहुए आत्मासहित वीर्यको) जब स्त्रीमें सेंचता (डालता) है, तब इसको जन्म देता है । वह (पुरुषके शरीरसे निकलना) इसका (आत्माका) पहला जन्म है ॥ १ ॥

तत् स्त्रियाः आत्मभूयं गच्छति यथा स्वम् अङ्गं, तथा । तस्माद् एनां न हिनस्ति । सा अस्य एतम् आत्मानम् अत्र गतं भावयति ॥ २ ॥

अर्थ—वह (पुरुषका स्त्रीमें सेंचाहुआ आत्मासहित वीर्य) स्त्रीका सचमुच आत्मा (शरीर) बन जाताहै जैसे उसका अपना स्तन आदि अङ्ग वैसे । इसलिये वह इस (स्त्री) को नही पीडा देताहै । वह (स्त्री) अपने शरीरमें भीतर गये हुए (प्रविष्ट हुए) इस (पुरुष) के इस आत्मा (वीर्यस्थ आत्मा) को पालती पोषती है ॥ २ ॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति । तं स्त्री गर्भं बिभर्ति, सो अग्रे एव कुमारं जन्मनो अधि भावयति । स यत् कुमारं जन्मनो अग्रे अधि भावयति, आत्मानम् एव तद् भावयति एषां लोकानां संतत्यै । एवं संतताः हि इमे लोकाः । तद् अस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

अर्थ—वह पालनपोषणकरनेवाली पालनपोषणकरने योग्य है । स्त्री उस गर्भको धारणकरती है, वह (पुरुष) अपना और अपनी स्त्रीका पालनपोषण करता हुआ निश्चय जन्मसे पहले और पीछे बचेका पालनपोषणकरता है । वह (पुरुष) जो जन्मसे पहले और पीछे बच्चेका पालनपोषणकरता है, वह अपना ही पालनपोषणकरता है, इन लोकों (मनुष्यवंशों) के विस्तारके लिये (निरन्तर प्रवृत्त रखनेके लिये) । क्योंकि इस प्रकार ही ये लोक (मनुष्यवंश) विस्तार पायेहुए हैं । वह (स्त्रीके शरीरसे बाहर निकलना) इस आत्माका दूसरा जन्म है ॥ ३ ॥

सो अस्य अयम् आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथ अस्य अयम् इतरः आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति । स इतः प्रयन् एव पुनः जायते । तद् अस्य तृतीयं जन्म । तद् उक्तम् ऋषिणा ॥ ४ ॥

अर्थ—वह इस (पुरुष) का यह आत्मा (पुत्ररूप आत्मा) पुण्य कर्मोंकेलिये प्रतिनिधि होता है । अब इस (पुत्ररूप आत्मा) का यह दूसरा आत्मा (पितृरूप आत्मा)

पूरा कियेहुए कर्तव्योंवाला पूरी आयुको प्राप्तहुआ चल देता है । वह यहांसे चलता हुआ निश्चय फिर जन्मलेता है । वह इस आत्माका तीसरा जन्म है । वह (अनेक जन्मोंका होना) ऋषिने कहा है ॥ ४ ॥

"गर्भे नु सन् अनु एषाम् अवेदम्, अहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुरः आयसीः अरक्षन्, अधः श्येनो जवसा निरदीयम्" इति ॥ ५ ॥

(ऋ० ४।२७।१)

अर्थ—गर्भमें होतेहुए(गार्हस्थ्यमें रहते हुए) ही मैंने अपने सब जन्मोंको इन विद्वानोंके अनुग्रहसे जाना है । इन अनेक लोहेके किलोंने मुझे चिरकाल तक रखा(अपनेमें बंद रखा), अब मैं वेगसे बाजकी नाईं ज्ञानास्त्रसे इन सबको छिन्नभिन्न करके निकल आया हूं ॥ बस ॥ ५ ॥

गर्भे एव एतत् शयानो वामदेवः एवम् उवाच । स एवं विद्वान् अस्मात् शरीरभेदाद् ऊर्ध्वः उत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वा अमृतः समभवत्, समभवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—यह गर्भ(गार्हस्थ्य)में लेटेहुए(सुखसे रहते हुए) ही वामदेवने इस प्रकार कहा है । वह इसप्रकार आत्माको जानता हुआ इस(वर्तमान) शरीर छोडनेके पीछे ऊपर चढकर(जन्ममरण संसारचक्रसे बाहर निकलकर) उस सुखरूप ब्रह्मलोकमें सब कामनाओंको प्राप्त होकर अमृत(मुक्त) हो गया, अमृत हो गया ॥ ६ ॥

(४) यथास्थानं गर्भिण्यः । को अयम् आत्मा इति वयम् उपास्महे, कतरः स आत्मा ! । येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धम् आजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु च अस्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

अर्थ—गर्भिणी स्त्रियां अपने अपने स्थानपर चली जायें । यह कौन है जिसको हम आत्मा ऐसा समझकर उपासते (स्मरण करते) हैं, और वह आत्मा जन्मने मरणेवाले और न जन्मने मरणेवाले, दोनोंमेंसे कौन है ? । जिससे निश्चय रूपको देखता है, जिससे निश्चय शब्दको सुनता है, जिससे निश्चय गन्धको सूंघता है, जिससे निश्चय वाणीको बोलता है, जिससे निश्चय स्वादु और अस्वादु, दोनोंको जानता है, वह आत्मा है ॥ १ ॥

यद्, एतद् हृदयं, मनश्च एतत्, संज्ञानम् आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिः धृतिः मतिः मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुः असुः कामो वशः इति । सर्वाणि एव एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—जो यह हृदय और जो यह मन, जो यह संज्ञान(चेतनता), आज्ञान (शासनशक्ति), विज्ञान(विशेषज्ञान) प्रज्ञान(प्रतिभा) मेधा(धारणशक्ति) दृष्टि

(दर्शनशक्ति) धृति(स्तम्भनशक्ति) मति(समझ) मनीषा(विचारशक्ति) जूति(उद्यम) स्मृति(स्मरणशक्ति) संकल्प(निर्माणशक्ति) क्रतु (अध्यवसाय) असु(प्राण) काम (सृष्टिकामना) और वश(स्वतन्त्रता) ऐसे कहा जाता है, वह आत्मा है । निःसन्देह ये सब ज्ञानस्वरूप आत्माकेही नाम हैं ॥ २ ॥

एष ब्रह्मा एष इन्द्रः एष प्रजापतिः एते सर्वे देवाः, इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुः आकाशः आपो ज्योतींषि इति, एतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणि इव बीजानि, इतराणि च इतराणि च, अण्डजानि च जारुजानि च, स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च, अश्वाः गावः पुरुषाः हस्तिनः, यत् किं च इदं प्राणि जङ्गमं च, पतत्रि च, यत् च स्थावरं, सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ब्रह्मा(महत्तत्व), यह इन्द्र(अहङ्कार), यह प्रजापतिः(भूतसूक्ष्म), ये सब देवता(इन्द्रियां) और पृथिवी वायु आकाश जल तेज, बस ये पांच महाभूत, ये सब और ये छोटोंसे मिलेजुलेसे बीज और दूसरे दूसरे निश्चय अनेक बीज, अण्डज(अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले) और जरायुज(जेरसे उत्पन्न होनेवाले) दोनों, स्वेदज(पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले) और उद्भिज्ज(पृथिवीको फाडकर उत्पन्न होनेवाले) दोनों, घोडे गौएं मनुष्य हाथी, जो कुछ भी यह सांस लेनेवाला और पाँओंसे चलनेवाला और उडनेवाला और जो स्थावर है, वह सब प्रज्ञान(ज्ञानस्वरूप आत्मा)से सत्ता पाया हुआ और चलाया हुआ और प्रज्ञानमें ही ठहरा हुआ है । प्रज्ञानसे ही सत्ता पाया हुआ और चलाया हुआ सब लोक है, प्रज्ञान सबका आश्रय है, प्रज्ञान ब्रह्म है ॥ ३ ॥

स एतेन प्रज्ञेन आत्मना अस्मात् लोकात् उत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वा अमृतः समभवत् समभवत् ॥ ४ ॥

अर्थ—वह(जिसने प्रज्ञानस्वरूप आत्माको जाना, वह=विद्वान्) इस प्रज्ञान(ब्रह्म) स्वरूप आत्मासे इस लोकसे ऊपर चढकर उस सुखरूप ब्रह्मलोकमें सब कामनाओंको प्राप्त होकर (सब कामनाओंसे रहित होकर) अमृत(जन्ममरणसे रहित) होगया, अमृत होगया ॥ ४ ॥

(५) प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिः इन्द्रस्य प्रियं धाम उपजगाम युद्धेन पौरुषेण च ॥ १ ॥

अर्थ—दिवोदासका पुत्र निश्चय प्रसिद्ध प्रतर्दन अपने पराक्रमसे और युद्धसे इन्द्रके प्यारे घर(अमरावती)में पहुच गया ॥ १ ॥

तं ह इन्द्रः उवाच 'प्रतर्दन ! वरं ते ददानि' इति । स ह उवाच प्रतर्दनः 'त्वम् एव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति ॥२॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध (प्रतर्दन) को इन्द्रने यह कहा–हे प्रतर्दन! मै तुझे वर (चुना हुआ पदार्थ) दूंगा। उस प्रसिद्ध प्रतर्दनने यह कहा–तू ही मेरेलिये उस पदार्थको चुन, जिसको तू मनुष्यके लिये अत्यन्त हितकर समझता है ॥ २ ॥

तं ह इन्द्रः उवाच 'न वै वरं परस्मै वृणीते, त्वम् एव वृणीष्व' इति। 'अवरो वै तर्हि किल मे' इति ह उवाच प्रतर्दनः ॥ ३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध (प्रतर्दन) को इन्द्रने यह कहा–वरदाता दूसरेकेलिये निश्चय वर नही चुनता, इसलिये तू ही चुन। तब यह मेरेलिये निश्चय अवर (न वर) ही है, यह प्रसिद्ध प्रतर्दनने कहा ॥ ३ ॥

अथो खलु इन्द्रः सत्याद् एव न इयाय, सत्यं हि इन्द्रः। स ह उवाच 'माम् एव विजानीहि, एतद् एव अहं मनुष्याय हिततमं मन्ये इति ॥४॥

अर्थ—अब भी (प्रतर्दनके ऐसा कहने पर भी) इन्द्र सत्यसे (अपने वचनसे) निश्चय न गया (न फिरा)। क्योंकि सत्य आप इन्द्र है। उसने निश्चय प्रतर्दनको यह कहा–मुझको (आत्माको) ही तू जान, यह ही मैं मनुष्यकेलिये अत्यन्त-हितकर समझता हूं ॥ ४ ॥

यत् मां विजानीयां, त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम् अहनम्, अवाङ्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्, तस्य मे तत्र न लोम चन अमीयत। स यो मां विजानीयात् न अस्य केन चन कर्मणा लोको मीयते [देशाय चेद् धर्माय वा] ॥ ५ ॥

अर्थ—जब मैंने मुझको (आत्माको) जाना, त्रिशीर्षाको जो त्वष्टाका पुत्र और मेरा पुरोहित था, मारा, वेदविमुख संन्यासियोंको कुत्तोंके आगे फैंकदिया, उस कर्ममें उस मुझ इन्द्रका बाल भी न मरा (न वींका हुआ)। वह जो कोई दूसरा मुझको (आत्माको) जाने, इसका भी किसी भी कर्मसे लोक नही मरता (नही विगडता) यदि वह कर्म देशकेलिये अथवा धर्मकेलिये है ॥ ५ ॥

स ह उवाच प्राणो अस्मि प्रज्ञात्मा, तं माम् आयुः अमृतम् इति उपास्व। स यो मे आयुः अमृतम् इति उपास्ते, सर्वम् आयुः अस्मिन् लोके एत्य आप्नोति अमृतत्वम् अक्षितिं स्वर्गे लोके ॥ ६ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध (इन्द्र) ने कहा–मैं जीवन हूं प्रज्ञानस्वरूप, उस मुझ (प्रज्ञानस्वरूप) की अमृत जीवन, इस बुद्धि (समझ) से उपासना कर। जो मुझे अमृत जीवन, ऐसा समझकर उपासता है, वह इस लोकमें सब आयुको प्राप्त करके (भोगकर) सुखरूप ब्रह्मलोकमें अविनाशी अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

यो वै प्राणः स प्रज्ञा, या वै प्रज्ञा स प्राणः। एष प्राणः एव प्रज्ञात्मा आनन्दो अजरो अमृतो, न साधुना कर्मणा भूयान्, नो एव असाधुना

कर्मणा कनीयान् । एष हि एव एनं साधु कर्म कारयति, तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते, एष हि एव एनम् असाधु कर्म कारयति, तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः अधो निनीषते । एष लोकपालः, एष लोकाधिपतिः, एष सर्वेश्वरः । स मे आत्मा इति विद्यात्, स मे आत्मा इति विद्यात् ॥ ७ ॥ (कौषीतकिब्रा० ३)

अर्थ—जो निश्चय जीवन है, वह प्रज्ञान है, जो निश्चय प्रज्ञान है, वह जीवन है । यह जीवन निश्चय प्रज्ञानस्वरूप है, आनन्द है, अजर है, अमर है, न ही शुभ कर्मसे बडा होता, न ही अशुभ कर्मसे छोटा होता है । यह ही निश्चय इससे शुभ कर्म कराता है, जिसे उसको इन लोकोंसे ऊपर लेजाना चाहता है, यह ही निश्चय इससे अशुभ कर्म कराता है, जिसे उसको इन लोकोंसे नीचे लेजाना चाहता है । यह लोकपाल है, यह लोकाधिपति है, यह सर्वेश्वर है । वह मेरा आत्मा है, यह जाने, वह मेरा आत्मा है, यह जाने ॥ ७ ॥

ओम् वाक् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् । आविः ! आवीः मे एधि । वेदस्य मे आणीस्थः, श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेन अधीतेन अहोरात्रान् संदधामि । ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तत् माम् अवतु, तद् वक्तारम् अवतु । अवतु माम्, अवतु वक्तारम् । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं, माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तद् आत्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) ओम् इति एतद् अक्षरम् उद्गीथम् उपासीत । ओम् इति हि उद्गायति ॥ १ ॥

अर्थ—'ओम्' यह जो अक्षर (वर्ण) है, इस अक्षरको उद्गीथ (ऊंची गाया गया) जाने (सामवेदियोंकी परिभाषामें इस अक्षरका नाम उद्गीथ समझे), क्योंकि ओम् इस अक्षरको सामवेदी ऋत्विज (उद्गाता) सोमयज्ञोंमें ऊंची (ऊंची स्वरसे) गाता है ॥ १ ॥

तेन इयं त्रयी विद्या वर्तते । ओम् इति आश्रावयति, ओम् इति शंसति, ओम् इति उद्गायति ॥ २ ॥

अर्थ—उस (उद्गीथ नामवाले ओम् अक्षर) से यह सब वेद विद्या प्रवृत्त (शरू) होती है । ओम् यह अक्षर उच्चारण करके ही यजुर्वेदी ऋत्विज (अध्वर्यु) आग्नीध्र (ऋत्विज) को हवि देनेका समय सुनानेकी आज्ञा देता है, ओम् यह अक्षर उच्चारण करके ही ऋग्वेदी ऋत्विज (होता) स्तुति–मन्त्रोंको पढता है, ओम् यह अक्षर उच्चारण करके ही सामवेदी ऋत्विज (उद्गाता) मन्त्रोंको ऊंची गाता है ॥ २ ॥

तेन उभौ कुरुतः यश्च एतद् एवं वेद, यश्च न वेद । नाना तु विद्याविद्ये । यद् एव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा, तद् एव वीर्यवत्तरं भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस (ओम् अक्षर) से दोनों (मनुष्य) कर्म करते हैं, जो निश्चय इस (ओम् अक्षर) को ऐसा (सब वेदविद्यासे और सभी वैदिक कर्मोंसे सम्बन्धवाला) जानता है, और जो नहीं जानता है । परन्तु जानना और न जानना, दोनों भिन्नफलवाले हैं । जो ही कर्म ओम् अक्षरके ज्ञानसे (ओम् अक्षरके महत्त्वको जानकर) मनुष्य करता है, आस्तिक्यबुद्धिसे और अन्तरात्मा ब्रह्मके ज्ञानसे करता है, वह ही कर्म सबसे बढकर शक्तिवाला (बढिये फलवाला) होता है ॥ ३ ॥

यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि, एवम् ओङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा । ओङ्कारः एव इदं सर्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे नालसे सब पत्ते अच्छीतरह विन्धेहुए (व्याप्त) हैं, ऐसे ओम्-अक्षरसे सब बाणी (वेदबाणी) अच्छीतरह विन्धीहुई (व्याप्त) है । जितना शब्द है, यह सब ओम् (अ, उ, म्) अक्षर ही है ॥ ४ ॥

प्रजापतिः लोकान् अभि+अतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यः त्रयी विद्या संप्रास्रवत् । ताम् अभ्यतपत् । तस्याः अभितप्तायाः एतानि अक्षराणि संप्रास्रावन्त भूः भुवः स्वः इति । ताः वै एताः तिस्रो व्याहृतयः ॥५॥

(तै० ३०।१।५)

वाला) ९।२।१)

अर्थ—प्रजापतिने लोकों(पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ)को चारों ओरसे तपाया (ध्यानपूर्वक देखा) उन चारों ओरसे तपायेहुए(ध्यानपूर्वक देखहुए) लोकोंसे वेद विद्या प्रकटहुई। उसको(वेदविद्याको) चारों ओरसे तपाया। उस चारों ओरसे तपाई हुई वेदविद्यासे यह तीन अक्षर प्रकट हुए—भूः भुवः और स्वः। वे ही ये तीनों व्याहृतियां कही जाती हैं ॥ ५ ॥

गायत्री वै इदं सर्वं भूतं, यद् इदं किंच। वाग् वै गायत्री, वाग् वै इदं सर्वं भूतम्। गायति च त्रायते च। तस्माद् एषा गायत्री ॥ ६ ॥ (छां० ३।१२।१)

अर्थ—गायत्री निश्चय यह सब है, जो प्राणी है, और जो कुछ यह अप्राणी है। वेदबाणी निश्चय गायत्री है, और वेदबाणी निःसन्देह सबका प्रतिपादक होनेसे यह सब है, जो प्राणी और अप्राणी है। गायत्री ब्रह्मको गाती है और निःसन्देह ब्रह्मको गानेवालेकी रक्षा करती है। इसलिये यह गायत्री है ॥ ६ ॥

(२) पुरुषो वाव यज्ञः। तस्य यानि चतुर्विंशतिः वर्षाणि, तत् प्रातःसवनम्। अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद् वर्षाणि, तत् माध्यन्दिनं सवनम्। अथ यानि अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि, तत् तृतीयं सवनम् ॥१॥ (छां० ३।१६।१)

अर्थ—मनुष्य निश्चय यज्ञ(सोमयज्ञके तुल्य) है। उस(मनुष्य)के जो पहले चौबीस २४ बरस हैं, वह ब्रह्मचर्यरूपी प्रातःसवन है। अब जो चवालीस ४४ बरस (पच्चीससे अठसठ बरसकी आयुतक चवालीस ४४ बरस) हैं, वह गृहस्थाश्रम—रूपी माध्यन्दिन सवन है। अब जो अडतालीस ४८ बरस (एकोनसत्तरसे एकसौ सोलह बरसकी आयुतक अडतालीस ४८ बरस) हैं, वह वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम—रूपी सायं सवन है ॥ १ ॥

एतद् ह स्म वै तद् विद्वान् आह महीदासः ऐतरेयः। स ह षोडशं वर्षशतम् अजीवत्। प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति, यः एवं वेद ॥ २ ॥ (छां० ३।१६।२)

अर्थ—यह वह निश्चय सुप्रसिद्ध विद्वान्(वेदवेत्ता) इतराके पुत्र पांचनद महीदासने कहा है। वह (ऐतरेय महीदास) निःसन्देह एकसौ सोलह बरस जिया। वह भी निश्चय एकसौ सोलह बरस जीता है, जो ऐसे (ऐतरेय महीदासकी नाई मनुष्यको यज्ञके तुल्य) जानता(समझता) है ॥ २ ॥

स यद् अशिशिषति, यत् पिपासति, यत् न रमते, ताः अस्य दीक्षा ॥३॥

अर्थ—वह जो भूखा होता(ब्रह्मचर्याश्रममें भूखा रहता) है, जो प्यासा होता (ब्रह्मचर्याश्रममें प्यासा रहता) है, और जो नही रमता(ब्रह्मचर्या[illegible]

भोगता) है, वे इस(मनुष्यरूपी यज्ञ)की दीक्षायें(यज्ञकालमें पालनीय नियमविशेषोंकी शिक्षायें) हैं ॥ ३ ॥

अथ यद् अश्नाति, यत् पिबति, यद् रमते, तद् उपसदैः एति । अथ यद् हसति, यद् जक्षति, यद् मैथुनं चरति, स्तुतशस्त्रैः एव तद् एति ॥४॥

अर्थ—अब(गृहस्थाश्रममें) जो खाता है, जो पीता है, जो रमता(भोग भोगता) है, वह उपसदोंसे(दीक्षादिनसे लेकर सोमरस निचोडे जानेवाले दिनतक कियेजानेवाले होमोंसे) यज्ञ(मनुष्यरूपी यज्ञ)को प्राप्त होता (करता)है । अब जो हँसता है, जो हँस–हस खलाता है, जो सन्तानकेलिये मैथुन करता (ऋतुकालमें स्त्रीके पास जाता) है, वह निःसन्देह स्तोत्रों(गाकर पढे जानेवाले मन्त्रों) और शस्त्रों(विना गानेके पढे जानेवाले मन्त्रों)से यज्ञको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अथ यत् तपो दानम् आर्जवम् अहिंसा सत्यवचनम् इति, ताः अस्य दक्षिणाः ॥ ५ ॥ (छां० ३।१७।४)

अर्थ—अब (वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रममें) जो तप, विद्यादान, सरलता, अहिंसा और सत्यभाषण है, वे इस(मनुष्यरूपी यज्ञ)की दक्षिणायें है ॥ ५ ॥

(४) त्रयो धर्मस्कन्धाः । यज्ञोऽध्ययनं दानम् इति प्रथमः । तप एव इति द्वितीयः । ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी तृतीयः, अत्यन्तम् आत्मानम् आचार्यकुले अवसादयन् । सर्वे एते पुण्यलोकाः भवन्ति, ब्रह्मसंस्थो अमृतत्वम् एति ॥ १ ॥

अर्थ—धर्म-वृक्षके स्कन्ध(बडे डाल) तीन हैं । यज्ञ(देवयज्ञ), अध्ययन (स्वाध्याययज्ञ) और दान, यह पहला(तीनों स्कन्धोंमें मुख्य) स्कन्ध है । केवल तप, यह दूसरा स्कन्ध है । गुरुकुलमें रहनेवाला ब्रह्मचारी तीसरा स्कन्ध है, जो विद्याकेलिये अपने शरीरको तपस्या(भूख, प्यास, गुरुसेवा और विद्याध्ययन)से अत्यन्त क्षीणकरता हुआ गुरुकुलमें रहता है । ये(गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी) सब पुण्यलोकोंवाले होते (पुण्यलोकोंको प्राप्त होते) हैं। और जो उन तीनोंमेंसे ब्रह्मनिष्ठ(अन्तरात्मा ब्रह्ममें मनकी अचल स्थितिवाला) होता है, वह अमृतत्व(ब्रह्मरूपता)को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

सर्वं खलु इदं ब्रह्म, तज्जलान् इति शान्तः उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः, यथाक्रतुः अस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथा इतः प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वीत ॥ २ ॥

अर्थ—यह(दृश्यमान जगत्) सब निश्चय ब्रह्म है, क्योंकि तज्ज(उससे उत्पत्ति-वाला) तल्ल(उसमें लय होनेवाला) और तदन्(उससे प्राण=जीवन-वाला) है, इसलिये

रागद्वेषसे रहितहुआ सर्वरूप ब्रह्मकी उपासनाकरे । सङ्कल्परूप निश्चय मनुष्य है, जैसे सङ्कल्पवाला मनुष्य इस लोकमें होता है, वैसा यहांसे मरकर होता है। अब (उपासनाके समय) वह (उपासक मनुष्य) यह सङ्कल्प करे ॥ २ ॥

मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः, सर्वम् इदम् अभ्यात्तः, अवाकी अनादरः ॥ ३ ॥

अर्थ—वह (ब्रह्म) मनरूप (मनका मन) है, प्राण शरीरवाला (प्राणका प्राण) है, प्रकाशरूप है, सत्यसङ्कल्प है, आकाशकी नाई व्यापक-स्वरूप है, सब जगत् उसका कर्म (बनाया हुआ) है, वह सब पदार्थोंवाला, सब गन्धोंवाला और सब रसोंवाला है, यह सब उसने सब ओरसे पकडा हुआ है, वह वाणीका अविषय है, उसको किसी पदार्थमें आदर(यह मुझे हो, ऐसी बुद्धि) नही (बेपरवाह) है ॥ ३ ॥

एष मे आत्मा, अन्तर् हृदये, अणीयान् व्रीहेः वा, यवाद् वा, सर्षपाद् वा, श्यामाकाद् वा, श्यामाकतण्डुलाद् वा ॥ ४ ॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा है, भीतर हृदयमें है, धानसे निश्चय बहुत छोटा है, जौसे निश्चय, सरसोंसे निश्चय, सिमाक(सांवां)से निश्चय, सिमाकके चावलसे निश्चय बहुत छोटा है ॥ ४ ॥

एष मे आत्मा, अन्तर् हृदये, ज्यायान् पृथिव्याः, ज्यायान् अन्तरिक्षात्, ज्यायान् दिवः, ज्यायान् एभ्यो लोकेभ्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा है, भीतर हृदयमें है, पृथिवीलोकसे बहुत बडा है, अन्तरिक्ष(मध्यमलोक)से बहुत बडा है, द्युलोकसे बहुत बडा है, इन तीनों लोकोंसे बहुत बडा है ॥ ५ ॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः, सर्वम् इदम् अभ्यात्तः, अवाकी अनादरः, एष मे आत्मा, अन्तर् हृदये, एतद् ब्रह्म, एतम् इतः प्रेत्य अभिसम्भवितास्मि, इति यस्य स्याद् अद्धा, न विचिकित्सा अस्ति, इति ह स्म आह शाण्डिल्यः, शाण्डिल्यः ॥ ६ ॥

अर्थ—सब जगत् जिसका कर्म है, जो सब पदार्थोंवाला है, जो सब गन्धोंवाला और सब रसोंवाला है, जो इस सबको चारों ओरसे पकडेहुए(घेरेहुए) है, जो वाणीका अगोचर (अविषय) है, जिसका किसी पदार्थमें आदर (प्राप्यबुद्धि) नही, यह मेरा आत्मा है, भीतर हृदयमें है, यह ब्रह्म है, मैं इसको यहांसे मरकर प्राप्त होजूंगा, यह जिसका ठीक ठीक दृढ सङ्कल्प(क्रतु) है, उसके ब्रह्मप्राप्तिमें संशय नहीं है, यह निश्चय पूर्वकालमें कहा है शाण्डिल्यने, शाण्डिल्यने ॥ ६ ॥

ओम् आप्यायन्तु मम अङ्गानि, वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । मा अहं ब्रह्म निराकुर्य्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणम् अस्तु, अनिराकरणं मे अस्तु । तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि, वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं, माऽहं ब्रह्म निराकुर्य्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरम् आमन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति! विवत्स्यामि किंगोत्रो अहम् अस्मि? इति ॥ १ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध सत्यकाम जाबालने (जबालाके पुत्रने) अपनी माता जबालासे यह पूछा–हे भवती !(पूज्या !) मैं ब्रह्मचर्य्यसे (ब्रह्मचारी होकर) वासकरना (आचार्यकुलमें रहना) चाहता हूं, किंसगोत्रवाला (किस-कुलका) मैं हूं ? (मेरा गोत्र कौन है ?)॥ १ ॥

सा ह एनम् उवाच–न अहम् एतद् वेद तात! यद्गोत्रः त्वम् असि । बहु अहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वाम् अलभे, सा अहम् एतद् न वेद यद्गोत्रः त्वम् असि । जबाला तु नाम अहम् अस्मि, सत्यकामो नाम त्वम् असि, स सत्यकामः एव जाबालो ब्रुवीथाः इति ॥ २ ॥

अर्थ—उस(जबाला)ने निश्चय इस(सत्यकाम)को यह कहा–हे पुत्र ! मैं यह नहीं जानती जिसगोत्रवाला तू है । दासीकी नाई घरमें अनेक प्रकारकी परिचर्या करतेहुए मैंने युवा अवस्थामें तुझे लभा(पाया) है, वह (रातदिन

सेवामें लगीहुई होनेसे न पूछेहुए गोत्रवाली) मैं नहीं यह जानती जिसगोत्रवाला तू है। जबाला नाम(नामवाली) तो मैं हूं, सत्यकाम नाम(नामवाला) तू है, वह तू सत्यकाम जाबाल (जबालाका पुत्र) ही आचार्य(गुरु)से जाकर कहो ॥ २ ॥

स ह हारिद्रुमतं गौतमम् एत्य उवाच-ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्यामि, उपेयां भगवन्तम् इति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह(सत्यकाम) प्रसिद्ध हारिद्रुमत(हरिद्रुमान्‌के पुत्र) गौतम(गोतमगोत्री) के पास जाकर यह बोला—मैं तुझ ऐश्वर्यवान्(पूज्य)के पास ब्रह्मचर्यसे वास करूंगा, मैं तुझ भगवान्(ऐश्वर्यवान्)के पास आऊं ॥ ३ ॥

तं ह उवाच-किंगोत्रो नु सोम्य! असि इति। स ह उवाच-न अहम् एतद् वेद भो! यद्गोत्रो अहम् अस्मि। अपृच्छं मातरं, सा मा प्रत्यब्रवीत्-बहु अहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वाम् अलभे, सा अहम् एतद् न वेद यद्गोत्रः त्वम् असि। जबाला तु नाम अहम् अस्मि, सत्यकामो नाम त्वम् असि इति। सो अहं सत्यकामो जाबालो अस्मि भो! इति ॥ ४ ॥

अर्थ—उस(सत्यकाम)को प्रसिद्ध हारिद्रुमतने यह कहा—हे प्यारे! तू किसगोत्रवाला है(तेरा गोत्र कौन है)। उस(सत्यकाम) प्रसिद्धने यह कहा—हे आचार्य! मैं यह नहीं जानता जिसगोत्रवाला मैं हूं। मातासे मैंने पूंछा था, उसने मुझे यह उत्तर दिया—दासीकीनाई घरमें अनेक प्रकारकी परिचर्या(सेवा) करतेहुए मैंने युवा अवस्थामें तुझे लभा(पाया) है, वह(रातदिन परिचर्य्यामें लगी हुई होनेसे न पूछे हुए गोत्रवाली) मैं यह नहीं जानती जिस गोत्रवाला तू है। जबाला नाम तो मैं हूं, सत्यकाम नाम तू है। वह मैं सत्यकाम जाबाल हूं हे आचार्य्य! ॥ ४ ॥

तं ह उवाच-न एतद् अब्राह्मणो विवक्तुम् अर्हति, समिधं सोम्य! आहर उप त्वा नेष्ये, न सत्याद् अगाः इति। तम् उपनीय ह उवाच वस भो ब्रह्मचर्यम् इति ॥ ५ ॥

अर्थ—उस(सत्यकाम)को प्रसिद्ध ऋषिने यह कहा—यह (बात) ब्राह्मणसेभिन्न दूसरा कोई खोलकर(बिना लाग लपेट) कहनेको नहीं समर्थ होता है, हे प्यारे! समिधा ले आ, मैं तेरी उपनयन(यज्ञोपवीत-संस्कार) करूंगा, क्योंकि तू सत्यसे(सत्य बोलनेसे) नहीं गया (फिरा)। उस प्रसिद्ध आचार्यने उस(सत्यकाम)का उपनयन करके यह कहा—अब तू हे सत्यकाम! ब्रह्मचर्यसे वासकर ॥ ५ ॥

स ह गवां चतुःशतानां परिचरणे नियुक्तो वर्षगणं ब्रह्मचर्यम् उवास। ताः यदा सहस्रं संपेदुः, अथ तम् आचार्यो अभ्युवाद सत्यकाम! इति। भगवः! इति ह प्रतिशुश्राव ॥ ६ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध सत्यकामने चारसौ गौओंकी सेवामें नियुक्त (लगाया गया) होकर बहुत बरस ब्रह्मचर्यसे वास किया । जब वे एक हजार होगई, तब आचार्य (हारिद्रुमत)ने उसको हे सत्यकाम ! इसप्रकार सामनेबुलाया । उपस्थित हुआ भगवन् ! यह उस प्रसिद्ध सत्यकामने उत्तर दिया ॥ ६ ॥

ब्रह्मविद् इव वै सोम्य! भासि को नु त्वा अनुशशास इति । अन्ये मनुष्येभ्यः इति ह स प्रतिजज्ञे । भगवान् तु एव मे कामे ब्रूयात् । श्रुतं हि एव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्य्याद् ह एव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापति इति ॥ ७ ॥

अर्थ—ब्रह्मवेत्ताकी नाई निःसन्देह हे सोम्य ! तू चमकता है, किसने निश्चय तुझे उपदेश दिया है ? यह हारिद्रुमतने पूछा । मनुष्योंसे भिन्नोंने(गौओंने=गौओंकी सेवाने), यह उस प्रसिद्ध सत्यकामने उत्तर दिया । परन्तु आप पूज्य निश्चय मुझे इच्छानुसार(जैसा मैं चाहता हूं, वैसा) कहें(उपदेश दें) । क्योंकि निःसन्देह यह मेरा सुना हुआ है आपजैसे पूज्योंसे–निश्चय आचार्य(गुरु)से ही जानीहुई (प्राप्त कीहुई) विद्या(ज्ञान) सबसे बढकर साधुत्व(अच्छेपन)को(अच्छा फल देनेकी तीव्र सामर्थ्यको) प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

स ह तस्मै ब्रह्म षोडशकलम् अब्रवीत् । उक्त्वा च एतद् उवाच–गच्छ सोम्य! न ह अत्र किंचन वीयाय इति, वीयाय इति ॥ ८ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध आचार्यने उसको सोलहकलापूर्ण(सोलह आने पूरा)ब्रह्म कहा । और कहकर यह बोला–हे सोम्य ! जा(घर जा), यह पूरा उपदेश है, बस इसमें निश्चय कुछ भी नहीं छोडा गया, बस नहीं छोडागया ॥ ८ ॥

(२) उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यम् उवास । तस्य ह द्वादश वर्षाणि अग्नीन् परिचचार । स ह स्म अन्यान् अन्तेवासिनः समावर्तयन् तं ह स्म एव न समावर्तयति ॥ १ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध निश्चय उपकोसल कामलायनने (कमलके पुत्र ने) सत्यकाम जाबालके पास ब्रह्मचर्यसे वास किया । और बारह बरस उसकी अग्नियों(गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि)की सेवा की । उस प्रसिद्ध आचार्यने दूसरे सब ब्रह्मचारियोंका समावर्तन(वापस घरको लौटाना) करतेहुए भी केवल उस प्रसिद्ध (उपकोसल)का न समावर्तन किया ॥ १ ॥

तं ह जाया उवाच–तप्तो ब्रह्मचारी, कुशलम् अग्नीन् परिचचारीत्, मा त्वा अग्नयः परिप्रवोचन् प्रब्रूहि अस्मै इति ॥ २ ॥

अर्थ—उस(सत्यकाम)को निश्चय स्त्रीने यह कहा—ब्रह्मचारी बहुत तपा है (तप तपकर थक गया है), इसने अग्नियोंकी बहुत अच्छी (कुशलताके साथ) सेवा की है, मत तुझे अग्नियां बुरा कहें, इसे विद्या कहो (ब्रह्मविद्याका उपदेश दे) ॥ २ ॥

स ह तस्मै प्रोवाच—यः एषो अक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा, एतद् अमृतम् अभयम्, एतद् ब्रह्म इति । प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध आचार्यने उस(उपकोसल)से यह कहा—जो यह आंख (नेत्र और सूर्य्य)में पुरुष दीखता है, यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, यह ब्रह्म है । प्राण (जीवन) ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, व्यापक ब्रह्म है, बस ॥ ३ ॥

एतं ह एव संयद्वाम इति आचक्षते । एतं हि सर्वाणि वामानि अभिसंयन्ति । सर्वाणि ह एनं वामानि अभिसंयन्ति, यः एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—इस(अन्तरात्मा ब्रह्म पुरुष)को ही निश्चय संयद्वाम ऐसा कहते हैं । क्योंकि इसको सब सौभाग्य प्राप्त हैं । सब ही सौभाग्य इसको प्राप्त होते हैं, जो ऐसा उसको जानता है ॥ ४ ॥

एष उ एव वामनीः । एष हि सर्वाणि वामानि नयति । सर्वाणि वामानि नयति, यः एवं वेद ॥ ५ ॥

अर्थ—यह ही निश्चय वामनी है । क्योंकि यह सब सौभाग्योंको प्राप्त कराता(सब सौभाग्योंका प्राप्त करानेवाला) है । वह भी सब सौभाग्योंको प्राप्त कराता है, जो ऐसा उसको जानता है ॥ ५ ॥

एष उ एव भामनीः । एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति । सर्वेषु लोकेषु भाति, यः एवं वेद ॥ ६ ॥ (छां० ४।१५)

अर्थ—यह ही निश्चय भामनी है । क्योंकि यह सब लोकोंमें प्रकाशता(चमकता) है । वह भी सब लोकोंमें प्रकाशता है, जो ऐसा उसको जानता है ॥ ६ ॥

(४) अथ यद् अतः परो दिवो ज्योतिः दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषु उत्तमेषु लोकेषु, इदं वाव तद् यद् इदम् अस्मिन् अन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥ १ ॥

अर्थ—अब जो इस(पृथिवी)लोकसे और उस द्युलोकसे ऊपर ज्योति(चैतन्य-ज्योति) प्रकाशती(चमकती) है, तीनों लोकोंसे ऊपर, हर एक लोकसे ऊपर, सबसे ऊचे लोकोंमें और जो सबसे ऊचे नही हैं, उन मझले तथा निचले लोकोंमें जो ज्योति प्रकाशती है, यह है निश्चय वह, जो यह इस पुरुषमें (पुरुष शरीरमें) भीतर ज्योति (चैतन्य ज्योति) है ॥ १ ॥

तस्य एषा दृष्टिः—यत्र एतद् अस्मिन् शरीरे संस्पर्शेन उष्णिमानं विजानाति । तस्य एषा श्रुतिः—यत्र एतत् कर्णौ अपिगृह्य निनदम् इव नदथुः इव अग्नेः इव ज्वलतः उपशृणोति ॥ २ ॥

अर्थ—उसका यह दर्शन(प्रत्यक्ष चिह्न) है, जो यह इस शरीरमें छूनेसे गरमी प्रतीत करता है । उसका यह शब्द है जो यह दोनों कान ढांपकर रथके शब्दकी नांई, बैलकी गर्जकी नांई, जलते हुए अग्निके शब्दकी नांई शब्द सुनता है ॥ २ ॥

तद् एतद् दृष्टं च श्रुतं च इति उपासीत । चक्षुष्यः श्रुतो भवति, यः एवं वेद ॥ ३ ॥ (छां० ३।१३)

अर्थ—उस इस ज्योतिको दृष्ट और श्रुत, दोनों प्रकारसे उपासे । वह दर्शनीय होता है, विख्यात होता है, जो उसको इस प्रकार उपासता (जानता) है ॥ ३ ॥

(४) प्राचीनशालः औपमन्यवः, सत्ययज्ञः पौलुषिः, इन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयः, जनः शार्कराक्ष्यः, बुडलः आश्वतराश्विः, ते ह एते महाशालाः महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः 'को नः आत्मा किं ब्रह्म' इति ॥ १ ॥

अर्थ—उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल १ पुलषका पुत्र सत्ययज्ञ २ भाल्लविका पुत्र इन्द्रद्युम्न ३ शर्कराक्षका पुत्र जन ४ अश्वतराश्वका पुत्र बुडिल ५ वे ये प्रसिद्ध पांचो बडे गृहस्थ बडे वेदवेत्ता मिलकर यह विचारने लगे—हमारा उपास्य वैश्वानर आत्मा कौन है, और वह सबसे बडा (आत्मा) किसरूपवाला है ॥ १ ॥

ते ह सम्पादयांचक्रुः—उद्दालको वै भगवन्तः! अयम् आरुणिः सम्प्रति इमम् आत्मानं वैश्वानरम् अध्येति, तं हन्त अभ्यागच्छाम इति । तं ह अभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

अर्थ—उन्होंने निःसन्देह यह निश्चय किया—हे पूजनीयो ! यह अरुणका पुत्र उद्दालक निश्चय इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानता है, हम अब उसके पास चलें । वे निश्चय उसके पास गये ॥ २ ॥

स ह सम्पादयाञ्चकार—प्रवक्ष्यन्ति माम् इमे महाशालाः महाश्रोत्रियाः, तेभ्यो न सर्वम् इव प्रतिपत्स्ये, हन्त अहम् अन्यम् अभ्यनुशासानि इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस(उद्दालक)ने निःसन्देह यह निश्चय किया—ये महागृहस्थ महा वेदवेत्ता मुझसे पूछेंगे, उन्हें मैं सब ही न जता सकूंगा(न कह सकूंगा), अब मैं दूसरेको कहूं ॥ ३ ॥

तान् ह उवाच—अश्वपतिः वै भगवन्तः! कैकेयः सम्प्रति इमम् आत्मानं वैश्वानरम् अध्येति, तं हन्त अभ्यागच्छाम इति । तं ह अभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

अर्थ—उनको वह प्रसिद्ध यह बोला—हे पूजनीयो! कैकेय देश (पंजाबके पश्चिम प्रदेश)का राजा अश्वपति निश्चय इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानता है, अब हम उसके पास चलें। वे निश्चय उसके पास गये ॥ ४ ॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथग् अर्हाणि कारयांचकार। स ह प्रातः संजिहान उवाच—न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः। न अनाहिताग्निः न अविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। यक्ष्यमाणो वै भगवन्तः! अहम् अस्मि, यावद् एकैकस्मै ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि, वसन्तु मे भगवन्तः इति ॥ ५ ॥

अर्थ—उसने उन पासआयेहुओंकी निश्चय अलग अलग पूजा कराई। वह दूसरेदिन सुबेरे ही सेजको छोडेहुआ उनसे आकर यह बोला—मेरे देशमें चोर नहीं, कंजूस नहीं, शराबी नहीं। अनाहिताग्नि (प्रतिदिन अग्निहोत्र न करनेवाला) नहीं, अविद्वान् (अनपढ) नहीं, व्यभिचारी नहीं, व्यभिचारिणी कहांसे होगी। हे पूजनीयो! मैं निश्चय यज्ञकरनेवाला हूं, जितना धन एक एक ऋत्विज (यज्ञकरानेवाले) को दूंगा, उतना आप पूज्यों (हर एक)को दूंगा, आप पूज्य मेरे घरमें रहें ॥ ५ ॥

ते ह ऊचुः—येन ह एव अर्थेन पुरुषः चरेत्, तं ह एव वदेत्। आत्मानम् एव इमं वैश्वानरं सम्प्रति अध्येषि, तम् एव नो ब्रूहि इति ॥ ६ ॥

अर्थ—वे प्रसिद्ध यह बोले—जिस ही अर्थ (प्रयोजन)से निश्चय मनुष्य घरसे चले (चलकर आवे), निःसन्देह वह ही अर्थ देनेको कहे। आप निश्चय इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानते हैं, उसको ही हमसे कहें ॥ ६ ॥

तान् ह उवाच प्रातर् वः प्रतिवक्तास्मि इति। ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे। तान् ह अनुपनीय एव एतद् उवाच ॥ ७ ॥

अर्थ—अब उसने उनसे यह कहा—मैं कल सुबेरे तुमसे कहूंगा। वे प्रसिद्ध महागृहस्थ हाथमें समिधा लियेहुए दिनके पूर्वभागमें (सुबेरे) उपस्थित हुए। उनसे निश्चय उपनयन न करके ही कैकेयदेशके राजा अश्वपतिने यह कहा ॥ ७ ॥

औपमन्यव! कं त्वम् आत्मानम् उपास्से इति। दिवम् एव भगवो! राजन्! इति ह उवाच। एष वै सुतेजाः आत्मा वैश्वानरः, यं त्वम् आत्मानम् उपास्से। तस्मात् तव सुतं प्रसुतम् आसुतं कुले दृश्यते। मूर्धा तु एष आत्मनः इति ह उवाच ॥ ८ ॥

अर्थ—हे औपमन्यव! (उपमन्युके पुत्र!) तू किस वैश्वानर आत्माको उपासता है? यह राजाने पूछा। केवल द्युलोकको हे भगवन्! हे राजन्! यह प्रसिद्ध औपमन्यवने कहा। यह निःसन्देह सुतेजा (बडे तेजवाला) वैश्वानर आत्मा है,

जिसे आत्माको तू उपासता है । इसलिये तेरे कुलमें सुत(अग्निष्टोम) प्रसुत(द्वादशाह) और आसुत(सत्र याग) होता दीखता है । परन्तु यह वैश्वानर आत्माका सिर है, यह प्रसिद्ध राजाने कहा ॥ ८ ॥

अथ ह उवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम्—प्राचीनयोग्य! कं त्वम् आत्मानम् उपास्से इति । आदित्यम् एव भगवो! राजन्! इति ह उवाच । एष वै विश्वरूपः आत्मा वैश्वानरः, यं त्वम् आत्मानम् उपास्से । अस्मात् तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते । चक्षुः तु एतद् आत्मनः इति ह उवाच ॥९॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध राजाने सत्ययज्ञ पौलुषिसे यह कहा–हे प्राचीनयोग्य! तू किस वैश्वानर आत्माको उपासता है! । केवल सूर्यको हे भगवन्! हे राजन्! यह प्रसिद्ध सत्ययज्ञने कहा । यह निःसन्देह विश्वरूप(सबरङ्गोंवाला) वैश्वानर आत्मा है, जिसे आत्माको तू उपासता है । इसलिये तेरे कुलमें सबरङ्गोवाला बहुत धन दीखता है । परन्तु यह नेत्र है वैश्वानर आत्माका, यह प्रसिद्ध राजाने कहा ॥ ९ ॥

अथ ह उवाच इन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम्—वैयाघ्रपद्य! कं त्वम् आत्मानम् उपास्से इति । वायुम् एव भगवो राजन्! इति ह उवाच । एष वै पृथग्वर्त्मा आत्मा वैश्वानरः, यं त्वम् आत्मानम् उपास्से । तस्मात् त्वां पृथग् बलयः आयन्ति, पृथग् रथश्रेणयो अनुयन्ति । प्राणः तु एष आत्मनः इति ह उवाच ॥ १० ॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध राजाने इन्द्रद्युम्न भाल्लवेयसे यह कहा–हे वैयाघ्रपद्य! तू किस वैश्वानर आत्माको उपासता है! । केवल वायुको हे भगवन्! हे राजन्! यह प्रसिद्ध इन्द्रद्युम्नने कहा । यह निःसन्देह पृथग्वर्त्मा(अलग मार्गोंवाला) वैश्वानर आत्मा है, जिसे आत्माको तू उपासता है । इसलिये तुझको अलग अलग मार्गों(दिशाओं)से भेंटां आती हैं, अलग अलग रथोंकी पङ्क्तियां पीछे चलती हैं । परन्तु यह प्राण है वैश्वानर आत्माका, यह प्रसिद्ध राजाने कहा ॥ १० ॥

अथ ह उवाच जनम्—शार्कराक्ष्य! कं त्वम् आत्मानम् उपास्से इति । आकाशम् एव भगवो! राजन्! इति ह उवाच । एष वै बहुलः आत्मा वैश्वानरः, यं त्वम् आत्मानम् उपास्से । तस्मात् त्वं बहुलो असि प्रजया च धनेन च । सन्देहः तु एष आत्मनः इति ह उवाच ॥ ११ ॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध राजाने जनसे यह कहा–हे शार्कराक्ष्य! तू किस वैश्वानर आत्माको उपासता है । केवल आकाशको हे भगवन्! हे राजन्! यह प्रसिद्ध जनने कहा । यह निःसन्देह बहुल(बहुत पदार्थोंवाला) वैश्वानर आत्मा है,

जिसे आत्माको तू उपासता है । इसलिये तू बहुत पदार्थोंवाला है प्रजा(पुत्रों पौत्रों) और धन, दोनोंसे । परन्तु यह पेट (उदर) है वैश्वानर आत्माका, यह प्रसिद्ध राजाने कहा ॥ ११ ॥

अथ ह उवाच बुडिलम् आश्वतराश्विनम्–वैयाघ्रपद्य ! कं त्वम् आत्मानम् उपास्से इति । अपः एव भगवो ! राजन् ! इति ह उवाच । एष वै रयिः आत्मा वैश्वानरः, यं त्वम् आत्मानम् उपास्से । तस्मात् त्वं रयिमान् पुष्टिमान् असि । बस्तिः तु एष आत्मनः इति ह उवाच ॥१२॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध राजाने बुडिल आश्वतराश्विसे यह कहा–हे वैयाघ्रपद्य ! तू किस वैश्वानर आत्माको उपासता है ! । केवल जलको हे भगवन् ! हे राजन् ! यह प्रसिद्ध बुडिलने कहा । यह निःसन्देह रयि(धननिधि) वैश्वानर आत्मा है, जिसे आत्माको तू उपासता है । इसलिये तू धनवाला और प्रजा–धनकी बढतीवाला है । परन्तु यह बस्ति(मूत्राशय) है वैश्वानर आत्माका, यह प्रसिद्ध राजाने कहा ॥ १२ ॥

अथ ह उवाच उद्दालकम् आरुणिं–गौतम ! कं त्वम् आत्मानम् उपास्से इति । पृथिवीम् एव भगवो ! राजन् ! इति ह उवाच । एष वै प्रतिष्ठा आत्मा वैश्वानरः, यं त्वम् आत्मानम् उपास्से । तस्मात् त्वं प्रतिष्ठितो असि प्रजया च पशुभिः च । पादौ तु एतौ आत्मनः इति ह उवाच ॥१३॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध राजाने अरुणके पुत्र उद्दालकसे यह कहा–हे गौतम ! तू किस वैश्वानर आत्माको उपासता है । केवल पृथिवीको हे भगवन् ! हे राजन् ! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा । यह निःसन्देह प्रतिष्ठा(पाओं) वैश्वानर आत्मा है, जिसे आत्माको तू उपासता है । इसलिये तू प्रजा और पशु, दोनोंसे प्रतिष्ठित (अच्छीस्थितिवाला) है । परन्तु ये पाओं है वैश्वानर आत्माके, यह प्रसिद्ध राजाने कहा ॥ १३ ॥

तान् ह उवाच–एते वै खलु यूयं पृथग् इव इमम् आत्मानं वैश्वानरं विद्वांसो अन्नम् अत्थ, यस्तु एतम् एवं प्रादेशमात्रम् अभिविमानम् आत्मानं वैश्वानरम् उपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु आत्मसु अन्नम् अत्ति ॥ १४ ॥

अर्थ—अब उन सब प्रसिद्ध महागृहस्थोंसे राजाने कहा ये तुम सब ही निश्चय अलग–अलगसा (खण्ड–खण्डसा) इस वैश्वानर आत्माको उपासते हुए(जानते हुए) अन्न खाते(सर्वाङ्गपूर्ण–सर्वान्तरात्मा एक अखण्ड वैश्वानर आत्माके उपासकोंकी नाई सब लोकोंमें, सब प्राणियोंमें, सब आत्माओंमें नही खाते) हैं, परन्तु जो इस वैश्वानर आत्माको प्रादेशमात्र(द्युलोकसे लेकर पृथिवीपर्य्यन्त सब प्रदेशोंमें अङ्ग–

अङ्गिभावकी कल्पनासे मापा गया) और अभिविमान (सब लोकोंमें, सब प्राणियोंमें और सब आत्माओंमें अन्तरात्मा—रूपसे जाना गया) ऐसा जानकर उपासता है, वह सब लोकोंमें, सब प्राणियोंमें, सब आत्माओंमें (वैश्वानर आत्माके उपासकोंमें) अन्नको खाता है ॥ १४ ॥

तस्य ह वै एतस्य आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धा एव सुतेजाः, चक्षुः विश्वरूपः, प्राणः पृथग्वर्त्मा, सन्देहो बहुलः, बस्तिः एव रयिः, पृथिवी एव पादौ । अत्र एष श्लोकः "यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षम् उतोदरम् । दिवं यः चक्रे मूर्धानं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" (अथर्व० १०।७।३२) **इति ॥ १५ ॥**

अर्थ—उस इस प्रसिद्ध निश्चय वैश्वानर आत्माका निःसन्देह बडे तेज (प्रकाश)वाला द्युलोक सिर, सब रङ्गोंवाला सूर्य्य नेत्र, अलग अलग—मार्गोंवाला(अनेक मार्गोंवाला) विश्वरूप वायु प्राण, बहुत पदार्थोंवाला आकाश पेट(उदर), बस्ति(मूत्राशय) निश्चय धननिधि समुद्र (जल) और पृथिवी निश्चय पाँओं है । इसमें यह मन्त्र है—जिसका पाँओं पृथिवी और उदर (पेट) आकाश है । जिसने द्युलोकको सिर बनाया है, उस सबसे बडे ब्रह्म(वैश्वानर आत्मा)को नमस्कार है । बस ॥ १५ ॥

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणम् अस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) श्वेतकेतुः ह आरुणेयः आस । तं ह पिता उवाच–श्वेतकेतो! वस ब्रह्मचर्य्यम्, न वै सोम्य! अस्मत्कुलीनो अननूच्य ब्रह्मबन्धुः इव भवति इति ॥ १ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध अरुणका पोता(पौत्र) श्वेतकेतु एकदिन अपने पिता(उद्दालक)के पास बैठा हुआ था । उससे उसके पिताने निश्चय यह कहा हे श्वेतकेतु ! ब्रह्मचर्य्यसे वासकर(ब्रह्मचारी होकर आचार्यकुलमें रहो), क्योंकि हे सोम्य ! हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ वेदों(वेद आदि समस्त विद्याओं)को न पढकर ब्राह्मणबन्धुसा (विद्या, तपसे शून्य केवल जातिब्राह्मण) नहीं होता है ॥ १ ॥

स ह द्वादशवर्षः उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदान् अधीत्य महामनाः अनूचानमानी स्तब्धः एयाय ॥ २ ॥

अर्थ—वह बारह बरसकी आयुवाला प्रसिद्ध श्वेतकेतु आचार्य्यके पास जाकर चौबीस बरसकी आयुतक सब वेदों(वेद आदि समस्त विद्याओं)को पढकर बडे मनवाला (अपने समान दूसरेको न समझनेवाला) अपनेआपको वेदोंका बडा पण्डित माननेवाला और किसीके आगे न झुकनेवाला हुआ पचीसवें बरस वापस घर आया ॥२॥

तं ह पिता उवाच–श्वेतकेतो! यत् नु सोम्य! इदं महामनाः अनूचानमानी स्तब्धो असि, उत तम् आदेशम् अप्राक्ष्यो येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातम् इति । कथं नु भगवः स आदेशो भवति इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उससे प्रसिद्ध पिता उद्दालकने यह कहा–हे श्वेतकेतु ! क्या जो यह तू हे सोम्य ! बडे मनवाला, अपनेआपको वेदोंका बडा पण्डित माननेवाला और किसीके आगे न झुकनेवाला है, उस आदेश(सद् ब्रह्मके उपदेश)को भी आचार्यसे पूछा है, जिससे न सुनाहुआ सुनाहुआ, न समझाहुआ समझाहुआ (मनमें लायाहुआ) और न जानाहुआ जानाहुआ होता है । कैसा वह निश्चय हे भगवन् ! आदेश (सद् ब्रह्मका उपदेश) है, यह श्वेतकेतुने कहा ॥ ३ ॥

यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्–वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिका इति एव सत्यम् । यथा सोम्य! एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्–वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, लोहम् इति एव सत्यम् । यथा सोम्य! एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्–वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, कृष्णायसम् इति एव सत्यम् । एवं सोम्य! स आदेशो भवति इति ॥ ४ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! जैसे एक मट्टीके गोलेको जान लेनेसे सब मट्टीका विकार (मट्टीकी बनी हुई सब वस्तु) जानागया होता है, क्योंकि वाणी(शब्द)का सहारामात्र

विकार केवल नाम है(नाममात्रसे अलग कहा जाता है), वह(विकार)निश्चय मट्टी है, यही सत्य है। हेसोम्य! जैसे एक सोनेके गोलेको जान लेनेसे सब सोनेका विकार(कार्य्य) जाना गया होता है, क्योंकि बाणीका सहाराभर विकार केवल नाम है, वह (विकार) निश्चय सोना है, यही सत्य है। हेसोम्य! जैसे एक नहेरने(नख-काटे)को जान लेनेसे सब लोहे(कृष्ण–अयस्)का विकार जाना गया होता है, क्योंकि बाणीका सहाराभर विकार केवल नाम है, वह (विकार) निश्चय लोहा है, यही सत्य है। हेसोम्य! ऐसा वह आदेश है, यह उद्दालकने कहा ॥ ४ ॥

न वै नूनं भगवन्तः ते एतद् अवेदिषुः। यदि हि एतद् अवेदिष्यन् कथं मे न अवक्ष्यन् इति। भगवान् तु एव मे तद् ब्रवीतु इति। तथा सोम्य! इति ह उवाच ॥ ५ ॥

अर्थ—निःसन्देह वे पूज्य(आचार्य्य) निश्चय इस(आदेश)को न जानते होंगे। क्योंकि यदि इसको जानते होते, तो कैसे मुझे इसे न कहते। अब आप पूज्य ही उसको मुझे कहें, यह श्वेतकेतुने कहा। जैसे तू कहता है वैसे ही होगा हे–सोम्य! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ ५ ॥

सद् एव सोम्य! इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीयम्। तद् ह एके आहुः असद् एव इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीयम्। तस्माद् असतः सद् अजायत। कुतः तु खलु सोम्य! एवं स्याद्, इति ह उवाच। कथम् असतः सद् जायेत इति। सत् तु एव सोम्य! इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीयम् ॥ ६ ॥

अर्थ—सत् (सत् चिद् आनन्द ब्रह्म) ही हेसोम्य! यह सब पहले (आरम्भमें) था केवल एक अद्वितीय(बिना दूसरेके)। उसमें प्रसिद्ध कई एक यह कहते हैं–असत् (अभाव) ही यह सब पहले था केवल एक अद्वितीय। उस असत्से सत्(भावरूप जगत्) उत्पन्न हुआ। परन्तु कहांसे निश्चय हेसोम्य! ऐसे होगा, यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा। और कैसे असत्से सत् उत्पन्न होगा, यह कहा। इसलिये सत्(सत् चिद् आनन्द ब्रह्म)ही हे सोम्य! निश्चय यह सब पहले था केवल एक अद्वितीय ॥ ६ ॥

तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति। तत् तेजो असृजत। तत् तेजः ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति। तद् अपो असृजत। तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वै पुरुषः, तेजसः एव तद् अधि आपो जायन्ते। ताः आपः ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहि इति। ताः अन्नम् असृजन्त। तस्माद् यत्र क्व च वर्षति तद् एव भूयिष्ठम् अन्नं भवति। अद्भ्यः एव तद् अधि अन्नाद्यं जायते ॥ ७ ॥

अर्थ—उस(सत्)ने यह देखा(सोचा=विचारा) मैं बहुत होवूं, मैं प्रजारूप होवूं। उसने तेज(गरमी)को उत्पन्न किया। उस तेज(तेजके अन्तरात्मा सत्)ने यह विचारा मैं बहुत होवूं, मैं प्रजारूप होवूं। उसने जल(द्रव-पदार्थ)को उत्पन्न किया। इसीलिये जहां कहीं भी मनुष्य गरम होता है, निःसन्देह पसीजता है। वहां तेजसे ही ऊपर(पीछे) जल उत्पन्न होता है। उस जल(जलके अन्तरात्मा सत्)ने यह विचारा मैं बहुत होवूं, मैं प्रजारूप होवूं। उसने अन्न(ठोस वस्तु=पृथिवी)को उत्पन्न किया। इसीलिये जहां कहीं भी वरसता है, वहां ही निश्चय बहुत अधिक अन्न होता है। निःसन्देह वहां जलसे ही ऊपर(पीछे) अन्नाद्य(खाने योग्य अन्न)उत्पन्न होता है ॥ ७॥

सा इयं देवता ऐक्षत हन्त अहम् इमाः तिस्रो देवताः अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि इति। तासां त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकां करवाणि इति ॥ ८॥

अर्थ—उस इस सत्रूप देवताने यह विचारा-अब मैं इन (तेज, जल और अन्न) तीनों देवताओंमें इस जीवरूप आत्मासे (जीनवशक्तिसे) प्रवेश करके नाम और रूप (आकार)को अलग अलग करूं। और उन तीनों देवताओंमेंसे एक एकको (हर एकको) तिगुना तिगुना (तीनगुना तीनगुना) करूं, यह विचारा ॥ ८ ॥

सा इयं देवता इमाः तिस्रो देवताः अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्, तासां त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकाम् अकरोत् ॥ ९ ॥

अर्थ—उस इस सत्रूप देवताने इन (तेज—जल—अन्न—रूप) तीनों देवताओंमें इस जीवरूप आत्मासे प्रवेश करके नाम रूपको अलग अलग किया, और उनमेंसे एक एकको तिगुना तिगुना किया ॥ ९ ॥

यथा नु खलु सोम्य! इमाः तिस्रो देवताः त्रिवृत् त्रिवृद् एकैका भवति, तत् मे विजानीहि ॥ १० ॥

अर्थ—अब हेसोम्य! जैसे निश्चय इन तीनों देवताओंमेसे एक एक (हर एक) तिगुना तिगुना है, वह मुझसे जान ॥ १० ॥

यद् अग्नेः रोहितं रूपं, तेजसः तद् रूपं, यत् शुक्लं, तद् अपां, यत् कृष्णं, तद् अन्नस्य। अपागाद् अग्नेः अग्नित्वम्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणि इति एव सत्यम् ॥ ११ ॥

अर्थ—अग्निका जो लाल रंग है, वह तेजका रंग है, जो श्वेत है, वह जलका और जो काला है, वह अन्न(पृथिवी)का रंग है। बस अग्निसे अग्निपना चला गया (तीनों रंगोंके सिवा अग्नि कोई स्वतन्त्र वस्तु न रहा)। वाणीका सहारामात्र विकार (तीनों रूपोंका कार्य-अग्नि) केवल नाम है, तीनों रूप(रंग), यही निश्चय सत्य है ॥ ११॥

यद् आदित्यस्य रोहितं रूपं, तेजसः तद् रूपं, यत् शुक्लं, तद् अपां, यत् कृष्णं, तद् अन्नस्य । अपागाद् आदित्याद् आदित्यत्वम् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणि इति एव सत्यम् ॥ १२ ॥

अर्थ—सूर्य्यका जो लाल रंग है, वह तेजका रंग है, जो श्वेत है, वह जलका और जो काला है, वह पृथिवीका रंग है। बस सूर्य्यसे सूर्य्यपना चलागया(तीनों रंगोंके सिवा सूर्य्य कोई स्वतन्त्र वस्तु न रहा)। वाणीका सहारामर विकार केवल नाम है, तीनों रूप (रंग), यही निश्चय सत्य है ॥ १२ ॥

यत् चन्द्रस्य रोहितं रूपं, तेजसः तद् रूपं, यत् शुक्लं, तद् अपां, यत् कृष्णं, तद् अन्नस्य । अपागात् चन्द्रात् चन्द्रत्वम् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणि इति एव सत्यम् ॥ १३ ॥

अर्थ—चन्द्रमाका जो लाल रंग है, वह तेजका रंग है, जो श्वेत है, वह जलका और जो काला है वह पृथिवीका रंग है। बस चन्द्रसे चन्द्रपना चला गया। वाणीका सहारामर विकार केवल नाम है, तीनों रूप, यही निश्चय सत्य है ॥ १३ ॥

यद् विद्युतो रोहितं रूपं, तेजसः तद् रूपं, यत् शुक्लं, तद् अपां, यत् कृष्णं, तद् अन्नस्य । अपागाद् विद्युतो विद्युत्त्वम् । वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, त्रीणि रूपाणि इति एव सत्यम् ॥ १४ ॥

अर्थ—बिजलीका जो लाल रंग है, वह तेजका रंग है, जो श्वेत है, वह जलका और जो काला है, वह पृथिवीका रंग है। बस बिजलीसे बिजलीपना चला गया। वाणीका सहारामर विकार केवल नाम है, तीनों रूप, यही निश्चय सत्य है ॥ १४ ॥

एतद् ह स्म वै तद् विद्वांसः आहुः पूर्वे महाशालाः महाश्रोत्रियाः न नो अद्य कश्चन अश्रुतम् अमतम् अविज्ञातम् उदाहरिष्यति इति । हि एभ्यो विदांचक्रुः । यद् उ रोहितम् इव अभूद् इति, तेजसः तद् रूपम् इति विदांचक्रुः, यद् उ शुक्लम् इव अभूद् इति, अपां तद् रूपम् इति विदांचक्रुः, यद् उ कृष्णम् इव अभूद् इति, अन्नस्य तद् रूपम् इति विदांचक्रुः । यद् अविज्ञातम् इव अभूद् इति, एतासाम् एव देवतानां समासः इति तद् विदांचक्रुः ॥ १५ ॥

अर्थ—वह यह (त्रिवृत्=एक एक तिगुना तिगुना है, यह) निश्चय जानतेहुए ही अतिपुराणे(स्वर्गवासी) पहले महागृहस्थ महावेदवेत्ताओंने यह कहा है—आज हमसे कोई भी मनुष्य न सुनी हुई, न समझी हुई, न जानी हुई, वस्तु न बतलायेगा। निःसन्देह उन्होंने इन तीनों रूपोंसे ही यह सब जाना। जो ही कुछ लाल सा था, बस वह तेजका रूप है, यह उन्होंने जाना, जो ही कुछ श्वेत सा था

बस वह जलका रूप है, यह उन्होंने जाना, जो ही कुछ काला सा था, बस वह पृथिवीका रूप है, यह उन्होंने जाना। और जो कुछ न जाना गया सा (न मालूमसा) था, बस वह निश्चय इन (तेज, जल और अन्न) तीनों देवताओंका मिश्रित रूप है, यह वह उन्होंने जाना ॥ १५ ॥

यथा नु खलु सोम्य! इमाः तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृद् एकैका भवति, तत् मे विजानीहि। अन्नम् अशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमः, तत् मांसं, यो अणिष्ठः, तत् मनः ॥ १६ ॥

अर्थ—अब हे सोम्य! जैसे ये तीनों देवता निश्चय पुरुष शरीरको प्राप्त होकर एक एक तिगुना तिगुना होता है, वह मुझसे जान। खाया हुआ अन्न (पृथिवी) तीन भाग किया जाता है। उसका जो अतिस्थूल भाग है, वह मल होता(बनता) है, जो मध्यम भाग है वह मांस और जो अतिसूक्ष्म भाग है, वह मन होता है ॥ १६ ॥

आपः पीताः त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुः, तत् मूत्रं भवति, यो मध्यमः, तत् लोहितं, यो अणिष्ठः, स प्राणः ॥ १७ ॥

अर्थ—पिया हुआ जल तीन भाग किया जाता है। उसका जो अतिस्थूल भाग है, वह मूत्र होता है, जो मध्यम है, वह लहू(रुधिर) और जो अतिसूक्ष्म भाग है, वह प्राण होता है ॥ १७ ॥

तेजो अशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुः, तद् अस्थि भवति, यो मध्यमः, सा मज्जा, यो अणिष्ठः, सा वाक् ॥ १८ ॥

अर्थ—खायाहुआ तेज(घृत, तैल, चरबीआदि तेजोभाग) तीन भाग किया जाता है। उसका जो अतिस्थूल भाग है, वह हड्डी होता(बनता) है, जो मध्यम है, वह मज्जा(मिज्ज) और जो अतिसूक्ष्म भाग है, वह वाणी(वाग् इन्द्रिय) होता है ॥१८॥

अन्नमयं हि सोम्य! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाग् इति। भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति। तथा सोम्य! इति ह उवाच ॥१९॥

अर्थ—हे सोम्य! मन निश्चय अन्नका विकार(कार्य्य) है, प्राण जलका विकार और वाणी(वाग् इन्द्रिय) तेजका विकार है, यह उद्दालकने कहा। फिर भी भगवान् (आप पूज्य) मुझे जनायें(समझायें), यह श्वेतकेतुने कहा। तथा अस्तु हे सोम्य! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ १९ ॥

(२) दध्नः सोम्य! मथ्यमानस्य यो अणिमा, स ऊर्ध्वः समुदीषति, तत् सर्पिः भवति ॥ १ ॥

अर्थ—मथेहुए दहीका हे सोम्य! जो सबसे सूक्ष्म भाग है, वह ऊपर उठ आता है, वह घी(मक्खन) होता है ॥ १ ॥

एवम् एव खलु सोम्य ! अन्नस्य अश्यमानस्य यो अणिमा, स ऊर्ध्वः समुदीषति, तत् मनो भवति ॥ २ ॥

अर्थ—ऐसे ही निश्चय हे सोम्य ! खायेहुए अन्नका जो सबसे सूक्ष्म भाग है, वह ऊपर उठ आता है, वह मन होता है ॥ २ ॥

अपां सोम्य ! पीयमानानां यो अणिमा, स ऊर्ध्वः समुदीषति, स प्राणो भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—पियेहुए जलका हे सोम्य ! जो सबसे सूक्ष्म भाग है, वह ऊपर उठ आता है, वह प्राण होता है ॥ ३ ॥

तेजसः सोम्य ! अश्यमानस्य यो अणिमा, स ऊर्ध्वः समुदीषति, सा वाग् भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—खायेहुए तेजका हे सोम्य ! जो सबसे सूक्ष्म भाग है, वह ऊपर उठ आता है, वह वाणी(वाग् इन्द्रिय) होता है ॥ ४ ॥

अन्नमयं हि सोम्य ! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाग् इति । भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति । तथा सोम्य ! इति ह उवाच॥५॥

अर्थ—अन्नका विकार निश्चय हे सोम्य ! मन है, जलका विकार प्राण और तेजका विकार वाणी है, यह उद्दालकने कहा। फिर भी भगवान् मुझे जनायें(समझायें), यह श्वेतकेतुने कहा । तथा अस्तु हे सोम्य ! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ ५ ॥

षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः । पञ्चदश अहानि मा अशीः, कामम् अपः पिब । आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यते इति ॥ ६ ॥

अर्थ—सोलह कला(भागों)वाला हेसोम्य ! पुरुष(मनुष्यदेह) है । तू पन्द्रह दिन न खा, जल जितनी इच्छा हो पी । प्राण जलमय है, वह तुझ जल पीते हुएका न विच्छिन्न(नष्ट) होगा (न शरीरसे निकले गा) यह उद्दालकने कहा ॥ ६ ॥

स ह पञ्चदश अहानि न आश । अथ ह एनम् उपससाद किं ब्रवीमि भो ! इति । ऋचः सोम्य ! यजूंषि सामानि इति । स ह उवाच-न वै मा प्रतिभान्ति भो ! इति ॥ ७ ॥

अर्थ—उस(श्वेतकेतु)ने निश्चय पन्द्रह दिन न खाया । पीछे इस प्रसिद्ध उद्दालकके पास आया और यह कहा-हे पिता ! मैं क्या कहूं(बोलकर सुनाऊं) । ऋचा मन्त्र हे सोम्य ! यजुमन्त्र अथवा साममन्त्र, यह पिता उद्दालकने कहा । वह निश्चय यह बोला हे पिता ! निःसन्देह वे(मन्त्र) मुझे नहीं सूझते(फुरते) हैं ॥ ७ ॥

तं ह उवाच-यथा सोम्य ! महतो अभ्याहितस्य एको अंगारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्, तेन ततो अपि न बहु दहेत्, एवं सोम्य !

ते षोडशानां कलानाम् एका कला अतिशिष्टा स्यात्, तया एतर्हि वेदान् न अनुभवसि। अशान, अथ मे विज्ञास्यसि इति ॥ ८॥

अर्थ—उस(नचिकेता)से प्रसिद्ध पिता उद्दालकने कहा हे सोम्य! जैसे बढेहुए (घास आदिसे वृद्धिको प्राप्तहुए) बहुतसे अग्निका एक अंगारा जुगुनू बराबर बचाहुआ (शेष रहाहुआ) हो, तो वह(अग्नि) उससे(जुगुनू बराबर होनेसे) उससे अधिक (जितना वह अंगारा है, उससे अधिक) कोई भी वस्तु न जलायेगा (न जलासकेगा), ऐसे हे सोम्य! तेरी सोलह कलाओंमेंसे एक कला बचीहुई(बाकी रही हुइ) है, इसलिये उस(एक कला)से इससमय तू वेदों(ऋचा आदि मन्त्रों)को नहीं स्मरण करता है। खा, तब मेरेकहे(वचन)को जानेगा (समझे गा), यह उद्दालकने कहा ॥८॥

स ह आश, अथ ह एनम् उपससाद। तं ह यत् किं च पप्रच्छ, सर्वं ह प्रतिपेदे ॥ ९ ॥

अर्थ—उसने निश्चय खाया, पीछे इस प्रसिद्ध उद्दालक पिताके पास आया। तब उसने उससे जो कुछ भी पूछा, वह सब ही उस(श्वेतकेतु)ने जानलिया (जानकर कह दिया) ॥ ९ ॥

तं ह उवाच यथा सोम्य! महतो अभ्याहितस्य एकम् अंगारं खद्योत मात्रं परिशिष्टं तं तृणैः उपसमाधाय प्राज्वलयेत् तेन ततो अपि बहु दहेत् ॥ १० ॥

अर्थ—उससे प्रसिद्ध पिता उद्दालकने कहा हे सोम्य! जैसे बढेहुए बहुतसे अग्निके जुगुनू बराबर शेष रहेहुए(बाकीबचेहुए) उस एक अंगारेको तृणों(घास)से बढाकर(सुलगाकर) प्रज्वलित करे, तो वह (अग्नि) उससे(प्रज्वलित होजानेसे) उससे भी(जितना वह प्रज्वलित अंगारा है, उससेभी) बहुत अधिकको जलायेगा ॥१०॥

एवं सोम्य! ते षोडशानां कलानाम् एका कला अतिशिष्टा अभूत्, सा अन्नेन उपसमाहिता प्राज्वालीत्, तया एतर्हि वेदान् अनुभवसि। अन्नमयं हि सोम्य! मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाग् इति। तद् ह अस्य विजज्ञौ इति, विजज्ञौ इति ॥ ११ ॥

अर्थ—ऐसे हे सोम्य! तेरी सोलह कलाओंमेंसे एक कला बाकी बची हुई थी, वह अन्नसे बढीहुई(वृद्धिको प्राप्तहुई) प्रज्वलित हुई है, इसलिये इस(एक कला)से अब तू वेदों(मन्त्रों)को अनुभव करता(स्मरण करता) है। हे सोम्य! अन्नका विकार निश्चय मन है, जलका विकार प्राण और तेजका विकार वाणी है, यह उद्दालकने कहा। बस उसको निःसन्देह इसके वचनसे श्वेतकेतुने जाना, बस जाना ॥ ११ ॥

(३) उद्दालको ह आरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रम् उवाच-स्वप्नान्तं मे सोम्य! विजानीहि इति । यत्र एतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य! तदा सम्पन्नो भवति । स्वम् अपीतो भवति । तस्माद् एनं स्वपिति इति आचक्षते । स्वं हि अपीतो भवति ॥ १ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध अरुणके पुत्र उद्दालकने श्वेतकेतु पुत्रसे यह कहा–हे सोम्य! मुझसे सुषुप्ति अवस्था(गाढ निद्राकी अवस्था)को जान (समझ)। जिस कालमें यह मनुष्य स्वपिति (सोता है) नामसे कहा जाता है, उस कालमें हे सोम्य! सत् से मिला हुआ (सद् ब्रह्मके साथ एकमेक हुआ हुआ) होता है। स्व(अपने वास्तवरूप सद् ब्रह्म)में लीन होता है। इसलिये इसको स्वपिति(सोता है) ऐसा(इस नामसे) कहते हैं। क्योंकि स्वं में लीन हुआ होता है ॥ १ ॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा बन्धनम् एव उपश्रयते, एवम् एव खलु सोम्य! तत् मनः दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा प्राणम् एव उपश्रयते । प्राणबन्धनं हि सोम्य! मनः इति ॥ २ ॥

अर्थ—वह जैसे धागेसे(शिकारीकी डोरसे) दृढ बन्धाहुआ पक्षी दिशा दिशामें (हर एक दिशामें) उडकर दूसरी जगह(कहीं) आश्रय न पाकर बन्धन(जहां बन्धा हुआ है, उस जगह)का ही आश्रय लेता है, ऐसे ही निश्चय हे सोम्य! वह मन (विज्ञानमय पुरुष) दिशा दिशामें उडकर(फिर कर) दूसरी जगह(कहीं) आश्रय न प्राप्त कर(पाकर) प्राण(प्राणके प्राण सद् ब्रह्म)का ही आश्रय लेता है। क्योंकि प्राणसे बन्धाहुआ हे सोम्य! यह मन है। बस ॥ २ ॥

अशनायापिपासे मे सोम्य! विजानीहि । यत्र एतत् पुरुषः अशिशिषति नाम, आपः एव तद् अशितं नयन्ते । तद् यथा गोनायः अश्वनायः पुरुषनाय इति, एवं तद् अपः आचक्षते अशनाया इति । तत्र एतत् शुङ्गम् उत्पतितं सोम्य! विजानीहि, न इदम् अमूलं भविष्यति इति ॥ ३ ॥

अर्थ—अब अशनाया(भूख) और पिपासा(प्यास)को हे सोम्य! मुझसे जान। जिस कालमें यह पुरुष अशिशिषति=खाना चाहता है(भूखा है) ऐसा(इस नामसे) कहा जाता है, उसका अर्थ यह है कि जल निश्चय उस खाये हुए अन्नको ले गया है। वह जैसे गौओंके ले जानेवालेको गोनाय, घोडोंके ले जानेवालेको अश्वनाय और मनुष्योंके लेजानेवालेको पुरुषनाय, ऐसा कहते हैं, ऐसे उस(खायेहुए अन्नके ले जानेवाले) जलको 'अशनाया' ऐसा कहते हैं। उस(खाये हुए अन्न)के

चले जानेपर (जलसे पाचन होकर रस रुधिर मज्जा अस्थि आदिरूपसे चलेजाने पर) यह शुंग (शरीररूपी अङ्कुर) उत्पन्न हुआ जान हे सोम्य! यह विना मूल (कारण) न हुआ होगा, यह उद्दालकने कहा ॥ ३ ॥

तस्य क्व मूलं स्याद् अन्यत्र अन्नात्?। एवम् एव खलु सोम्य! अन्नेन शुङ्गेन अपो मूलम् अन्विच्छ, अद्भिः सोम्य! शुङ्गेन तेजो मूलम् अन्विच्छ, तेजसा सोम्य! शुङ्गेन सत् मूलम् अन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

अर्थ—उस (शरीररूपी अङ्कुर=कार्य) का मूल (कारण) अन्नसे विना दूसरा कहां होगा? (न होगा)। ऐसे ही निश्चय हे सोम्य! अन्नरूप शुङ्ग (अङ्कुर) से उसके मूल जलको जान (ढूंढ), जलरूप शुङ्गसे हे सोम्य! उसके मूल तेजको जान, और तेजरूप शुङ्गसे हे सोम्य! उसके मूल सत् (ब्रह्म) को जान। बस सत् मूलवाली हैं आरम्भमें, सत् आश्रयवाली हैं स्थितिकालमें और सत्में प्रतिष्ठावाली हैं प्रलयकालमें ये सब प्रजायें हे सोम्य! ॥ ४ ॥

अथ यत्र एतत् पुरुषः पिपासति नाम, तेजः एव तत् पीतं नयते। तद् यथा गोनायः अश्वनायः पुरुषनायः इति, एवं तत् तेजः आचक्षते उदन्या इति। तत्र एतद् एव शुङ्गम् उत्पतितं सोम्य! विजानीहि, न इदम् अमूलं भविष्यति इति ॥ ५ ॥

अर्थ—अब जिसकालमें यह पुरुष पिपासति=पीना चाहता है (प्यासा है) इस नामसे (ऐसा) कहा जाता है, उसका अर्थ यह है कि तेज निश्चय उसका वह पिया हुआ जल ले गया है। वह जैसे गौओंके ले जानेवालेको गोनाय, घोडोंके ले जानेवालेको अश्वनाय और मनुष्योंके ले जानेवालेको पुरुषनाय, ऐसा कहते हैं, ऐसे उस (पिये हुए जलके ले जानेवाले) तेजको उदन्या=उदनाया (उद=जल,का लेजानेवाला=प्यास) ऐसा कहते हैं। उस (पियेहुए जल) के चलेजानेपर (तेजसे जीर्ण होकर रुधिर आदि रूपसे चले जानेपर) निश्चय यह (शरीर) शुङ्ग (अङ्कुर) उत्पन्न हुआ हे सोम्य! जान, यह विना मूल (कारण) न हुआ होगा, यह उद्दालकने कहा ॥५॥

तस्य क्व मूलं स्याद् अन्यत्र अद्भ्यः?। अद्भिः सोम्य! शुङ्गेन तेजो मूलम् अन्विच्छ, तेजसा सोम्य! शुङ्गेन सत् मूलम् अन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ६ ॥

अर्थ—उस (शरीररूपी शुङ्ग=अङ्कुर) का मूल (कारण) जलसे विना दूसरा कहां होगा? (न होगा)। जलरूप शुङ्गसे हे सोम्य! उसके मूल तेजको जान, तेजरूपी शुङ्गसे हे सोम्य! उसके मूल सत् (ब्रह्म) को जान। बस सत् मूलवाली हैं आरम्भमें,

सत् आश्रयवाली हैं स्थितिकालमें और सत्में प्रतिष्ठावाली हैं प्रलयकालमें ये सब प्रजायें हे सोम्य ! ॥ ६ ॥

(४) अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणः तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम् । स यः एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् । तत् सत्यं, सः आत्मा । तत् त्वम् असि श्वेतकेतो !* इति । भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति । तथा सोम्य ! इति ह उवाच ॥ १ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! मरनेवाले हुए इस पुरुषकी वाणी मनमें लीन होती है, मन प्राणमें, प्राण तेज(उदान)में और तेज(उदान) परदेवता(सत् ब्रह्म)में लीन होता है । वह जो यह (सत्) अत्यन्त सूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब । वह सत्य (अविनाशी) है, वह आत्मा है । वह (आत्मा) तू है हे श्वेतकेतु ! यह उद्दालकने कहा । फिर भी मुझे भगवान् (आप पूज्य) जनायें (समझायें), यह श्वेतकेतुने कहा । तथा अस्तु हे सोम्य ! यह प्रसिद्ध पिता उद्दालकने कहा ॥ १ ॥

यथा सोम्य ! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति, नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारम् एकतां रसं गमयन्ति । ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्य अहं वृक्षस्य रसो अस्मि, अमुष्य अहं वृक्षस्य रसो अस्मि इति । एवम् एव खलु सोम्य ! इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे इति ॥ २ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! जैसे शहतके बनानेवाली मक्खियां शहतको बनाती हैं, भिन्नभिन्नजगहके वृक्षोंके रसोंको इकट्ठाकरके एक रसता(एकरूपता)को प्राप्त-कर-देती (एकरूप बना देती) हैं । वे (भिन्नभिन्न जगहके वृक्षोंके रस) जैसे उसकालमें (एकरूपताके समयमें) इस विवेकको नहीं लभते (पाते) उस वृक्षका रस मैं हूं, उस वृक्षका रस मैं हूं । ऐसे ही निश्चय हे सोम्य ! ये सब प्रजायें प्रतिदिन सुषुप्तिमें और प्रलयमें सत् (ब्रह्म)में लीन होकर(सत्के साथ एकरूप होकर) यह नहीं जानतीं हम सत्(ब्रह्म)में लीन हैं ॥ २ ॥

ते इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा, यद् यद् भवन्ति, तद् आ+भवन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—वे (प्रजायें) यहां (सुषुप्ति और प्रलयसे पहले) बाघ(चीता) अथवा शेर अथवा भेडिया अथवा सूर अथवा कीडा अथवा पतंगा (उडनेवाला कीडा) अथवा डांस अथवा मच्छर, अथवा दूसरा कोई प्राणी, जो जो होती हैं, वही आ आ होती हैं ॥ ३ ॥

*तन्निष्ठस्त्वं भव श्वेतकेतो ! इति वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिनाम्नि भाष्ये ।

स यः एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्। तत् सत्यं, स आत्मा। तत् त्वम् असि श्वेतकेतो! इति। भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति। तथा सोम्य! इति ह उवाच॥ ४॥

अर्थ—वह जो यह (सत्) अत्यन्तसूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब। वह सत्य है, वह आत्मा है। वह (आत्मा) तू है हे श्वेतकेतु! यह उद्दालकने कहा। फिर भी मुझे भगवान् जनायें (समझायें) यह श्वेतकेतुने कहा। तथा अस्तु हे सोम्य! यह प्रसिद्ध पिता उद्दालकने कहा॥ ४॥

इमाः सोम्य! नद्यः पुरस्तात् प्राच्यः स्यन्दन्ते, पश्चात् प्रतीच्यः। ताः समुद्रात् समुद्रम् एव अपियन्ति, समुद्रः एव भवन्ति। ताः यथा तत्र न विदुः इयम् अहम् अस्मि, इयम् अहम् अस्मि इति। एवम् एव खलु सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः सतः आगम्य न विदुः सतः आगच्छामहे इति॥ ५॥

अर्थ—हे सोम्य! ये जो पूर्वकी गंगा आदि नदियां पूर्वकी ओर बहती हैं, और पश्चिमकी सिन्धुआदि नदियां पश्चिमकी ओर बहती हैं। वे समुद्रसे आकर समुद्रमें ही लीन होती हैं, समुद्र ही हो जाती हैं। वे जैसे वहां (समुद्रमें) यह नहीं जानतीं यह (गंगा) मैं हूं, यह (सिन्धु) मैं हूं। ऐसे ही निश्चय हे सोम्य! ये सब प्रजायें सत् (ब्रह्म) से आकर यह नहीं जानतीं हम सत्से आई हैं॥ ५॥

ते इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा, यद् यद् भवन्ति, तद् आ+भवन्ति॥ ६॥

अर्थ—वे (प्रजायें) यहां बाघ अथवा शेर अथवा भेडिया अथवा सूर अथवा कीट अथवा पतंग अथवा डांस अथवा मच्छर अथवा दूसरा कोई प्राणी, जो जो होती हैं, वही आ आ होती हैं॥ ६॥

स यः एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्। तत् सत्यं, स आत्मा। तत् त्वम् असि श्वेतकेतो! इति। भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति। तथा सोम्य! इति ह उवाच॥ ७॥

अर्थ—वह जो यह (सत्) अत्यन्त सूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब। वह सत्य है, वह आत्मा है। वह (आत्मा) तू है हे श्वेतकेतु! यह उद्दालकने कहा। फिर भी मुझे भगवान् जनायें (समझायें) यह श्वेतकेतुने कहा। तथाऽस्तु हे सोम्य! यह प्रसिद्ध पिता उद्दालकने कहा॥ ७॥

(९) अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य यो मूले अभ्याहन्यात् जीवन् स्रवेद्, यो मध्ये अभ्याहन्यात् जीवन् स्रवेद्, यो अग्रे अभ्याहन्यात् जीवन्

स्रवेत् । स एष जीवेन आत्मना अनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानः तिष्ठति ॥ १ ॥

अर्थ—हे सोम्य ! इस (सामने स्थित) बडे वृक्षके मूल (जड) में जो (यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष) कुल्हाडा मारे (कुल्हाडेकी चोट दे), तो वह (वृक्ष) जीता हुआ (न सूखता हुआ) स्रवेगा (रस बहायेगा), जो (यदि कोई) बीच (मध्य) में कुल्हाडा मारे, तो जीता हुआ (न सूखता हुआ) स्रवेगा, जो सिरमें कुल्हाडा मारे, तो जीता हुआ (न सूखता हुआ) स्रवेगा। वह यह (वृक्ष) जीव आत्मासे व्याप्त हुआ (सिरसे मूलतक भराहुआ) पुष्टिकारक भूमिके (भौम) रसोंको अच्छीतरह पीताहुआ प्रफुल्लित (हराभरा) हुआ खडा रहता है ॥ १ ॥

अस्य यद् एकां शाखां जीवो जहाति, अथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहाति, अथ सा शुष्यति, तृतीयां जहाति, अथ सा शुष्यति; सर्वं जहाति, सर्वः शुष्यति । एवम् एव खलु सोम्य ! विद्धि इति ह उवाच जीवापेतं वाव किल इदं म्रियते न जीवो म्रियते इति ॥ २ ॥

अर्थ—इस (वृक्ष) की जब एक शाखाको जीवात्मा छोडदेता है, तब वह सूख जाती (मरजाती) है, जब दूसरीको छोड देता है, तब वह सूखजाती (मरजाती) है, जब तीसरीको छोड देता है, तब वह सूखजाती (मरजाती) है, जब सबको (सिरसे मूलतक पूरे वृक्षको) छोड देता है, सब सूखजाता (मरजाता) है। ऐसे ही निश्चय हे सोम्य ! यह जान— जीवात्मासे रहित हुआ (छोडा हुआ) निःसन्देह प्रत्यक्ष यह शरीर मरता है, जीवात्मा नही मरता है, यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ २ ॥

स यः एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् । तत् सत्यं स आत्मा । तत् त्वम् असि श्वेतकेतो ! इति । भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति । तथा सोम्य ! इति ह उवाच ॥ ३ ॥

अर्थ—वह जो यह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब । वह सत्य है, वह आत्मा है । वह (आत्मा) तू है हे श्वेतकेतु ! यह उद्दालकने कहा । फिर भी मुझे भगवान् जनायें (समझायें) यह श्वेतकेतुने कहा । तथाऽस्तु हे सोम्य ! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ ३ ॥

न्यग्रोधफलम् अतः आहर इति । इदं भगवः ! इति । भिन्धि इति । भिन्नं भगवः ! इति । किम् अत्र पश्यसि ? इति । अण्व्यः इव इमाः धानाः भगवः ! इति । आसाम् अङ्ग ! एकां भिन्धि इति । भिन्ना भगवः ! इति । किम् अत्र पश्यसि ? इति । न किं चन भगवः ! इति ॥ ४ ॥

अर्थ—इस(सामने स्थित बडके वृक्ष)से बडका फल ले आ, यह उद्दालकने कहा । यह है हे भगवन् ! यह श्वेतकेतुने कहा । इसको तोड, यह उद्दालकने कहा । तोडा हे भगवन् ! यह श्वेतकेतुने कहा । क्या इसमें तू देखता है ? यह उद्दालकने कहा । अतिसूक्ष्म- से ये दाने हे भगवन् ! यह श्वेतकेतुने कहा । इनमेंसे प्यारे ! एकको तोड, यह उद्दालकने कहा । तोडा हे भगवन् ! यह श्वेतकेतुने कहा । क्या इसमें तू देखता है ? यह उद्दालकने कहा । न कुछ भी हे भगवन् ! यह श्वेतकेतुने कहा ॥ ४ ॥

तं ह उवाच-यं वै सोम्य ! एतम् अणिमानं न निभालयसे, एतस्य वै सोम्य ! एषो अणिम्नः एवं महान् न्यग्रोधः तिष्ठति । श्रद्धत्स्व सोम्य ! इति ॥ ५ ॥

अर्थ—उससे प्रसिद्ध उद्दालकने कहा हे सोम्य ! जिस इस अत्यन्तसूक्ष्मको निश्चय तू नहीं देखता है, इस अत्यन्तसूक्ष्मका ही हे सोम्य ! यह ऐसा बडा बडका वृक्ष खडा है । विश्वास(श्रद्धा)कर हे सोम्य ! यह उद्दालकने कहा ॥ ५ ॥

स यः एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् । तत् सत्यं, स आत्मा । तत् त्वम् असि श्वेतकेतो ! इति । भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति । तथा सोम्य ! इति ह उवाच ॥ ६ ॥

अर्थ—वह जो यह अत्यन्तसूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब । वह सत्य है, वह आत्मा है । वह(आत्मा) तू है हे श्वेतकेतु ! यह उद्दालकने कहा । फिर भी मुझे भगवान् जनायें(समझायें) यह श्वेतकेतुने कहा । तथाऽस्तु हे सोम्य ! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ ६ ॥

लवणम् एतद् उदके अवधाय अथ मा प्रातः उपसीदथाः इति । स ह तथा चकार । तं ह उवाच-यद् दोषा लवणम् उदके अवाधाः, अङ्ग ! तद् आहर इति । तद् ह अवमृश्य न विवेद ॥ ७ ॥

अर्थ—इस लूनके ढेले(लवण)को पानीमें डालकर पीछे प्रातःकाल मेरे पास आ, यह उद्दालकने कहा । उसने वैसे ही किया । उससे प्रसिद्ध उद्दालकने यह कहा जो लूनका ढेला (लवण) रातको तूने पानीमें डालाथा, प्यारे ! उसको ले आ । उसको ढूंढकर (ढूंढनेपर) भी उसने न पाया(लभा) ॥ ७ ॥

यथा विलीनम् एव अङ्ग !, अस्य अन्ताद् आचाम इति । कथम् ? इति । लवणम् इति । मध्याद् आचाम इति । कथम् ? इति । लवणम् इति । अन्ताद् आचाम इति । कथम् ? इति । लवणम् इति । अभिप्रास्य एतद् अथ मा उपसीदथाः इति । तद् ह तथा चकार, तत् शश्वत् संवर्तते । तं ह उवाच-अत्र वाव किल सत् सोम्य ! न निभालयसे, अत्र एव किल इति ॥ ८ ॥

अर्थ—हे प्यारे! यह(लूनका ढेला) यथास्वभाव(अपने स्वभावानुसार) निश्चय घुलगया है, तू इस(पानी)को एक किनारेसे पी, यह उद्दालकने कहा, और कैसा है, यह पूच्छा । लून(सलूना) है, यह श्वेतकेतुने कहा । बीचसे पी, यह उद्दालकने कहा, और कैसा है, यह पूच्छा । लून(खारा) है, यह श्वेतकेतुने कहा । दूसरे किनारेसे पी, यह उद्दालकने कहा, और कैसा है, यह पूच्छा । लून है, यह श्वेतकेतुने कहा । इसको फैंककर पीछे मेरे पास आ, यह उद्दालकने कहा । उसने उसको निःसन्देह वैसे ही किया और आकर कहा—वह अवश्य पानीमें ही है । उससे प्रसिद्ध पिता उद्दालकने यह कहा—हे सोम्य! पानीमें लूनकी नाई यहां(शरीरमें और सब पदार्थोंमें) ही है निश्चय सत्(ब्रह्म), तू नहीं देखता है, वह निःसन्देह यहां ही है ॥ ८ ॥

स यः एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् । तत् सत्यं, स आत्मा । तत् त्वम् असि श्वेतकेतो! इति । भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति । तथा सोम्य! इति ह उवाच ॥ ९ ॥

अर्थ—वह जो यह अत्यन्तसूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब । वह सत्य है, वह आत्मा है । वह(आत्मा) तू है हेश्वेतकेतु ! यह उद्दालकने कहा । फिर भी मुझे भगवान् जनायें, यह श्वेतकेतुने कहा । तथाऽस्तु हे सोम्य! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ ९ ॥

यथा सोम्य! पुरुषं गन्धारेभ्यो अभिनद्धाक्षम् आनीय तं ततो अतिजने विसृजेत् । स यथा तत्र प्राङ् वा उदङ् वा, अधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीत अभिनद्धाक्षः आनीतः, अभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे हे सोम्य! (प्यारे!) कोई बांधी हुई आंखोंवाले(आंखें बांधकर) किसी पुरुषको गन्धार(कंधार) देशसे लाकर पीछे उसको निर्जनस्थान(बन)में छोड दे । और वह(निर्जनस्थानमें छोडाहुआ बान्धी हुई आंखोंवाला) जैसे वहां (निर्जनस्थानमें) कभी(कदाचित्) पूर्व, कभी उत्तर, कभी दक्षिण कभी पश्चिम दिशामें घूमताहुआ पुकारे (ऊंची ऊंची बोले) आंखें बान्धा हुआ लाया गया, आंखें बान्धाहुआ छोडा गया ॥ १० ॥

तस्य यथा अभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयाद् एतां दिशं गन्धाराः, एतां दिशं व्रज इति । स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारान् एव उपसम्पद्येत, एवम् एव इह आचार्य्यवान् पुरुषो वेद । तस्य तावद् एव चिरं यावत् न विमोक्ष्ये, अथ सम्पत्स्ये इति ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसे कोई उसके आंखोंके बन्धन(पट्टी)को खोलकर यह कहे इस दिशामें गन्धार देश है, इस दिशामें जा । वह पण्डित(गन्धार देशका उपदेश पाया हुआ विद्वान्) मेधावी(स्मरणशक्तिवाला) एक गांवसे दूसरे गांव(गांवके मार्ग)को

पूछता हुआ निश्चय गन्धार देशको प्राप्त होजाता (पहुंच जाता) है, ऐसे ही यहां (मनुष्य देहमें) आचार्य्यवाला पुरुष(जिसको पूरा गुरु=आचार्य मिल गया है, वह मनुष्य) उस सत्को जानलेता है। उसको तबतक ही विलम्ब(सत् ब्रह्मकी प्राप्तिमें देर) है, जबतक वह शरीरसे नही छूटता(अलग होता) है, अब (शरीरसे छूटने-पर) वह सत् ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह निश्चय है ॥ ११ ॥

स यः एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्। तत् सत्यं, स आत्मा। तत् त्वम् असि श्वेतकेतो! इति। भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति। तथा सोम्य! इति ह उवाच ॥ १२ ॥

अर्थ—वह जो यह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब। वह सत्य है, वह आत्मा है। वह(आत्मा) तू है हे श्वेतकेतु!, यह उद्दालकने कहा। फिर भी मुझे भगवान् जनायें, यह श्वेतकेतुने कहा। तथाऽस्तु हे सोम्य! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ १२ ॥

(६) पुरुषं सोम्य! उपतापिनं ज्ञातयः पर्य्युपासते जानासि मां जानासि माम् इति। तस्य यावत् न वाक् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणः तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्, तावद् जानाति ॥ १ ॥

अर्थ—हे सोम्य! ज्ञाती (कुटुम्बी) अत्यन्त ज्वरसे पीडित(मरनेवाले) पुरुषके चारों ओर पास बैठ जाते हैं, और यह पूछते हैं मुझे जानता है, मुझे जानता है?। जबतक उसकी बाणी मनमें नही लीन होती है, मन प्राणमें, प्राण तेज(उदान)में और तेज परे देवता (सत् ब्रह्म)में नही लीन होता है, तबतक जानता है ॥ १ ॥

अथ यदा अस्य वाक् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणः तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्, अथ न जानाति ॥ २ ॥

अर्थ—अब जब इसकी बाणी मनमें लीन होजाती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परे देवतामें लीन होजाता है, तब नही जानता है ॥ २ ॥

स यः एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्। तत् सत्यं, स आत्मा। तत् त्वम् असि श्वेतकेतो! इति। भूयः एव मा भगवान् विज्ञापयतु इति। तथा सोम्य! इति ह उवाच ॥ ३ ॥

अर्थ—वह जो यह अत्यन्तसूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब। वह सत्य है, वह आत्मा है। वह (आत्मा) तू है हे श्वेतकेतु!, यह उद्दालकने कहा। फिर भी मुझे भगवान् जनायें, यह श्वेतकेतुने कहा। तथाऽस्तु हे सोम्य! यह प्रसिद्ध उद्दालकने कहा ॥ ३ ॥

पुरुषं सोम्य! उत हस्तगृहीतम् आनयन्ति अपहार्षीत्, स्तेयम् अका-र्षीत्, परशुम् अस्मै तपत इति। स यदि तस्य कर्ता भवति, ततः एव

अनृतम् आत्मानं कुरुते, सो अनृताभिसन्धः अनृतेन आत्मानम् अन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति, स दह्यते, अथ हन्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—और हे सोम्य ! जैसे दोनों हाथोंसे बान्धेहुए पुरुषको राजपुरुष राजाके सामने लाते हैं और कहते हैं इसने धन उठाया है, इसने चोरी की है, राजा कहता है—बस इसकेलिये कुल्हाडा तपाओ । यदि वह (दोनों हाथोंसे बान्धकर लाया हुआ पुरुष) उसका (चोरीका) कर्ता (करनेवाला) होता है और उससे (कर्ता होनेसे) निश्चय अपने आपको झूठा करता (कर्ता होना स्वीकार नही करता, किन्तु मैं कर्ता नही, इसप्रकार अपने आपको झूठसे ढांपता) है, वह झूठे अभिप्रायवाला (झूठमें आत्माकी स्थितिवाला) झूठसे आत्मा (अपने आप)को ढांपकर तपेहुए कुल्हाडेको पकडता है, वह जलता है, और मारा जाता है ॥ ४ ॥

अथ यदि तस्य अकर्ता भवति, ततः एव सत्यम् आत्मानं कुरुते, स सत्याभिसन्धः सत्येन आत्मानम् अन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति, स न दह्यते, अथ मुच्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—अब यदि उस (चोरी)का अकर्ता (न करनेवाला) होता है, और उससे (अकर्ता होनेसे) निश्चय आत्मा (अपने आप)को सच्चा करता (सच्चसे ढांपता) है, वह सच्चे अभिप्रायवाला (सच्चमें आत्माकी स्थितिवाला) सच्चसे आत्माको ढांपकर तपे हुए कुल्हाडेको पकडता है, वह नही जलता है, और छूट जाता है ॥ ५ ॥

स यथा तत्र न अदाह्येत [अथ मुच्येत, एवम् एव । स यः एषो अणिमा] ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् । तत् सत्यम्, स आत्मा । तत् त्वम् असि श्वेतकेतो ! इति । तद् ह अस्य विजज्ञौ इति, विजज्ञौ इति ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे वह (सच्चमें आत्माकी स्थितिवाला) वहां (राजाके सामने) तपे हुए कुल्हाडेसे नही जलता है, और छूटजाता है, ऐसे ही सत् (ब्रह्म)में आत्माकी स्थितिवाला पुरुष, संसारमें सांसारिक दुःखाग्निसे नही जलता है और छूटजाता (मुक्त होजाता) है । वह जो यह अत्यन्तसूक्ष्म है, इसीसे आत्मावाला है यह सब । वह सत्य है, वह आत्मा है । वह(आत्मा) तू है हे श्वेतकेतु !, यह उद्दालकने कहा । बस उस (सत् ब्रह्म)को निःसन्देह श्वेतकेतुने इस(उद्दालकपिता)के वचनसे जाना, बस जाना ॥६॥

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणम् अस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः।

शान्तिः

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च। सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्। माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु। तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(१) अधीहि भगवः इति ह उपससाद सनत्कुमारं नारदः। तं ह उवाच—यद् वेत्थ, तेन मा उपसीद, ततः ते ऊर्ध्वं वक्ष्यामि इति॥१॥

अर्थ—हे भगवन्! मुझे जनायें (आत्माका उपदेश करें) यह कहकर प्रसिद्ध नारद सनत्कुमारको शिष्यभावसे प्राप्त हुआ (शिष्यभावनासे सनत्कुमारके पास आया)। उस प्रसिद्ध नारदसे सनत्कुमारने यह कहा—जो कुछ तू जानता है, उसके साथ मुझे प्राप्त हो (उसको मुझे कहो), फिर मैं उससे ऊपर (आगे) तुझे कहूंगा॥ १॥

स ह उवाच ऋग्वेदं भगवो! अध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदम्, आथर्वणं चतुर्थम्, इतिहासपुराणं पञ्चमं, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यम्, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्याम्। एतद् भगवो! अध्येमि॥२॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध नारदने कहा हेभगवन्! मैं ऋग्वेद पढा हूं, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्ववेद, पांचवां इतिहासपुराण, वेदोंका वेद (व्याकरण), वंशविद्या, गणितविद्या, वायु आदिविद्या, भूगर्भविद्या, तर्कविद्या (लाजक) नीतिविद्या, नृत्त-गीत-वादित्रविद्या, प्रकृतिविद्या (पदार्थविद्या) प्राणिविद्या (जीवशास्त्र) शस्त्रास्त्रविद्या (धनुर्वेद) ज्योतिर्विद्या (ज्यौतिष) सर्पविद्या और शिल्पविद्या (देवजनविद्या)। यह सब हेभगवन्! मैं पढा हूं॥ २॥

सो अहं भगवो! मन्त्रविद् एव अस्मि, न आत्मवित्। श्रुतं हि एव मे भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकम् आत्मविद् इति। सो अहं भगवः! शोचामि। तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु इति॥३॥

अर्थ—वह मैं हे भगवन् ! केवल ऋग्वेद आदि विद्याओंका जाननेवाला हूं, आत्माका जाननेवाला नहीं । क्योंकि भगवान् जैसोंसे निश्चय मेरा यह सुना हुआ है कि आत्माका जाननेवाला शोकको उलांघ जाता(शोकसे पार होजाता) है । वह मैं हे भगवन् ! शोक करता(शोकवाला) हूं । उस मुझको भगवान्(आप पूज्य) शोकके पार उतारें (शोकसे पारकरें) यह नारदने कहा ॥ ३ ॥

तं ह उवाच-यद् वै किं च एतद् अध्यगीष्ठाः, नाम एव एतत् । नाम वै ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः आथर्वणः चतुर्थः, इतिहासपुराणं पञ्चमः, वेदानां वेदः, पित्र्यो, राशिः, दैवो, निधिः, वाकोवाक्यम्, एकायनं, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या । नाम एव एतत् ॥ ४ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध नारदसे सनत्कुमारने कहा निःसन्देह जो कुछ भी यह तू ने पढा है, यह सब केवल नाम (शब्द) है । नाम ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्ववेद, पांचवां इतिहासपुराण, वेदोंका वेद (व्याकरण), वंशविद्या, गणितविद्या, वायु आदिविद्या, भूगर्भविद्या, तर्कविद्या, नीतिविद्या, नृत्तगीतवादित्र-विद्या, प्रकृतिविद्या(पदार्थविद्या) प्राणिविद्या, शस्त्रास्त्रविद्या, ज्योतिर्विद्या, सर्पविद्या, और शिल्पविद्या । यह सब नाम ही है ॥ ४ ॥

अस्ति भगवो ! नाम्नो भूयः ? इति । नाम्नो वाव भूयो अस्ति इति । तत् मे भगवान् ब्रवीतु इति ॥ ५ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! नामसे बढकर कोई है ? यह नारदने कहा (पूछा) । नामसे निःसन्देह बढकर है, यह सनत्कुमारने कहा । वह मुझे भगवान्(आप पूज्य) कहें, यह नारदने कहा ॥ ५ ॥

वाग् वाव नाम्नो भूयसी । वाग् वै ऋग्वेदं विज्ञापयति, यजुर्वेदं सामवेदम्, आथर्वणं चतुर्थम्, इतिहासपुराणं पञ्चमम्, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यम्, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्याम्, दिवं च पृथिवीं च, वायुं च आकाशं च, अपश्च तेजश्च, देवान् च मनुष्यान् च, पशून् च वयांसि च, तृणवनस्पतीन् श्वापदानि आकीटपतंगपिपीलकं, धर्मं च अधर्मं च, सत्यं च अनृतं च, साधु च असाधु च, हृदयज्ञं च अहृदयज्ञं च । यद् वै वाक् न अभविष्यत् न धर्मो न अधर्मो व्यज्ञापयिष्यत्, न सत्यं न अनृतं, न साधु न असाधु न हृदयज्ञो न अहृदयज्ञः । वाग् एव एतत् सर्वं विज्ञापयति ॥ ६ ॥

अर्थ—वाणी (वाग् इन्द्रिय) निश्चय नामसे बढकर है । वाणी ही ऋग्वेदको जनाती है, यजर्वेदको, सामवेदको, चौथे अथर्ववेदको, पांचवें इतिहासपुराणको, वेदोंके वेद (व्याकरण)को, वंशविद्याको, गणितविद्याको, वायु आदिविद्याको, भूगर्भ-विद्याको, तर्कविद्याको, नीतिविद्याको, नृत्तगीतवादित्रविद्याको, प्रकृतिविद्या (पदार्थ-विद्या)को, प्राणिविद्याको, शस्त्रास्त्रविद्याको, ज्योतिर्विद्याको, सर्पविद्या और शिल्प-विद्याको, द्यौको और निश्चय पृथिवीको, वायुको और निश्चय आकाशको, जलको और निश्चय तेजको, देवताओंको और निश्चय मनुष्योंको, पशुओंको और निश्चय प्रक्षियोंको, घास और वृक्षोंको, सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र प्राणियोंको, कीडे पतंगे चींटी तकको, धर्मको और निश्चय अधर्मको, सच्चको और निश्चय झूठको, भलेको और निश्चय बुरेको, प्रिय (मित्र)को और निश्चय अप्रिय (अमित्र)को 'बाणी ही जनाती है' । जो कभी बाणी न होती, न धर्म जानाजाता न अधर्म, न सच्च न झूठ, न भला न बुरा, न प्रिय (मित्र) न अप्रिय (अमित्र) । बाणी ही यह सब जनाती है ॥ ६ ॥

अस्ति भगवो वाचो भूयः इति । वाचो वाव भूयो अस्ति इति । तत् मे भगवान् ब्रवीतु इति ॥ ७ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! बाणीसे बढकर कोई है, यह नारदने कहा । बाणीसे निःसन्देह बढकर है, यह सनत्कुमारने कहा । वह मुझे भगवान् कहें, यह नारदने कहा ॥ ७ ॥

मनो वाव वाचो भूयः । यथा वै द्वे वा आमलके द्वे वा कोले द्वौ वा अक्षौ, मुष्टिः अनुभवति, एवं वाचं च नाम च मनो अनुभवति । स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रान् अधीयीय इति, अथ अधीते । कर्माणि कुर्वीय इति, अथ कुरुते । पुत्रान् च पशून् च इच्छेय इति, अथ इच्छते । इमं च लोकम् अमुं च इच्छेय इति, अथ इच्छते । मनो हि आत्मा, मनो हि लोकः, मनो हि ब्रह्म ॥ ८ ॥

अर्थ—मन निश्चय बाणीसे बढकर है । जैसे निश्चय दो आंवलोंको, अथवा दो बेरोंको, अथवा दो बहेडोंको, अथवा दो पौण्डोंको मुठ्ठी (बन्द मुठ्ठी) जानती है, ऐसे बाणीको और निश्चय नामको मन जानता है । वह (पुरुष) जब मनसे यह सङ्कल्प (इरादा) करता है मैं मन्त्रोंको पढूं, तब पढता है । मैं कर्मोंको करूं, जब यह सङ्कल्प करता है, तब करता है । मैं पुत्रोंको और निश्चय पशुओंको चाहूं (प्राप्त करूं), यह सङ्कल्प करता है, तब चाहता (प्राप्त करता) है । मैं इस लोकको और निश्चय उस लोकको चाहूं, यह सङ्कल्प करता है, तब चाहता है । मन निःसन्देह आत्मा (आत्माके भोगका साधन होनेसे आत्मा) है, मन निःसन्देह लोक (लोकोंकी प्राप्तिका साधन होनेसे लोक) है, मन निःसन्देह ब्रह्म (ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन होनेसे ब्रह्म) है ॥ ८ ॥

अस्ति भगवो मनसो भूयः इति । मनसो वाव भूयो अस्ति इति । तत् मे भगवान् ब्रवीतु इति ॥ ९ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! मनसे बढकर कोई है, यह नारदने कहा। निःसन्देह मनसे बढकर है, यह सनत्कुमारने कहा। वह मुझे भगवान् कहें, यह नारदने कहा ॥ ९ ॥

चित्तं वाव मनसो भूयः । यदा वै चेतयते, अथ मनस्यति, अथ वाचम् ईरयति, ताम् उ नाम्नि ईरयति, नाम्नि मन्त्राः एकं भवन्ति, मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १० ॥

अर्थ—चित्त (चिन्तन करनेवाला=सोचनेवाला अन्तःकरण) निश्चय मनसे बढकर है। क्योंकि जब कोई चिन्तन करता है, तब सङ्कल्प करता है, तब वाणीको प्रेरता है, और उसको नाम (नामके उच्चारण) में प्रेरता (लगाता) है, नाममें मंत्र (ऋग्वेद आदि सब विद्यायें) एक होते (नाम-रूप होनेसे नामके भीतर आ जाते) हैं, और मंत्रोंमें कर्म (यज्ञ, दान, तप आदि कर्म) एक होते (मन्त्रविहित होनेसे मन्त्रोंके अन्तर्गत होते) हैं ॥ १० ॥

तानि ह वै एतानि, चित्तैकायनानि, चित्तात्मानि, चित्ते प्रतिष्ठितानि । तस्माद् यद्यपि बहुविद् अचित्तो भवति, न अयम् अस्ति, इति एव एनम् आहुः । यद् अयं वेद यद् वै अयं विद्वान्, न इत्थम् अचित्तः स्याद् इति । अथ यदि अल्पवित् चित्तवान् भवति, तस्मै एव उत शुश्रूषन्ते । चित्तं हि एव एषाम् एकायनं, चित्तम् आत्मा, चित्तं प्रतिष्ठा ११

अर्थ—वे ये प्रसिद्ध (नाम, बाणी, मन) निश्चय चित्तरूपी एक आश्रयवाले हैं, चित्तस्वरूप (चित्तके बनाये हुए होनेसे चित्तरूप) हैं, चित्तमें स्थितिवाले हैं। इसलिये यद्यपि कोई बहुत कुछ जाननेवाला (पढनेवाला) हुआ चित्त (सोच) वाला नही है, तो लोग 'यह नही है (यह पढाहुआ भी न पढाहुआ है), ऐसा ही इसको कहते हैं। जो कुछ यह जानता है (जो कुछ इसने पढा है), यदि ठीक ठीक यह उसका जाननेवाला (पढनेवाला) होता, तो ऐसा बेसमझ न होता, यह कहते हैं। अब यदि कोई थोडा जाननेवाला हुआ चित्त (सोच) वाला है, तो निःसन्देह लोग उसके वचनको सुनना चाहते हैं। चित्त ही निश्चय इन सब (नाम, बाणी, मन) का एक आश्रय है, चित्त ही स्वरूप और चित्त ही इन सबकी प्रतिष्ठा है ॥ ११ ॥

अस्ति भगवः ! चित्ताद् भूयः इति । चित्ताद् वाव भूयो अस्ति इति । तत् मे भगवान् ब्रवीतु इति ॥ १२ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! चित्तसे बढकर कोई है, यह नारदने कहा। चित्तसे निःसन्देह बढकर है, यह सनत्कुमारने कहा। वह मुझे भगवान् कहें, यह नारदने कहा ॥ १२ ॥

विज्ञानं वाव चित्ताद् भूयः। विज्ञानेन वै ऋग्वेदं विजानाति, यजुर्वेदं, सामवेदम्, आथर्वणं चतुर्थम्, इतिहासपुराणं पंचमं, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यम्, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्यां, दिवं च पृथिवीं च, वायुं च आकाशं च, अपश्च तेजश्च, देवान् च मनुष्यान् च, पशून् च वयांसि च, तृणवनस्पतीन्, श्वापदानि आकीटपतङ्गपिपीलकं, धर्मं च अधर्मं च, सत्यं च अनृतं च, साधु च असाधु च, हृदयज्ञं च अहृदयज्ञं च, अन्नं च रसं च, इमं च लोकम् अमुं च विज्ञानेन एव विजानाति ॥ १३ ॥

अर्थ—विज्ञान(वस्तुके वास्तव रूपको ठीक ठीक जाननेवाला अन्तःकरण=बुद्धि) निश्चय चित्तसे बढकर है। विज्ञान(बुद्धि)से ही ऋग्वेदको जानता है, यजुर्वेदको, सामवेदको, चौथे अथर्ववेदको, पांचवें इतिहासपुराणको, वेदोंके वेद (व्याकरण) को, वंशविद्याको, गणितविद्याको, वायु आदिविद्याको, भूगर्भविद्याको, तर्कविद्याको, नीतिविद्याको, नृत्तगीतवादित्रविद्याको, प्रकृतिविद्या(पदार्थविद्या)को, प्राणिविद्याको, शस्त्रास्त्रविद्याको, ज्योतिर्विद्याको, सर्पविद्या और शिल्पविद्याको, द्यौको और निश्चय पृथिवीको, वायुको और निश्चय आकाशको, जलको और निश्चय तेजको, देवताओंको और निश्चय मनुष्योंको, पशुओंको और निश्चय पक्षियोंको, घास और वृक्षोंको, सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र प्राणियोंको, कीडे पतंगे चींटीतकको, धर्मको और निश्चय अधर्मको, सचको और निश्चय झूठको, भलेको और निश्चय बुरेको, मित्रको और निश्चय अमित्रको अन्नको और निश्चय रसको, इस लोकको और निश्चय उस लोकको विज्ञानसे ही जानता है ॥ १३ ॥

(२) यदा वै विजानाति, अथ सत्यं वदति। न अविजानन् सत्यं वदति, विजानन् एव सत्यं वदति। विज्ञानं तु एव विजिज्ञासितव्यम् इति। विज्ञानं भगवो! विजिज्ञासे इति ॥ १ ॥

अर्थ—जब यह निश्चय जानता(साक्षात् करता) है, तब सत्य(ब्रह्म)को सबसे बढकर कहता है। न जानता हुआ(न अनुभव करता हुआ) सत्यको सबसे बढकर नहीं कहता है। जानता हुआ ही सत्यको सबसे बढकर कहता है। इसलिये विज्ञान (सत्यका साक्षात्कार) ही तुझे जिज्ञासा करने (चाहने) योग्य है, यह सनत्कुमारने कहा। हे भगवन्! मैं विज्ञानकी जिज्ञासा करता (विज्ञानको ही चाहता) हूं, यह नारदने कहा ॥ १ ॥

यदा वै मनुते, अथ विजानाति । न अमत्वा विजानाति, मत्वा एव विजानाति । मतिः तु एव विजिज्ञासितव्या इति । मतिं भगवो ! विजिज्ञासे इति ॥ २ ॥

अर्थ—जब निश्चय समझता(मनन करता) है, तब जानता है । न समझ करके नही जानता है, समझ करके ही जानता है । इसलिये तुझे समझ(मनन)की ही जिज्ञासा(चाहना) करनी चाहिये, यह सनत्कुमारने कहा । हे भगवन् ! मैं समझकी जिज्ञासा(चाहना) करता हूं, यह नारदने कहा ॥ २ ॥

यदा वै श्रद्दधाति, अथ मनुते । न अश्रद्दधत् मनुते, श्रद्दधद् एव मनुते । श्रद्धा तु एव विजिज्ञासितव्या इति । श्रद्धां भगवो ! विजिज्ञासे इति ॥३॥

अर्थ—जब निश्चय श्रद्धा(विश्वास) करता है, तब समझता है । न श्रद्धा करता हुआ नही समझता है, श्रद्धा करता हुआ ही समझता है । इसलिये तुझे श्रद्धाकी ही जिज्ञासा(चाहना) करनी चाहिये, यह सनत्कुमारने कहा । हे भगवन् मैं श्रद्धाकी जिज्ञासा करता हूं, यह नारदने कहा ॥ ३ ॥

यदा वै निस्तिष्ठति, अथ श्रद्दधाति । न अनिस्तिष्ठन् श्रद्दधाति, निस्तिष्ठन् एव श्रद्दधाति । निष्ठा तु एव विजिज्ञासितव्या इति । निष्ठां भगवो ! विजिज्ञासे इति ॥ ४ ॥

अर्थ—जब निश्चय निष्ठावाला (निश्चल मनवाला=विषयोंमें न चलायमान मनवाला) होता है, तब श्रद्धा करता है । न निष्ठावाला हुआ नही श्रद्धा करता है, निष्ठावाला हुआ ही श्रद्धा करता है । इसलिये तुझे निष्ठाकी ही जिज्ञासा (चाहना) करनी चाहिये, यह सनत्कुमारने कहा । हे भगवन् ! मैं निष्ठाकी जिज्ञासा करता हूं, यह नारदने कहा ॥ ४ ॥

यदा वै करोति, अथ निस्तिष्ठति । न अकृत्वा निस्तिष्ठति, कृत्वा एव निस्तिष्ठति । कृतिः तु एव विजिज्ञासितव्या इति । कृतिं भगवो ! विजिज्ञासे इति ॥ ५ ॥

अर्थ—जब निश्चय कर्तव्य कर्मोंको करता है, तब निष्ठावाला होता है । कर्तव्य (करने योग्य) कर्मोंको न करके नही निष्ठावाला होता है, कर्तव्य कर्मोंको करके ही निष्ठावाला होता है । इसलिये तुझे कर्तव्य कर्मोंका करना ही जिज्ञासा करने(चाहने) योग्य है, यह सनत्कुमारने कहा । हे भगवन् ! मैं कर्तव्य कर्मोंके करनेकी जिज्ञासा(चाहना) करता हूं, यह नारदने कहा ॥ ५ ॥

यदा वै सुखं लभते, अथ करोति । न असुखं लब्ध्वा करोति, सुखम् एव लब्ध्वा करोति । सुखं तु एव विजिज्ञासितव्यम् इति । सुखं भगवो ! विजिज्ञासे इति ॥ ६ ॥

अर्थ—जब निश्चय सुखको लभता(कर्तव्य कर्मोंके करनेसे सुखका लाभ समझता) है, तब कर्तव्य कर्मोंको करता है। असुख(दुःख)को लभता(असुखका लाभ समझता) हुआ नहीं करता है, सुखको ही लभता(सुखका ही लाभ समझता) हुआ करता है। इसलिये तुझे सुखकी ही जिज्ञासा(चाहना) करनी चाहिये, यह सनत्कुमारने कहा। हे भगवन्! मैं सुखकी जिज्ञासा(चाहना) करता हूं, यह नारदने कहा ॥ ६ ॥

(३) यो वै भूमा, तत् सुखं, न अल्पे सुखम् अस्ति, भूमा एव सुखम्। भूमा तु एव विजिज्ञासितव्यः इति। भूमानं भगवो! विजिज्ञासे इति ॥ १ ॥

अर्थ—जो निश्चय भूमा(सबसे बडा–बेहद ब्रह्म) है, वह सुख है, अल्प (छोटे–हद्दवाले)में सुख नहीं है, भूमा ही सुख है। इसलिये तुझे भूमा(बेहद ब्रह्म) ही जिज्ञासा करने(चाहने) योग्य है, यह सनत्कुमारने कहा। हे भगवन्! मैं भूमाकी जिज्ञासा करता(भूमाको जानना चाहता) हूं, यह नारदने कहा ॥ १ ॥

यत्र न अन्यत् पश्यति, न अन्यत् शृणोति, न अन्यद् विजानाति, स भूमा। अथ यत्र अन्यत् पश्यति, अन्यत् शृणोति, अन्यद् विजानाति, तद् अल्पम्। यो वै भूमा, तद् अमृतम्, अथ यद् अल्पं, तत् मर्त्यम् २

अर्थ—जहां(जिसमें) मनुष्य न दूसरे(भूमासे भिन्न दूसरे)को देखता है, न दूसरेको सुनता है, न दूसरेको जानता है, वह भूमा है। और जहां (जिसमें) दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है, दूसरेको जानता है, वह अल्प है। जो निश्चय भूमा है, वह अमृत (न मरनेवाला) है, और जो अल्प है, वह मर्त्य (मरनेवाला)है २

स भगवः! कस्मिन् प्रतिष्ठितः? इति। स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नि इति ॥ ३ ॥

अर्थ—हे भगवन्! वह(भूमा) किसमें प्रतिष्ठित(ठहरा हुआ) है (किसके आश्रय है) यह नारदने पूछा। अपनी महिमा (महत्त्व) में, अथवा न अपनी महिमा में, यह सनत्कुमारने कहा ॥ ३ ॥

गोअश्वम् इह महिमा इति आचक्षते, हस्तिहिरण्यं, दासभार्य्यं, क्षेत्राणि, आयतनानि इति। न अहम् एवं ब्रवीमि इति ह उवाच। अन्यो हि अन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः इति ॥ ४ ॥

अर्थ—हे नारद! लोग गौओं और घोडोंको यहां(लोकमें) महिमा इस नामसे कहते हैं, हाथी और सोनेको, दास(सेवक) और स्त्रीको, खेतों (भूप्रदेशों) और घरोंको महिमा इस नामसे कहते हैं। मैं ऐसा(भूमाका ऐसी महिमामें प्रतिष्ठित होना) नहीं कहता हूं, यह प्रसिद्ध सनत्कुमारने कहा। क्योंकि लोकमें ही दूसरा दूसरेमें प्रतिष्ठित होता है, यह सनत्कुमारने कहा ॥ ४ ॥

स एव अधस्तात् स उपरिष्टात्, स पश्चात् स पुरस्तात्, स दक्षिणतः स उत्तरतः, स एव इदं सर्वम् ॥ ५ ॥

अर्थ—वही (भूमा ही) निश्चय नीचे है और वही ऊपर है, वही पीछे और वही आगे है, वही दायें और वही बायें है और वही निःसन्देह यह सब कुछ है ॥५॥

अथ अतो अहङ्कारादेशः एव—अहम् एव अधस्ताद् अहम् उपरिष्टात्, अहं पश्चाद् अहं पुरस्तात्, अहं दक्षिणतः अहम् उत्तरतः, अहम् एव इदं सर्वम् इति ॥ ६ ॥

अर्थ—अब इससे आगे निश्चय भूमाका अहं (मैं) शब्दसे उपदेश है मैं (मैं भूमा) ही नीचे हूं और मैं ही ऊपर हूं, मैं ही पीछे और मैं ही आगे हूं, मैं ही दायें और मैं ही बायें हूं और मैं (भूमा) ही यह सब कुछ हूं, बस ॥६॥

अथ अतः आत्मादेशः एव—आत्मा एव अधस्तात् आत्मा उपरिष्टात्, आत्मा पश्चात् आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः आत्मा उत्तरतः, आत्मा एव इदं सर्वम् इति ॥ ७ ॥

अर्थ—अब इससे आगे निश्चय भूमाका आत्मा शब्दसे उपदेश है—आत्मा ही नीचे और आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे और आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायें और आत्मा ही बायें है, और आत्मा ही यह सब कुछ है, बस ॥ ७ ॥

स वै एष एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्, आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः आत्मानन्दः। स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—वह यह (मनुष्य) निश्चय ऐसा देखता हुआ, ऐसा समझता हुआ, ऐसा जानता हुआ, आत्मा (भूमा) में ही प्रेमवाला, आत्मामें ही क्रीडा (खेलने) वाला, आत्मामें ही जुडनेवाला और आत्मामें ही आनन्दवाला होता है। वह सब लोकोंका स्वतन्त्र (अपराधीन) राजा होता है। उसका सब लोकोंमें अपनी इच्छानुसार विचरना (स्वतन्त्र जीवन) होता है ॥ ८ ॥

अथ ये अन्यथा अतो विदुः, अन्यराजानः ते क्षय्यलोकाः भवन्ति। तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति ॥ ९ ॥

अर्थ—अब जो (मनुष्य) इससे (यह सब कुछ भूमा ही है, इससे) उलटा (दूसरे प्रकारसे) जानते हैं, वे अपनेसे भिन्न राजाओंवाले (दूसरोंके अधीन जीवनवाले) और क्षय (नाश) होनेवाले लोकोंवाले (क्षिप्रविनाशी शरीरोंवाले) होते हैं। उनका सब लोकोंमें इच्छानुसार न विचरना (परतन्त्र जीवन) होता है ॥ ९ ॥

तस्य ह वै एतस्य एवं पश्यतः एवं मन्वानस्य एवं विजानतः आत्मतो विज्ञानम् आत्मतः चित्तम् आत्मतो मनः आत्मतो वाग् आत्मतो नाम आत्मतो मन्त्राः आत्मतः कर्माणि आत्मतः एव इदं सर्वम् इति ॥ १० ॥

अर्थ—उस इस प्रसिद्ध निश्चय ऐसा देखनेवाले, ऐसा समझनेवाले, ऐसा जाननेवालेको आत्मासे ही विज्ञान, आत्मासे ही चित्त, आत्मासे ही मन, आत्मासे ही वाणी, आत्मासे ही नाम, आत्मासे ही मन्त्र, आत्मासे ही कर्म और आत्मासे ही यह सब कुछ है, यह सनत्कुमारने कहा ॥ १० ॥

तद् एष श्लोकः "न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं न उत दुःखताम्। सर्वं ह पश्यः पश्यति, सर्वम् आप्नोति, सर्वशः" इति ॥ ११ ॥

अर्थ—उसमें यह श्लोक है–आत्मदर्शी न मृत्युको देखता है, न रोगको और न दुःखको। निःसन्देह आत्मदर्शी सर्वरूप आत्माको देखता है, वह सर्वरूप (आत्मरूप) हुआ सर्वरूप आत्माको प्राप्त होता है, बस ॥ ११ ॥

स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा सप्तधा नवधा च एव पुनश्च एकादश स्मृतः। शतं च दश च एकश्च, सहस्राणि च विंशतिः ॥ १२ ॥

अर्थ—वह (आत्मा=भूमा ब्रह्म) आरम्भमें एक प्रकारसे (एकरूपसे) होता है, फिर तीन (तेज, जल, अन्न) प्रकारसे होता है, फिर पांच प्रकारसे, सात प्रकारसे फिर निश्चय नौ प्रकारसे और फिर ग्यारह प्रकारसे स्मरणकिया गया (चिरकालसे कहा गया) है। वह सौ और निश्चय दस, वह एक और निश्चय बीस हजार (असंख्य रूप) स्मरणकिया गया है ॥ ११ ॥

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः। तं स्कन्दः इति आचक्षते, तं स्कन्दः इति आचक्षते ॥ १३ ॥

अर्थ—आहारके शुद्ध होनेपर (आहारकी शुद्धिसे) मनकी शुद्धि होती (मन शुद्ध होता) है, मनके शुद्ध होनेपर स्मृति (भूमा ब्रह्मके ज्ञानकी विच्छेदरहित धारा) अटल होती है, अटल स्मृतिका लाभ होनेपर हृदयकी सब गांठों (कामनाओं)का अच्छीतरह खुल जाना (विनाश) होता है। उस नष्ट हुए मलों (रागद्वेष आदि दोषों)वाले नारदको अन्धकार (संसार)का परला किनारा (भूमा ब्रह्म) देखादिया है भगवान् सनत्कुमारने। उस (सनत्कुमार)को लोग इससमय स्कन्द इस नामसे कहते हैं, उसको लोग इस समय स्कन्द इस नामसे कहते हैं ॥ १२ ॥

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च। सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्। माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । माऽहं ब्रह्म निराकुर्य्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणम् अस्तु अनिराकरणं मेऽस्तु । तद् आत्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) अथ यद् इदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरो अस्मिन् अन्तर् आकाशः । तस्मिन् यद् अन्तः, तद् अन्वेष्टव्यं, तद् वाव विजिज्ञासितव्यम् इति ॥ १ ॥

अर्थ—अब जो यह इस ब्रह्मके नगर—शरीरमें छोटासा हृदय—कमलरूपी मन्दिर है, इसमें भीतर छोटा (हृदय कमल बराबर)सा आकाश(ब्रह्म) है। उस (आकाश—ब्रह्म)में भीतर जो कुछ है, वह ढूंढने योग्य है, बस वह निश्चय जानने योग्य है ॥ १ ॥

तं चेद् ब्रूयुः यद् इदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरो अस्मिन् अन्तर् आकाशः, किं तद् अत्र विद्यते, यद् अन्वेष्टव्यं, यद् वाव विजिज्ञासितव्यम् इति ॥ २ ॥

अर्थ—उस(उपदेष्टा)से यदि लोग(अधिकारी पुरुष) यह कहें—जो यह इस ब्रह्मके नगर शरीरमें छोटासा हृदयकमलरूपी मन्दिर है, छोटासा इसमें भीतर आकाश है, क्या वह इसमें(छोटेसे आकाशमें) है, जो ढूंढनेयोग्य है, जो निश्चय जानने योग्य है ॥ २ ॥

स ब्रूयाद् यावान् वै अयम् आकाशः, तावान् एषो अन्तर् हृदये आकाशः । उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तर् एव समाहिते, उभौ अग्निश्च वायुश्च, सूर्य्याचन्द्रमसौ उभौ, विद्युत्नक्षत्राणि, यत् च अस्य इह अस्ति, यत् च नास्ति, सर्वं तद् अस्मिन् समाहितम् इति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह (उपदेष्टा) यह कहे (उत्तर दे) निःसन्देह जितना यह आकाश (लोकसिद्ध आकाश) है, उतना यह भीतर हृदयमें(हृदयके अन्दर) आकाश (ब्रह्म) है।

द्यौ और पृथिवी दोनों इसमें भीतर (इसके अन्दर) निश्चय अच्छीतरह स्थित हैं, अग्नि(तेज) और वायु निश्चय दोनों, सूर्य्य और चन्द्रमा दोनों, बिजलियां और सब ही नक्षत्र(तारागण) इसमें भीतर अच्छीतरह स्थित हैं, और जो इस (आत्मा)का यहां (इस लोकमें) है (विद्यमान है) और जो नही है (होचुका अथवा होनेवाला है), वह सब इसमें(हृदयाकाश ब्रह्ममें) अच्छीतरह स्थित है ॥ ३ ॥

तं चेद् ब्रूयुः अस्मिन् चेद् इदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं, सर्वाणि च भूतानि, सर्वे च कामाः, यद् एतद् जरा वा आप्नोति, प्रध्वंसते वा, किं ततो अतिशिष्यते इति ॥ ४ ॥

अर्थ—उस(उपदेष्टा)से यदि लोग(अधिकारी पुरुष) यह कहें–इस ब्रह्मपुर (शरीर)में यदि यह सब कुछ अच्छीतरह स्थित है, और सब भूत(स्थावर जंगम= चराचर प्राणी) और उनके सब वाञ्छित पदार्थ, अच्छीतरह स्थित हैं, तो जब इस (ब्रह्मपुर शरीर)को निश्चय बुढापा प्राप्त होता है, अथवा यह शस्त्रआदिसे काटाहुआ नष्ट होजाता है, तब क्या उससे शेष रह जाता (बाकी बच जाता) है ॥ ४ ॥

स ब्रूयात् न अस्य जरया एतद् जीर्य्यति, न वधेन अस्य हन्यते। एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्। अस्मिन् कामाः समाहिताः। एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको विजिघत्सो अपिपासः, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः ॥५॥

अर्थ—वह(उपदेष्टा) कहे(उत्तर दे) इस(ब्रह्मके पुर–शरीर)के बुढापेसे यह (हृदयाकाश ब्रह्म) नही बूढा होता है, न इस(शरीर)के मारनेसे मारा जाता है । यह(हृदयाकाश ब्रह्म) सच्चा(अविनाशी) ब्रह्मपुर(ब्रह्मरूपी पुर) है। इस(सच्चे ब्रह्मपुर)में ही सब प्राणी और उनके वाञ्छित पदार्थ अच्छीतरह स्थित हैं । यह(हृदयाकाश ब्रह्म) आत्मा है, सब पापोंसे रहित, बुढापेसे रहित, मरनेसे रहित, शोकसे रहित, भूखसे रहित, और प्याससे रहित है, सच्ची कामनावाला और सच्चे सङ्कल्प (इरादे)वाला है॥५॥

यथा हि एव इह प्रजाः अन्वाविशन्ति यथानुशासनं, यं यम् अन्तम् अभिकामाः भवन्ति, यं जनपदं यं क्षेत्रभागं, तं तम् एव उपजीवन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे ही निश्चय यहां (इस लोकमें) प्रजायें अपने राजाकी आज्ञाके अनुसार चलती हैं, और जिस जिस उपभोग्यपदार्थकी कामनावाली (राजासे चाहनेवाली) होती हैं, जिस देशकी अथवा जिस भूमीके टुकडेकी, उस उस को ही राजासे प्राप्त करके भोगती हैं ॥ ६ ॥

तद् यथा इह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवम् एव अमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते । तद् ये इह आत्मानम् अननुविद्य व्रजन्ति, तेषां

सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति । अथ ये इह आत्मानम् अनुविद्य व्रजन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—वह जैसे इस लोकमें(यहां) कर्मसे जीताहुआ (राजाज्ञानुसार चलनेरूपी सेवाकर्मसे प्राप्त किया हुआ) लोक (उपभोग्यपदार्थ, देश अथवा भूमिका कोई भाग) क्षीण(नष्ट) होजाता है, ऐसे ही उसलोक(परलोक)में पुण्यकर्मोंसे जीता हुआ(प्राप्त किया हुआ) लोक(प्रत्येक उपभोग्य पदार्थ) क्षीण हो जाता है । इसलिये जो यहां आत्मा(हृदयाकाश ब्रह्म)को न जानकर(न प्राप्त कर) चलदेते (मर जाते) हैं, उनका सब लोकोंमें (भावी शरीरोंमें) अपनी इच्छानुसार न विचरना (परतन्त्र जीवन) होता है । और जो यहां आत्माको जानकर(पा कर) चलते(मरते) हैं, उनका सब लोकोंमें अपनी इच्छानुसार विचरना(स्वतन्त्र जीवन) होता है ॥ ७ ॥

तद् यथा अपि हिरण्यनिधिं निहितम् अक्षेत्रज्ञाः उपरि उपरि संचरन्तो न विन्देयुः, एवम् एव इमाः सर्वाः प्रजाः अहर् अहर् गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति, अनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥ ८ ॥

अर्थ—और वह जैसे भूमिमें दबे हुए सोनेके खजानेको भूमिविद्याके न जाननेवाले (भूगर्भविद्यासे अनभिज्ञ) प्रतिदिन उसके ऊपर ऊपर चलतेहुए(घूमतेहुए) भी नहीं पाते (लभते) हैं, ऐसे ही ये सब प्रजायें दिन दिन(हरएकदिन सुषुप्तिमें) इस ब्रह्मलोक(ब्रह्मरूपी लोक)को प्राप्त होती हुई भी नहीं पाती(लभती) हैं, क्योंकि वे अज्ञानसे दूर लेजाई गई(ढांपदी गई) हैं ॥ ८ ॥

अथ यः एष सम्प्रसादः अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिः उपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते, एष आत्मा इति ह उवाच । एतद् अमृतम् अभयम् एतद् ब्रह्म । तस्य ह वै एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यम् इति ॥ ९ ॥

अर्थ—अब जो यह सुषुप्ति अवस्थावाला पुरुष इस शरीरसे उठकर(अहं—मम—सम्बन्धको छोडकर) सबसे परले ज्योति(ब्रह्म)को प्राप्त होकर(साक्षात् कर) अपने रूपसे(पर ज्योति ब्रह्म रूपसे) प्रकट होता (स्थित होता) है, यह आत्मा है, यह निश्चय आचार्य्यने कहा है । यह अमृत(न मरनेवाला) है, अभय (भयसेरहित) है, यह ब्रह्म है । बस उस इस प्रसिद्ध(लोकशास्त्रप्रसिद्ध) ब्रह्मका नाम निश्चय सत्य है ॥ ९ ॥

(२) अथ यः आत्मा स सेतुः विधृतिः, एषां लोकानाम् असम्भेदाय । न एतं सेतुम् अहोरात्रे तरतः, न जरा न मृत्युः न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्, सर्वे पाप्मानो अतो निवर्तन्ते । अपहतपाप्मा हि एष ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

अर्थ—अब जो यह आत्मा है, वह सेतु(बंधा) है अपनी अपनी मर्यादामें रखनेवाला, इन सबलोकों(सूर्य्य, चन्द्रमा आदि समस्त ग्रह उपग्रहों)को न मिलने देनेकेलिये

(आपसमें न टकराजानेकेलिये) । इस (आत्मारूपी) सेतु (बंधे)को दिनरात नहीं उलांघते (नहीं प्राप्त होते), न बुढापा, न मृत्यु, न शोक, न पुण्य और न पाप उलांघता (प्राप्त होता) है, सब पाप (दिनरात, ज़रा, मृत्यु, शोक, पुण्य और पाप) इससे निवृत्त होजाते (इसको न पहुंचकर लौट आते) हैं । क्योंकि नष्ट हुए सब पापोंवाला (सब पापोंसे रहित) यह ब्रह्मरूपी लोक है ॥ १ ॥

तस्माद् वै एतं सेतुं तीर्त्वा अन्धः सन् अनन्धो भवति, विद्धः सन् अविद्धो भवति, उपतापी सन् अनुपतापी भवति । तस्माद् वै एतं सेतुं तीर्त्वा अपि नक्तम् अहर् एव अभिनिष्पद्यते । सकृद् विभातो हि एव एष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

अर्थ—इसलिये ही इस (आत्मा रूपी) सेतुको प्राप्तकर मनुष्य अन्धा हुआ अनन्धा (न अन्धा=सब कुछ देखनेवाला) होता है, वीन्धा (जख्मी) हुआ न वीन्धा (अजख्मी) होता है; ज्वरसे अत्यन्त पीडित हुआ न ज्वरसे अत्यन्त पीडित होता है । इसलिये ही इस सेतुको प्राप्तकर रात भी निश्चय दिन हुई प्रकटहोती (स्थित होती) अर्थात् दिन बन जाती है । एकबार ही (जबसे है, तबसे ही) खूब चमकाहुआ (प्रकाशित हुआ हुआ) निश्चय यह ब्रह्मरूपी लोक है ॥ २ ॥

(३) अथ याः एताः हृदयस्य नाड्यः, ताः पिङ्गलस्य अणिम्नः तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य इति । असौ वै आदित्यः पिङ्गलः, एष शुक्लः, एष नीलः, एष पीतः, एष लोहितः ॥ १ ॥

अर्थ—अब जो ये हृदयकी (हृदयके साथ सम्बन्धवाली) नाडियां हैं, वे अतिसूक्ष्म (बहुत पतले) भूरे रसकी, श्वेत, नीले, पीले और लाल रसकी भरी हुई हैं । वह यह सूर्य्य मण्डल भी निश्चय भूरा है, श्वेत है, यही नीला, यही पीला और यही लाल है ॥ २ ॥

तद् यथा महापथः आततः उभौ ग्रामौ गच्छति इमं च अमुं च, एवम् एव एताः आदित्यस्य रश्मयः उभौ लोकौ गच्छन्ति इमं च अमुं च । अमुष्माद् आदित्यात् प्रतायन्ते, ताः आसु नाडीषु सृप्ताः, आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते, ते अमुष्मिन् आदित्ये सृप्ताः ॥ ३ ॥

अर्थ—वह जैसे लम्बा चौडा बडा रस्ता (रोड) दो गाओंको जाता है, इस गाओंको और निश्चय उस गाओंको, ऐसे ही ये सूर्य्य मण्डलकी किरणां दोनों लोकोंको जाती हैं इस लोक (शरीर)को और निश्चय उस लोक (सूर्य्य मण्डल)को । वे उस सूर्य्य मण्डलसे निकलती (चलती) हैं और इन नाडियोंमें गई हुई (प्रवेश पाये हुई) होती हैं, वे इन नाडियोंसे निकलती (चलती) हैं और उस सूर्य्य मण्डलमें गई हुई (प्रवेश पाये हुई) होती हैं ॥ ३ ॥

तद् यत्र एतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति । तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति । तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—वह यह जिसकालमें सोया हुआ बाह्य विषयोंके ग्रहणसे निवृत्त हुआ बडी प्रसन्नताकी अवस्था (सुषुप्ति)को प्राप्त हुआ स्वप्नको नही देखता है, उस कालमें इन नाडियोंमें गया हुआ (इन नाडियोंमें से होकर हृदयाकाश ब्रह्ममें लीन हुआ) होता है । उसको कोई भी पाप नही छूता है । क्योंकि उस समय वह तेजोमय परज्योति ब्रह्मसे एकमेक हुआ (पर ज्योति ब्रह्मको प्राप्त हुआ) होता है ॥ ४ ॥

अथ यत्र एतद् अबलिमानं नीतो भवति, तम् अभितः आसीना आहुः-जानासि मां, जानासि माम् इति । स यावद् अस्मात् शरीराद् अनुत्क्रान्तो भवति तावद् जानाति ॥ ५ ॥

अर्थ—अब यह जिसकालमें अत्यन्तनिर्बलताको प्राप्त हुआ(मरनेके निकट पहुंचा हुआ) होता है, तब उसको चारों ओरसे घेर बैठेहुए लोग यह कहते हैं 'मुझे जानता (पहचानता) है, मुझे जानता है । जबतक वह इस शरीरसे न निकला हुआ होता है, तबतक जानता है ॥ ५ ॥

अथ यत्र एतद् अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति, अथ एतैः एव रश्मिभिः ऊर्ध्वम् आक्रमते । सः ओम् इति वा ह उद् वा मीयते । स यावत्, क्षिप्येत् मनः, तावद् आदित्यं गच्छति । एतद् वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं, निरोधो अविदुषाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अब जब यह इस शरीरसे निकलता है, तब इन ही सूर्य्यकी किरणोंसे ऊपरको(कर्मफल भोगनेकेलिये नीचे ऊपरके लोकोंको) जाता है । वह "ओ३म्" इस अक्षरसे ब्रह्मकी उपासनाकरनेवाला, अथवा इस अक्षरके विना ही ब्रह्मका उपासक निःसन्देह ऊपर को जाता है । वह(ओम् अक्षरसे ब्रह्मकी उपासनाकरनेवाला अथवा विना ओम् अक्षरके ब्रह्मका उपासक) जितने कालमें मन बाह्य विषयोंमें फैंका जाये, उतनेकालमें सूर्य्यमें पहुंच जाता है । यह(सूर्य्यमण्डल) ही निश्चय ब्रह्मलोकका द्वार(दरवाजा) है । विद्वानों (उपासकों)को उससे जाना होता है, अविद्वानों(कर्मियों) को उससे जानेकी रोक(बंदश) है ॥ ६ ॥

तद् एष श्लोकः "शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः, तासां मूर्द्धानम् अभिनिःसृता एका । तया ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वम् एति, विष्वङ् अन्याः उत्क्रमणे भवन्ति" इति ॥ ७ ॥

अर्थ—उसमें यह श्लोक है-एकसौ और एक निश्चय हृदयकी(हृदयके साथ सम्बन्धवाली) नाडियां हैं, उनमेंसे एक सिरकी ओर निकली हुई(गई हुई) है । इस

(एक नाडी)से ऊपरको आता हुआ अमृतत्व(ब्रह्मलोक)को प्राप्त होता है, दूसरी नाडियां शरीरसे निकलनेमें नानागतिवाली(भिन्न भिन्न गतिकी देनेवाली) हैं, बस ॥ ७ ॥

(४) यः आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको विजिघत्सो अपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, सो अन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः। स सर्वान् च लोकान् आप्नोति सर्वान् च कामान्, यः तम् आत्मानम् अनुविद्य विजानाति, इति ह प्रजापतिः उवाच ॥ १ ॥

अर्थ—जो आत्मा पापसे रहित, जरा(बुढापे)से रहित, मृत्युसे रहित, शोकसे रहित, भूखसे रहित, प्याससे रहित, सत्यकाम(सच्ची कामनावाला) और सत्यसङ्कल्प (सच्चे सङ्कल्प=इरादेवाला) है, वह ढूंढने योग्य है, वह जिज्ञासा करने योग्य है। वह सब लोकोंको और सब ही वाञ्छित पदार्थोंको प्राप्त होता है, जो उस आत्माको ढूंढकर जानता(जान लेता) है, यह प्रसिद्ध प्रजापतिने कहा ॥ १ ॥

तद् ह उभये देवासुराः अनुबुबुधिरे। ते ह ऊचुः हन्त तम् आत्मानम् अन्विच्छामः, यम् आत्मानम् अन्विष्य सर्वान् च लोकान् आप्नोति, सर्वान् च कामान् इति। इन्द्रो ह एव देवानाम् अभिप्रवव्राज, विरोचनो असुराणाम्। तौ ह असंविदानौ एव समित्पाणी प्रजापतिसकाशम् आजग्मतुः ॥ २ ॥

अर्थ—वह(प्रजापतिका वचन) प्रसिद्ध देवों(देवार्य्यों) और असुरों (असुरार्य्यों), दोनोंने जाना(कानोंसे सुना)। वे प्रसिद्ध आपसमें यह कहने लगे—अहो हम उस आत्माको ढूंढें, जिस आत्माको ढूंढकर जानलेनेसे मनुष्य सब लोकोंको और सब ही वाञ्छित पदार्थोंको प्राप्त होता है। देवताओंमें प्रसिद्ध इन्द्र ही प्रजापतिकी ओर चला और असुरोंमेंसे विरोचन। वे प्रसिद्ध दोनों आपसमें न विचार(सलाह) करते हुए ही हाथमें समिधा लियेहुए प्रजापतिके पास आये ॥ २ ॥

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यम् ऊषतुः। तौ ह प्रजापतिः उवाच किम् इच्छन्तौ अवास्तम् इति। तौ ह ऊचतुः यः आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको विजिघत्सो अपिपासः, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। स सर्वान् च लोकान् आप्नोति सर्वान् च कामान्, यः तम् आत्मानम् अनुविद्य विजानाति' इति भगवतो वचो वेदयन्ते। तम् इच्छन्तौ अवास्तम् इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उन प्रसिद्ध दोनोंने वहां बत्तीस बरस ब्रह्मचर्य्यसे वास किया। उनसे निश्चय प्रजापतिने यह कहा-किस वस्तुकी इच्छा करते हुए तुम दोनोंने वास किया है। उन प्रसिद्ध दोनोंने यह कहा-जो आत्मा पापसे रहित, जरासे रहित, मृत्युसे

रहित, शोकसे रहित, भूखसे रहित, प्याससे रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, वह ढूंढने योग्य है, वह जिज्ञासा करने योग्य है। वह सब लोकोंको और सब ही वाञ्छित पदार्थोंको प्राप्त होता है, जो उस आत्माको ढूंढकर जानता(जानलेता) है, यह भगवान्(आप पूज्य)का वचन सबलोग एक दूसरेको जनाते(कहते) हैं। उस(आत्मा)की इच्छा(जाननेकी इच्छा) करते हुए हम दोनोंने वास किया है ॥ ३ ॥

तौ ह प्रजापतिः उवाच-यः एषो अक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा, एतद् अमृतम् अभयम् एतद् ब्रह्म इति। तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ४

अर्थ—उन प्रसिद्ध दोनोंसे प्रजापतिने यह कहा-जो यह आंखमें पुरुष दीखता है, यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, यह ब्रह्म है। वे प्रसिद्ध दोनों इच्छारहित मनवाले हुए चले गये ॥ ४ ॥

अथ ह इन्द्रो अप्राप्य एव देवान् समित्पाणिः पुनर् एयाय [पुरुषम् एतं छायापुरुषं मन्वानः]। तं ह प्रजापतिः उवाच मघवन्! यत् शान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन, किम् इच्छन् पुनर् आगमः इति॥५॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध इन्द्र देवताओंको न प्राप्त होकर(अपने घर न पहुंचकर) ही हाथमें समिधा लिये हुआ फिर आया(वापस प्रजापतिके पास आया) इस अक्षिपुरुषको छायापुरुष समझता हुआ। उस (इन्द्र)से निश्चय प्रजापतिने यह कहा हे मघवन्! (धनवान्!) जो तू इच्छारहित मनवाला हुआ विरोचनके साथ चला गया था, अब क्या चाहता हुआ फिर आया है ॥ ५ ॥

स ह उवाच-यथा एव खलु अयं भगवो! अस्मिन् शरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति, सुवसने सुवसनः, परिष्कृते परिष्कृतः, एवम् एव अयम् अस्मिन् अन्धे अन्धो भवति, स्रामे स्रामः, परिवृक्णे परिवृक्णः, अस्य एव शरीरस्य नाशम् अनु एष नश्यति, न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि इति ॥ ६ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध इन्द्रने यह कहा-हे भगवन्! जैसे ही निश्चय यह (आंखमें दीखनेवाला पुरुष) इस शरीरके अच्छे भूषणोंवाला होनेपर अच्छे भूषणोंवाला होता है, अच्छेवस्त्रोंवाला होनेपर अच्छेवस्त्रोंवाला और साफ सुथरा होनेपर साफ सुथरा, ऐसे ही यह इस(शरीर)के अन्धा होनेपर अन्धा होता है, कौना होनेपर कौना और लूला लंगडा(टूटे हुए हाथ पाओंवाला) होनेपर लूला लंगडा होता है, और इस शरीरके नाशके पीछे ही(नष्ट होजानेपर ही) यह नष्ट होजाता है, मैं इसमें (इस आत्माके जाननेमें) कोई फल नहीं देखता ॥ ६ ॥

एवम् एव एष मघवन्! इति ह उवाच। एतं तु एव ते भूयो अनुव्याख्यास्यामि, वस अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि इति ॥ ७ ॥

अर्थ—ऐसे ही है यह हे मघवन्! यह प्रसिद्ध प्रजापतिने कहा। परन्तु इस (आत्मा)को मैं तुझे निःसंन्देह फिर खोलकर कहूंगा, और बत्तीस बरस यहां बसकर (रहो), यह कहा ॥ ७ ॥

स ह अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि उवास। तस्मै ह उवाच-यः एव स्वप्ने महीयमानः चरति एष आत्मा, एतद् अमृतम् अभयम्, एतद् ब्रह्म इति ॥ ८ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध इन्द्रने और बत्तीस बरस ब्रह्मचर्य्यसे वास किया। उससे प्रसिद्ध प्रजापतिने यह कहा-जो यह स्वप्नावस्थामें महिमा (स्त्री, पुत्र, दास, गृह, क्षेत्र आदिसे महत्त्व)को प्राप्त हुआ विचरता (फिरता) है, यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, यह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स ह अप्राप्य एव देवान् एतद् भयं ददर्श। तद् यद्यपि इदं शरीरम् अन्धं भवति अनन्धः स भवति, यदि स्त्रामम् अस्त्रामः, न एव एषो अस्य दोषेण दुष्यति, न वधेन अस्य हन्यते। घ्नन्ति इव तु एव एनं, विच्छादयन्ति इव। अप्रियवेत्ता इव भवति, अपि रोदिति इव। न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि इति ॥९॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध इन्द्र शान्त हृदय (इच्छारहित मनवाला) हुआ चला गया। उस (इन्द्र)ने निःसन्देह देवताओंको न प्राप्त होकर (अपने घर न पहुंचकर) ही यह भय (स्वप्नपुरुषके आत्मा होनेमे यह दोष) देखा। यद्यपि वह यह शरीर अन्धा होता है, तो वह (स्वप्नपुरुष) अन्धा नही होता, यदि यह काना होता है, तो वह काना नहीं होता, निश्चय यह इस शरीरके दोषसे नहीं दूषित (दोषवाला) होता है, न इस (शरीर)के मारे जाने (मरने)से मारा जाता (मरता) है। परन्तु इसको निःसंन्देह कोई मारते (डराते) हैं मानों, कोई भगाते (इसका पीछा करते) हैं मानों। दुःखका जाननेवाला (अनुभव करनेवाला) मानों होता है, और रोता है मानों। इसलिये मैं इसमें (इस स्वप्नपुरुषके जाननेमें) कोई फल नहीं देखता ॥ ९ ॥

स समित्पाणिः पुनर् एयाय। तं ह प्रजापतिः उवाच-मघवन्! यत् शान्तहृदयः प्राव्राजीः, किम् इच्छन् पुनर् आगमः इति ॥ १० ॥

अर्थ—वह (इन्द्र) हाथमें समिधा लिये हुआ फिर आया। उस प्रसिद्ध इन्द्रसे प्रजापतिने यह कहा-हे मघवन्! जो तू शान्त हृदय हुआ चला गया था, अब क्या चाहता हुआ फिर आया है? ॥ १० ॥

स ह उवाच-तद् यद्यपि इदं भगवः! शरीरम् अन्धं भवति अनन्धः स भवति, यदि स्त्रामम् अस्त्रामः, न एव एषो अस्य दोषेण दुष्यति, न

वधेन अस्य हन्यते । घ्नन्ति इव तु एव एनं, विच्छादयन्ति इव । अप्रियवेत्ता इव भवति, अपि रोदिति इव । न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि इति ॥ ११ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध इन्द्रने यह कहा-हे भगवन् ! यद्यपि वह यह शरीर अन्धा होता है, तो वह (स्वप्नपुरुष) अन्धा नही होता, यदि काना होता है, तो काना नही होता, यह(स्वप्नपुरुष) निश्चय इस(शरीर)के दोषसे नही दूषित होता है और न इसके मारे जाने(मरने)से मारा जाता(मरता) है । परन्तु इसको निःसन्देह कोई मारते हैं मानों, कोई भगाते(इसका पीछा करते) हैं मानों । दुःखका जाननेवाला (अनुभवकरनेवाला) मानों होता है और रोता है मानों । इसलिये मैं इसमें (इस स्वप्न आत्माके जाननेमें) कोई फल नही देखता ॥ ११ ॥

एवम् एव एष मघवन् ! इति ह उवाच । एतं तु एव ते भूयो अनुव्याख्यास्यामि, वस अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि इति ॥ १२ ॥

अर्थ—ऐसा ही है यह हे मघवन् ! यह प्रसिद्ध प्रजापतिने कहा । परन्तु इस(आत्मा)को मैं तुझे निःसन्देह फिर खोलकर कहूंगा, और बत्तीस बरस यहां वासकर(रहो) यह कहा ॥ १२ ॥

स ह अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि उवास । तस्मै ह उवाच-तद् यत्र एतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, एष आत्मा, एतद् अमृतम् अभयम्, एतद् ब्रह्म इति ॥ १३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध इन्द्रने और बत्तीस बरस ब्रह्मचर्य्यसे वास किया । उससे प्रसिद्ध प्रजापतिने यह कहा—वह यह(पुरुष) जिसकालमें सोया हुआ बाह्यविषयोंके ग्रहणसे निवृत्त हुआ, बडी प्रसन्नताकी अवस्था(सुषुप्ति)को प्राप्त हुआ, स्वप्नको नही जानता(देखता) है, यह (स्वप्न न देखनेवाला) आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, यह ब्रह्म है ॥ १३ ॥

स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज । स ह अप्राप्य एव देवान् एतद् भयं ददर्श-न अह खलु अयम् एवं सम्प्रति आत्मानं जानाति 'अयम् अहम् अस्मि' इति, नो एव इमानि भूतानि । विनाशम् एव अपीतो भवति । न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि इति ॥ १४ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध इन्द्र शान्तहृदय हुआ चलागया, उसने निःसन्देह देवताओंको न प्राप्त होकर(अपने घर न पहुंचकर) ही यह भय(सुषुप्त पुरुषके आत्मा होनेमें यह दोष) देखा—निःसन्देह यह अब(सुषुप्तिमें) जाग्रत्स्वप्नकी नाई 'यह मैं हूं' इसप्रकार अपने आपको निश्चय नही जानता है और नही निश्चय इन स्थावर जंगम प्राणियोंको जानता है । मानों विनाशको प्राप्त हुआ होता है । इसलिये मैं इसमें (सुषुप्त पुरुषको आत्मा जाननेमें) कोई फल नही देखता ॥ १४ ॥

स समित्पाणिः पुनर् एयाय । तं ह प्रजापतिः उवाच–मघवन्! यत् शान्तहृदयः प्राव्राजीः किम् इच्छन् पुनर् आगमः इति ॥ १५ ॥

अर्थ—वह (इन्द्र) हाथमें समिधा लिये हुआ फिर आया। उससे प्रसिद्ध प्रजापतिने यह कहा–हे मघवन्! जो तू शान्तहृदय हुआ चला गया था, अब क्या चाहताहुआ फिर आया है ॥ १५ ॥

स ह उवाच–न अह खलु अयं भगवः! एवं सम्प्रति आत्मानं जानाति 'अयम् अहम् अस्मि' इति, नो एव इमानि भूतानि। विनाशम् एव अपीतो भवति। न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि इति ॥ १६ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध इन्द्रने यह कहा–हे भगवन्! निःसन्देह यह (सुषुप्त पुरुष) अब जाग्रत स्वप्नकी नाईं 'यह मैं हूं, इसप्रकार अपने आपको निश्चय नहीं जानता है, और नहीं निश्चय इन स्थावर जंगम प्राणियोंको जानता है। मानों विनाशको प्राप्त हुआ होता है। इसलिये मैं इसके जाननेमें कोई फल नहीं देखता ॥ १६ ॥

एवम् एव एष मघवन्! इति ह उवाच। एतं तु एव ते भूयो अनुव्याख्यास्यामि, नो एव अन्यत्र एतस्मात्। वस अपराणि पञ्च वर्षाणि इति ॥ १७ ॥

अर्थ—ऐसा ही है यह हे मघवन्! यह प्रसिद्ध प्रजापतिने कहा। परन्तु इसको मैं निश्चय तुझे फिर खोलकर कहूंगा, नहीं निश्चय इससे भिन्न दूसरा कोई आत्मा। और पांच बरस यहां वासकर (रहो), यह कहा ॥ १७ ॥

स ह अपराणि पञ्च वर्षाणि उवास। तस्मै ह उवाच–मघवन्! मर्त्यं वै इदं शरीरम्, आत्तं मृत्युना, तद् अस्य अमृतस्य अशरीरस्य आत्मनो अधिष्ठानम्। आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्। न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः अपहतिः अस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १८ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध इन्द्र और पांच बरस वहां रहा। उससे प्रसिद्ध प्रजापतिने कहा–हे मघवन्! निःसन्देह यह शरीर मरनेवाला है, मृत्युसे पकडा हुआ है, वह इस नमरनेवाले शरीररहित आत्माका वासस्थान (रहनेकी जगह) है। शरीरके साथ अहं मम सम्बन्धवाला आत्मा निःसन्देह सुखदुःखसे पकडा हुआ है। निश्चय शरीरके साथ अहं मम सम्बन्धवाले हुए आत्माको सुखदुःखकी निवृत्ति नहीं होती है। शरीरके साथ अहं मम सम्बन्धसे रहित हुए आत्माको ही सुखदुःख नहीं छूते हैं ॥ १८ ॥

[अथ यः] एष सम्प्रसादः अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिः उपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः। स तत्र

पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिः वा यानैः वा, ज्ञातिभिः वा, न उपजनं स्मरन् इदं शरीरम् । स यथा प्रयोग्यः आचरणे युक्तः, एवम् एव अयम् अस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः ॥ १९ ॥

अर्थ—अब जो यह सुषुप्ति अवस्थावाला (पुरुष) इस शरीरसे उठकर (अहं—मम—सम्बन्धको छोडकर) सबसे परले ज्योति (ब्रह्म)को प्राप्त होकर (साक्षात् कर) अपने रूपसे प्रकट होता (परज्योति ब्रह्मरूपसे स्थित होता) है, वह सबसे ऊंचा पुरुष (जीवन्मुक्त) है। वह (जीवन्मुक्त) उस कालमें (जीवन्मुक्तिकालमें) विचरता (स्वतन्त्र हुआ सब व्यवहार करता) है हंसता हुआ, खेलता हुआ और आनन्द भोगता हुआ कदाचित् स्त्रियोंके साथ, कदाचित् यानों (लैंडो, मोटर आदि)के साथ, कदाचित् ज्ञाति-भाईओंके साथ, मनुष्यरूपसे आत्माके जन्मस्थान इस शरीरको न चिन्तन करता (अहं—मम—बुद्धि न रखता) हुआ। वह जैसे रथमें जुडा हुआ घोडा होता है, ऐसे ही इस शरीरमें यह प्राणोंका प्राण आत्मा प्रारब्धकर्मकी समाप्ति तक जुडा हुआ है ॥ १९ ॥

अथ यत्र एतद् आकाशम् अनुविषण्णं चक्षुः, स चाक्षुषः पुरुषः, दर्शनाय चक्षुः । अथ यो वेद इदं जिघ्राणि इति, स आत्मा, गन्धाय घ्राणम् । अथ यो वेद इदम् अभिव्याहराणि इति, स आत्मा, अभिव्याहाराय वाग् । अथ यो वेद इदं शृण्वानि इति, स आत्मा, श्रवणाय श्रोत्रम् । अथ यो वेद इदं मन्वानि इति, स आत्मा, मनो अस्य दैवं चक्षुः । स वै एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसा एतान् कामान् पश्यन् रमते २०

अर्थ—अब जहां (शरीरके जिस देशमें) यह आकाश (आंखके छेद)में नेत्र जुडा हुआ है, वहां वह नेत्रसे देखनेवाला पुरुष है, नेत्र देखनेकेलिये (बाह्यपदार्थोंके देखनेका साधन) है। अब जो यह जानता है इसको मैं सूंघूं, वह आत्मा है, नाक गन्ध सूंघनेकेलिये है। अब जो यह जानता है इसको मैं बोलूं, वह आत्मा है, वाणी (वाग् इन्द्रिय) बोलनेकेलिये है। अब जो यह जानता है इसको मैं सुनूं, वह आत्मा है, कान सुननेकेलिये है। अब जो यह जानता है इसको मैं समझूं, वह आत्मा है, समझनेकेलिये (समझनेका साधन) इसका मन दिव्य (अद्भुत शक्तिवाला) नेत्र है। वह यह (आत्मा) निःसन्देह इस दिव्य नेत्र मनसे इन पदार्थोंको देखता हुआ (ठीक ठीक समझता हुआ) खुशीके खेल खेलता (आनन्द भोगता) है ॥ २० ॥

तं वै एतं देवाः आत्मानम् उपासते । तस्मात् तेषां सर्वे च लोकाः आत्ताः, सर्वे च कामाः । स सर्वान् च लोकान् आप्नोति सर्वान् च कामान्, यः तम् आत्मानम् अनुविद्य विजानाति इति ह प्रजापतिः उवाच, प्रजापतिः उवाच ॥ २१ ॥

अर्थ—उस इस आत्माकी निश्चय विद्वान् उपासना करते हैं। इसलिये उनके सब ही लोक और सब ही पदार्थ पकडे हुए(अधीन) होते हैं। वह सब ही लोकों और सब ही निश्चय पदार्थोंको प्राप्त होता है, जो उस आत्माको ढूंढकर जानता है, यह प्रसिद्ध प्रजापतिने कहा, प्रजापतिने कहा ॥ २१ ॥

(९) श्यामात् शबलं प्रपद्ये, शबलात् श्यामं प्रपद्ये। अश्वः इव रोमाणि विधूय पापं, चन्द्रः इव राहोः मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरम् अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकम् अभिसम्भवामि इति, अभिसम्भवामि इति ॥१॥

अर्थ—मैं कभी कृष्णकर्मके फल दुःखसे शुक्लकृष्ण(पुण्यपाप मिश्रित) कर्मके फल सुखदुःखको प्राप्त हुआ, कभी शुक्लकृष्ण-मिश्रित कर्मके फल सुखदुःखसे कृष्णकर्मके फल दुःखको प्राप्त हुआ। अब बस रोमोंको घोडेकी नाईं पाप(पुण्यपाप)को झाडकर, राहु (अन्धकार)के मुखसे चन्द्रमाकी नाईं अज्ञानसे छूटकर, शरीरको परे फेंककर (शरीरमें अहं–मम–बुद्धिका परित्यागकर) कृतकृत्य हुआ नित्य ब्रह्मलोक(ब्रह्मरूपी लोक)को प्राप्त होता हूं, बस बस प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोः निर्वहिता। ते यद् अन्तरा, तद् ब्रह्म, तद् अमृतं, स आत्मा। प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये। यशो अहं भवानि ब्राह्मणानां, यशो राज्ञां, यशो विशाम्। यशो अहम् अनुप्रापत्सि, स ह अहं यशसां यशः। श्येतम् अदत्कम् अदत्कं, श्येतं लिन्दु मा अभिगां, लिन्दु मा अभिगाम् ॥ २ ॥

अर्थ—आकाश(ब्रह्म) निश्चय प्रसिद्ध नाम और रूप(आकार)का अर्थात् नाम-रूपात्मक समस्त जगत्का बनानेवाला है। वे दोनों(नाम और रूप) जिसके भीतर (अंदर) हैं, वह सबसे बडा है, वह अमृत है, वह आत्मा है। हे ब्रह्मन्! (परमात्मा!) मैं तुझ प्रजापतिकी सभा(विद्वत्सभा)को प्राप्त होवूं(आत्मवेत्ताओंकी सभाका सभ्य बनूं), तुझ प्रजापतिके घर(शुद्ध मन)को प्राप्त होवूं। मैं ब्राह्मणोंमे यशस्वी होवूं, मैं क्षत्रियोंमें यशस्वी और वैश्योंमें यशस्वी होवूं। मैं यशको प्राप्त होना चाहता हूं, वह मैं निश्चय तुझ यशस्वियोंके यशस्वीको प्राप्त होना चाहता हूं। अब मैं इस लाल (पकेहुए बेरकी नाईं लाल) दान्तरहित खाजानेवालीको, मैं इस लाल पिच्छल (लेसली–स्त्रीयोनि)को न प्राप्त होवूं, मैं इस पिच्छल (लेसली)को न प्राप्त होवूं ॥२॥

तद् ह एतद् ब्रह्मा प्रजापतये उवाच, प्रजापतिः मनवे, मनुः प्रजाभ्यः। आचार्यकुलाद् वेदम् अधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेण, अभिसमावृत्य कुटुम्बे, शुचौ देशे स्वाध्यायम् अधीयानो, धार्मिकान् विदधद्, आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य, अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः, स खलु एवं वर्तयन् यावदायुषं, ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते। न च पुनर् आवर्तते, न च पुनर् आवर्तते ॥ ३ ॥

अर्थ—वह यह (आत्मज्ञान) निश्चय ब्रह्मा (सृष्टिशक्ति परमात्मा)ने प्रजापति (विवस्वान्)को कहा, प्रजापतिने अपने पुत्र मनुको और मनुने सब प्रजाको कहा। गुरुकुलसे गुरुके सेवा शुश्रूषा आदि कर्मोंसे बचेहुए कालमें यथाविधि वेद (वेद आदि समस्तविद्याओं)को पढकर(पूर्ण विद्वान् होकर) कुटुम्बमें वापस आकर (गृहमेधी बनकर) पवित्र देशमें (साफ सुथरे स्थानमें) स्वाध्याय करता हुआ (वेद आदि समस्तविद्याओंको पढता पढाता हुआ) और पुत्र शिष्य आदि सब प्रजाओंको धार्मिक बनाता हुआ (धर्मपर आरूढ करता हुआ), सब इन्द्रियोंको मनमें अच्छीतरह ठहराकर (प्रत्याहारसे पूरा पूरा वशमेंकर) शास्त्रोंके सिवा (शास्त्रोक्त कर्मोंके विना) सब भूतोंकी(स्थावर, जंगम, सब प्राणियोंकी) हिंसा न करता हुआ (निष्प्रयोजन बेसमझी मात्रसे किसी प्राणीको न मारता हुआ) आत्मज्ञानसे वर्तमान होता है, वह निश्चय आयुभर ऐसा वर्तता हुआ (आत्मज्ञानपूर्वक केवल कर्तव्य बुद्धिसे शास्त्रोक्त सब कर्मोंको यथासमय ठीक ठीक करता हुआ) ब्रह्मलोक(ब्रह्मरूपी लोक)को प्राप्त होता है। नही निश्चय फिर वापस आता (लौटता) है, नही निश्चय फिर वापस आता(लौटता) है ॥ ३ ॥

ओम् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणमस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ओम् शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं, पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते । पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णम् एव अवशिष्यते ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) आत्मा एव इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविधः । सो अन्वीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत् । सो अहम् अस्मि इति अग्रे व्याहरत्,

ततो अहंनामा अभवत् । तस्माद् अपि एतर्हि आमन्त्रितः अहम् अयम् इति एव अग्रे उक्त्वा अन्यत् नाम प्रब्रूते, यद् अस्य भवति । स यत् पूर्वो अस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत्, तस्मात् पुरुषः । ओषति ह वै स तं, यो अस्मात् पूर्वो बुभूषति, यः एवं वेद ॥ १ ॥

अर्थ—यह सब पहले आत्मा ही था मनुष्यजैसा (मनुष्यजैसे–धर्मोंवाला) । उसने अपनी चारों ओर देखकर अपनेसे भिन्न दूसरा कोई न देखा । उसने मैं हूं ऐसा पहले उच्चारण किया (कहा), उससे इसका ‘मैं’, नाम हुआ । इसलिये अब भी (इस कालमें भी) बुलाया हुआ (कौन है ? ऐसा पूच्छा हुआ) यह (मनुष्य) ‘मैं’, ऐसा ही पहले कहकर पीछे अपना दूसरा नाम कहता है, जो इसका होता है । उस (आत्मा)ने जो इस सब चर–अचर–जगत्से पहला (अग्रणी=मुखिया) होकर सब पापों (बुराईओं)को जलादिया, इसलिये उसका नाम पुरुष (पूर्व+उष) हुआ । निःसन्देह वह भी उसको (सब पापों=बुराईओंको) पहले जला देता है, जो इस (मनुष्यसमाज) से पहला (अग्रणी=मुखिया) होना चाहता है और जो ऐसा (सब पापों=बुराईओंको पहले जला देनेसे पहला=मुखिया होता है, ऐसा) जानता है ॥ १ ॥

सो अबिभेत् । तस्माद् एकाकी बिभेति । स ह अयम् ईक्षांचक्रे यत् मद् अन्यत् न अस्ति कस्मात् नु बिभेमि इति । ततः एव अस्य भयं वीयाय । कस्माद् हि अभेष्यत् । द्वितीयाद् वै भयं भवति ॥ २ ॥

अर्थ—वह (आत्मा) अकेला होनेसे डरा । इसलिये अबभी अकेला डरता है । वह यह (आत्मा) निश्चय इसप्रकार देखने(सोचने=विचारने) लगा–जब मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है, फिर क्यों मैं डरता हूं । उससे(इसप्रकार विचारनेसे) निश्चय इसका डर जाता रहा । क्यों फिर डरता । क्योंकि डर निःसन्देह दूसरेसे होता है ॥ २ ॥

स वै न एव रेमे । तस्माद् एकाकी न रमते । स द्वितीयम् ऐच्छत् । स ह एतावान् आस यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ । स इमम् आत्मानं द्वेधा अपातयत् । ततः पतिः च पत्नी च अभवताम् । तस्माद् इदम् अर्धबृगलम् इव स्वः इति ह स्म आह याज्ञवल्क्यः । तस्माद् अयम् आकाशः स्त्रिया पूर्यते एव । तां समभवत् । ततो मनुष्याः अजायन्त ॥ ३ ॥

अर्थ—वह (आत्मा) सचमुच फिरभी (निडर होजाने परभी) निश्चय न प्रसन्न (खुश) हुआ । इसलिये अबभी अकेला नहीं प्रसन्न होता है । उसने दूसरेकी (अपनी प्रसन्नताकेलिये एक दूसरेकी) इच्छा की । वह निःसन्देह अपने आत्मासे (स्वरूप से) तब इतना था जितने स्त्रीपुरुष दोनों जुडेहुए होते हैं । उसने इस अपने

आत्मा(स्वरूप) को दो भाग करके गिराया(जगत्‌रूपसे प्रकट किया) । उनमेंसे एक भाग पति(नर) और दूसरा भाग निश्चय पत्नी(मादा) हुआ । इसलिये ही 'इस आधे सीपके दलकी नाई हम दोनों (पति पत्नी दोनों) अर्थात् हर एक हैं, यह निश्चय याज्ञवल्क्यने अपनी पत्नीसे पूर्वकालमें कहा है। इसीलिये यह आकाश(पुरुषकी अपूर्णता-रूपी खला) स्त्रीसे ही पूर्ण किया जाता(भरा जाता) है । वह(आत्मा का पति भाग) उसके साथ (आत्माके आधे भाग पत्नी के साथ) संगत हुआ(मिला) । उससे यथाक्रम मनुष्य उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

(२) तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् । तत् नामरूपाभ्याम् एव व्याक्रियत असौनामा अयम्, इदंरूपः इति । स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः, यथा क्षुरः क्षुरधाने अवहितः स्याद्, विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये । तं न पश्यन्ति । अकृत्स्नो हि सः ॥ १ ॥

अर्थ—वह यह सब जगत् निःसन्देह तब(आरम्भमें) न खुलाहुआ(मनुष्य, गौ, घोडा, भेड, बकरी, इसप्रकार न अलग अलग हुआ) था । वह(एकरस अव्याकृत जगत्) निश्चय "उस नामवाला है यह, इस रूप(शकल)वाला है यह" इस प्रकार नाम और रूप(आकार) से अलग अलग हुआ । वह यह (आत्मा) इसमें(नाम और रूपसे अलग अलग हुए मनुष्य आदिके प्रत्येक शरीरमें) सिरसे नखोंतक प्रविष्ट हुआ, जैसे छुरा(तलवार) अपने म्यान में, अथवा अग्नि लकडियों में प्रविष्ट हुआ होता है। उसको(मनुष्य आदि हरएक शरीरमें प्रविष्ट अन्तरात्मा ब्रह्मको) अज्ञानी नहीं देखते हैं । क्योंकि वे जिसरूपसे(प्राणनआदि क्रिया सम्बन्धी प्राणिता, वक्ता, द्रष्टा, श्रोता आदि रूपसे) देखते हैं, वह उसरूपसे अपूर्ण है ॥ १ ॥

प्राणन् एव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यन् चक्षुः, शृण्वन् श्रोत्रं, मन्वानो मनः । तानि अस्य एतानि कर्मनामानि एव । स यो अतः एकैकम् उपास्ते, न स वेद । अकृत्स्नो हि एषो अतः एकैकेन भवति ॥२॥

अर्थ—वह प्राणन–क्रिया करता हुआ(सांसलेता हुआ) निश्चय प्राण नाम (प्राणिता) होता है, बोलता हुआ वाणीनाम (वक्ता), देखता हुआ नेत्र नाम (द्रष्टा), सुनताहुआ श्रोत्रनाम (श्रोता) और विचारता(समझता) हुआ मन–नाम (मन्ता) होता है । वे ये इसके निश्चय क्रियासम्बन्धी नाम हैं । वह जो इनमेंसे एकएककी उपासना करता(एकएकको आत्मा समझता) है, वह नहीं जानता है । क्योंकि यह (आत्मा) इस एकएकरूपसे अपूर्ण है ॥ २ ॥

आत्मा इति एव उपासीत । अत्र हि सर्वे एकं भवन्ति । तद् एतत् पदनीयम् अस्य सर्वस्य, यद् अयम् आत्मा । अनेन हि एतत् सर्वं वेद॥३॥

अर्थ—आत्मा, इसरूपसे ही मनुष्य उपासे(समझे)। क्योंकि इसीमें (आत्मामें) ये सब कर्मनाम(क्रियासम्बन्धी नाम) एक होजाते(समाजाते) हैं। वह यह (आत्मा) इस सब(मनुष्यसमाज) को प्राप्तकरने योग्य(जानने योग्य) है, जो यह आत्मा है। क्योंकि इसके प्राप्तकर लेनेसे मनुष्य इस सबको जानता(जानलेता) है ॥३॥

तद् एतत् प्रेयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात्, प्रेयो अन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं, यद् अयम् आत्मा। स यो अन्यम् आत्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यति इति, ईश्वरो ह, तथा एव स्यात्। आत्मानम् एव प्रियम् उपासीत ॥ ४ ॥

अर्थ—वह यह अधिक प्यारा है पुत्रसे, अधिक प्यारा है धनसे, अधिक प्यारा है दूसरे सबसे(हरएक पदार्थसे) और अतिसमीप है, जो यह आत्मा है। वह जो(आत्माको सबसे अधिक प्यारा समझनेवाला) आत्मासे भिन्न किसी दूसरे पदार्थ(पुत्र, धन आदि) को प्यारा कहनेवालेसे यह कहे—तुह्मारा प्यारा तुझे रुलायेगा, तो वह निःसन्देह समर्थ है (ऐसा कह सकता है) और वह वैसा ही होगा। इसलिये आत्माको ही सबसे प्यारा समझे ॥ ४ ॥

ब्रह्म वै इदम् अग्रे आसीत्। तद् आत्मानम् अवेद् अहं ब्रह्म अस्मि इति। तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्। तद् यो यो देवानां प्रति+अबुध्यत, सः एव तद् अभवत्, तथा ऋषीणां, तथा मनुष्याणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—ब्रह्म ही यह सब पहले(मूल आरम्भमें) था। उसने मैं ब्रह्म(सब कुछ) हूं, इसप्रकार अपने आपको जाना। उससे(ऐसा जाननेसे) वह सब कुछ होगया। इसलिये जो जो देवताओं(विद्वानों) में जागा(जिस जिसने अपने आपको मैं ब्रह्म हूं, इसप्रकार जाना) वह निश्चय वह(सब कुछ) होगया, ऐसे ऋषियों(मन्त्रद्रष्टा ऋषियों)में, ऐसे मनुष्यों(साधारण मनुष्यों)में जो जो जागा, वह निश्चय सबकुछ हो गया ॥ ५ ॥

तद् ह एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे "अहं मनुः अभवं सूर्यश्च" (ऋ० ४।२६।१) इति। तद् इदम् अपि एतर्हि यः एवं वेद "अहं ब्रह्म अस्मि" इति, स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाः चन अभूत्यै ईशते। आत्मा हि एषां स भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—उस इस(आत्मा ब्रह्म) को निश्चय देखतेहुए(मैं ब्रह्म हूं, ऐसा जानतेहुए) ऋषि वामदेवने इसप्रकार अपनी सर्वभाव प्राप्तिका प्रतिपादन(जनाना) किया है "मैं मनु हुआ और मैं ही सूर्य्य"। उस इस(आत्मा ब्रह्म)को अब भी (इस कालमें भी) जो मैं ब्रह्म हूं, बस इसप्रकार जानता है, वह यह सब होजाता है। उसके

अनैश्वर्य्य(सर्वभावाप्राप्ति) केलिये देवता भी निश्चय नही समर्थ होते हैं । क्योंकि वह(अपने आपको ब्रह्म जाननेवाला) इन(देवताओं) का आत्मा होगया है ॥ ६ ॥

अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते अन्या उ असौ, अन्यो अहम् इति, न स वेद। यथा पशुः एवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवः मनुष्यं भुंज्युः, एवम् एकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति। एकस्मिन् एव पशौ आदीयमाने अप्रियं भवति, किम् उ बहुषु। तस्माद् एषां तत् न प्रियं, यद् एतत् मनुष्याः विद्युः॥ ७ ॥

अर्थ—अब जो ब्रह्मसे भिन्न किसी दूसरे देवताको इसप्रकार उपासता है कि वह निश्चय मुझसे भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूं, वह नही जानता है(अज्ञानी है) । जैसे मनुष्योंका गौ अथवा घोडा पशु है, ऐसें वह देवताओंका पशु है । जैसे प्रसिद्ध निश्चय बहुत(अनेक) पशु एक मनुष्यको पालते हैं, ऐसें एकएक मनुष्य (देवताओंका उपासक मनुष्य) अनेक देवताओंको पालता है । एक ही पशुके लेलिये जानेपर दुःख होता है, तो बहुतों(अनेक पशुओं)के लेलिये जानेपर दुःखका क्या कहना है । इसलिये इन(देवताओं) को वह प्यारा नही, जो इस(ब्रह्म)को मनुष्य जानें ॥ ७ ॥

(३) दृप्तबालाकिः ह अनूचानो गार्ग्यः आस। स ह उवाच अजातशत्रुं काश्यं 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति। स ह उवाच अजातशत्रुः 'सहस्रम् एतस्यां वाचि दद्मः, जनकः जनकः' इति वै जनाः धावन्ति इति ॥१॥

अर्थ—गर्गगोत्री महाभिमानी बालाकि(बलाकाका पुत्र) प्रसिद्ध विद्वान् था । उस प्रसिद्ध विद्वानने काशीके राजा अजातशत्रुसे यह कहा-मैं तुझे ब्रह्मको कहूंगा (ब्रह्मका उपदेश दूंगा) उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा—हम तुह्मारे इस कहने पर हजार गौएं देते हैं, क्योंकि जनक जनक, यह कहतेहुए लोग निश्चय भागे जाते हैं ॥१॥

स ह उवाच गार्ग्यः-यः एव असौ आदित्ये पुरुषः, एतम् एव अहं ब्रह्म उपासे इति। स ह उवाच अजातशत्रुः-मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धा राजा इति वै अहम् एतम् उपासे इति॥२॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध गर्गगोत्रीने यह कहा—जो वह निश्चय आदित्य(सूर्य्ये)में पुरुष है, मैं निःसन्देह इसको ब्रह्म उपासता (समजझता) हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-मत मुझे इस(आदित्य पुरुष)के विषय में कहो, सब भूतोंको उलांघकर स्थित, सब भूतोंका सिर, सब भूतोंका राजा, ऐसा निःसन्देह इसको मैं उपासता हूं ॥ २ ॥

स ह उवाच गार्ग्यः-यः एव असौ चन्द्रे पुरुषः, एतम् एव अहं ब्रह्म उपासे इति । स ह उवाच अजातशत्रुः-मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, बृहन् पाण्डरवासाः सोमो राजा इति वै अहम् एतम् उपासे इति ॥३॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य(गर्गगोत्री) यह बोला-जो वह निश्चय चन्द्रमामें पुरुष है, निःसन्देह इसको मैं ब्रह्म उपासता(समझता) हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-मत मुझे इसके विषयमें कहो, बडा, श्वेतवस्त्रोंवाला, सोम, ओषधियोंका राजा, ऐसा निःसन्देह इसको मैं उपासता हूं ॥ ३ ॥

स ह उवाच गार्ग्यः-यः एव असौ विद्युति पुरुषः एतम् एव अहं ब्रह्म उपासे इति । स ह उवाच अजाशत्रुः-मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, तेजस्वी इति वै अहम् एतम् उपासे इति ॥ ४ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य यह बोला-जो वह निश्चय बिजलीमें पुरुष है, निःसन्देह इसको मैं ब्रह्म उपासता हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-मत मुझे इसके विषयमें कहो, बडे तेजवाला, ऐसा निःसन्देह इसको मैं उपासता हूं ॥ ४ ॥

स ह उवाच गार्ग्यः-यः एव अयम् आकाशे पुरुषः, एतम् एव अहं ब्रह्म उपासे इति । स ह उवाच अजातशत्रुः-मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, पूर्णम् अप्रवर्ति इति वै अहम् एतम् उपासे इति ॥ ५ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य यह बोला-जो यह निश्चय आकाश(ईथर)में पुरुष है, निःसन्देह इसको मैं ब्रह्म उपासता (समझता) हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-मत मुझे इसके विषयमें कहो, सर्वत्र भरा हुआ और न चलने-वाला, ऐसा निःसन्देह इसको मैं उपासता हूं ॥ ५ ॥

स ह उवाच गार्ग्यः-यः एव अयं वायौ पुरुषः, एतम् एव अहं ब्रह्म उपासे इति । स ह उवाच अजातशत्रुः-मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, इन्द्रो वैकुण्ठः अपराजिता सेना इति वै अहम् एतम् उपासे इति ६

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य यह बोला-जो यह निश्चय वायुमें पुरुष है, निःसन्देह इसको मैं ब्रह्म उपासता हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-मत मुझे इसके विषयमें कहो, परम ऐश्वर्य्यवान् , सबका मुंह अच्छी तरह कुण्ठित करनेवाला, न पराजित होनेवाली(न हारनेवाली) सेना, ऐसा निःसन्देह इसको मैं उपासता हूं ॥ ६ ॥

स ह उवाच गार्ग्यः-यः एव अयम् अग्नौ पुरुषः, एतम् एव अहं ब्रह्म उपासे इति । स ह उवाच अजातशत्रुः-मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, विषासहिः इति वै अहम् एतम् उपासे इति ॥ ७ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य यह बोला-जो यह निश्चय तेजमें पुरुष है, निःसन्देह इसको मैं ब्रह्म उपासता हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-मत मुझे इसके विषयमें कहो, सबको दबानेवालीशक्तिवाला, ऐसा निःसन्देह इसको मैं उपासता हूं ॥ ७ ॥

स ह उवाच गार्ग्यः-यः एव अयम् अप्सु पुरुषः, एतम् एव अहं ब्रह्म उपासे इति । स ह उवाच अजातशत्रुः-मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, प्रतिरूपः इति वै अहम् एतम् उपासे इति ॥ ८ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य यह बोला-जो यह निश्चय जलमें पुरुष है, निःसन्देह इसको मैं ब्रह्म उपासता हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-मत मुझे इसके विषयमें कहो, अपने जैसा, ऐसा निःसन्देह इसको मैं उपासता हूं ॥ ८ ॥

स ह उवाच गार्ग्यः-यः एव अयम् आत्मनि पुरुषः, एतम् एव अहं ब्रह्म उपासे इति । स ह उवाच अजातशत्रुः-मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, आत्मन्वी इति वै अहम् एतम् उपासे इति ॥ ९ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य यह बोला-जो यह निश्चय शरीरमें पुरुष है, निःसन्देह इसको मैं ब्रह्म उपासता हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-मत मुझे इसके विषयमें कहो, शरीरवाला(शरीरी) ऐसा निःसन्देह इसको मैं उपासता हूं ॥ ९ ॥

स ह तूष्णीम् आस गार्ग्यः । स ह उवाच अजातशत्रुः-एतावत् नु इति । एतावद् हि इति । न एतावता विदितं भवति इति ॥ १० ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य चुप बैठगया । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा बस इतना ही ? । इतना ही, यह गार्ग्यने कहा । इतनेसे ब्रह्म(ब्रह्मका वास्तवरूप) जाना गया नहीं होता, यह अजातशत्रुने कहा ॥ १० ॥

स ह उवाच गार्ग्यः-उप त्वा यानि इति । स ह उवाच अजातशत्रुः-प्रतिलोमं च एतद् यद् ब्राह्मणः क्षत्रियम् उपेयाद् 'ब्रह्म मे वक्ष्यति' इति, वि एव त्वा ज्ञपयिष्यामि इति ॥ ११ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध गार्ग्य यह बोला-मैं तुझे शिष्यभावसे प्राप्त होता हूं । उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा-निःसन्देह यह उलटा है जो 'मुझे ब्रह्म कहेगा', इस बुद्धिसे ब्राह्मण क्षत्रियको शिष्यभावसे प्राप्त हो, इसलिये शिष्य किये विना ही मैं तुझे ब्रह्म जनाऊंगा (ब्रह्मका उपदेश करूंगा) यह अजातशत्रुने कहा ॥ ११ ॥

तं पाणौ आदाय उत्तस्थौ । तौ ह पुरुषं सुप्तम् आजग्मतुः । तम् एतैः नामभिः आमन्त्रयांचक्रे बृहन् ! पाण्डरवासः ! सोम ! राजन् ! इति । स न उत्तस्थौ । तं पाणिना पेषं बोधयांचकार । स ह उत्तस्थौ ॥ १२ ॥

अर्थ—अब उस (गार्ग्य)को हाथमें लेकर (हाथसे पकडकर) राजा आसनसे उठा । वे दोनों निश्चय सोयेहुए मनुष्यके पास आये । उस (सोयेहुए मनुष्य)को राजाने हे बडे ! हे श्वेतवस्त्रोंवाले ! हे सोम ! हे राजा !' इसप्रकार इन नामोंसे बुलाया । वह न उठा । उसको हाथसे मलकर जगाया । वह तब उठा ॥ १२ ॥

स ह उवाच अजातशत्रुः–यत्र एष एतत् सुप्तो अभूद् , य एष विज्ञानमयः पुरुषः, क एष तदा अभूत् ? कुतः एतद् आगात् ? इति । तद् उ ह न मेने गार्ग्यः ॥ १३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने यह कहा (पूछा) जब (जिसकालमें) यह इसतरह सोयाहुआ था, जो यह विज्ञानमय (बुद्धिमय) पुरुष है, तब (उस कालमें) यह कहां था ? कहांसे इसतरह सोया हुआ आया ? । उसको निश्चय प्रसिद्ध गार्ग्यने न समझा ॥ १३ ॥

स ह उवाच अजातशत्रुः–यत्र एष एतत् सुप्तो अभूद् यः एष विज्ञानमयः पुरुषः, तद् एषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय यः एषो अन्तर्-हृदये आकाशः, तस्मिन् शेते । तानि यदा गृह्णाति अथ ह एतत् पुरुषः स्वपिति नाम । तद् गृहीतः एव प्राणो भवति, गृहीता वाक्, गृहीतं चक्षुः, गृहीतं श्रोत्रं, गृहीतं मनः ॥ १४ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा–जब यह इसतरह सोयाहुआ था, जो यह विज्ञानमय (बुद्धिमय) पुरुष है, तब इन इन्द्रियोंके विज्ञान (ज्ञानजननशक्ति)को अपने विज्ञान (ज्ञानजननशक्ति)के सहित लेकर जो यह भीतर हृदयमें आकाश (ब्रह्म) है, उसमें सोता है (सोया हुआ था) । जब उन (इन्द्रियोंके विज्ञानों=ज्ञानजनन-शक्तियों)को लेलेता (अपनेमें लीनकर लेता) है, तब निश्चय पुरुष स्वपिति (सोता है=अपने स्वरूपमें लीन है) इस नामसे कहा जाता है । तब लेलिया हुआ (अपनेमें लीन कर लिया हुआ) निश्चय प्राण होता है, लेलिया हुआ वाग् इन्द्रिय, लेलिया हुआ चक्षुः, लेलिया हुआ श्रोत्र और लेलिया हुआ मन होता है ॥ १४ ॥

स यत्र एतत् स्वप्न्यया चरति, ते ह अस्य लोकाः । तद् उत इव महा-राजो भवति, उत इव महाब्राह्मणः, उत इव उच्चावचं निगच्छति । स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेत, एवम् एव एष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते १५

अर्थ—वह जब इसशरीरमें स्वप्नकी वृत्तिसे विचरता (स्वप्नकी अवस्थामें होता) है, तब इसके वे ही (जो जागृतमें थे) द्रष्टव्यपदार्थ होते हैं । वहां कभी मानों महाराजा होता है, कभी मानों महाब्राह्मण, कभी मानों ऊंच नीच जन्मको प्राप्त होता है । वह जैसे महाराजा अपनी प्रजाओं(प्रधान प्रधान प्रजाओं)को साथलेकर अपने देश(राज्य)में

इच्छानुसार घूमे (इधर उधर फिरे), ऐसे ही यह यहां (स्वप्नमें) इन्द्रियों (इन्द्रियोंकी ज्ञानजनन–शक्तियों)को साथ लेकर अपने शरीरमें इच्छानुसार घूमता (इधर उधर फिरतेकी नाईं होता) है ॥ १५ ॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्य चन वेद, हिताः नाम नाड्यः द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते । स यथा कुमारो वा, महाराजो वा, महाब्राह्मणो वा अतिघ्नीम् आनन्दस्य गत्वा शयीत, एवम् एव एष एतत् शेते ॥ १६ ॥

अर्थ—अब जब गाढी निद्रामें सोया हुआ होता है, जब किसी वस्तुको भी (कुछभी) नही जानता है, तब हिता नामकी बहत्तर हजार नाडीयां जो हृदयकमल (कमलाकार मांसपिण्ड)से पुरीतत् (हृदयके सब ओर लिपटी हुई सूक्ष्म त्वचा)के सामने जाती (जातीहुई सब शरीरमें फैलती) हैं, उनके द्वारा बाहरसे हृदयकी ओर लौटकर पुरीततमें, पुरीततसे हृदयमें, हृदयसे हृदयाकाश ब्रह्ममें सोता है । वह जैसे राजकुमार अथवा महाराजा अथवा महाविद्वान् निश्चय आनन्द (सुख)की पराकाष्ठा (सबको उलांघकर आगे गईहुई हद)को पहुचकर सोये, ऐसे ही यह इससमय सोता है ॥ १६ ॥

स यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेत्, यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति, एवम् एव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः, सर्वे लोकाः, सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्य उपनिषत् सत्यस्य सत्यम् इति । प्राणाः वै सत्यं, तेषाम् एष सत्यम् ॥ १७ ॥

अर्थ—वह जैसे मकडी तन्तुरूपसे ऊपर आती (जैसे मकडीसे तन्तुएं=जालेकी तांतें, अभिव्यक्त होती) हैं, जैसे अग्निसे छोटी छोटी चिंगाडियां ऊपर आती (अभिव्यक्त होती) हैं, ऐसे ही इस आत्मासे सब इन्द्रियां, सब गोलक (इन्द्रियोंके स्थान), सब देवता (इन्द्रियोंके अनुग्राहक सूर्यआदि देवता), प्राणी अप्राणी सब पदार्थ, ऊपर आते (अभिव्यक्त होते) हैं । उस (आत्मा)का 'सत्यका सत्य, यह गुह्यनाम है । इन्द्रियां (इन्द्रिय लोक, देवता आदि सबपदार्थ) निश्चय सत्य हैं, उनका यह (आत्मा) सत्य है ॥ १७ ॥

(४) इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु । यश्च अयम् अस्यां पृथिव्यां तेजोमयो अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं शारीरः तेजोमयो अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा । इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ १ ॥

अर्थ—यह पृथिवी (भूमि) सब प्राणियोंका शहत (शहतकी नाईं प्यारी) है, इस पृथिवीके सब प्राणी शहत (शहतकी नाईं प्यारे) हैं । जो यह निश्चय इस पृथिवीमें

तेजोमय (प्रकाशस्वरूप) अमृतमय (अमृतस्वरूप) पुरुष है, और जो यह शरीरमें शरीरका स्वामी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है । यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ १ ॥

इमाः आपः सर्वेषां भूतानां मधु, आसाम् अपां सर्वाणि भूतानि मधु । यश्च अयम् आसु अप्सु तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं रैतसः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयं आत्मा । इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह जल सब प्राणियोंका शहत है, इस जलके सब प्राणी शहत हैं । जो यह निश्चय इस जलमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें वीर्य्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है जो यह आत्मा है । यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ २ ॥

अयम् अग्निः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य अग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु । यश्च अयम् अस्मिन् अग्नौ तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं वाङ्मयः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा । इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह तेज सब प्राणियोंका शहत है, इस तेजके सब प्राणी शहत हैं । जो यह निश्चय इस तेजमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें वाणीमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है । यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु । यश्च अयम् अस्मिन् वायौ तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं प्राणः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा । इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—यह वायु सब प्राणियोंका शहत है, इस वायुके सब प्राणी शहत हैं । जो यह निश्चय इस वायुमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें प्राणमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है । यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ ४ ॥

अयम् आदित्यः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य आदित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु । यश्च अयम् अस्मिन् आदित्ये तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं चाक्षुषः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा । इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यह सूर्य्य सब प्राणियोंका शहत है, इस सूर्य्यके सब प्राणी शहत हैं। जो यह निश्चय इस सूर्य्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें नेत्रमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ ५ ॥

इमाः दिशः सर्वेषां भूतानां मधु, आसां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु। यश्च अयम् आसु दिक्षु तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा। इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ ६ ॥

अर्थ—ये दिशायें सब प्राणियोंका शहत हैं, इन दिशाओंके सब प्राणी शहत हैं। जो यह निश्चय इन दिशाओंमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें श्रोत्र(कान)में सुननेकी शक्तिरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ ६ ॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्च अयम् अस्मिन् चन्द्रे तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं मानसः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा। इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ ७ ॥

अर्थ—यह चन्द्रमा सब प्राणियोंका शहत है, इस चन्द्रमाके सब प्राणी शहत हैं। जो यह निश्चय इस चन्द्रमामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें मनमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ ७ ॥

इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्च अयम् अस्यां विद्युति तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं तैजसः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा। इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ ८ ॥

अर्थ—यह बिजली सब प्राणियोंका शहत है, इस बिजलीके सब प्राणी शहत हैं। जो यह निश्चय इस बिजलीमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें विद्युत्में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ ८ ॥

अयं स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्च अयम् अस्मिन् स्तनयित्नौ तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् अध्यात्मं शाब्दः सौवरः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा। इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ ९ ॥

अर्थ—यह मेघ सब प्राणियोंका शहत है, इस मेघके सब प्राणी शहत हैं। जो यह निश्चय इस मेघमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें शब्दमें मधुर-ध्वनिमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ ९ ॥

अयम् आकाशः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य आकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायम् अस्मिन् आकाशे तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्चायम् अध्यात्मं हृदि आकाशः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा। इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ १० ॥

अर्थ—यह आकाश सब प्राणियोंका शहत है, इस आकाशके सब प्राणी शहत हैं। जो यह निश्चय इस आकाशमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें हृदयमें आकाशका आकाश (ब्रह्म) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ १० ॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायम् अस्मिन् धर्मे तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्चायम् अध्यात्मं धर्मः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा। इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ ११ ॥

अर्थ—यह धर्म (शुभकर्म) सब प्राणियोंका शहत है, इस धर्मके सब प्राणी शहत हैं। जो यह निश्चय इस धर्ममें तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं, और जो यह शरीरमें धर्ममें (शुभकर्मसेजन्य अदृष्टमें) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ ११ ॥

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायम् अस्मिन् सत्ये तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्चायम् अध्यात्मं सत्यः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा। इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ—यह सत्य (सत्यभाषण) सब प्राणियोंका शहत है, इस सत्यके सब प्राणी शहत हैं। जो यह निश्चय इस सत्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें सत्यमें (सत्यसे जन्य अदृष्टमें) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ १२ ॥

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायम् अस्मिन् मानुषे तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्चायम् अध्यात्मं मानुषः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा। इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ १३ ॥

अर्थ—यह मनुष्यजाति सब प्राणियोंका शहत है, इस मनुष्यजातिके सब प्राणी शहत हैं । जो यह निश्चय इस मनुष्यजातिमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह शरीरमें प्रत्येक मनुष्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है । यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ १३ ॥

अयम् आत्मा सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य आत्मनः सर्वाणि भूतानि मधु । यश्च अयम् अस्मिन् आत्मनि तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः, यश्च अयम् आत्मा तेजोमयः अमृतमयः पुरुष, अयम् एव सः, यो अयम् आत्मा । इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—यह मनुष्यशरीर सब प्राणियोंका शहत है, इस मनुष्यशरीरके सब प्राणी शहत हैं । जो यह निश्चय इस मनुष्यशरीरमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह आत्मा(मनुष्यशरीर)का आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, निःसन्देह वह यह है, जो यह आत्मा है । यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥१४॥

स वै अयम् आत्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिः, सर्वेषां भूतानां राजा । तद् यथा रथनाभौ च रथनेमौ च अराः सर्वे समर्पिताः, एवम् एव अस्मिन् आत्मनि सर्वाणि भूतानि, सर्वे देवाः, सर्वे लोकाः, सर्वे प्राणाः, सर्वे एते आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—वह यह आत्मा निश्चय सब प्राणियोंका अधिष्ठाता है, सब प्राणियोंका राजा है । वह जैसे रथ(रथचक्र)की नाभिमें और निश्चय रथ(रथचक्र)की धारामें सब अरे प्रोयेहुए(गुंथे हुए) हैं, ऐसे ही इस आत्मामें सब प्राणी, सब अग्निआदि देवता, सब पृथिवी आदि लोक, सब इन्द्रियां और सब ये शरीर प्रोयेहुए हैं ॥१५॥

स वै अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः । न एनेन किंचन अनावृतं, न एनेन किंचन असंवृतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—वह यह(आत्मा) निश्चय पुरुष है, जिसलिये सब पुरों(शरीर आदि सब पदार्थों)में पूर्ण हुआ रहता है । इससे कोई भी वस्तु न ढपीहुई नही है, इससे कोई भी वस्तु न भरी हुई नही है ॥ १६ ॥

(५) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं च अमूर्त्तं च । तद् एतत् मूर्त्तं-यद् अन्यद् वायोश्च अन्तरिक्षात् च, अथ एतद् अमूर्त-यद् वायुश्च अन्तरिक्षं च ॥१॥

अर्थ—दो निश्चय ब्रह्म(आत्मा)के रूप(जनानेवाले पदार्थ) हैं-एक मूर्त्त और दूसरा अमूर्त्त । वह यह मूर्त्त है जो वायुसे और निश्चय आकाशसे भिन्न है, और यह अमूर्त्त है जो वायु है, और जो निश्चय आकाश है ॥ १ ॥

अथ अतः आदेशः-न इति न इति । नहि एतस्माद् इति न, अन्यत् परम् अस्ति ॥ २ ॥

अर्थ—अब इससे आगे ब्रह्मके स्वरूपका उपदेश है–वह (ब्रह्म) यह(मूर्त्त) नहीं, यह (अमूर्त्त) नही । इस(मूर्त्त, अमूर्त्त)से भिन्न वह नही, यह भी नहीं, वह इन दोनोंसे भिन्न है, इन दोनोंसे परे है ॥ २ ॥

अथ नामधेयं–सत्यस्य सत्यम् इति । प्राणाः वै सत्यं, तेषाम् एष सत्यम् । यत् सत्यं, स एष प्राणानां प्राणः । तद् अमृतं, तद् ब्रह्म, सः आत्मा ॥३॥

अर्थ—अब नाम कहा जाता है–सत्यका सत्य, यह उसका नाम है । प्राण(प्राण आदि मूर्त्त अमूर्त्त सब पदार्थ) निश्चय सत्य हैं, उनका (उन सबका) यह सत्य है । जो यह सत्य है, वह यह प्राणोंका प्राण है । वह अमृत है, वह ब्रह्म है, वह आत्मा है ॥ ३ ॥

तद् एतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् । अयम् आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इति अनुशासनम् ॥ ४ ॥

अर्थ—वह यह ब्रह्म कारणसे रहित है, कार्यसे रहित है, उसका न कोई भीतर (अंदर) है, न बाहर है । यह ब्रह्म सबका आत्मा है, यह ब्रह्म सबका देखनेवाला है, बस यह उसका उपदेश है ॥ ४ ॥

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् पूर्णम् अदः पूर्णम् इदं, पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते । पूर्णस्य पूर्णम् आदाय, पूर्णम् एव अवशिष्यते ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेन ईजे । तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणाः अभिसमेताः बभूवुः । तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव–कः स्विद् एषां ब्राह्मणानाम् अनूचानतमः इति । स ह गवां सहस्रम् अवरुरोध । दश दश पादाः एकैकस्याः शृङ्गयोः आबद्धाः बभूवुः १

अर्थ—विदेह देश(विदेह जातिके क्षत्रिय, जिस देशमें रहते हैं, उस देश)के प्रसिद्ध राजा जनकने बहुत दक्षिणावाले यज्ञ(अश्वमेध यज्ञ)से यजन किया । उसमें प्रसिद्ध कुरु देशके(कुरु जातिके क्षत्रिय जिस देशमें रहते है, उस दिल्लीके आसपासके देशके) और पञ्चाल देशके(पंचाल जातिके क्षत्रिय जिस देशमें रहते हैं, उस कन्नौजके आसपासके देशके) ब्राह्मण इकठ्ठे हुए । उस प्रसिद्ध विदेह देशके राजा जनकको यह जाननेकी इच्छा हुई–इन ब्राह्मणोंमें सबसे बढकर वेदका जाननेवाला निःसंन्देह कौन है । उस प्रसिद्ध राजाने एक हजार गौएं सामने रोकदीं(रोककर खडी करदीं) । उन(गौओं) मेंसे एक एक गौके सींगोंमें दस दस(एक एकसींगमें पांच पांच) पाद (सोनेके सिक्केका चौथा भाग) बन्धे हुए थे ॥ १ ॥

तान् ह उवाच ब्राह्मणाः! भगवन्तः! यो वो ब्रह्मिष्ठः स एताः गाः उदजताम् इति । ते ह ब्राह्मणाः न दधृषुः । अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वम् एव ब्रह्मचारिणम् उवाच–एताः गाः सोम्य! उदज सामश्रवा; इति । ताः ह उदाचकार । ते ह ब्राह्मणाः चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो अब्रवीत इति २

अर्थ—उनसे निश्चय राजाने यह कहा–हेब्राह्मणो! हेपूज्यो! तुममेंसे जो सबसे बढकर वेदका जाननेवाला है, वह इन गौओंको ले जाये । उन ब्राह्मणोंने निश्चय न साहस(हौसला) किया । अब प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीको निश्चय यह कहा–हे सोम्य सामश्रवा! इन गौओंको लेजा । उनको निश्चय वह ले गया । उन प्रसिद्ध ब्राह्मणोंने यह देखकर इसप्रकार क्रोध किया–कैसे हममेंसे(हम सबके होते) इसने अपनेको सबसे बढकर वेदका जाननेवाला कहा है ॥ २ ॥

अथ ह जनकस्य वैदेहस्य होता अश्वलो बभूव । स ह एनं पप्रच्छ–त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य! ब्रह्मिष्ठो असि इति । स ह उवाच–नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः, गोकामाः एव वयं स्मः इति । तं ह ततः एव प्रष्टुं दध्रे ॥ ३ ॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध विदेहदेशके राजा जनकका होता(ऋग्वेदी ऋत्विज)जो अश्वल था । उसने निःसन्देह इस(याज्ञवल्क्य)से यह पूछा–तू ही निश्चय हममेंसे हे याज्ञवल्क्य! सबसे बढकर वेदका जाननेवाला है । उसने निःसंन्देह यह कहा (उत्तर दिया)–हम सबसे बढकर वेदके जाननेवालेको नमस्कार करते हैं, हम केवल गौओंकी इच्छावाले हैं । उसको निश्चय उससे ही(एक प्रकारसे अपनेको ब्रह्मिष्ठ स्वीकार करलेनेसे ही) हर एकने पूछनेका साहस(हौसला) किया ॥ ३ ॥

अथ ह एनं जारत्कारवः आर्त्तभागः पप्रच्छ–याज्ञवल्क्य! इति ह उवाच । यत्र अस्य पुरुषस्य मृतस्य अग्निं वाग् अप्येति, वातं प्राणः, चक्षुः आदित्यं, मनः चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं, पृथिवीं शरीरम्, आकाशम् आत्मा, ओषधीः

लोमानि, वनस्पतीन् केशाः, अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते, क्व अयं तदा पुरुषो भवति इति ॥ ४ ॥

अर्थ—अब इस प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यसे जरत्कारुके वंशज आर्त्तभागने पूछा। और हे याज्ञवल्क्य! इस प्रकार बुलाकर निश्चय यह कहा। जब (जिस समय) इस मरेहुए पुरुषकी वाणी अग्निमें लीन होजाती है, प्राण वायुमें, नेत्र सूर्य्यमें, मन चन्द्रमामें, कान दिशाओंमें, शरीर पृथिवीमें, शरीरके अन्दरका आकाश आकाशमें, रोम ओषधियोंमें, बाल वनस्पतियोंमें, और लहू तथा निश्चय वीर्य्य जलमें लीन होजाते हैं, तब (उस समय) यह पुरुष कहां होता है? ॥ ४ ॥

आहर सोम्य! हस्तम् आर्त्तभाग! आवाम् एव एतस्य वेदयिष्यावः, न नौ एतत् सजने इति। तौ ह उत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते। तौ ह यद् ऊचतुः कर्म ह एव तद् ऊचतुः। अथ यत् प्रशशंसतुः कर्म ह एव तत् प्रशशंसतुः। पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन इति ॥ ५ ॥

अर्थ—हे सोम्य! हे आर्त्तभाग! लाओ हाथ, हम दोनों ही इसको जानेंगे, हम दोनों इसको सजनस्थानमें (जहां सबलोग बैठे हैं, वहां) न विचार सकेगें, यह याज्ञवल्क्यने कहा। वे दोनों ही निकलकर (बाहर जाकर) विचारने लगे। उन दोनोंने निश्चय विचारकर जो कुछ कहा, वह निःसन्देह कर्म ही कहा। और जिसकी प्रशंसा की, निःसन्देह उस कर्मकी ही प्रशंसा की। पुण्यात्मा (अच्छे शरीरवाला) निश्चय पुण्य कर्मसे होता है और पापात्मा (बुरे शरीरवाला) पाप कर्मसे होता है, यह कहा ॥ ५ ॥

तद् ये इह रमणीयचरणाः, अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा, क्षत्रिययोनिं वा, वैश्ययोनिं वा। अथ ये इह कपूयचरणाः, अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिम् आपद्येरन्–श्वयोनिं वा, सूकरयोनिं वा, चाण्डालयोनिं वा ॥ ६ ॥

अर्थ—वे जो यहां अच्छेकर्मों (पुण्यकर्मों) वाले हैं, वे शीघ्र ही जो अच्छी योनि (उत्तम जन्म) है, उसको प्राप्त होते हैं–कदाचित् ब्राह्मणयोनिको, कदाचित् क्षत्रिययोनिको, कदाचित् वैश्ययोनिको। और जो यहां बुरे (पाप) कर्मोंवाले हैं, वे शीघ्र ही जो बुरी योनि है, उसको प्राप्त होते हैं, कदाचित् कुत्तेकी योनिको, कदाचित् सूरकी योनिको, कदाचित् चाण्डाल (खूनी) की योनिको ॥ ६ ॥

अथ एतयोः पथोः न कतरेण चन, तानि इमानि क्षुद्राणि असकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्व इति। एतत् तृतीयं स्थानम्। ततो ह जारत्कारवः आर्त्तभागः उपरराम ॥ ७ ॥ (छां० उप० ५।१०)

अर्थ—अब जो इन दोनों योनियोंसे किसी एकको भी नहीं प्राप्त होते हैं, वे ये बार बार उत्पन्न होनेवाले छोटे प्राणी होते हैं। जन्मो मरो, यही उनकेलिये ईश्वराज्ञा है। यह तीसरी योनि है। उसके पीछे निश्चय जरत्कारुका वंशज आर्त्तभाग उपराम(प्रश्न करनेसे निवृत्त) होगया॥ ७॥

(२) अथ हैनम् उषस्तः चाक्रायणः पप्रच्छ, याज्ञवल्क्य! इति ह उवाच—यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म, यः आत्मा सर्वान्तरः, तं मे व्याचक्ष्व इति॥ १॥

अर्थ—अब इस प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यसे चक्रकेपुत्र उषस्तने पूछा, और हे-याज्ञवल्क्य! इस प्रकार बुलाकर निश्चय यह कहा—जो साक्षात् अपरोक्ष(प्रत्यक्ष) ब्रह्म है, जो सर्वान्तर (सबके अन्दर) आत्मा है, उसको मुझे कहो॥ १॥

एष ते आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य! सर्वान्तरः?। यः प्राणेन प्राणिति, स ते आत्मा सर्वान्तरः, यो अपानेन अपानिति, स ते आत्मा सर्वान्तरः, यो व्यानेन व्यानिति, स ते आत्मा सर्वान्तरः, यः उदानेन उदानिति, स ते आत्मा सर्वान्तरः। एष ते आत्मा सर्वान्तरः॥ २

अर्थ—यह है तेरा सर्वान्तर आत्मा। कौन सर्वान्तर आत्मा याज्ञवल्क्य!। जो प्राणसे प्राणनक्रिया करता(सांस बाहर फैंकता) है, वह है तेरा सर्वान्तर आत्मा, जो अपानसे अपाननक्रिया करता(सांस भीतर खींचता) है, वह है तेरा सर्वान्तर आत्मा, जो व्यानसे व्याननक्रिया(चेष्टा) करता है, वह है तेरा सर्वान्तर आत्मा, जो उदानसे उदाननक्रिया(ऊपर उठानारूपी क्रिया) करता है, वह है तेरा सर्वान्तर आत्मा। बस यह है तेरा सर्वान्तर आत्मा॥ २॥

स ह उवाच उषस्तः चाक्रायणः—यथा विब्रूयाद् असौ गौः, असौ अश्वः इति, एवम् एव एतद् व्यपदिष्टं भवति। यद् एव साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म, यः आत्मा सर्वान्तरः, तं मे व्याचक्ष्व इति॥ ३॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध चक्रके पुत्र उषस्तने यह कहा—जैसे कोई यह कहे—वह गौ है, वह घोडा है, ऐसे ही यह कहा गया(तूने कहा) है। इसलिये जो निश्चय साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सर्वान्तर(सबके अन्दर) आत्मा है, उसको मुझे कहो॥ ३॥

एष ते आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य! सर्वान्तरः?। न दृष्टेः द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः, न मतेः मन्तारं मन्वीथाः न विज्ञातेः विज्ञातारं विजानीयाः। एष ते आत्मा सर्वान्तरः। अतो अन्यद् आर्त्तम्। ततो ह उषस्तः चाक्रायणः उपरराम॥ ४॥

अर्थ—यह है तेरा सर्वान्तर आत्मा । कौन है सर्वान्तर आत्मा याज्ञवल्क्य ! । हे उषस्त ! तू देखनेके देखनेवालेको नही देख सकता, तू सुननेके सुननेवालेको नही सुन सकता, तू समझके समझनेवालेको नही समझ सकता, तू जाननेके जाननेवालेको नही जान सकता । यह है तेरा सर्वान्तर आत्मा । इस (आत्मा)से भिन्न (इसके सिवा दूसरा) सब कुछ नष्ट होनेवाला है । उसके पीछे निश्चय चक्रका पुत्र उषस्त उपराम (प्रश्न करनेसे निवृत्त) होगया ॥ ४ ॥

(३) अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ, याज्ञवल्क्य! इति ह उवाच-यद् एव साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म, यः आत्मा सर्वान्तरः, तं मे व्याचक्ष्व इति ॥ १ ॥

अर्थ—अब इस (याज्ञवल्क्य) प्रसिद्धसे कुषीतकके पुत्र कहोलने पूछा और हे याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार बुलाकर निश्चय यह कहा—जो निःसन्देह साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सर्वान्तर आत्मा है, उसको मुझे कहो ॥ १ ॥

एष ते आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य! सर्वान्तरः? । यो अशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युम् अत्येति ॥ २ ॥

अर्थ—यह है तेरा सर्वान्तर आत्मा । कौन सर्वान्तरात्मा याज्ञवल्क्य ! । जो भूख-प्यास, शोक, मोह, जरा (बुढापा) और मृत्युको उल्लङ्घन किये हुआ है ॥ २ ॥

एतं वै तम् आत्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाः च, वित्तैषणायाः च लोकैषणायाः च, व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस इस आत्माको ही जानकर ब्राह्मण निश्चय पुत्रकी कामनासे, धनकी कामनासे और निश्चय लोककी कामनासे ऊपर उठकर (तीनों कामनाओंको छोडकर) पीछे भिक्षावृत्ति (स्वच्छन्दवृत्ति)का आचरण (आश्रयण) करते हैं ॥ ३ ॥

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः । अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः ४

अर्थ—इसलिये ब्राह्मण (ब्रह्मका जिज्ञासु) पाण्डित्य (विद्वत्ता)को अच्छीतरह लभकर (प्राप्त करके) आत्मविद्या (ब्रह्मज्ञान)रूपी बलके साथ गृहाश्रममें रहनेकी इच्छाकरे (गृहाश्रममें रह कर ही आत्मविद्याको अच्छीतरह प्राप्त करे) । आत्मविद्यारूपी बल और पाण्डित्य, दोनोंको अच्छीतरह लभकर (प्राप्त करके) पीछे मुनि (ब्रह्म आत्माके साक्षात्कारके लिये मननशील) होवे । अमौन (पाण्डित्य और आत्मविद्यारूपी बल) और मौन (मुनिपन) दोनोंको अच्छीतरह लभकर पीछे ब्रह्मात्माके साक्षात्कारवाला सच्चा ब्राह्मण होवे ॥ ४ ॥

स ब्राह्मणः केन स्यात्? येन स्यात्, तेन ईदृशः एव । ततो ह कहोलः कौषीतकेयः उपरराम ॥ ५ ॥

अर्थ—वह ब्राह्मण(ब्रह्मात्माके साक्षात्कारवाला सच्चा ब्राह्मण) किस आश्रमसे(गृहस्थ और संन्यास, दोनोंमेंसे किस आश्रमसे) रहे ? जिस आश्रमसे रहे, उससे ऐसा ही (एकसा ही) है । उसके पीछे निश्चय कुषीतकका पुत्र कहोल उपराम होगया ॥ ५ ॥

(४) अथ हे एनम् उद्दालकः आरुणिः पप्रच्छ, याज्ञवल्क्य! इति ह उवाच-वेत्थ नु त्वं तम् आत्मानम् अन्तर्यामिणम् अमृतम्, यः इमं च लोकं, परं च लोकं, सर्वाणि च भूतानि यो, अन्तरो यमयति इति । तं चेत् त्वं याज्ञवल्क्य! आत्मानम् अन्तर्यामिणम् अमृतम् अविद्वान् ब्रह्मगवीः उदजसे, मूर्धा ते विपतिष्यति इति ॥ १ ॥

अर्थ—अब इस प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यसे आरुणि(अरुणके पुत्र) उद्दालकने पूछा और हे याज्ञवल्क्य ! इसप्रकार बुलाकर निश्चय यह कहा—क्या तू उस अन्तर्यामी अमृत आत्माको जानता है—जो निश्चय इस लोकको और परले द्युलोकको और जो सब प्राणियोंको, भीतर रहकर नियममें रखता है । यदि तू हे याज्ञवल्क्य ! उस अन्तर्यामी अमृत आत्माको न जानता हुआ ब्राह्मणोंकी गौओंको ले जायेगा, तो तेरा मस्तिष्क गिर जायेगा(गिरा हुआ=फिरा हुआ, समझा जायेगा) यह कहा ॥ १ ॥

वेद वै अहं गौतम! तम् आत्मानम् अन्तर्यामिणम् अमृतम् इति । यो वै इदं कश्चिद् ब्रूयाद् वेद वेद इति । यथा वेत्थ, तथा ब्रूहि इति ॥ २ ॥

अर्थ—हे गौतम(गोतमगोत्री) मैं निश्चय उस अन्तर्यामी अमृत आत्माको जानता हूं, यह याज्ञवल्क्यने कहा । जो कोई भी निःसन्देह यह कह सकता है—मैं इसको जानता हूं, मैं इसको जानता हूं । इसलिये जैसे तू जानता है, वैसे कहो, यह उद्दालकने कहा ॥ २ ॥

स ह उवाच-यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्याः अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ ३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यने कहा—जो पृथिवीमें रहता हुआ पृथिवीसे अलग है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवीको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ ३ ॥

यो अप्सु तिष्ठन् अद्भ्यो अन्तरः, यम् आपो न विदुः, यस्य आपः शरीरं, यो अपः अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ४

अर्थ—जो जलमें रहता हुआ जलसे अलग है, जिसको जल नहीं जानता, जिसका जल शरीर है, जो जलको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ ४ ॥

यो अग्नौ तिष्ठन् अग्नेः अन्तरः, यम् अग्निः न वेद, यस्य अग्निः शरीरं, यो अग्निम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो अग्निमें रहता हुआ अग्निसे अलग है, जिसको अग्नि नही जानता, जिसका अग्नि शरीर है, जो अग्निको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ ५ ॥

यो वायौ तिष्ठन् वायोः अन्तरः, यं वायुः न वेद, यस्य वायुः शरीरं, यो वायुम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो वायुमें रहता हुआ वायुसे अलग है, जिसको वायु नही जानता, जिसका वायु शरीर है, जो वायुको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ ६ ॥

यो अन्तरिक्षे तिष्ठन् अन्तरिक्षाद् अन्तरः, यम् अन्तरिक्षं न वेद, यस्य अन्तरिक्षं शरीरं, यो अन्तरिक्षम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो अन्तरिक्ष(मध्यम लोक)में रहता हुआ अन्तरिक्षसे अलग है, जिसको अन्तरिक्ष नही जानता, जिसका अन्तरिक्ष शरीर है, जो अन्तरिक्षको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन् दिवो अन्तरः, यं द्यौः न वेद, यस्य द्यौः शरीरं, यो दिवम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो द्युलोकमें रहता हुआ द्युलोकसे अलग है, जिसको द्युलोक नही जानता, जिसका द्युलोक शरीर है, जो द्युलोकको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ ८ ॥

यः आदित्ये तिष्ठन् आदित्याद् अन्तरः, यम् आदित्यो न वेद, यस्य आदित्यः शरीरं, यः आदित्यम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ ९ ॥

अर्थ—जो सूर्यमें रहता हुआ सूर्यसे अलग है, जिसको सूर्य नही जानता, जिसका सूर्य शरीर है, जो सूर्यको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ ९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्यो अन्तरः, यं दिशो न विदुः, यस्य दिशः शरीरं, यो दिशो अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः १०

अर्थ—जो दिशाओं(पूर्व आदि दिशाओं)में रहता हुआ दिशाओंसे अलग है, जिसको दिशायें नही जानतीं, जिसका दिशायें शरीर हैं, जो दिशाओंको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १० ॥

यः चन्द्रतारके तिष्ठन् चन्द्रतारकाद् अन्तरः, यं चन्द्रतारकं न वेद, यस्य चन्द्रतारकं शरीरं, यः चन्द्रतारकम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो चन्द्रमा और तारोंमें रहता हुआ चन्द्रमा और तारोंसे अलग है, जिसको चन्द्रमा और तारे नही जानते, जिसका चन्द्रमा और तारे शरीर हैं, जो चन्द्रमा और तारोंको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ ११ ॥

यः आकाशे तिष्ठन् आकाशाद् अन्तरः, यम् आकाशो न वेद, यस्य आकाशः शरीरं, यः आकाशम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो आकाशमें(प्रकृतिमें) रहता हुआ आकाशसे अलग है, जिसको आकाश नही जानता, जिसका आकाश शरीर है, जो आकाशको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १२ ॥

यः तमसि तिष्ठन् तमसो अन्तरः, यं तमो न वेद, यस्य तमः शरीरं, यः तमो अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो अन्धेरेमें रहता हुआ अन्धेरेसे अलग है, जिसको अन्धेरा नही जानता, जिसका अन्धेरा शरीर है, जो अन्धेरेको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १३ ॥

यः तेजसि तिष्ठन् तेजसो अन्तरः, यं तेजो न वेद, यस्य तेजः शरीरं, यः तेजो अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो प्रकाशमें रहता हुआ प्रकाशसे अलग है, जिसको प्रकाश नही जानता, जिसका प्रकाश शरीर है, जो प्रकाशको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरः, यं सर्वाणि भूतानि न विदुः, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो सब प्राणिशरीरोंमें रहता हुआ सब प्राणिशरीरोंसे अलग है, जिसको सब प्राणिशरीर नही जानते, जिसका सब प्राणिशरीर शरीर हैं, जो सब प्राणिशरीरोंको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १५ ॥

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणाद् अन्तरः, यं प्राणो न वेद, यस्य प्राणः शरीरं, यः प्राणम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥१६॥

अर्थ—जो प्राण(प्राण और घ्राण)में रहता हुआ प्राणसे अलग है, जिसको प्राण नही जानता, जिसका प्राण शरीर है, जो प्राणको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १६ ॥

यो वाचि तिष्ठन् वाचो अन्तरः, यं वाक् न वेद, यस्य वाक् शरीरं, यो वाचम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो बाणी(वाग् इन्द्रिय)में रहता हुआ बाणीसे अलग है, जिसको बाणी नही जानती, जिसका बाणी शरीर है, जो बाणीको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १७ ॥

यः चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषो अन्तरः, यं चक्षुः न वेद, यस्य चक्षुः शरीरं, यः चक्षुः अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो नेत्रमें रहता हुआ नेत्रसे अलग है, जिसको नेत्र नही जानता, जिसका नेत्र शरीर है, जो नेत्रको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १८ ॥

यः श्रोत्रे तिष्ठन् श्रोत्राद् अन्तरः, यं श्रोत्रं न वेद, यस्य श्रोत्रं शरीरं, यः श्रोत्रम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ १९ ॥

अर्थ—जो कानमें रहता हुआ कानसे अलग है, जिसको कान नही जानता, जिसका कान शरीर है, जो कानको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ १९ ॥

यः त्वचि तिष्ठन् त्वचो अन्तरः, यं त्वक् न वेद, यस्य त्वक् शरीरं, यः त्वचम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ २० ॥

अर्थ—जो त्वचा(स्पर्श-इन्द्रिय)में रहता हुआ त्वचासे अलग है, जिसको त्वचा नही जानती, जिसका त्वचा शरीर है, जो त्वचाको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ २० ॥

यो मनसि तिष्ठन् मनसो अन्तरः, यं मनो न वेद, यस्य मनः शरीरं, यो मनो अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मनमें रहता हुआ मनसे अलग है, जिसको मन नही जानता, जिसका मन शरीर है, जो मनको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ २१ ॥

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानाद् अन्तरः, यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानं शरीरं, यो विज्ञानम् अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो बुद्धि (बुद्धिमय जीवात्मा)में रहता हुआ बुद्धिसे अलग है, जिसको बुद्धि नहीं जानती, जिसका बुद्धि शरीर है, जो बुद्धिको भीतर रहकर नियममें रखता है, यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ २२ ॥

अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता । न अन्यो अतो अस्ति द्रष्टा, न अन्यो अतो अस्ति श्रोता, न अन्यो अतो अस्ति मन्ता, न अन्यो अतो अस्ति विज्ञाता । एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः, अतो अन्यद् आर्त्तम् । ततो ह उद्दालकः आरुणिः उपरराम ॥२३॥

अर्थ—वह न देखा गया (देखनेमें न आता हुआ) सबका देखनेवाला है, न सुना गया (सुननेमें न आता हुआ) सबका सुननेवाला है, न समझा गया (समझमें न आता हुआ) सबका समझनेवाला है, और न जाना गया (जाननेमें न आता हुआ) सबका जाननेवाला है । इससे भिन्न (इसके सिवा) कोई देखनेवाला नहीं है, इससे भिन्न कोई सुननेवाला नहीं है, इससे भिन्न कोई समझनेवाला नहीं है, और इससे भिन्न कोई जाननेवाला नहीं है । यह है तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा । इससे भिन्न (इसके सिवा) जो कुछ है, वह सब नाशवान् है । उसके पीछे निश्चय आरुणि उद्दालक उपराम (प्रश्न करनेसे निवृत्त) हो गया ॥ २३ ॥

(५) अथ ह गार्गी वाचक्नवी उवाच—ब्राह्मणाः भगवन्तः ! हन्त अहम् इमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि, तौ चेत् मे वक्ष्यति, न वै जातु युष्माकम् इमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेता इति । पृच्छ गार्गि ! इति ॥ १ ॥

अर्थ—इसके पीछे प्रसिद्ध वचक्नुकी पुत्री गार्गीने यह कहा—हे ब्राह्मणो ! हे पूजनीयो ! अब मैं इस (याज्ञवल्क्य)से दो प्रश्न पूछूंगी, यदि उन दोनोंको (दोनोंके उत्तरको) मुझे कहेगा, तो निश्चय तुममेंसे कोई भी कदापि इस वेदवेत्ताको न जीतेगा । पूछ हे गार्गी ! यह सब ब्राह्मणोंने कहा ॥ १ ॥

सा ह उवाच—अहं वै त्वा याज्ञवल्क्य ! यथा काश्यो वा वैदेहो वा उग्रपुत्रः उज्जयं धनुः अधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वा उपोत्तिष्ठेत्, एवम् एव अहं त्वां द्वाभ्यां प्रश्नाभ्याम् उपोदस्थाम्, तौ मे ब्रूहि इति । पृच्छ गार्गि ! इति ॥ २ ॥

अर्थ—वह प्रसिद्ध (गार्गी) यह बोली—हे याज्ञवल्क्य ! मैं निश्चय तुझे चेताती हूं जैसे कदाचित् काशी देशका अथवा विदेह देशका क्षत्रियपुत्र उतारे हुए चिल्लेवाले धनुषको चढेहुए चिल्लेवाला करके शत्रुओंको वीन्धनेवाले लोहेके मुखवाले दो तीर हाथमें लेकर सामने खडा हो, ऐसे ही मैं दो प्रश्नोंसे तेरे सामने खडी हुई हूं, उनको मुझे कहो । पूछ हे गार्गी ! यह याज्ञवल्क्यने कहा ॥ २ ॥

सा ह उवाच–यद् ऊर्ध्वं याज्ञवल्क्य! दिवः, यद् अवाक् पृथिव्याः, यद् अन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद् भूतं च भवत् च भविष्यत् च इति आचक्षते, कस्मिन् तद् ओतं च प्रोतं च इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध (गार्गी) ने यह कहा–हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवी लोकसे नीचे है, जो इस द्युलोक और पृथिवीलोकके अन्दर (मध्यमें) है, जिसको निःसन्देह अतीत (बीता हुआ) और वर्तमान और भविष्यत् (आगे होनेवाला) ऐसा कहते हैं, वह सब किसमें ओत और निश्चय प्रोत है? ॥ ३ ॥

स ह उवाच–यद् ऊर्ध्वं गार्गि! दिवः, यद् अवाक् पृथिव्याः, यद् अन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद् भूतं च भवत् च भविष्यत् च इति आचक्षते, आकाशे तद् ओतं च प्रोतं च इति ॥ ४ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध (याज्ञवल्क्य) ने यह कहा–हे गार्गि! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवी लोकसे नीचे है, जो इस द्युलोक और पृथिवी लोकके अन्दर है, जिसको निःसन्देह अतीत और वर्तमान और भविष्यत्, ऐसा कहते हैं, वह सब निश्चय आकाश (प्रकृति) में ओत और प्रोत है ॥ ४ ॥

सा ह उवाच–नमस्ते अस्तु याज्ञवल्क्य! यो मे एतं व्यवोचः, अपरस्मै धारयस्व इति। पृच्छ गार्गि! इति ॥ ५ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध (गार्गी) ने यह कहा–हे याज्ञवल्क्य! तुझे नमस्कार हो, जिसने मेरे इस प्रश्नको खोलकर कहा है। अब दूसरेकेलिये सावधान हो। पूछ हे गार्गि! यह याज्ञवल्क्यने कहा ॥ ५ ॥

सा ह उवाच–यद् ऊर्ध्वं याज्ञवल्क्य! दिवः, यद् अवाक् पृथिव्याः, यद् अन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद् भूतं च भवत् च भविष्यत् च इति आचक्षते, आकाशे तद् ओतं च प्रोतं च इति। कस्मिन् नु खलु आकाशः ओतश्च प्रोतश्च इति ॥ ६ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध (गार्गी) ने यह कहा–हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीलोकसे नीचे है, जो इस द्युलोक और पृथिवीलोकके अन्दर है, जिसको निःसन्देह भूत (अतीत) और वर्तमान और भविष्यत्, ऐसा कहते हैं, वह सब निश्चय आकाशमें ओत और प्रोत है, यह तुमने कहा है। तो आकाश निश्चय फिर किसमें ओत और प्रोत है, यह कहो ॥ ६ ॥

स ह उवाच–एतद् वै तद् अक्षरं गार्गि! ब्राह्मणाः अभिवदन्ति अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अलोहितम्, अस्नेहम्, अच्छायम्, अतमो, अवायु, अनाकाशम्, असङ्गम्, अरसम्, अगन्धम्, अचक्षुष्कम्, अश्रोत्रम्, अवाग्, अमनः, अतेजस्कम्, अप्राणम्, अमुखम्, अमात्रम्, अनन्तरम्, अबाह्यम्। न तद् अश्नाति किंचन, न तद् अश्नाति कश्चन ७

अर्थ—उस प्रसिद्ध (याज्ञवल्क्य)ने कहा—हे गार्गी ! उस इसको निःसन्देह ब्राह्मण (सर्वान्तरात्मा ब्रह्मके जाननेवाले) अक्षर (अविनाशी) कहते हैं, वह न स्थूल (मोटा) है, न अणु (पतला) है, न ह्रस्व (नाटा) है, न दीर्घ (लम्बा) है, न अग्निकी नाईं लाल है, न जलकी नाईं चिकना है, न छायावाला है, न छाया (अन्धेरा) है, न वायु है, न आकाश है, संग (लेप)से रहित है, रससे रहित है, गन्धसे रहित है, न नेत्रोंवाला है, न कानोंवाला है, न वाणीवाला है, न मनवाला है, न उदात्तवाला है, न प्राणवाला है, न इसका कोई मुख है, न परिमाण है, न अन्दर है, न बाहर है । न वह कुछ खाता है, न उसको कोई खाता है ॥ ७ ॥

एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! निमेषाः मुहूर्त्ताः अहोरात्राणि अर्द्धमासाः मासाः ऋतवः संवत्सराः इति विधृताः तिष्ठन्ति, एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्यः अन्याः नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः, प्रतीच्यः अन्याः, याँ याँ च दिशम् अनु, एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति, यजमानं देवाः, दर्वीं पितरो अन्वायत्ताः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस ही अक्षर (अविनाशी ब्रह्म)की अनिवार्य्य आज्ञा (जबरदस्त हुक्म)में हे गार्गी ! सूर्य्य और चन्द्रमा मर्य्यादामें बंधेहुए स्थित (कर्तव्य कर्मके पालनमें तत्पर) हैं, इस ही अक्षरकी अनिवार्य आज्ञामें हे गार्गी ! द्युलोक और पृथिवीलोक मर्य्यादामें बंधे हुए स्थित (कर्तव्य कर्मके पालनमें तत्पर) हैं, इस ही अक्षरकी अनिवार्य्य आज्ञामें हे गार्गी ! निमेष (पल), मुहूर्त्त, दिनरात, पक्ष, महीने, ऋतुएं और बरस, यह सब मर्य्यादामें बंधे हुए स्थित हैं, इस ही अक्षरकी अनिवार्य्य आज्ञामें हे गार्गी ! पूर्वको जानेवाली गंगा यमुना आदि दूसरी नदियां श्वेत पर्वतों (बर्फानी पहाडों)से निकलती है, और पश्चिमको जानेवाली सिन्धु आदि दूसरी नदियां, और जिस जिस दिशा को जो जो नदियां जाती हैं, वे सब इसही अक्षरकी अनिवार्य्य आज्ञामें श्वेत पर्वतों (बर्फानी पहाडों)से निकलती हैं, इस ही अक्षरकी अनिवार्य्य आज्ञामें हे गार्गी ! लोग, दाता (दानी मनुष्य)की प्रशंसा करते हैं, देवता यजमान (यजमानकृत यज्ञ)के साथ और पितर दर्वीहोम (प्रतिदिन सायंप्रातः यथोपस्थित अन्नजल)के साथ बंधे हुए हैं ॥ ८ ॥

यो वै एतद् अक्षरं गार्गि ! अविदित्वा अस्मिन् लोके जुहोति यजते तपः तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि, अन्तवद् एव तस्य तद् भवति । यो वै एतद् अक्षरं गार्गि ! अविदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति, स कृपणः ।

अथ यः एतद् अक्षरं गार्गि! विदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति, स ब्राह्मणः ॥ ९ ॥

अर्थ—हे गार्गी ! जो (मनुष्य) निश्चय इस अक्षरको न जानकर इस लोकमें होम करता है, यज्ञ करता है, तप तपता है, बहुत बरस, चाहे हजारों बरस, निःसन्देह वह सब (होम, यज्ञ, तप) उसका अन्तवाला (विनाशीफलवाला) होता है । हे-गार्गी ! जो निश्चय इस अक्षरको न जानकर इस लोकसे जाता (मर जाता) है, वह दयाका पात्र (दीन, दुःखिया) है । और जो इस अक्षरको हेगार्गी ! जानकर इस लोकसे जाता है, वह ब्राह्मण है ॥ ९ ॥

तद् वै एतद् अक्षरं गार्गि! अदृष्टं द्रष्टृ, अश्रुतं श्रोतृ, अमतं मन्तृ, अविज्ञातं विज्ञातृ । न अन्यद् अतो अस्ति द्रष्टृ, न अन्यद् अतो अस्ति श्रोतृ, न अन्यद् अतो अस्ति मन्तृ, न अन्यद् अतो अस्ति विज्ञातृ । एतस्मिन् नु खलु अक्षरे गार्गि! आकाशः ओतश्च प्रोतश्च इति ॥ १० ॥

अर्थ—वह यह अक्षर निश्चय हेगार्गी ! न देखा गया (देखनेमें न आता हुआ) सबका देखनेवाला है, न सुना गया सबका सुननेवाला है, न समझा गया सबका समझनेवाला है और न जाना गया सबका जाननेवाला है । इससे भिन्न (इसके सिवा) कोई दूसरा देखनेवाला नहीं है, इससे भिन्न कोई दूसरा सुननेवाला नहीं है, इससे भिन्न कोई दूसरा समझनेवाला नहीं है और इससे भिन्न कोई दूसरा जाननेवाला नहीं है । इस ही अक्षरमें निश्चय हे गार्गी ! आकाश (प्रकृति) ओत है, और निश्चय प्रोत है, यह याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १० ॥

सा ह उवाच-ब्राह्मणाः भगवन्तः! तद् एव बहु मन्येध्वं, यद् अस्मात् नमस्कारेण मुच्येध्वम् । न वै जातु युष्माकम् इमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेता इति । ततो ह गार्गी वाचक्नवी उपरराम ॥ ११ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध गार्गीने यह कहा—हे ब्राह्मणो ! हे पूजनीयो ! वह ही बहुत समझो जो इस (याज्ञवल्क्य)से नमस्कारसे छूट जाओ । तुममेंसे कोई भी कदापि निश्चय इस वेदवेत्ताको न जीतेगा । उसके पीछे प्रसिद्ध वचक्नुकी कन्या गार्गी उपराम (प्रश्न करनेसे निवृत्त) होगई ॥ ११ ॥

(६) अथ ह उवाच याज्ञवल्क्यः-ब्राह्मणाः भगवन्तः! यो वः कामयते स मा पृच्छतु, सर्वे वा मा पृच्छत । यो वः कामयते तं वः पृच्छामि, सर्वान् वा वः पृच्छामि इति ॥ १२ ॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यने यह कहा—हे पूज्य ब्राह्मणो ! जो तुममेंसे चाहता है, वह मुझे पूछे, अथवा तुम सब मुझसे पूछो । जो तुममेंसे चाहता है, मैं तुममेंसे उस एकको पूछता हूं, अथवा तुम सबको पूछता हूं ॥ १२ ॥

ते ह ब्राह्मणाः न दधृषुः । तान् ह एतैः श्लोकैः पप्रच्छ—
यथा वृक्षो वनस्पतिः, तथा एव पुरुषोऽमृषा । तस्य लोमानि पर्णानि, त्वग् अस्य उत्पाटिका बहिः ॥ १ ॥

अर्थ—वे प्रसिद्ध सब ब्राह्मण पूछनेकेलिये न साहसवाले हुए । उनको निश्चय याज्ञवल्क्यने इन श्लोकोंसे पूंछा—जैसे एक बडा(वनका स्वामी) वृक्ष होता है, सच मुच वैसे ही यह मनुष्य है । उस(मनुष्य)के रोम पत्ते (वृक्षके पत्ते) हैं, त्वचा इस(वृक्ष)का बाहरका छिलका है ॥ १ ॥

त्वचः एव अस्य रुधिरं, प्रस्यन्दि त्वचः उत्पटः । तस्मात् तद् आतृण्णाद् रसो वृक्षाद् इव आहतात् ॥ २ ॥

अर्थ—इस(मनुष्य)की त्वचासे निश्चय लहू निकलता है और इस (वृक्ष)की त्वचासे रस । इसलिये जखमी हुए मनुष्यसे वह(रुधिर=लहू) वैसेही निकलता है, जैसे चोटदियेहुए वृक्षसे रस निकलता है ॥ २ ॥

मांसानि अस्य शकराणि, किनाटं स्नाव तत् स्थिरम् । अस्थीनि अन्तरतो दारूनि, मज्जा मज्जोपमा कृता ॥ ३ ॥

अर्थ—इस(मनुष्य)के मांस वृक्षके शकल(अन्दरके नरम छिलके) हैं, नाडियां छिलकोंके भीतरके रेशे हैं, और वे दृढ हैं, । हड्डियां भीतरकी लकडियां और मज्जा (हड्डियोंके अन्दरकी चर्बी) लकडियोंके अन्दरके गूदे समान बनाई गई है ॥ ३ ॥

यद् वृक्षो वृक्णो रोहति, मूलात् नवतरः पुनः । मर्त्यः स्वित् मृत्युना वृक्णः, कस्मात् मूलात् प्ररोहति ॥ ४ ॥

अर्थ—जब वृक्ष कटाहुआ मूल(जड)से फिर अधिक नया होकर उगता (फूट आता) है । तब मृत्युसे कटाहुआ मनुष्य किस मूलसे उगता है ? ॥ ४ ॥

रेतसः इति मा वोचत, जीवतः तत् प्रजायते । धानारुहः इव वै वृक्षो, अञ्जसा प्रेत्य सम्भवः ॥ ५ ॥

अर्थ—वीर्य्यसे, यह मत कहो, क्योंकि वह(वीर्य्य) जीते मनुष्यसे उत्पन्न होता है । वृक्ष जैसे निश्चय शाखारुह(शाखासे उगनेवाला) है, वैसे धानारुह(बीजसे उगनेवाला) है, इसलिये उसका मरकर बीजसे उगना प्रत्यक्ष है ॥ ५ ॥

यत् समूलम् आवृहेयुः, वृक्षं न पुनः आभवेत् । मर्त्यः स्वित् मृत्युना वृक्णः, कस्मात् मूलात् प्ररोहति ॥ ६ ॥

अर्थ—यदि मूल(जड) सहित वृक्षको उखाडें, तो फिर नहीं होता (उगता) है । मृत्युसे कटा हुआ मनुष्य तब किस मूलसे उगता है ? ॥ ६ ॥

जातः एव न जायते, को नु जनयेत् पुनः। विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म, रातिः दातुः परायणं, तिष्ठमानस्य तद् विदः ॥ ७ ॥

अर्थ—उत्पन्न हुआ हुआ ही है, फिर नही उत्पन्न होता है, तो कौन फिर उत्पन्न करता है ? । हे ब्राह्मणो ! वह(उत्पन्न करनेवाला मूल) विज्ञानस्वरूप तथा आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है, जो ऐहिक-आमुष्मिक-धनका दाता है और धनके दाता(दानी)का तथा तीनों एषणाओंसे उठकर उस(ब्रह्म)के जाननेवाले और उसमें स्थिति(निष्ठा)-वालेका परला गन्तव्यस्थान है ॥ ७ ॥

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) जनको ह वैदेहः आसांचक्रे । अथ ह याज्ञवल्क्यः आवव्राज । तं ह उवाच याज्ञवल्क्य ! किमर्थम् आचारीः पशून् इच्छन्, अण्वन्तान् इति । उभयम् एव सम्राट् ! इति ह उवाच । तं ह जनको वैदेहः पप्रच्छ ॥ १ ॥

अर्थ—विदेहदेश(दरभंगाके इरदगिरदका देश)का राजा प्रसिद्ध जनक मिलने-वालोंकेलिये बैठाहुआ था । अब(इससमय) प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य आया । उससे प्रसिद्ध राजा जनकने यह कहा—हेयाज्ञवल्क्य ! किसलिये आया है गौओंको चाहताहुआ अथवा सूक्ष्म अर्थवाले प्रश्नोंको चाहता हुआ । दोनों हीको हे सम्राट् (अश्वमेधयाजी राजा) !, यह प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यने कहा । तब उससे प्रसिद्ध विदेहदेशके राजा जनकने पूछा ॥१॥

याज्ञवल्क्य ! किंज्योतिः अयं पुरुषः इति । आदित्यज्योतिः सम्राट् ! इति ह उवाच । आदित्येन एव अयं ज्योतिषा आस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येति । एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य ! ॥ २ ॥

अर्थ—हे याज्ञवल्क्य ! किसज्योति (प्रकाश) वाला (किसज्योतिसे सब व्यवहारोंको सिद्ध करनेवाला) यह मनुष्य है, यह जनकने पूच्छा । सूर्यज्योतिवाला (सूर्यके प्रकाशसे सब व्यवहारोंको सिद्ध करनेवाला) हे सम्राट् ! यह निश्चय याज्ञवल्क्यने कहा । सूर्यरूपी ज्योति (प्रकाश) से ही यह (मनुष्य) बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है, और फिर लौट आता है । ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ! ॥ २ ॥

अस्तम् इते आदित्ये याज्ञवल्क्य ! किंज्योतिः एव अयं पुरुषः इति । चन्द्रमाः एव अस्य ज्योतिः भवति इति । चन्द्रमसा एव अयं ज्योतिषा आस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येति इति । एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य ! ॥ ३ ॥

अर्थ—सूर्य अस्त होजानेपर हे याज्ञवल्क्य ! किस ज्योतिवाला निश्चय यह मनुष्य होता है, यह जनकने पूच्छा । उस समय चन्द्रमा ही इस (मनुष्य) की ज्योति होती है, यह याज्ञवल्क्यने कहा । चन्द्रमारूपी ज्योतिसे ही यह बैठताहै, इधर उधर जाता है, कर्म करता है, और फिर लौट आता है, यह कहा । ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ! ॥ ३ ॥

अस्तम् इते आदित्ये, याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमसि अस्तम् इते किंज्योतिः एव अयं पुरुषः इति । अग्निः एव अस्य ज्योतिः भवति इति । अग्निना एव अयं ज्योतिषा आस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येति इति । एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य ! ॥ ४ ॥

अर्थ—सूर्य अस्त होजानेपर, चन्द्रमा अस्त होजानेपर हे याज्ञवल्क्य ! किस ज्योतिवाला निश्चय यह मनुष्य होता है, यह जनकने पूच्छा । उससमय अग्नि ही इसका ज्योति होती है, यह याज्ञवल्क्यने कहा । अग्निरूपी ज्योतिसे ही यह (मनुष्य) बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है, और फिर लौट आता है, यह कहा । ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ! ॥ ४ ॥

अस्तम् इते आदित्ये, याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमसि अस्तम् इते, शान्ते अग्नौ किंज्योतिः एव अयं पुरुषः इति । वाग् एव अस्य ज्योतिः भवति इति । वाचा एव अयं ज्योतिषा आस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येति इति । तस्माद् वै सम्राट् ! अपि यत्र स्वः पाणिः न विनिर्ज्ञायते, अथ यत्र वाग् उच्चरति, उप एव तत्र न्येति इति । एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य ! ॥ ५ ॥

अर्थ—सूर्य अस्त होजानेपर, चन्द्रमा अस्त होजानेपर, अग्नि शान्त (निवृत्त) होजानेपर हे याज्ञवल्क्य ! किस ज्योतिवाला निश्चय यह मनुष्य होता है, यह जनकने

मूछा। तब(उस समय) वाणी(शब्द) ही इसकी ज्योति होती है, यह याज्ञवल्क्यने कहा। वाणीरूपी ज्योतिसे ही यह बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है और फिर लौट आता है, यह कहा। इसलिये ही हे सम्राट्! जहां अपना हाथ भी नहीं जाना(देखा)जाता, तब जहां वाणी(शब्द) उठती(निकलती) है, वहां ही मनुष्य पहुंच जाता है, यह प्रत्यक्ष है। ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य! ॥ ५ ॥

अस्तम् इते आदित्ये, याज्ञवल्क्य! चन्द्रमसि अस्तम् इते, शान्ते अग्नौ, शान्तायां वाचि किंज्योतिः एव अयं पुरुषः इति। आत्मा एव अस्य ज्योतिः भवति इति। आत्मना एव अयं ज्योतिषा आस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येति इति ॥ ६ ॥

अर्थ—सूर्य अस्त होजानेपर, चन्द्रमा अस्त होजानेपर, अग्नि शान्त होजानेपर, वाणी शान्त होजानेपर हे याज्ञवल्क्य! किस ज्योतिवाला निश्चय यह पुरुष होता है, यह जनकने पूछा। तब आत्मा ही इसकी ज्योति होती है, यह याज्ञवल्क्यने कहा। आत्मारूपी ज्योतिसे ही यह बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है और फिर लौट आता है, यह कहा ॥ ६ ॥

(२) कतमः आत्मा? इति। यो अयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि अन्तर् ज्योतिः पुरुषः। स समानः सन् उभौ लोकौ अनुसंचरति। ध्यायति इव, लेलायति इव। स स्वप्नो भूत्वा इमं लोकम् अतिक्रामति मृत्योः रूपाणि ॥ १ ॥

अर्थ—कौन(शरीर, मन और आत्मा, इन तीनोंमेंसे कौन) वह आत्मा है? यह जनकने पूछा। याज्ञवल्क्यने कहा जो यह बुद्धिमय(बुद्धिके रंगसे रंगाहुआ) इन्द्रियोंसे घिराहुआ हृदयमें भीतर(हृदयके अन्दर) प्रकाशस्वरूप पुरुष है। वह बुद्धिके समान (एक जैसा) हुआ दोनों लोकों(जाग्रत और सुषुप्ति)में घूमता है। मानों चिन्तन करता है, मानों चेष्टा करता है। वह स्वप्नावस्थावाला होकर इस लोक(जाग्रत)को और मृत्युके मुखमें फंसेहुए इस लोकके सब पदार्थोंको उलांघ जाता है ॥ १ ॥

स वै अयं पुरुषो जायमानः शरीरम् अभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते, स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ २ ॥

अर्थ—वह यह निश्चय पुरुष जन्मता हुआ, शरीरको प्राप्त करता हुआ दुःखोंके साथ जुडता है, वह शरीरसे निकलता हुआ, मरता हुआ, दुःखोंको छोड देता है ॥२॥

तस्य वै एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः-इदं च परलोकस्थानं च। सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन् एते उभे स्थाने पश्यति-इदं च परलोकस्थानं च ॥ ३ ॥

उस इस पुरुषके निश्चय दो ही स्थान हैं–एक यह(जाग्रत) और दूसरा परलोकस्थान(सुषुप्ति) । और सन्धिमें(दोनों स्थानोंके मध्यमें) होनेवाला तीसरा स्वप्नस्थान है । उस सन्धिमें होनेवाले तीसरे स्वप्नस्थानमें स्थित हुआ इन दोनों स्थानोंको देखता है–इस(जाग्रत)को, और निश्चय परलोकस्थान(सुषुप्ति)को ॥ ३ ॥

अथ यथाऽऽक्रमो अयं परलोकस्थाने भवति, तम् आक्रमम् आक्रम्य उभयान् पाप्मनः आनन्दान् च पश्यति । स यत्र प्रस्वपिति अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्राम् उपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति । अत्र अयं पुरुषः स्वयंज्योतिः भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—अब(तीसरे स्वप्नस्थानमें स्थितिके समय) यह जिस प्रकारके सहारेवाला (कर्म, उपासना वा वासनरूपी आश्रयवाला) परलोक स्थान(सुषुप्ति)में होता है, उसी सहारेको आश्रयणकर(पकडकर) दुःखों, और सुखों, दोनोंको देखता(भोगता) है । वह जब स्वप्नको देखता है, तब सब प्रकारके पदार्थोंवाले इस लोक (जाग्रत)के सूक्ष्म अंशों(संस्कारों)को लेकर अपनेआप जाग्रत शरीरको भूलकर अपनेआप स्वप्नशरीरको बनाकर अपने ही प्रकाशसे, अपनीही ज्योतिसे स्वप्नको देखता है । इस स्वप्नस्थान(स्वप्नावस्था)में यह पुरुष स्वयंज्योति (स्वयंप्रकाश) होता है ॥ ४ ॥

न तत्र रथाः न रथयोगाः न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते । न तत्र आनन्दाः मुदः प्रमुदो भवन्ति, अथ आनन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते । स हि कर्ता ॥ ५ ॥

अर्थ—न वहां(स्वप्नस्थानमें) रथ होते हैं, न रथके घोडे और न मार्ग होते हैं, अब वह रथोंको, रथके घोडोंको और मार्गोंको रचलेता है । न वहां आनन्द(इष्ट वस्तुके दर्शनसे होनेवाले सुख) होते हैं, न मोद(इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे होनेवाले सुख) और न प्रमोद(इष्ट वस्तुके उपभोगसे होनेवाले सुख) होते हैं, अब वह आनन्दोंको मोदोंको और प्रमोदोंको रचलेता है । न वहां तालाब होते हैं, न झीलां और न नदियां होती हैं, अब वह तालाबोंको, झीलोंको और नदियोंको रचलेता है । वह निःसन्देह रचनाकरनेवाला है ॥ ५ ॥

तद् एते श्लोकाः भवन्ति-स्वप्नेन शारीरम् अभिप्रहत्य, असुप्तः सुप्तान् अभिचाकशीति । शुक्रम् आदाय पुनर् एति स्थानं, हिरण्मयः पुरुषः एकहंसः ॥ १ ॥

अर्थ—उसमें(स्वप्नके निरूपणमें) ये श्लोक हैं–निद्रासे जाग्रत शरीरको मूर्छित (निश्चेष्ट) करके नसोयाहुआ सोयेहुओं(ज्योतिरहित इन्द्रियों)को प्रकाशता (देखता) है ।

इन्द्रियोंकी ज्योतिको लेकर फिर जाग्रत स्थानमें आता है, जो सुवर्णकी नाई प्रकाशस्वरूप अकेला विचरनेवाला पुरुष (आत्मा ब्रह्म) है ॥ १ ॥

प्राणेन रक्षन् अवरं कुलायं, बहिः कुलायाद् अमृतः चरित्वा। स ईयते अमृतो यत्रकामं, हिरण्मयः पुरुषः एकहंसः ॥ २ ॥

अर्थ—वह अमृत(न मरनेवाला) प्राणसे (पांच प्रकारके प्राणसे) अपने निकृष्ट घोंसले (स्थूलशरीर)की रक्षा करता हुआ घोंसेले(घर)से बाहर जाकर (बाहर गये हुएकी नाई होकर) जहां इच्छा, वहां जाता है, जो अमृत सोनेकी नाई प्रकाशस्वरूप अकेला विचरनेवाला पुरुष है ॥ २ ॥

स्वप्नान्ते उच्चावचम् ईयमानो, रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उत इव स्त्रीभिः सह मोदमानो, जक्षद् उत इव अपि भयानि पश्यन्। आराममस्य पश्यन्ति, न तं पश्यति कश्चन ॥ ३ ॥ ४ ॥ इति ॥ ६ ॥

अर्थ—स्वप्नस्थान(स्वप्नावस्था)में ऊंचे नीचे जाता हुआ(ऊच, नीचभावको प्राप्त होता हुआ) प्रकाशरूप आत्मा बहुत रूपों(अनेक शकलों)को अपनेलिये बनाता है। कभी स्त्रियोंके साथ मानों हर्ष(खुशी)को प्राप्त होता हुआ, कभी मित्रोंके साथ मानों हंसता हुआ, कभी भयानक दृश्योंको देखताहुआ अनेक शकलोंका बनाता है। इसके घूमकर रमणे(खेलने)को लोग देखते हैं. पर उस(घूमकर रमणेवाले)को कोई भी नहीं देखता है ॥ ३ ॥ ४ ॥ बस ॥ ६ ॥

(३) तं न आयतं बोधयेद् इति आहुः। दुर्भिषज्यं ह अस्मै भवति, यम् एष न प्रतिपद्यते। अथो खलु आहुः जागरितदेशः एव अस्य एषः इति। यानि हि एव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्तः इति। अत्र अयं पुरुषः स्वयंज्योतिः भवति इति। सो अहं भगवते सहस्रं ददामि, अतः ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि इति ॥ १ ॥

अर्थ—उस(सोये हुए)को एकाएक न जगाये, यह कई एक(सुश्रुत० ३।७।१) कहते हैं। क्योंकि इसकेलिये शरीरका वह प्रदेश दुःखके साथ ओषधिसे अच्छाहोनेवाला (जलदी न अच्छाहोनेवाला) हो जाता है, जिस(प्रदेश)को यह(पुरुष) नही प्राप्त होता (पूरा पूरा पहुंचता) है। अब कई एक निश्चय यह कहते हैं कि जाग्रत स्थान ही इस (सोये हुए)का यह(स्वप्नस्थान) होता है, क्योंकि जिन वस्तुओंको निश्चय जागता हुआ (जाग्रत अवस्थामें वर्तमान हुआ) देखता है, उनको ही सोयाहुआ देखता है, यह कहते हैं। इस(स्वप्नावस्था)में यह पुरुष स्वयंज्योति (स्वयंप्रकाश) होता है, यह याज्ञवल्क्यने कहा। वह मैं तुझ पूज्यको इस(उपदेश)के बदले हजार गौएं देताहूं, इससे आगे सांसारिक दुःखोंसे भलीभांति छूटनेकेलिये कहो, यह जनकने कहा ॥ १ ॥

स वै एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वा एव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति स्वप्नाय एव । स यत् तत्र किञ्चित् पश्यति, अनन्वागतः तेन भवति । असङ्गो हि अयं पुरुषः इति । एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य ! सो अहं भगवते सहस्रं ददामि, अतः ऊर्ध्वं विमोक्षाय एव ब्रूहि इति ॥ २ ॥

अर्थ—वह यह निश्चय इस प्रसन्नताकी अवस्था(सुषुप्ति)में रमणकर(खुशीका खेल खेलकर) विचरकर(घूमकर) पुण्य और पाप, दोनों को निश्चय देखकर(भोगकर) फिर जैसे गयाथा वैसे, अपने स्थान की ओर स्वप्नकेलिये निःसंन्देह आता है । वह वहां (सुषुप्तिमें) जो कुछ भी देखता है, उसके साथ नबंधाहुआ(उसको साथ न लाया हुआ) होता है । क्योंकि यह पुरुष असङ्ग(किसीके साथ न सम्बन्धवाला) है, यह याज्ञवल्क्यने कहा । ऐसे ही है यह हेयाज्ञवल्क्य ! वह मैं तुझ पूज्यको इस (उपदेश)के बदले हजार गौएं देता हूं, इससे आगे सांसारिक दुःखोंसे भलीभांति छूटनेकेलिये ही कहो, यह जनकने कहा ॥ २ ॥

स वै एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वा एव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति बुद्धान्ताय एव । स यत् तत्र किञ्चित् पश्यति अनन्वागतः तेन भवति । असङ्गो हि अयं पुरुषः इति । एवम् एव एतद् याज्ञवल्क्य ! सो अहं भगवते सहस्रं ददामि, अतः ऊर्ध्वं विमोक्षाय एव ब्रूहि इति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह यह निश्चय इस स्वप्नस्थानमें रमणकर विचरकर, पुण्य और पाप, दोनोंको निश्चय देखकर फिर जैसे गया था वैसे, अपने स्थानकी ओर जाग्रत–अवस्था (जागने)केलिये निःसंन्दे आता है । वह वहां (स्वप्नस्थानमें) जो कुछ भी देखता है, उसके साथ नबंधाहुआ(उसको साथ न लाया हुआ) होता है, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है, यह याज्ञवल्क्यने कहा, ऐसे ही है यह हेयाज्ञवल्क्य !, वह मैं तुझ पूज्यको इस (उपदेश)के बदले हजार गौएं देताहूं, इससे आगे सांसारिक दुःखोंसे भलीभांति छूटनेकेलिये ही कहो, यह जनकने कहा ॥ ३ ॥

स वै एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वा एव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति स्वप्नान्ताय एव । तद् यथा महामत्स्यः उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं च अपरं च, एवम् एव अयं पुरुषः एतौ उभौ अन्तौ अनुसंचरति स्वप्नान्तं बुद्धान्तं च ॥ ४ ॥

अर्थ—वह यह निश्चय इस जाग्रत अवस्था(जाग्रत स्थान)में रमणकर विचरकर, पुण्य और पाप, दोनोंको निश्चय देखकर(भोगकर) फिर जैसे गयाथा वैसे, अपने स्थानकी ओर स्वप्नकेलिये निःसंन्देह आता है । वह जैसे कोई महामत्स्य (बडा मच्छ) दोनों

किनारोंकी ओर आता जाता है—एक जो वरला किनारा है और दूसरा जो परला किनारा है, ऐसे ही यह पुरुष इन दोनों स्थानोंकी ओर आता जाता है—एक जो स्वप्रस्थान है और दूसरा जो जाग्रत–स्थान है ॥ ४ ॥

तद् यथा अस्मिन् आकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयाय एव ध्रियते, एवम् एव अयं पुरुषः एतस्मै अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कश्चन कामं कामयते, न कश्चन स्वप्नं पश्यति। सो अस्य परमो लोकः ॥ ५ ॥

अर्थ—वह जैसे श्येन(बाज) अथवा सुपर्ण(गरुड) अथवा कोई दूसरा पक्षी इस आकाशमें इधर उधर उडकर थका हुआ दोनों पंखोंको इकट्ठा करके घोंसलेकेलिये ही मुडनेकी धारता(वेगसे मुडता) है, ऐसे ही यह पुरुष इस सुषुप्ति स्थानकेलिये दौडता है, जहां(जिस सुषुप्ति स्थानमें) सोयाहुआ न कोई भी इष्ट वस्तु चाहता है न कोई भी स्वप्न देखता है। वही इस(पुरुष)का सबसे ऊंचा(श्रेष्ठ) स्थान है ॥५॥

तद् वै अस्य एतद् अतिच्छन्दः अपहतपाप्म अभयं रूपम्। तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद न आन्तरम्, एवम् एव अयं पुरुषः प्राज्ञेन आत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद न आन्तरम्। तद् वै अस्य एतद् आप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम् ॥ ६ ॥

अर्थ—वह यह निश्चय इसका इच्छासेरहित, पाप(पुण्य, पाप)से रहित और भयसे रहित स्वरूप है। वह जैसे कोई(मनुष्य) अपनी प्यारी स्त्रीसे अच्छीतरह लिपटा-हुआ(एकमेकहुआ) न बाहरकी कोई भी वस्तु जानता है, न अन्दर(भीतर)की, ऐसे ही यह पुरुष ज्ञानस्वरूप आत्मा(सद् ब्रह्म)से एकमेक हुआ न बाहर(जाग्रत)की कोई भी वस्तु जानता है, न अन्दर (स्वप्न)की। वह यह निश्चय इसका पूरीहुई कामनाओंवाला, आत्मारूपी सब कामनाओंवाला(कामयितव्य पदार्थोंवाला) सब कामनाओंसे रहित और शोकसे रहित स्वरूप है ॥ ६ ॥

अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोकाः अलोकाः, देवाः अदेवाः, वेदाः अवेदाः। अत्र स्तेनो अस्तेनो भवति, भ्रूणहा अभ्रूणहा, चाण्डालो अचाण्डालः, पौल्कसो अपौल्कसः, श्रमणो अश्रमणः, तापसो अतापसः। अनन्वागतं पुण्येन, अनन्वागतं पापेन, तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—यहां (सुषुप्तिमें) पिता अपिता(न पिता) होता है, माता अमाता, लोक अलोक, देवता(अग्नि, सूर्य आदि देवत) अदेवता और वेद अवेद होते हैं। यहां चोर अचोर, गर्भपाती अगर्भपाती, खूनी अखूनी, पौल्कस(मरे हुए पशु उठानेवाला और चर्म

उतारनेवाला) अपौल्कस, संन्यासी (बौद्ध भिक्षु) असंन्यासी, और तपस्वी (तप्तशिलारोही दिगम्बर, अथवा वानप्रस्थ) अतपस्वी होता है । यहां पुण्यके साथ न बंधा हुआ और पापके साथ न बंधा हुआ होता है । तब (सुषुप्तिमें) निःसन्देह यह (पुरुष) हृदयके सब शोकोंसे तरा हुआ (पार हुआ) होता है ॥ ७ ॥

यद् वै तत् न पश्यति, पश्यन् वै तत् न पश्यति । नहि द्रष्टुः दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते । अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं, यत् पश्येत् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो वह निश्चय तब (सुषुप्तिमें) कुछ (बाहर, भीतरकी कोई वस्तु) नहीं देखता है, निःसन्देह वह देखताहुआ तब नहीं देखता है । उस समय उस द्रष्टा (देखनेवाले) की दृष्टि (देखने)का नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नाशसे रहित है । किन्तु तब कोई दूसरी वस्तु उससे भिन्न, उससे अलग नहीं है, जिसको देखे ॥ ८ ॥

यद् वै तत् न जिघ्रति, जिघ्रन् वै तत् न जिघ्रति । नहि घ्रातुः घ्रातेः विपरिलोपो विद्यते । अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं, यद् जिघ्रेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो वह निश्चय तब कुछ नहीं सूंघता है, निःसन्देह वह सूंघताहुआ तब नहीं सूंघता है । उस समय उस घ्राता (सूंघनेवाला)की घ्राति (सूंघने)का नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नाशसे रहित है । किन्तु तब कोई दूसरी वस्तु उससे भिन्न, उससे अलग नहीं है, जिसको सूंघे ॥ ९ ॥

यद् वै तत् न रसयते, रसयन् वै तत् न रसयते । नहि रसयितुः रसयतेः विपरिलोपो विद्यते । अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं, यद् रसयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—जो वह निश्चय तब नहीं रस लेता है, निःसन्देह वह रस लेता हुआ तब नहीं रस लेता है । उस समय उस रसयिता (रसलेनेवाला) की रसयति (रसलेने) का नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नाशसे रहित है । किन्तु तब कोई दूसरी वस्तु उससे भिन्न, उससे अलग नहीं है, जिसका रसले ॥ १० ॥

यद् वै तत् न वदति, वदन् वै तत् न वदति । नहि वक्तुः वक्तेः विपरिलोपो विद्यते । अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं, यद् वदेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो वह निश्चय तब नहीं बोलता है, निःसन्देह वह बोलता हुआ तब नहीं बोलता है । उस समय बोलनेवालेके बोलनेका नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नाशसे रहित है । किन्तु तब कोई दूसरी वस्तु उससे भिन्न, उससे अलग नहीं है, जिसको बोले ॥ ११ ॥

यद् वै तत् न शृणोति, शृण्वन् वै तत् न शृणोति । नहि श्रोतुः श्रुतेः विपरिलोपो विद्यते । अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं, यत् शृणुयात् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो वह निश्चय तब नहीं सुनता है, निःसन्देह वह सुनता हुआ तब नहीं सुनता है । उस समय उस सुननेवालेके सुननेका नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नाशसे रहित है । किन्तु तब कोई दूसरी वस्तु उससे भिन्न, उससे अलग नहीं है, जिसको सुने ॥ १२ ॥

यद् वै तत् न स्पृशति, स्पृशन् वै तत् न स्पृशति । नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेः विपरिलोपो विद्यते । अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं, यत् स्पृशेत् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो वह निश्चय तब नहीं छूता है, निःसन्देह वह छूताहुआ तब नहीं छूता है । इस समय उस छूनेवालेके छूनेका नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नाशसे रहित है । किन्तु तब कोई दूसरी वस्तु उससे भिन्न, उससे अलग नहीं है, जिसको छूए ॥ १३ ॥

यद् वै तत् न मनुते, मन्वानो वै तत् न मनुते । नहि मन्तुः मतेः विपरिलोपो विद्यते । अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं, यत् मन्वीत ॥ १४ ॥

अर्थ—जो वह निश्चय तब नहीं समझता है, निःसन्देह वह समझता हुआ तब नहीं समझता है । उस समय उस समझनेवालेकी समझ का नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नाशसे रहित है । किन्तु तब कोई दूसरी वस्तु उससे भिन्न, उससे अलग नहीं है, जिसको समझे ॥ १४ ॥

यद् वै तत् न विजानाति, विजानन् वै तत् न विजानाति । नहि विज्ञातुः विज्ञातेः विपरिलोपो विद्यते । अविनाशित्वात् । न तु तद् द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं, यद् विजानीयात् ॥ १५ ॥

अर्थ—जो वह निश्चय तब नहीं जानता है, निःसन्देह वह जानताहुआ तब नहीं जानता है । उस समय उस जाननेवालेके जाननेका नाश नहीं होता है । क्योंकि वह नाशसे रहित है । किन्तु तब कोई दूसरी वस्तु उससे भिन्न, उससे अलग नहीं है, जिसको जाने ॥ १५ ॥

यत्र वा अन्यद् इव स्यात्, तत्र अन्यो अन्यत् पश्येत्, अन्यो अन्यद् जिघ्रेत्, अन्यो अन्यद् रसयेत्, अन्यो अन्यद् वदेत्, अन्यो अन्यत् शृणुयात्, अन्यो अन्यत् स्पृशेत्, अन्यो अन्यत् मन्वीत, अन्यो अन्यद् विजानीयात् ॥ १६ ॥

अर्थ—जब (जिस समय) अपनेसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु, अथवा दूसरी वस्तु-

सी कोई वस्तु होगी, तब दूसरा हुआ दूसरी वस्तुको देखेगा, दूसरा हुआ दूसरी वस्तुको सूंघेगा, दूसरा हुआ दूसरी वस्तुका रस लेगा, दूसरा हुआ दूसरी वस्तुको कहेगा, दूसरा हुआ दूसरी वस्तुको सुनेगा, दूसरा हुआ दूसरी वस्तुको छुएगा, दूसरा हुआ दूसरी वस्तुको समझेगा, दूसरा हुआ दूसरी वस्तुको जानेगा ॥ १६ ॥

सलिलः एको द्रष्टा अद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोकः सम्राट्! इति ह एनम् अनुशशास याज्ञवल्क्यः । एषा अस्य परमा गतिः, एषा अस्य परमा सम्पद्, एषो अस्य परमो लोकः, एषो अस्य परमः आनन्दः । एतस्य एव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति ॥ १७ ॥

अर्थ—वह उस समय समुद्रकी नाई अचल, एक अद्वितीय द्रष्टा होता है । बस यह है ब्रह्मलोक(ब्रह्मरूपी लोक) हेसम्राट्!, यह इस(जनक)को निश्चय याज्ञवल्क्यने उपदेश किया। यह इस(पुरुष)की सबसेऊंची(श्रेष्ठ) गति (पहुंच)है, यह इसकी सबसे ऊंची विभूति है, यह इसका सबसे ऊंचा लोक है, यह इसका सबसे ऊंचा आनन्द है। इस ही आनन्दके लेशको(अतिछोटे भागको) दूसरे प्राणी भोगते हैं ॥ १७ ॥

(४) स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति, अन्येषाम् अधिपतिः, सर्वैः मानुष्यकैः भोगैः सम्पन्नतमः, स मनुष्याणां परमः आनन्दः ॥ १ ॥

अर्थ—वह जो मनुष्योंमें ऋद्धिवाला(शारीरिक सम्पत्तिवाला=सब अङ्गोंसे युक्त, सडौल, हृष्ट पुष्ट, स्वस्थ) और समृद्धिवाला(धन, धान्यकी अतिशय बहुतायतवाला) है, दूसरोंका राजा(सम्राट्) और मनुष्यके सभी सुखोपभोगके साधनोंसे अतिसम्पन्न है, वह मनुष्योंका सबसे ऊंचा आनन्द है ॥ १ ॥

अथ ये शतं मनुष्याणाम् आनन्दाः, स एकः पितॄणां जितलोकानाम् आनन्दः । अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानाम् आनन्दाः, स एकः कर्मदेवानाम् आनन्दः, ये कर्मणा देवत्वम् अभिसम्पद्यन्ते । अथ ये शतं कर्मदेवानाम् आनन्दाः, स एकः आजानदेवानाम् आनन्दः, यश्च श्रोत्रियः अवृजिनः अकामहतः ॥ २ ॥

अर्थ—अब जो सौ मनुष्योंके आनन्द हैं, वह एक पितरोंका आनन्द है जिन्होंने यथाशास्त्र ऋणोंको दूर करके लोकों(देवलोक, पितृलोक आदि सब लोकों)को जीता है । अब जो सौ जितलोक पितरोंके आनन्द हैं, वह एक कर्मदेवोंका आनन्द है, जो कर्मसे(ज्ञानपूर्वक भक्तिमें रत होकर फलकी कामनासे विना कर्तव्यकर्मोंके यथोचित अनुष्ठानसे) देवभावको प्राप्त होते हैं । अब जो सौ कर्मदेवोंके आनन्द हैं, वह एक आजान देवों(जन्मसे देवप्रकृतियों)का आनन्द है, और उसका जो श्रोत्रिय (वेद आदि समस्त विद्याओंका पूर्णविद्वान् होकर ब्रह्मनिष्ठ), पापसे रहित और कामनाओंसे दबाहुआ नहीं है ॥ २ ॥

अथ ये शतम् आजानदेवानाम् आनन्दाः, स एकः प्रजापतिलोके आनन्दः, यश्च श्रोत्रियः अवृजिनः अकामहतः । अथ ये शतं प्रजापतिलोके आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोके आनन्दः, यश्च श्रोत्रियः अवृजिनः अकामहतः ॥ ३ ॥

अर्थ—अब जो सौ आजानदेवोंके आनन्द हैं, वह एक प्रजापतिलोक(सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड)में आनन्द है, और उसको जो श्रोत्रिय पापसेरहित और कामनाओंसे दबाहुआ नही है । अब जो सौ प्रजापतिलोक(सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड)में आनन्द हैं, वह एक ब्रह्मलोकमें आनन्द है, और उसको जो श्रोत्रिय पापसे रहित और कामनाओंसे दबाहुआ नही है ॥ ३ ॥

अथ एष एव परमः आनन्दः, एष ब्रह्मलोकः सम्राट् ! इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः । सो अहं भगवते सहस्रं ददामि, अतः ऊर्ध्वं विमोक्षाय एव ब्रूहि इति । अत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मा अन्तेभ्यः उद्+अरौत्सीद् इति ॥ ४ ॥

अर्थ—बस अब यही निश्चय सबसे ऊंचा आनन्द है, यही ब्रह्मलोक है हे सम्राट् !, यह प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यने कहा । वह मैं तुझ पूज्यको हजार गौएं देता हूं, इससे आगे सांसारिक दुःखोंसे भलीभांति छूटनेके लिये ही कहो, यह जनकने कहा । यहां निःसन्देह याज्ञवल्क्य यह समझकर भयभीत हुआ(डरा) कि बुद्धिमान् राजाने मुझे सब अवस्थाओंकेलिये(सब अवस्थाओंके कहनेकेलिये) रोका (बाधित किया) है ॥ ४ ॥

(५) स वै एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वा एव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति बुद्धान्ताय एव ॥ १ ॥

अर्थ—वह यह(पुरुष) निश्चय इस स्वप्नावस्थामें रमणकर(खुशीका खेल खेलकर) विचरकर(घूमकर) पुण्य और पाप, दोनोंको निश्चय देखकर(भोगकर) फिर जैसे गया था वैसे, अपने स्थानकी ओर जागनेकेलिये निःसन्देह आता है ॥ १ ॥

तद् यथा अनः सुसमाहितम् उत्सर्जद् यायाद्, एवम् एव अयं शारीरः आत्मा प्राज्ञेन आत्मना अन्वारूढः उत्सर्जन् याति, यत्र एतद् ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ २ ॥

अर्थ—वह जैसे गड्डा(छकडा) अन्न आदिसे पूरा लदा हुआ चीकताहुआ (चीं चीं करता हुआ) गाडीवानसे अधिष्ठित हुआ जाता है, ऐसे ही यह शरीरका स्वामी आत्मा ईश्वर आत्मासे अधिष्ठित हुआ(ईश्वरीय नियमके अधीन हुआ) चीकता हुआ जाता है, जिस कालमें यह ऊपरको सांस भरता(मरनेको होता) है ॥ २ ॥

स यत्र अयम् अणिमानं न्येति जरया वा, उपतपता वा अणिमानं निगच्छति, तद् यथा आम्रं वा, उदुम्बरं वा, पिप्पलं वा, बन्धनात् प्रमुच्यते, एवम् एव अयं पुरुषः सर्वेभ्यो अङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति प्राणाय एव ॥ ३ ॥

अर्थ—वह यह आत्मा जब कभी बुढापेसे अत्यन्त कृशता(निर्बलता) को प्राप्त होता है, अथवा ज्वर आदि किसी रोगसे अत्यन्त कृशताको प्राप्त होता है, तब जैसे चाहे आम, चाहे गूलर, चाहे पिप्पल(पीपलका फल), अपनी डंडीसे छूट जाता है, ऐसे ही यह आत्मा सब अङ्गों(नेत्र आदि सब अवयवों)से छूटकर फिर जैसे गया था वैसे(उलटा) अपने स्थानकीओर निःसन्देह जीवनके लिये आता है ॥ ३ ॥

तद् यथा राजानम् आयन्तम् उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यः अन्नैः पानैः आवसथैः प्रतिकल्पन्ते-अयम्-आयाति, अयम् आगच्छति इति, एवं ह एवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्ते-इदं ब्रह्म आयाति, इदं ब्रह्म आगच्छति इति ॥ ४ ॥

अर्थ—वह जैसे आतेहुए राजाकी पुलिस, न्यायाधीश, रथोंवाले और नगरों तथा ग्रामोंके नायक, अन्न पान और निवासस्थानसे प्रतीक्षा करते हैं (वाट जोहते हैं) यह आता है, यह आता हैं, इसप्रकार बोलते हुए, ऐसे ही इसप्रकारके नये जीवनको प्राप्त करनेकेलिये आतेहुए आत्माकी यह ब्रह्म(हमारे देश और जातिका वर्धक) आता है, यह ब्रह्म आता है, इस प्रकार बोलते हुए सब प्राणी प्रतीक्षा करते हैं ॥ ४ ॥

तद् यथा राजानं प्रयियासन्तम् उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यः अभिसमायन्ति, एवम् एव इमम् आत्मानम् अन्तकाले सर्वे प्राणाः अभिसमायन्ति, यत्र एतद् ऊर्ध्वेश्वासी भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—वह जैसे दूर जाना चाहतेहुए राजाके पुलिस, न्यायाधीश, रथोंके चलानेवाले और नगर तथा ग्रामोंके नायक, सबओरसे इकट्ठे होकर सामने आजाते हैं, ऐसे ही अन्तकालमें सब प्राण(नेत्र आदि सब इन्द्रियां) इकट्ठे होकर इस आत्माके सामने (पास) आजाते हैं, जब यह ऊपर सांस भरता (मरनेको होता) है ॥ ५ ॥

(६) स यत्र अयम् आत्मा अबल्यं न्येत्य संमोहम् इव न्येति, अथ एनम् एते प्राणाः अभिसमायन्ति । स एताः तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयम् एव अन्ववक्रामति, स यत्र एष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्तते, अथ अरूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

अर्थ—वह यह आत्मा जब निर्बलता(कमजोरी)को प्राप्त होकर बेखबरी सीको प्राप्त होताहै, तब ये सब प्राण इकट्ठेहोकर इस(आत्मा)के सामने(पास) आजाते हैं ।

वह इन प्रकाशके अंशो(रूप आदि विषयोंकी प्रकाशक नेत्र आदि इन्द्रियोंकी ज्योति)को साथ लेता हुआ निश्चय हृदयमें आजाता है। वह यह नेत्रमें रहनेवाला(जाग्रतावस्थामें विशेषरूपसे नेत्रमें रहकर सबका जाननेवाला) आत्मा जब विमुख(रूपआदि विषयोंके जाननेसे पराङ्मुख) हुआ वापस आजाता(नेत्र आदि इन्द्रियोंके सहित हृदयमें आजाता) है, तब रूप(रूप आदि)का न जाननेवाला होता है ॥ १ ॥

एकीभवति न पश्यति इति आहुः। एकीभवति न जिघ्रति इति आहुः। एकीभवति न रसयते इति आहुः, एकीभवति न वदति इति आहुः। एकीभवति न शृणोति इति आहुः, एकीभवति न स्पृशति इति आहुः। एकीभवति न मनुते इति आहुः। एकीभवति न विजानाति इति आहुः॥ २॥

अर्थ—एक(इकट्ठा) हो जाता है, इसलिये नही देखता है, ऐसा कहते हैं; एक हो जाता है, इसलिये नही सूंघता है, ऐसा कहते हैं, एक हो जाता है इसलिये नही रसलेता है, ऐसा कहते हैं, एक होजाता है, इसलिये नही बोलता है, ऐसा कहते हैं, एक होजाता है, इसलिये नही सुनता है, ऐसा कहते हैं, एक हो जाता है, इसलिये नही छूता है, ऐसा कहते हैं, एक हो जाता है, इसलिये नही समझता है, ऐसा कहते हैं, एक हो जाता है, इसलिये नही जानता है, ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥

तस्य ह एतस्य हृदयस्य अग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेन एषः आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा, मूर्ध्नो वा, अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः॥ ३॥

अर्थ—उस इस हृदयका निश्चय अगला भाग(बाहर निकलनेका द्वार)आत्माके स्वरूपभूत प्रकाशसे प्रकाशित हो जाता है, उस प्रकाशके साथ यह आत्मा कभी आंख (नेत्र)से, कभी सिरसे(दसवें द्वारसे) कभी दूसरे शरीरके अंगोंसे बाहर निकलता है ॥३॥

तम् उत्क्रामन्तं प्राणो अनु+उत्क्रामति, प्राणम् उत्क्रामन्तं सर्वे प्राणाः अनूत्क्रमन्ति। स सविज्ञानो भवति, सविज्ञानम् एव अन्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च॥ ४॥

अर्थ—उस बाहर निकलतेहुए आत्माके पीछे मुख्य प्राण(प्राणनशक्ति) निकलता है। मुख्य प्राणके बाहर निकलतेहुए के पीछे नेत्र आदि सब इन्द्रियां बाहर निकलती हैं। वह(आत्मा) उस समय बुद्धिके(लिंगशरीर)के साथ होता है और बुद्धिके साथ ही दूसरे लोक(जन्म)केलिये चलता है, उस चलतेहुएके पीछे उसकी उपासना, उसके शुभ, अशुभ कर्म और पहली बुद्धि(पूर्व शरीरमें अनुभव किये हुए पदार्थोंके संस्कार) पीछे चलती है ॥ ४ ॥

तद् यथा तृणजलायुका तृणस्य अन्तं गत्वा अन्यम् आक्रमम् आक्रम्य आत्मानम् उपसंहरति, एवम् एव अयम् आत्मा इदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वा अन्यम् आक्रमम् आक्रम्य आत्मानम् उपसंहरति॥५॥

अर्थ—वह जैसे घासकी जलू(सुण्डी) तिनकेके अन्तपर पहुँचकर दूसरा सहारा(तिनका) पकडकर अपने आपको इकट्ठा कर लेती(खींचलेती) है, ऐसे ही यह आत्मा इस शरीर(पहले शरीर)को मारकर(छोडकर) विस्मरणको प्राप्तकर(भुलाकर)दूसरा सहारा पकडकर(दूसरे शरीरका आश्रय लेकर) अपनेआपको इकट्ठा करलेता(खींचलेता) है ॥ ५ ॥

तद् यथा पेशस्करी पेशसो मात्राम् उपादाय अन्यत् नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते, एवम् एव अयम् आत्मा इदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वा अन्यत् नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा, गान्धर्वं वा, दैवं वा, प्राजापत्यं वा, ब्राह्मं वा, अन्येषां वा भूतानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—वह जैसे सुवर्णकार(सुनार) सुवर्ण(सोने)के टुकडेको लेकर दूसरा अधिक नया और अधिक सुन्दर भूषण(गहना)बना देता है, ऐसे ही यह आत्मा इस शरीरको मारकर विस्मरणको प्राप्तकर(भुलाकर) दूसरा अधिकनया और अधिक सुन्दर कदाचित्(कभी) पितरोंका, कदाचित् गन्धर्वोंका, कदाचित् देवताओंका, कदाचित् प्रजापति(क्षत्रिय)का, कदाचित् ब्रह्मा(ब्राह्मण)का और कदाचित् दूसरे प्राणियोंका शरीर बनालेता है ॥ ६ ॥

यथाकारी यथाचारी तथा भवति । साधुकारी साधुः भवति, पापकारी पापो भवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसा कर्म करनेवाला, जैसा आचरण करनेवाला यहां होता है, वैसा आगे होता है । भला कर्म करनेवाला भला होता है, बुरा कर्म करनेवाला बुरा होता है । पुण्यात्मा(अच्छे शरीरवाला)पुण्य कर्मसे होता है और पापात्मा पापकर्मसे होता है ॥७॥

अथो खलु आहुः–काममयः एव अयं पुरुषः इति । स यथाकामो भवति, तत्क्रतुः भवति । यत्क्रतुः भवति, तत् कर्म कुरुते । यत् कर्म कुरुते, तद् अभिसम्पद्यते । तद् एष श्लोको भवति–"तद् एव सक्तः सह कर्मणा एति, लिङ्गं मनो यत्र निषक्तम् अस्य । प्राप्य अन्तं कर्मणः तस्य, यत् किंच इह करोति अयम् । तस्मात् लोकात् पुनर् एति, अस्मै लोकाय कर्मणे" इति ॥ ८ ॥

अर्थ—अब निश्चय ऐसा कहते हैं–यह पुरुष निःसन्देह इच्छारूप है । वह जैसी इच्छावाला होता है, वैसे सङ्कल्पवाला होता है, जैसे सङ्कल्पवाला होता है, वैसा कर्म करता है । जैसा कर्म करता है, वैसे फलको प्राप्त होता है । उसके विषयमें यह श्लोक है–उस ही में आसक्त हुआ(मन लगाया हुआ) कर्मके साथ परलोकमें जाता है, जिसमें इसका लिङ्गशरीर मन बंधा हुआ होता है । और जो कोई भी कर्म यह यहां करता है,

वहां उस कर्मके अन्तको प्राप्तकरके(उस कर्मके फलको भोगकर) उस लोकसे इस लोकमें कर्मकेलिये(दूसरा नया कर्म करनेकेलिये) फिर आता है, बस ॥ ८॥

इति नु कामयमानः, अथ अकामयमानः। यो अकामो निष्कामः आप्तकामः आत्मकामः, न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति, ब्रह्म एव सन् ब्रह्म अप्येति। तद् एष श्लोको भवति-"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामाः ये अस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते" इति ॥९॥

अर्थ—यह निश्चय सांसारिक पदार्थोंकी कामना(ख्वाहश) करनेवाला(सकाम) पुरुष कहा है, अब न कामना करनेवाला(निष्काम) पुरुष कहा जाता है। जो कामनाओं(इच्छाओं)से रहित है, जिसकी सब कामनायें निवृत्त होगई हैं, जो समाप्त हुई कामनाओंवाला है, जिसको आत्मारूप ही सब कामनायें हैं (जिसके सामने आत्माके सिवा दूसरा कोई कामयितव्य पदार्थ ही नही है), उसके प्राण(मुख्य प्राण और नेत्र आदि इन्द्रियां) नही निकलते(शरीरसे बाहर निकलकर दूसरा शरीर धारण करनेको नही जाते) हैं, वह निश्चय ब्रह्म हुआ ब्रह्मको प्राप्त होता है। उसके विषयमें यह श्लोक है—जब सब कामनायें निवृत्त हो जाती हैं, जो इसके हृदय(मन)में रहती हैं। तब यह जन्मने मरनेवाला(मनुष्य) अमृत(जन्म मरणसे रहित) हो जाता है, यहां ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

तद् यथा अहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत, एवम् एव इदं शरीरं शेते। अथ अयम् अशरीरो अमृतः, प्राणो, ब्रह्म एव, तेजः एव। सो अहं भगवते सहस्रं ददामि, इति ह उवाच जनको वैदेहः॥ १०॥

अर्थ—वह जैसे सांपकी कैंचुली मरीहुई फैंकी हुई वल्मीक(बर्मी)में पडी रहती है, ऐसे ही यह शरीर पडा रहता है। अब यह शरीरसे रहितहुआ अमृत है, जीवन है, केवल ब्रह्म है, केवल प्रकाश है। वह मैं तुझ पूज्यको हजार गौएं देता हूं, यह उस प्रसिद्ध जनक वैदेह (विदेह देशके राजा) ने कहा ॥ १० ॥

तद् एते श्लोकाः भवन्ति—अणुः पन्थाः विततः पुराणो, मां स्पृष्टो, अनुवित्तो मया एव। तेन धीराः अपियन्ति ब्रह्मविदः, स्वर्गं लोकम् इतः ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥ १ ॥

अर्थ—उसमें ये श्लोक हैं—तलवारकी धारासेभी सूक्ष्म(तेज), दूरतक फैलाहुआ (लम्बा), प्राचीन मार्ग(मोक्ष मार्ग) मुझे मिला है, और मैंने उसको निःसन्देह गन्तव्यस्थान (ब्रह्म)में पहुचानेवाला पाया है। उस(मार्ग)से ब्रह्मके जाननेवाले बुद्धिमान् मनुष्य जन्ममरणसे अत्यन्त छुटकारा पाये हुए सुखमय लोक(ब्रह्मरूपी लोक)को प्राप्त होते हैं, जो यहांसे बहुत ऊंचा है ॥ १ ॥

अनन्दाः नाम ते लोकाः, अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तान् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति, अविद्वांसो अबुधो जनाः ॥ २ ॥

अर्थ—वे जो सुखसे रहित लोक गाढे अन्धेरेसे ढँपेहुए प्रसिद्ध हैं, उन(लोकों)में वे मरकर जाते हैं, जो ब्रह्मज्ञानसे रहित बेसमझ मनुष्य हैं ॥ २ ॥

आत्मानं चेद् विजानीयाद्, अयम् अस्मि इति पूरुषः। किम् इच्छन् कस्य कामाय, शरीरम् अनुसंज्वरेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—यदि मनुष्य आत्मा(ब्रह्म)को इसप्रकार जानले कि यह मैं हूं। तो फिर क्या चाहताहुआ किसपदार्थकी कामना(इच्छा)केलिये शरीरको तपाये (रागद्वेषअग्निसेजलाये)॥३॥

यस्य अनुवित्तः प्रतिबुद्धः आत्मा, अस्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः। स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता, तस्य लोकाः स उ लोकः एव ॥ ४ ॥

अर्थ—आत्मा जो इस संशय(खतरे)की जगह गहन(विषम) संसारमें प्रविष्ट(प्रवेश किया हुआ) है, जिसको प्राप्त हुआ है, जिसने साक्षात् किया है। वह सबका बनानेवाला है, वह निःसन्देह सबका जीवनदाता है, उसीके सब लोक हैं और वही निश्चय सब लोक है ॥ ४ ॥

इह एव सन्तो अथ विद्मः तद् वयं, न चेद् अवेदीः महती विनष्टिः। ये एतद् विदुः अमृताः ते भवन्ति, अथ इतरे दुःखम् एव अपियन्ति ५

अर्थ—अब हम इस लोक(शरीर)में होते हुए(रहते हुए) ही उस(ब्रह्म)को जान सकते हैं, यदि न जाना, तो इस न जाननेवालेकेलिये बड़ा विनाश(बार-बार मरना) है। जो इस(ब्रह्म)को जानते हैं, वे अमृत होजाते हैं, और दूसरे दुःख ही दुःख(बार बार जन्म और मरण) पाते हैं ॥ ५ ॥

यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तम् एव मन्ये आत्मानं, विद्वान् ब्रह्म अमृतो अमृतम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस(ब्रह्म)में पांचो मनुष्य (आर्य, मंगोलीन, अमरकण, न्यग्रस, मलय) और प्रकृति(कार्यसहित प्रकृति) आश्रय पायेहुए(ठहरे हुए) हैं, मैं उस ही को आत्मा मानता(समझता) हूं, और मैं उसी अमृत ब्रह्मको जानताहुआ अमृत हुआ हूं ॥ ६ ॥

प्राणस्य प्राणम् उत चक्षुषः चक्षुः, उत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युः ब्रह्म पुराणम् अग्र्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो प्राणके प्राणको और नेत्रके नेत्रको और कानके कानको और मनके मनको जानते हैं। वे ब्रह्मको जानते हैं, जो सनातन है और सबसे श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

एकधा एव अनुद्रष्टव्यम्, एतद् अप्रमयं ध्रुवम्। विरजः परः आकाशाद्, अजः आत्मा महान् ध्रुवः ॥ ८ ॥

अर्थ—एक प्रकार(एकरूप)से ही यह(ब्रह्म) देखने योग्य है, जो प्रमाणोंका अविषय और स्वरूपसे अचल है। जो क्लेशआदि धूरसेरहित(निर्मल), प्रकृतिसे परे, अनादि, सबका अन्तरात्मा, महान्‌से महान् और अविनाशी है ॥ ८ ॥

तम् एव धीरो विज्ञाय, प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। न अनुध्यायाद् बहून् शब्दान्, वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ९ ॥ इति ॥ ११ ॥

अर्थ—उस(आत्मा) को ही जानकर बुद्धिमान् ब्राह्मण (वेद आदि समस्त विद्याओंका पारंगत विद्वान्) ऋतंभरा प्रज्ञा(सब आत्मा है, इस ऊंची बुद्धि) को बनाये। बहुत शब्दों(पुस्तकों)का न चिन्तन(वारवार पढना) करे, क्योंकि वह (पुस्तकोंका बार बार पढना) केवल वाणीका थकाना है ॥ ९ ॥ बस ॥ ११ ॥

(७) स वै एष महान् अजः आत्मा, यो अयं विज्ञानमयः प्राणेषु, यः एषो अन्तर् हृदये आकाशः, तस्मिन् शेते। सर्वस्य वशी, सर्वस्य ईशानः, सर्वस्य अधिपतिः ॥ १ ॥

अर्थ—वह यह आत्मा निश्चय महान् और अनादि है, जो यह बुद्धिमय(बुद्धिके रंगसे रंगा हुआ) है, प्राणों(इन्द्रियों)से घिराहुआ है, और जो यह हृदयमें भीतर आकाश है, उसमें रहता है। वह सबको वशमें रखनेवाला, सबका शासक और सबका स्वामी है ॥ १ ॥

स न साधुना कर्मणा भूयान्, नो एव असाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वरः, एष भूताधिपतिः, एष भूतपालः, एष सेतुः विधरणः एषां लोकानाम् असम्भेदाय ॥ २ ॥

अर्थ—वह न शुभ कर्मसे बडा होता है और नही अशुभ कर्मसे निश्चय छोटा होता है। यह सबका ईश्वर, यह प्राणी अप्राणी, सबका स्वामी, और यह प्राणी अप्राणी, सबका पालक है, यह बंधा है मर्य्यादामें रखनेवाला इन सब गोलोंको न मिलनेदेने(आपसमें न टकराजाने)केलिये ॥ २ ॥

तम् एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन। एतम् एव विदित्वा मुनिः भवति। एतम् एव प्रव्राजिनो लोकम् इच्छन्तः प्रव्रजन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस इस(आत्मा)को ब्राह्मण वेदके पढनेपढानेसे, यज्ञसे, दानसे और अल्पभोजनरूपी तपसे जाननाचाहते हैं। इस(आत्मा)को ही जानकर (साक्षात्कर) मुनि (वैदिकमुनि) होता है। इस ही लोक(आत्मारूपी लोक)को चाहतेहुए वीतराग मुमुक्षु संन्यासी हो जाते हैं ॥ ३ ॥

एतद् ह स्म वै तत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नो अयम् आत्मा, अयं लोकः इति। ते ह स्म पुत्रै-

षणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—उस इस(ब्रह्मलोक)को ही निश्चय जानते हुए(साक्षात् देखते हुए) पहले ब्राह्मण प्रजाको(लोक, परलोकके साधन प्रजा आदिको) नही चाहते थे, यह समझते हुए कि हम प्रजासे(प्रजाआदिसे) क्या करेंगे, जिन हमको यह आत्मा प्राप्त है, और यह (आत्मा) ही प्राप्त करनेयोग्य लोक है । वे निश्चय पुत्रकामनासे (पुत्रोंकी इच्छासे) और धनकामनासे और निश्चय लोककामनासे ऊपर उठकर (तीनों कामनाओंको छोडकर) पीछे भिक्षावृत्ति(स्वच्छन्दवृत्ति)का आचरण(आश्रयण) करते थे ॥ ४ ॥

स एष न इति न इति आत्मा, अगृह्यो नहि गृह्यते, अशीर्यो नहि शीर्यते, असङ्गो नहि सज्यते, असितो न व्यथते, न रिष्यति । एतम् उ ह एव एते न तरतः—इति अतः पापम् अकरवम्, इति अतः कल्याणम् अकरवम् इति । उभे उ ह एव एष एते तरति । न एनं कृताकृते तपतः ॥ ५ ॥

अर्थ—वह यह आत्मा जिसका वर्णन यह नही, यह नही है, पकडने योग्य नही, इसलिये नही पकडा जाता है, काटने योग्य नही, इसलिये नही काटा जाता है, निर्लेप है, इसलिये नही लिप्त होता है, बन्धनरहित है, इसलिये न दुःखी होता है, न मारा जाता है। इसको(इसआत्माके जाननेवालेको) कहीं कभी निश्चय इसप्रकार ये दोनों नही उलांघते(ऊपरसे गुजरते) कि इस कारणसे मैंने बुरा कर्म किया, इस कारणसे मैंने अच्छा कर्म किया। यह निःसन्देह इन दोनोंको ही सदाकेलिये उलांघजाता है। इसको किया और न किया, दोनों नही तपाते हैं ॥ ५ ॥

तद् एतद् ऋचा अभ्युक्तम्—एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य, न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्य एव स्यात् पदवित्, तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥ १ ॥ इति ॥ ६ ॥

अर्थ—वह यह मन्त्रने कहा है—आत्मवेत्ता(ब्रह्मवेत्ता)का यह महत्त्व सदा एकरस है, वह न किसी कर्मसे बडा होता है, और नही छोटा होता है। इसलिये उस(आत्मा)के ही पाओंका लभनेवाला(खोजी) होवे, क्योंकि उस(आत्मा)को जानकर मनुष्य पाप-पुण्य कर्मसे नही लिप्त होता है ॥ बस ॥ ६ ॥

तस्माद् एवंवित् शान्तो दान्तः उपरतः तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मनि एव आत्मानं पश्यति । सर्वम् आत्मानं पश्यति । न एनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति । न एनं पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मानं तपति । विपापो विरजो अविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—इसलिये इसप्रकार आत्मज्ञानके महत्त्वका जाननेवाला मनुष्य रागद्वेषसे रहित, वशमें कियेहुए इन्द्रियोंवाला, सब कामनाओंको छोडा हुआ, द्वंद्वोंको सहारनेवाला और एकाग्र मनवाला होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है। सबको आत्मा देखता है। इसको पाप नहीं उलांघता है, यह सब पाप उलांघ जाता है। इसको पाप नहीं तपाता है, यह सब पापोंको तपाता है। यह पापसेरहित, क्लेशआदिसेरहित, संशय-विपर्ययसेरहित ब्राह्मण होता है ॥ ७ ॥

एष ब्रह्मलोकः सम्राट्!, एनं प्रापितो असि, इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः। सो अहं भगवते विदेहान् ददामि, मां च अपि सह दास्याय इति ॥८॥

अर्थ—यह है ब्रह्मलोक हेसम्राट्!, इस(ब्रह्मलोक) को तू पहुचाया गया है, यह निश्चय याज्ञवल्क्यने कहा। वह मैं तुझ पूज्यको विदेह देश देता हूं और साथही सेवाकर्मकेलिये अपनेको भी देता हूं, यह राजा जनकने कहा ॥ ८ ॥

(८) अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः, मैत्रेयी च कात्यायनी च। तयोः ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव, स्त्रीप्रज्ञा एव तर्हि कात्यायनी ॥ १ ॥

अर्थ—अब निश्चय याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियां थीं, एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। उन दोनोंमेंसे मैत्रेयी निःसन्देह ब्रह्मवादिनी(शास्त्रीय बुद्धिवाली) थी और कात्यायनी तब केवल स्त्रियों जैसी बुद्धिवाली ॥ १ ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यो अन्यद् वृत्तम् उपाकरिष्यन् मैत्रेयि! इति ह उवाच-प्रव्रजिष्यन् वै अरे अहम् अस्मात् स्थानात् अस्मि, हन्त ते अनया कात्यायन्या अन्तं करवाणि इति ॥ २ ॥

अर्थ—अब निश्चय दूसरा आचरण (गृहाश्रमियोंसे भिन्न संन्यासियोंका आचरण) आरम्भ करनेवालेहुए याज्ञवल्क्यने हे मैत्रेयी! इसप्रकार बुलाकर अपनी प्रसिद्ध उस बडी धर्मपत्नीसे यह कहा—अरे मैं निश्चय इस स्थानसे(गृहस्थाश्रमसे) लम्बा जानेवाला (संन्यासी होनेवाला) हूं, यदि तू चाहे, तो तेरा इस कात्यायनीके साथ धनका विभाग कर जाऊं ॥ २ ॥

सा ह उवाच मैत्रेयी-यत् नु मे इयं भगोः! सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, स्यां नु अहं तेन अमृता, आहो न इति। न इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः। यथा एव उपकरणवतां जीवितं, तथा एव ते जीवितं स्याद्, अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन इति ॥ ३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध मैत्रेयीने कहा—हेभगवन्! यदि मेरे पास निश्चय यह सब पृथिवी धनसे भरी हुई हो, तो मैं उससे क्या अमृत(जन्म मरणसे रहित) हो-जाऊंगी, अथवा नहीं? यह आप कहें। नहीं, यह निःसन्देह याज्ञवल्क्यने कहा। जैसा

निश्चय दूसरे धनवानोंका जीवन है, वैसा ही तेरा जीवन होगा, अमृत होनेकी तो धनसे आशा (उम्मीद) नहीं है, यह कहा ॥ ३ ॥

सा ह उवाच मैत्रेयी–येन अहं न अमृता स्यां, तेन किं कुर्याम् । यद् एव भगवान् वेत्थ, तद् एव मे विब्रूहि इति ॥ ४ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध मैत्रेयीने यह कहा–जिससे मैं अमृत (जन्ममरणसे रहित) न हूंगी, उससे (उसको लेकर) क्या करूंगी । जो ही अमृतत्वका साधन आप पूज्य जानते हैं, वह ही मुझे खोलकर कहें ॥ ४ ॥

स ह उवाच याज्ञवल्क्यः–प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियम् अवृधत्, हन्त तर्हि भवति ! एतद् व्याख्यास्यामि ते, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यायस्व इति ॥ ५ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यने यह कहा–निःसन्देह प्यारी हुई हुई आप माननीयाने हमारे प्यारको निश्चय बढाया है, हे माननीया ! अब मैं खुशीसे इस (अमृतत्वके साधन)को तुझे खोलकर कहूंगा, परन्तु मुझ खोलकर कहतेहुएके वचनको मन लगाकर सुन ॥ ५ ॥

स ह उवाच–न वै अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वै अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वै अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति । न वै अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वै अरे पशूनां कामाय पशवः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पशवः प्रियाः भवन्ति । न वै अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वै अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वै अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति । न वै अरे देवानां कामाय देवाः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रियाः भवन्ति । न वै अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय वेदाः प्रियाः भवन्ति । न वै अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वै अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।

आत्मा वै अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । मैत्रेयि ! आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध (याज्ञवल्क्य)ने कहा–अरे मैत्रेयी ! पतिके प्रयोजन (मतलब) केलिये निश्चय पति प्यारा नहीं होता है, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये पति प्यारा होता है । अरे ! पत्नीके प्रयोजनकेलिये निश्चय पत्नी प्यारी नहीं होती है, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये पत्नी प्यारी होती है । अरे ! पुत्रोंके प्रयोजनकेलिये निश्चय पुत्र प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये पुत्र प्यारे होते हैं। अरे ! धनके प्रयोजनके लिये निश्चय धन प्यारा नहीं होता है, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये धन प्यारा होता है, अरे पशुओंके प्रयोजनकेलिये निश्चय पशू प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये पशू प्यारे होते हैं । अरे ! ब्राह्मणके प्रयोजनकेलिये निश्चय ब्राह्मण प्यारा नहीं होता है, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये ब्राह्मण प्यारा होता है । अरे ! क्षत्रियके प्रयोजनकेलिये निश्चय क्षत्रिय प्यारा नहीं होता है किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये क्षत्रिय प्यारा होता है । अरे ! लोकों (पृथिवी आदिलोकों)के प्रयोजनकेलिये निश्चय लोक प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये लोक प्यारे होते हैं । अरे देवताओं (अग्नि आदि देवताओं)के प्रयोजनकेलिये निश्चय देवता प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये देवता प्यारे होते हैं। अरे वेदोंके प्रयोजनकेलिये निश्चय वेद प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये वेद प्यारे होते हैं । अरे प्राणियोंके प्रयोजनकेलिये निश्चय प्राणी प्यारे नहीं होते हैं, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये प्राणी प्यारे होते हैं। अरे सब (जड, चेतन हरएक वस्तु)के प्रयोजनकेलिये निश्चय सब प्यारा नहीं होता है, किन्तु अपने प्रयोजनकेलिये सब (हरएक वस्तु) प्यारा होता है । इसलिये आत्मा ही अरे देखने (साक्षात् करने) योग्य है, सुनने योग्य है समझने योग्य है और मनन लगाने योग्य है । अरे मैत्रेयी ! निश्चय आत्माके देखेजानेपर अर्थात् सुने गये, समझे गये और जानेगये (साक्षात् कियेगये) होनेपर यह सब जाना गया होता है ॥ ६ ॥

ब्रह्म तं परादाद् यो अन्यत्र आत्मनो ब्रह्म वेद । क्षत्रं तं परादाद् यो अन्यत्र आत्मनः क्षत्रं वेद । लोकाः तं परादुः यो अन्यत्र आत्मनो लोकान् वेद । देवाः तं परादुः यो अन्यत्र आत्मनो देवान् वेद । वेदाः तं परादुः यो अन्यत्र आत्मनो वेदान् वेद । भूतानि तं परादुः यो अन्यत्र आत्मनो भूतानि वेद । सर्वं तं परादाद् यो अन्यत्र आत्मनः सर्वं वेद । इदं ब्रह्म, इदं क्षत्रम्, इमे लोकाः, इमे देवाः, इमे वेदाः, इमानि भूतानि, इदं सर्वं, यद् अयम् आत्मा ॥ ७ ॥

अर्थ—ब्राह्मण (ब्राह्मण जाति) उसको परेकरता(मोक्षमार्गसे दूर लेजाता) है, जो आत्मासे भिन्न ब्राह्मणको जानता(देखता) है । क्षत्रिय (क्षत्रिय जाति) उस को दूर करता है, जो आत्मासे भिन्न क्षत्रियको जानता है । लोक उसको परेकरते हैं, जो आत्मासे भिन्न लोकोंको जानता है । देवता उसको परेकरते हैं, जो आत्मासे भिन्न देवताओंको जानता है । वेद उसको परेकरते हैं, जो आत्मासे भिन्न वेदोंको जानता है । प्राणी उसको परेकरते हैं, जो आत्मासे भिन्न प्राणियोंको जानता है । सब (हरएक वस्तु) उसको परेकरता है, जो आत्मासे भिन्न सबको जानता है । यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, ये लोक, ये देवता, ये वेद, ये प्राणी और यह सब (हरएक वस्तु) यह है, जो यह आत्मा है ॥ ७ ॥

स यथा दुन्दुभेः हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय, दुन्दुभेः तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा, शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

अर्थ—वह जैसे दण्ड आदिसे ताडीहुई(चोट दीहुई) दुन्दुभि(नगारे)के बाहरले (दुन्दुभिसे बाहर निकलेहुए) शब्दोंको जाननेकेलिये कोई सके नही(समर्थ नहीं), परन्तु दुन्दुभि अथवा दुन्दुभिकेताडनेको जानलेनेसे दुन्दुभिका सब शब्द जाना गया होता है ॥८॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय, शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा, शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

अर्थ—वह जैसे फूंके गये शङ्खके बाहरले शब्दोंको जाननेकेलिये कोई सके नही, परन्तु शङ्ख अथवा शङ्खके फूंकनेको जानलेनेसे शङ्खका सब शब्द जाना गया होता है ॥९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय; वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा, शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

अर्थ—वह जैसे बजाई हुई वीणाके बाहरले शब्दोंको जाननेकेलिये कोई सके नही, परन्तु वीणा अथवा वीणाके बजानेको जानलेनेसे वीणाका सब शब्द जानागया होता है १०

स यथा आर्द्रैधाग्नेः अभ्याहितस्य पृथग् धूमाः विनिश्चरन्ति, एवं वै अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद् , यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्याः उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि, व्याख्यानानि, इष्टं हुतम् आशितं पायितम् , अयं च लोकः परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि । अस्य एव एतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ ११ ॥

अर्थ—वह जैसे सब ओरसे बढेहुए गीली–लकडियोंसे प्रज्वलित कियेहुए अग्निके अलग अलग(अनेक प्रकारके)निश्वासकीनाई धूएं निकलते हैं, ऐसे ही इस महान् (असीम=बेहद) सद् ब्रह्म (आत्मा)का निश्वासकी नाई निश्वास(बाहर जानेवाला सांस) है यह, जो ऋग्वेद है, यजुर्वेद है, सामवेद है, अथर्ववेद है, इतिहास है, पुराण है,

शिल्प आदि अनेकविध विधायें, उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञ, होम, खिलाया पिलाया, यह लोक और निश्चय दूसरा लोक और ये सब प्राणी हैं। निःसन्देह ये सब इस आत्माके निश्वास(निश्वासकी नाई निश्वास) हैं ॥ ११ ॥

स यथा सैन्धवघनो अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नो रसघनः एव, एवं वै अरे अयम् आत्मा अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः एव, एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तानि एव अनुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञा अस्ति, इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

अर्थ—वह जैसे लवणका ढेला उसके न कुछ अंदर(भीतर)है, न कुछ बाहर है, सबका सब लवणका ढेला ही है, ऐसे ही अरे मैत्रेयी ! यह आत्मा, उसके न कुछ अंदर है, न कुछ बाहर है, सबका सब ज्ञानका ढेला ही है, वह इन शरीराकार पांचों भूतोंसे उठकर(अहंता ममता सम्बन्धको छोडकर) उनके नष्ट हो जानेपर निश्चय नष्ट होजाता(नष्ट हुआ सा कहा जाता) है, नाशको प्राप्त होकर इसे कोई ज्ञान नहीं होता है, यह प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १२ ॥

सा ह उवाच मैत्रेयी–अत्र एव मा भगवान् मोहान्तम् आपीपिपत्, न वै अहम् इमं विजानामि इति । स ह उवाच–न वै अरे अहं मोहं ब्रवीमि । अविनाशी वै अरे अयम् आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा ॥ १३ ॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध मैत्रेयीने यह कहा–यहां ही (नष्ट होजाने, तथा कोई ज्ञान न होनेमें ही) भगवान्ने मुझे बेसमझीकी अवस्थाको प्राप्त किया (पहुंचाया) है, निःसन्देह मैं इसको नहीं समझी हूं । उस(याज्ञवल्क्य) प्रसिद्धने कहा–अरे मैं निश्चय बेसमझीमें डालनेवाली बात नहीं कहता हूं । हे मैत्रेयी ! निश्चय यह आत्मा अविनाशी है और न नष्ट होनेके स्वभाववाला है ॥ १३ ॥

यत्र हि द्वैतम् इव भवति तद् इतरः इतरं पश्यति, तद् इतरः इतरं जिघ्रति, तद् इतरः इतरं रसयते, तद् इतरः इतरम् अभिवदति, तद् इतरः इतरं शृणोति, तद् इतरः इतरं स्पृशति, तद् इतरः इतरं मनुते, तद् इतरः इतरं विजानाति । यत्र तु अस्य सर्वम् आत्मा एव अभूत्, तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं जिघ्रेत्, तत् केन कं रसयेत्, तत् केन कम् अभिवदेत्, तत् केन कं शृणुयात्, तत् केन कं स्पृशेत् तत् केन कं मन्वीत, तत् केन कं विजानीयात् । येन इदं सर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात् ॥ १४ ॥

अर्थ—जब निश्चय भिन्नकी नाई होता है, तब दूसरा दूसरेको देखता है, तब दूसरा दूसरेको सूंघता है, तब दूसरा दूसरेको चूसता(रस लेता) है, तब दूसरा दूसरेको कहता है, तब दूसरा दूसरेको सुनता है, तब दूसरा दूसरेको छूता है, तब

दूसरा दूसरेको समझता है, तब दूसरा दूसरेको जानता है । परन्तु जब इसको सबकुछ आत्मा ही होजाता है, तब किससे किसको देखे, तब किससे किसको सूंघे, तब किससे किसको चूसे, तब किससे किसको कहे, तब किससे किसको सुने, तब किससे किसको छुए, तब किससे किसको समझे, तब किससे किसको जाने । जिस(आत्मा)से इस सबको जानता है, उसको किससे जाने ॥ १४ ॥

स एष न इति न इति आत्मा, अगृह्यो नहि गृह्यते, अशीर्यो नहि शीर्य्यते, असङ्गो नहि सज्यते, असितो न व्यथते, न रिष्यति । विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात् । इति उक्तानुशासना असि मैत्रेयि ! । एतावद् अरे खलु अमृतत्वम्, इति ह उक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५ ॥

अर्थ—वह यह आत्मा, जिसका वर्णन यह नही, यह नही है, पकडनेयोग्य नही, इसलिये नही पकडा जाता है, काटनेयोग्य नही, इसलिये नहीं काटा जाता है, निर्लेप है, इसलिये नही लिप्त होता है, बन्धा हुआ नही, इसलिये न दुःखी होता है, न माराजाता है । अरे ! इस सबके जाननेवालेको किससे जाने । बस कहेगये उपदेशवाली है तू हेमैत्रेयी ! । इतना ही(इतना जानना ही) अरे ! अमृतत्व (अमृत होनेका साधन) है, यह कह कर निश्चय याज्ञवल्क्य चला गया ॥ १५ ॥

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय,पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ।

शान्तिः

ओम् सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्वि नौ अधीतम् अस्तु मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(१) ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म ? कुतः स्म जाताः ? जीवेम केन ? क्व च संप्रतिष्ठाः ? । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु, वर्तामहे ब्रह्मविदो ! व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

अर्थ—वेदवादी एक दूसरेसे कहते(पूछते) हैं–हे वेदवादियो ! क्या जगत्का कारण ब्रह्म है? हम किससे जन्मे(उत्पन्न हुए) हैं, किससे जीते(पलते) हैं, और किसके अधीन हुए सुखों तथा दुखोंमें नियम(भोगके नियम)को वर्तते (पालते) हैं? और अन्तमें कहां ठहरे हुए होते(किसमें लीन होते) हैं ? ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्यम् । संयोगः एषां, न अनात्मभावाद् , आत्माऽपि अनीशः, सुखदुःख-हेतोः ॥ २ ॥

अर्थ—काल, स्वभाव, होनी, इत्तफाक, भूत(पृथिवीआदि भूत) और जीवात्मा, ये एक एक कारण हैं, अथवा इनका संयोग (मिलेहुए सब) कारण है, यह विचारणीय है । न ये एक एक कारण हैं और न इनका संयोग कारण है, क्योंकि ये और इनका संयोग, दोनों अनात्मा(ज्ञानशून्य) हैं, और जीवात्मा सुख दुःख भोगकेलिये पराधीन होनेसे असमर्थ(जगत् बनानेमें अशक्त) है ॥ २ ॥

ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन्, देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढाम् । यः कारणानि निखिलानि तानि, कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः ॥३॥

अर्थ—ध्यान(एकाग्र मन) रूपी योगमें लगेहुए उन वेदवादी ऋषियोंने देवोंके देव परमात्मा(ब्रह्म)की सृष्टिनिर्माण शक्तिको जो अपने गुणोंके सहित छिपी हुईथी, देखा । जो(देवोंका देव परमात्मा, ब्रह्म) अकेला काल और जीवात्माके सहित उन सब कारणोंको अधिष्ठान(वश)में रखता है ॥ ३ ॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथग् आत्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टः ततः तेन अमृतत्वम् एति ॥ ४ ॥

अर्थ—जो सबका जन्मस्थान और सबका मरणस्थान है, उस सबसे बडे ब्रह्मचक्र (ब्रह्मके चलायेहुए संसारचक्र)में जीवात्मा घुमाया जाता है । वह जब शरीरसे अलग अपने आपको और घुमानेवालेको समझकर उससे प्रीति कियागया(भक्तिपूर्वक कर्मयोगसे उसकी प्रीतिका पात्र) होता है, तब अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

उद्गीतम् एतत् परमं तु ब्रह्म, तस्मिन् त्रयं, सुप्रतिष्ठा अक्षरं च । अत्र अन्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीनाः ब्रह्मणि तत्पराः योनिमुक्ताः ॥५॥

अर्थ—जो यह निश्चय सबसे उत्कृष्ट(ऊचा) ब्रह्म उपनिषदोंमें गाया गया है, उसमें भोग्य(संसार) भोक्ता (जीवात्मा) और प्रेरक (ईश्वर) तीनों हैं, वह श्रेष्ठ आश्रय है, और नाशसे रहित है । इस मनुष्य शरीरमें भीतर लभकर तत्परायण होतेहुए, ब्रह्ममें लीन हुए, ब्रह्मवेत्ता योनिमें आनेजानेसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥

संयुक्तम् एतत् क्षरम् अक्षरं च, व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वम् ईशः । अनीशश्च आत्मा बध्यते भोक्तृभावात्, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ६

अर्थ—इस मिलेहुए क्षर(नाशवान् कार्य्य) और अक्षर(अविनाशी कारण) व्यक्त(स्थूल) और अव्यक्त(सूक्ष्म) सब जगत्‌को ईश्वर(परब्रह्म परमात्मा) बनाता और मिटाता है । अनीश्वर(साधन सामग्रीके न होनेसे असमर्थ) जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता होनेसे उस(जगत्)में बंध जाता और उस देवोंके देवको जानकर (साक्षात्कर) सब बन्धनोंसे छूट जाता है ॥ ६ ॥

ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ, अजा हि एका भोक्तृभोगार्थयुक्ता । अनन्तश्च आत्मा विश्वरूपो हि अकर्ता, त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥७॥

अर्थ—सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, ईश्वर (सर्वशक्ति) और अनीश्वर (अल्पशक्ति), दो अजन्मा हैं और एक अजन्मा निश्चय जगज्जननी महामाया प्रकृति है, जो भोक्ता जीवात्माको सुख दुःख भुगानेकेलिये नियुक्त है । परमात्मा अनन्त(जन्ममरणरूपी अन्तसे रहित) और सब जगत्‌का बनानेवाला है, वह निःसन्देह अकर्ता(शुभ, अशुभ कर्मका अकर्ता) और अभोक्ता (सुखदुःखका अभोक्ता) है, मनुष्य जब तीनोंको लभता (तीनोंके स्वरूपको जानलेता) है, तब इस ब्रह्मको लभता है ॥ ७ ॥

क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं हरः, क्षरात्मानौ ईशते देवः एकः । तस्य अभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्, भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः ८

अर्थ—क्षर, अक्षररूप प्रकृति और कूटस्थ अक्षररूप जीवात्मा है, प्रकृति और जीवात्मा दोनोंपर अकेला देवोंका देव परमात्मा शासन(हकूमत) करता है । उसके पुनःपुनः चिन्तनसे, उसमें मनके जोडनेसे, और फिर तद्रूप हो जानेसे, प्रारब्धभोगके अन्तमें विश्वजननी मायाकी निवृत्ति होती है ॥ ८ ॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्युप्रहाणिः । तस्य अभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे, विश्वैश्वर्यं केवलः आप्तकामः ॥ ९ ॥

अर्थ—परमात्मके जानलेनेसे क्लेश, कर्म आदि सब बन्धनोंका नाश हो जाता है, क्लेश, कर्म आदि सब बन्धनोंके नष्ट हो जानेसे जन्ममरणकी अत्यन्त निवृत्ति होजाती है । उस(परमात्मा)का बारबार चिन्तन कर तन्मय होजानेसे त्रिगुणातीत तथा समाप्त हुई कामनाओंवाला हुआ मनुष्य शरीरका भेदन(नाश) हो जानेपर उस सबके ईश्वर तीसरेको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

एतत् ज्ञेयं नित्यमेव आत्मसंस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किं चित् । भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥१०॥

अर्थ—यह शरीरमें हृदयके भीतर स्थित ब्रह्म निःसन्देह सदा जाननेयोग्य है, इससे परे निश्चय कुछ भी जानने योग्य नहीं । भोक्ता(जीवात्मा) भोग्य (प्रकृति) और प्रेरक (ईश्वर)को जानलेनेसे ब्रह्म जाना जाता है, क्योंकि यह सब ब्रह्म है, जो भोक्ता, भोग्य और प्रेरक कहा गया है ॥ १० ॥

तिलेषु तैलं दधनि इव सर्पिः, आपः स्रोतःसु अरणिषु च अग्निः । एवमात्मा आत्मनि गृह्यते असौ, सत्येन एनं तपसा यो अनुपश्यति ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसे तिलोंमें तैल, दहीमें मक्खन, भूमिके भीतरी प्रवाहोंमें पानी और लकडियोंमें अग्नि–पीडने, बिलोने, खोदने और रगडनेसे जानाजाता (देखा जाता) है । ऐसे शरीरमें हृदयके भीतर वह परमात्मा जानाजाता (देखा जाता) है, जो इसको सत्यसे और तपसे देखता है ॥ ११ ॥

(२) त्रिः उन्नतं स्थाप्य समं शरीरं, हृदि इन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्, स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ १ ॥

अर्थ—छाती, गर्दन और सिर, तीन स्थानोंसे ऊंचा(सीधा) एक जैसा शरीरको रखकर और मनके सहित इन्द्रियोंको हृदयमें इकट्ठाकर ओङ्काररूपी नौकासे भयके लानेवाले सब स्रोतों(विषयोंमें इन्द्रियोंके प्रवाहों)को योगक्रियाका जाननेवाला अच्छीतरह तरे(उलांघे) ॥ १ ॥

प्राणान् प्रपीड्य इह स युक्तचेष्टः, क्षीणे प्राणे नासिकया उच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तम् इव वाहम् एनं, विद्वान् मनो धारयेत अप्रमत्तः ॥ २ ॥

अर्थ—इस समय(योगाभ्यासकालमें) वह शरीरकी सब क्रियाओंको वशमें किया हुआ प्राणोंको भीतर बाहर रोके(पूरक–कुम्भक और रेचक–कुम्भक करे), इसप्रकार रोकनेसे प्राणके सूक्ष्म होजानेपर नासिकासे श्वास उच्छ्वासक्रिया करे(धीरे धीरे प्राणको भीतर खींचकर अन्तःकुम्भक और इसीप्रकार बाहर फैंककर बाह्यकुम्भकका अभ्यास करे) । जैसे दुष्ट घोडोंसे जुडेहुए रथको सारथि रोक लेता है, ऐसे सावधान हुआ विद्वान् इस(मनके रथ प्राण)को रोककर मनको स्थिर करे ॥ २ ॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने, गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—समतल(न नीचे न ऊंचे), शुद्ध, कंकर, गन्धक, शोरा, बालुसे रहित, शब्द(पक्षियोंके शब्द) जल, लतामण्डप आदिसे मनपसन्द और जो नेत्रोंको पीडा देनेवाला(बुरा लगनेवाला) नही, ऐसे दर्शनीय, गुफा अथवा वायुके झोकोंसे रहित किसी दूसरे स्थानमें, योगाभ्यास करे ॥ ३ ॥

नीहारधूमार्कानलानिलानां, खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनां । एतानि रूपाणि पुरःसराणि, ब्रह्मणि अभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ४ ॥

अर्थ—कुहर, धुआं, सूर्य्य, अग्नि और वायुके, जुगनूं, बिजली, बिलौर और चन्द्रमाके । ये(प्रत्यक्ष) आकार योगाभ्यासमें सामने आयेहुए(पहले देखनेमें आये हुए) ब्रह्ममें अभिव्यक्तिके जनक(ब्रह्मप्राप्तिके सूचक चिह्न) होते हैं ॥ ४ ॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते, पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ ५ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशरूपी स्थूल सूक्ष्म शरीर योगसे प्रकट (प्रत्यक्ष) होनेपर, और पंचतन्मात्र(शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) रूपी योगके गुण अपरोक्ष होनेपर । उस योगीको न रोग होता है, न बुढापा आता है और न मृत्यु, जिसको योगाग्निसे जाज्वल्यमान शरीर प्राप्त हुआ है ॥ ५ ॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं, वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च । गन्धः शुभो मूत्रपुरीषम् अल्पं, योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—शरीरका हलक होना, कोई रोग न होना, विषयोंकी लालसाका मिट-जाना, शरीरका रंग उज्वल होजाना और स्वरका मधुर हो जाना । शरीरका गन्ध शुभ होजाना, मल और मूत्र थोडा होना, पहली योगसिद्धि योगाचार्य कहते हैं ॥ ६ ॥

यथा एव बिम्बं मृदया उपलिप्तं, तेजोमयं भ्राजते तत् सुधातम् । तद् वा आत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही, एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसे निश्चय रत्न मट्टीसे लिबडा हुआ पीछे अच्छीतरह धोया हुआ तेजोमय(प्रकाशस्वरूप) हुआ चमकता है । वैसे ही जीवात्मा योगसमाधिसे आत्माके (अपने) वास्तवरूपको ठीक ठीक देखकर (साक्षात् कर) केवल(प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित) हुआ शोकसे रहित और कृतकृत्य होजाता है ॥ ७ ॥

यदा आत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं, दीपोपमेन इह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैः विशुद्धं, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

अर्थ—जब इस शरीरमें दीपकके समान आत्मतत्त्वसे निश्चय ब्रह्मतत्त्वको योग-युक्त हुआ देखता(साक्षात् करता) है । तब अनादि, निर्विकार, सब पदार्थोंसे निर्मल, देवोंके देवको जानकर(देखकर) सब बन्धनोंसे छूट जाता है ॥ ८ ॥

(३) यस्मात् परं न अपरम् अस्ति किञ्चित्, यस्मात् न अणीयो न ज्यायो अस्ति कश्चित् । वृक्षः इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति एकः, तेन इदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिससे न कुछ परे है, न वरे है, जिससे न कोई छोटा है और न कोई बडा है । जो अकेला आकाशमें वृक्षकी नाई अचल अपने प्रकाशमें स्थित है, उस पुरुषसे यह सब जगत् पूर्ण(भीतर बाहर भरपूर) है ॥ १ ॥

सर्वाननशिरोग्रीवः, सर्वभूतगुहाशयः । सर्वव्यापी स भगवान्, तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ २ ॥

अर्थ—सब मुहों, सिरों और गर्दनोंवाला, सब प्राणियोंके हृदय गुफामें रहनेवाला । सबको घेरनेवाला, वह मंगलरूप भगवान् है, इसीलिये सब जगह विद्यमान है ॥ २ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतःश्रुतिमत् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ॥ ३ ॥

अर्थ—वह सब ओर हाथ पाओंवाला, सब ओर आंख, सिर, मुंहवाला । और सब ओर कानोंवाला है । वह लोकमें सबको घेरकर स्थित है ॥ ३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । सर्वस्य प्रभुम् ईशानं, सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ ४ ॥

अर्थ—वह सब इन्द्रियोंके गुणों(विषयग्रहण शक्तियों)से चमकनेवाला और सब इन्द्रियोंसे रहित है । सबका स्वामी, सबका शासक और सबका बडा आश्रय है ॥ ४ ॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यति अचक्षुः स शृणोति अकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तम् आहुः अग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥५॥

अर्थ—वह विना हाथोंके पकडनेवाला और विना पाओंके दौडनेवाला है, वह विना आंखोंके देखता है और विना कानोंके सुनता है । वह जानने योग्यको जानता है, उसका निश्चय कोई जाननेवाला नहीं है, उसको सबसे श्रेष्ठ और सबसे बडा पुरुष कहते हैं ॥ ५ ॥

वेदाहम् एतम् अजरं पुराणं, सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् । जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य, ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मैंने इस पुरुषको जाना है, जो बुढापेसे रहित है, सनातन है, सबका आत्मा और व्यापक होनेसे सब जगह प्राप्त (मौजूद) है । जिसके जन्मका अभाव सत्य, महात्मा कहते हैं और जिसको वेदवादी सदा एकरस कहते हैं ॥ ६ ॥

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते, न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ७ ॥

अर्थ—उसका शरीर नहीं और न इन्द्रिय है, न उसके बराबर और न उससे कोई अधिक ही देखा जाता है । इसकी शक्ति सबसे बडी और अनेक प्रकारकी सुनी जाती है, वह सनातनी और ज्ञानबल(ज्ञानशक्ति) तथा क्रियाबल(क्रियाशक्ति) रूप सुनी जाती है ॥ ७ ॥

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके, न च ईशिता नैव च तस्य लिङ्गम् । स कारणं करणाधिपाधिपः, न चास्य कश्चित् जनिता न चाधिपः ॥ ८ ॥

अर्थ—उसका कोई स्वामी नहीं है और नहीं लोकमें उसका कोई शासक है और नहीं उसका कोई निश्चय चिन्ह है । वह सबका कारण(बनानेवाला) है, इन्द्रियोंके राजा(जीवात्मा)का राजा है, निःसन्देह इसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं और नहीं कोई राजा है ॥ ८ ॥

तम् ईश्वराणां परमं महेश्वरं, तं देवतानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्, विदाम देवं भुवनेशम् ईड्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—उस सबसेश्रेष्ठ राजोंके महाराजा और उस सबसेश्रेष्ठ देवताओंके देवता । सबसेश्रेष्ठ स्वामियोंके स्वामी, परलेसे परले, त्रिलोकीके ईश्वर और स्तुतिके योग्य प्रकाश-स्वरूप परमात्माको हम जानते हैं ॥ ९ ॥

(४) अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो हि एको जुषमाणोऽनुशेते, जहाति एनां भुक्तभोगाम् अजोऽन्यः १

अर्थ—एक अजा(प्रकृति), जो लाल, श्वेत और काली(रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण–मयी) है, और अपनेजैसी अनेक प्रजाओंको उत्पन्न करती है । इसको एक अज(जीवात्मा) निश्चय प्रेमकरताहुआ लिपटता है और दूसरा अज इसको अनेकवार भोगी हुई समझकर त्यागता(छोड देता) है ॥ १ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यात्, मायिनं तु महेश्वरम् । तस्य अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वम् इदं जगत् ॥ २ ॥

अर्थ—माया(सृष्टिनिर्माणशक्ति)को निश्चय प्रकृति और मायावालेको महेश्वर (परब्रह्म परमात्मा) जाने । उसी(मायावाले)के अवयवरूपी मायागुणोंसे निश्चय यह सब जगत् व्याप्त है ॥ २ ॥

यो योनिं योनिम् अधितिष्ठति एकः, यस्मिन् इदं सं च वि च एति सर्वम् । तम् ईशानं वरदं देवम् ईड्यं, निचाय्य इमां शान्तिम् अत्यन्तम् एति ॥ ३ ॥

अर्थ—जो अकेला योनि योनिका (मनुष्य, पशु, पक्षीआदि हरएक योनिका) अधिष्ठाता है, जिसमें यह सब जगत् प्रलयकालमें एक होजाता(मिलजाता) है, और उत्पत्तिकालमें निश्चय अलगअलग होजाता है । उस सबकेईश्वर, वाञ्छित पदार्थोंके देनेवाले, स्तुतिके योग्य, देवोंके देवको जानकर(देखकर) इस(शास्त्रसिद्ध मुक्तिरूपी) सदाकी शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये, विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् । विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं, ज्ञात्वा शिवं शान्तिम् अत्यन्तम् एति ॥ ४ ॥

अर्थ—सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म, कललके बीच(स्त्रीपुरुषकेमिले हुए वीर्यके अन्दर) सबको(प्राणीमात्रको) उत्पन्न करनेवाले, अनेक शकलोंवाले, अकेले सब जगत्के घेरने-वाले मंगलरूप परमात्माको जानकर मनुष्य सदाकी शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

यः एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्, वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधा-ति । वि च एति चान्ते विश्वमादौ स देवः, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ५ ॥

अर्थ—जो अकेला, बिना रंगके है, और अनेकप्रकारकी शक्तिके सम्बन्धसे अनेक रंगोंवाले पदार्थोंको छिपेहुए प्रयोजनवाला हुआ बनाता है । और जो देव इस विश्व(जगत्)को आरम्भमें अलग अलग करता और अन्तमें मिलाता(इकट्ठा करता) है, वह हमको सदाकी शान्ति देनेवाली बुद्धिके साथ जोडे ॥ ५ ॥

(५) गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता, कृतस्य तस्य एव स चोपभोक्ता । स विश्वरूपः त्रिगुणः त्रिवर्त्मा, प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥ १ ॥

अर्थ—जो(आत्मा) गुणों(सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणों)के साथ सम्बन्धवाला, और फलवाले कर्मका करनेवाला है, वह ही निश्चय उस कियेहुए कर्मका भोगनेवाला है । वह अनेक शकलों(शरीरों) वाला, तीनों गुणोंके स्वभाववाला, तीन(कर्मउपासना, ज्ञान)मार्गोंवाला, इन्द्रियोंका ईश्वर, अपने कर्मोंसे लोकपरलोकमें घूमता है ॥१॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः, सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः । बुद्धेः गुणेन आत्मगुणेन च एव, आराग्रमात्रो हि अवरोऽपि दृष्टः ॥ २ ॥

अर्थ—अंगूठे बराबर हृदयसे मापा हुआ, सूर्यकी नाईं प्रकाशरूप, जो सङ्कल्प तथा अहंकारसे युक्त है । वह परलेसे वरला(जीवात्मा) बुद्धि(मन)के गुणसे और निःसंन्देह अपने गुणसे आरके अगलेभाग(मुख)के बराबर भी निश्चय देखा गया है ॥ २ ॥

बालाग्रशतभागस्य, शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः, स च आनन्त्याय कल्पते ॥ ३ ॥

अर्थ—बालके अगले भागका जो सौवां भाग है, उसके फिर सौभाग किये हुए का जो निश्चय एक भाग है, वह जीव जानने योग्य है और वह अनन्तताकेलिये (ब्रह्मरूपता प्राप्तिकेलिये) समर्थ है ॥ ३ ॥

न एव स्त्री न पुमान् एष, न च एव अयं नपुंसकः । यद् यद् शरीरम् आदत्ते, तेन तेन स युज्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—यह निश्चय न स्त्री है, न पुरुष है और न ही यह नपुंसक है । जो जो शरीर ग्रहण करता है, उस उसकेसाथ वह जुड जाता (वह वह हो जाता) है ॥ ४ ॥

भावग्राह्यम् अनीडाख्यं, भावाभावकरं शिवम् । कलासर्गकरं देवं, ये विदुः ते जहुः तनुम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जो श्रद्धाभक्तिरूप मनके भावसे ग्रहण करनेयोग्य है, अनिकेत(ला-मकान) जिसका नाम है, उत्पत्ति तथा प्रलयका करनेवाला है, मंगलरूप है । उस चौसठ विद्याके उत्पन्न करनेवाले देवको जो जानते हैं, वे शरीरको सदाकेलिये छोड देते हैं ॥ ५ ॥

(६) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुः वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १ ॥

अर्थ—जो ब्रह्मवेत्ता(आत्मवेत्ता)को सबसे पहला(ज्येष्ठ) बनाता है और जो निश्चय वेदोंको उसे देता है । उस प्रसिद्ध आत्मविद्याके प्रकाशक देवोंके देव, सबकी शरण(जाय पनाह)को मैं मुमुक्षु निःसन्देह प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ २ ॥

अर्थ—वह देव एक है, सब प्राणियोंमें छिपा हुआ है, सब जगह रहनेवाला और सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है। वह सबके कर्मोंपर दृष्टि रखनेवाला, सब प्राणियोंका निवासस्थान, पक्षपातरहित द्रष्टा, चेतन, एक तत्त्व और तीनों गुणोंसे परे है ॥ २ ॥

स विश्वकृद् विश्वविद् आत्मयोनिः, ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः गुणेशः, संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ ३ ॥

अर्थ—वह सबका बनानेवाला, सबका जाननेवाला, स्वयम्भू, चेतन, कालका काल, सब गुणों(हुनरों) वाला और सब विद्याओंवाला है । प्रकृति और जीवात्माका स्वामी, प्रकृति और जीवात्माका ईश्वर, जगत्की प्रलय, स्थिति और उत्पत्तिका कारण है ३

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं, निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं, दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ ४ ॥

अर्थ—वह निरवयव, अक्रिय(निश्चल) निर्विकार, निर्दोष और उज्ज्वल है । वह अमृतका श्रेष्ठ बंधा और जलेहुए इन्धनवाले निर्धूम अग्निके समान है ॥ ४ ॥

यदा चर्मवद् आकाशं, वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा देवम् अविज्ञाय, दुःखस्य अन्तो भविष्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—जब चमडेकी नाईं आकाशको मनुष्य लपेट लेंगे । तब देवोंके देव परमात्माको न जानकर(जानेविना) दुःखका अन्त(विनाश)भी होजायेगा ॥ ५ ॥

यस्य देवे परा भक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ । तस्य एते कथिताः ह्यर्थाः, प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ६ ॥ (श्वेताश्व० उप०)

अर्थ—जिसकी देवोंके देव परमात्मामें परम भक्ति है और जैसी परमात्मामें वैसी गुरु(उपदेष्टा)में परम भक्ति है । उस महात्माको ही कहेहुए ये सब अर्थ प्रकाशित होते(समझमें आते) हैं ॥ ६ ॥

(७) अथ आश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनम् उपसमेत्य उवाच-अधीहि भगवन्! ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां, सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम् । यया अचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य, परात् परं पुरुषं याति विद्वान् ॥ १ ॥

अर्थ—अब आश्वलायनने भगवान् परमेष्ठिके पास पहुंचकर कहा–हे भगवन्! आप मुझे ब्रह्मविद्या(आत्मविद्या)का उपदेश करें, जो सब विद्याओंसे श्रेष्ठ, सदा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सेवीहुई तथा गोप्य है । और जिसकी प्राप्तिसे विद्वान्(ब्रह्मज्ञानी) शीघ्र ही सब पापोंका नाशकर परलेसे परले पूर्ण ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

तस्मै स ह उवाच पितामहश्च, श्रद्धाभक्तिध्यानयोगाद् अवेहि। न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेन एके अमृतत्वम् आनशुः॥ २॥

अर्थ—उस(आश्वलायन)से उस प्रसिद्ध पितामह परमेष्ठिने निश्चय यह कहा—हे आश्वलायन! श्रद्धा, भक्ति और समाधियोगसे ब्रह्मको जान। उसकी प्राप्ति, कर्मसे नहीं होती, नहीं प्रजा और धनसे होती है, उस अमृतस्वरूपको संसारमें आसक्ति और कर्मोंमें फलके त्यागसे कई एक प्राप्त हुए हैं॥ २॥

तम् आदिमध्यान्तविहीनम् एकं, विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्। ध्यात्वा मुनिः गच्छति भूतयोनिं, समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ ३॥

अर्थ—उस आदि, मध्य और अन्तसे रहित, एक, परिपूर्ण(व्यापक), चिदानन्द, रूपरहित, आश्चर्यरूप, सबके कारण, सबके साक्षी ब्रह्मको जो अन्धकार(प्रकृति)से परे है, मननशील(समझदार) मनुष्य ध्यानयोग(समाधियोग)से प्राप्त होता है॥ ३॥

स ब्रह्मा स शिवः स हरिः स इन्द्रः, सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः, स कालो अग्निः स चन्द्रमाः॥ ४॥ (तै० आ० १०।११।२)

अर्थ—वही (ब्रह्म) ब्रह्मा, वही शिव, वही हरि और वही इन्द्र है, वही अक्षर और वही परम(सबसे श्रेष्ठ) स्वराट्(अपनेसे आप प्रकाशनेवाला) है। वही निश्चय सूर्य, वही वायु, वही काल, वही अग्नि और वही चन्द्रमा है॥ ४॥

आधारम् आनन्दम् अखण्डबोधं, यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च। परेण नाकं निहितं गुहायां, विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति॥ ५॥ (कैवल्यो०)

अर्थ—जो(ब्रह्म) सबका आधार, आनन्दस्वरूप और अखण्ड–ज्ञानरूप है, जिसमें निश्चय तीनोंलोक लयको प्राप्त होते हैं। जो स्वर्गसे परे और सबकी हृदय गुफामें स्थितहुआ चमकता है, उसको यत्नशील संन्यासी प्राप्त होते हैं॥ ५॥

(८) अथ ह एनं जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यम् उपसमेत्य उवाच–भगवन्! संन्यासं ब्रूहि इति॥ १॥

अर्थ—अब प्रसिद्ध विदेह–देशकेराजा जनकने इस याज्ञवल्क्यसे, पास जाकर यह कहा–हे भगवन्! मुझे संन्यासको कहें॥ १॥

स ह उवाच याज्ञवल्क्यः—ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि–वा इतरथा–ब्रह्मचर्याद् एव प्रव्रजेत्, गृहाद् वा, वनाद् वा। यद् अहर् एव विरजेत्, तद् अहर् एव प्रव्रजेत्॥ २॥

अर्थ—उस प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यने यह कहा–ब्रह्मचर्यको समाप्त(पूरा) करके गृहस्थ होवे, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ होवे, वानप्रस्थ होकर संन्यासी होवे। अथवा दूसरे प्रकारसे–ब्रह्मचर्यसे ही संन्यासी होवे, अथवा गृहस्थाश्रमसे, अथवा वानप्रस्थाश्रमसे, जिस दिन निश्चय वैराग्यको प्राप्त हो, निःसन्देह उसी दिन संन्यासी होवे॥ २॥

अथ परिव्राट् विवर्णवासाः मुण्डः अपरिग्रहः शुचिः अद्रोही भैक्षणो ब्रह्मभूयाय भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—अब जो संन्यासी, तीनों आश्रमियोंसे विलक्षण रंगके वस्त्रोंवाला(भगवे वस्त्रोंवाला), मुंहसिर मुंडाहुआ, परिग्रह(शिष्य, शिष्या, परधनग्रहण, शाप, अनुग्रह और मठ, मंदिर आदि)से रहित, बाहर भीतर पवित्र, हिंसासे रहित और भिक्षावृत्तिसे जीनेवाला है, वह ब्रह्मरूप होनेके लिये समर्थ है ॥ ३ ॥

अथ यः सर्वथा निष्परिग्रहो निर्ग्रन्थो ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं विमुक्तो भैक्षम् आचरन् उदरपात्रेण लाभालाभयोः समो भूत्वा, शून्यागार–देवगृह–तृणकूट–वल्मीक–वृक्षमूल–नदीपुलिन–गिरिकुहर–कन्दर–कोटर निर्जरस्थण्डिलेषु अनिकेतवासी इव वसन्, अप्रयत्नो निर्ममो निरहङ्कारः शुक्लध्यानपरायणः अध्यात्मनिष्ठो अशुभकर्मनिर्मूलनपरः, संन्यासेन देहत्यागं करोति, स परमहंसो नाम, स परमहंसो नाम ॥ ४ ॥ (जाबालो०)

अर्थ—अब जो सब प्रकारके परिग्रहसे रहित(दण्ड, कमण्डलु आदि संन्यासीके परिग्रहसे भी रहित) है, पुस्तकोंसे रहित है, संन्यासमार्गमें अच्छीतरह युक्त है, रागद्वेषसे रहित मनवाला है, प्राणोंकी रक्षाकेलिये वर्णके बन्धनसे छूटा हुआ उदरपात्रसे भिक्षाकी प्राप्ति अप्राप्तिमें एकरस होकर भिक्षावृत्तिका आचरण करता हुआ वर्तमान होता है, सूने घरमें, देवमन्दिरमें, घासके ढेरमें, मट्टीके ढेरमें, वृक्षके नीचे, नदीके किनारे, पर्वतके पोलमें, गुफामें, वृक्षके खोलमें, अथवा किसी न जीर्ण हुए चौतरेपर परवासीकी नांई वास करता(रहता) हुआ आरम्भसे रहित, ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, शुद्ध ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर, आत्मामें मनकी अचलस्थितिवाला और भोगसे शुभाशुभ कर्मोंके नाशमें लगा हुआ, संन्याससे शरीरका त्याग करता है, वह परमहंस नाम है, वह परमहंस नाम है अर्थात् उसका नाम परमहंस है, उसका नाम परमहंस है ॥ ४ ॥

ओम् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्य्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति स्वाध्यायसंहितायाम् उपनिषत्काण्डे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इति उपनिषत्काण्डम् ।

स्वाध्यायसंहिता ।

अथ गीताकाण्डम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्रः उवाच । धृतराष्ट्रने कहा ।

(१) धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेताः युयुत्सवः । मामकाः पाण्डवाश्चैव, किम् अकुर्वत सञ्जय ! ॥ १ ॥

अर्थ—हे संजय! पुण्यभूमि कुरुक्षेत्रमें इकठ्ठेहुए युद्धकी इच्छावाले मेरे पुत्रों और निश्चय पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ॥ १ ॥

सञ्जयः उवाच । संजयने कहा ।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं, व्यूढं दुर्योधनः तदा । आचार्यम् उपसंगम्य राजा वचनम् अब्रवीत् ॥ २ ॥

अर्थ—*वज्रव्यूहसे खडी की हुई पाण्डवोंकी सेनाको देखकर विस्मित हुए राजा दुर्योधनने तब द्रोणाचार्य के पासजाकर यह वचन कहा ॥ २ ॥

पश्य एतां पाण्डुपुत्राणाम्, आचार्य! महतीं चमूम् । व्यूढां द्रुपदपुत्रेण, तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अर्थ—हे आचार्य! पाण्डुके पुत्रोंकी इस बडी सेनाको देख । जो बुद्धिमान् तेरे शिष्य द्रुपदके पुत्र(धृष्टद्युम्न)ने वज्रव्यूहसे खडी की हुई है ॥ ३ ॥

अत्र शूराः महेष्वासाः†, भीमार्जुनसमाः युधि । युयुधानो विराटश्च, द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस(सेना)में सूरमें, बडे धनुषोंवाले, युद्धमें भीम और अर्जुनके समान हैं । युयुधान (सात्यकि) और विराट् और महारथी ‡द्रुपद ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुः चेकितानः, काशिराजश्च वीर्यवान् । पुरुजित् कुन्तिभोजश्च, शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

अर्थ—धृष्टकेतु, चेकितान और बडे बलवाला काशिदेशका राजा । पुरुजित् और कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्तः, उत्तमौजाश्च वीर्यवान् । सौभद्रो द्रौपदेयाश्च, सर्वे एव महारथाः ॥ ६ ॥

---

*युद्धके समय सेनाको जिसप्रकारविशेष(तरतीब)से खडा किया जाता है, उसको व्यूह कहते हैं । वे अनेक हैं । परन्तु पाण्डवोंने अपनी सेनाको पहलेदिन वज्रव्यूहसे खडा किया था । †महा+इष्वासाः । ‡अकेला दस हजार धनुर्धारियोंके साथ युद्ध करनेवाला ।

अर्थ—और बडा पराक्रमी युधामन्यु और बडेबलवाला उत्तमौजा, सुभद्राका पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदीके पुत्र (प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतसेन), ये सब ही महारथी हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टाः ये, तान् निबोध द्विजोत्तम ! । नायकाः मम सैन्यस्य, संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ७

अर्थ—हे द्विजोंमें श्रेष्ठ ! हमारे बीच भी जो सबसे बढकर हैं, और मेरी सेनाके नायक (संचालक=सरदार) हैं, उनको जान (सुन), मैं तुझे विशेषज्ञान (विशेषस्मृति) केलिये उनको कहता हूं ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च, कृपश्च समितिंजयः । अश्वत्थामा विकर्णश्च, सौमदत्तिः तथा एव च ॥ ८ ॥

अर्थ—आप और भीष्म और कर्ण और युद्धोंका जीतनेवाला कृपाचार्य । अश्वत्थामा और विकर्ण और वैसे ही सोमदत्तका पुत्र [भूरिश्रवा] ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूराः, मदर्थे त्यक्तजीविताः । नानाशस्त्रप्रहरणाः, सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अर्थ—और दूसरे अनेक सूरमें हैं, जिन्होंने मेरेलिये जीवनको दिया है । जो अनेक प्रकारके शस्त्र चलानेवाले और सबके सब युद्धमें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तद् अस्माकं, बलं भीष्माभिरक्षितम् । पर्याप्तं तु इदम् एतेषां, बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अर्थ—वह (जिसके आप सब नायक हैं) भीष्मसे रक्षाकीहुई हमारी सेना अपरिमित है । और यह भीमसे रक्षा कीहुई इनकी सेना परिमित (थोडी) है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु, यथाभागम् अवस्थिताः । भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु, भवन्तः सर्वे एव हि ॥ ११ ॥

अर्थ—अब आप सब निःसन्देह सब ही मार्गोंमें अपनी अपनी जगह खडेहुए केवल भीष्मकी रक्षा करें ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन् हर्षं, कुरुवृद्धः पितामहः । सिंहनादं विनद्य उच्चैः, शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

अर्थ—तब उस (राजा दुर्योधन) के उत्साहको बढातेहुए कुरुओंमें वृद्ध प्रतापी भीष्मने ऊँचा सिंहनाद (सिंहकी नाई गर्जना) करके शंखको बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च, पणवानकगोमुखाः* । सहसा एव अभ्यहन्यन्त, सः शब्दः तुमुलोऽभवत् १३

अर्थ—उसके पीछे शंख और नगारे और ढोल, मृदंग तथा नरसिंहे एकसाथ ही बजनेलगे, वह शब्द (उन सब बाजोंका मिलाहुआ शब्द) अतिडरावना हुआ ॥१३

ततः श्वेतैः हयैः युक्ते, महति स्यन्दने स्थितौ । माधवः पाण्डवश्च एव, दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

अर्थ—उसके पीछे श्वेत घोडोंसे जुतेहुए बडे रथमें खडे हुए लक्ष्मीपति कृष्ण और पाण्डुके पुत्र अर्जुनने निश्चय अपने अपने अद्भुत शंखोंको बजाया ॥ १४ ॥

*पणव=ढोल, आनक=मृदंग, गोमुख=नरसिंहा ।

पांचजन्यं हृषीकेशो*, देवदत्तं धनंजयः† । पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं, भीमकर्मा वृकोदरः‡ ॥ १५ ॥

अर्थ—पांचजन्यको इन्द्रियजित् कृष्णने, देवदत्तको अर्जुनने और पौण्ड्र महाशंखको भयङ्कर कर्मोंवाले भीमने बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा, कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । नकुलः सहदेवश्च, सुघोष-मणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अर्थ—अनन्तविजयको कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरने । सुघोषको नकुलने और मणिपुष्पकको सहदेवने बजाया ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः, शिखण्डी च महारथः । धृष्टद्युम्नो विराटश्च, सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

अर्थ—और उत्तम धनुषवाले काशीके राजाने और महारथी शिखण्डीने, धृष्टद्युम्नने और विराटने और न पराजित होनेवाले सात्यकि(युयुधान)ने ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च, सर्वशः पृथिवीपते ! । सौभद्रश्च महाबाहुः, शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

अर्थ—द्रुपदने और द्रौपदीके पुत्रोंने और बडी भुजाओंवाले सुभद्राके पुत्र(अभिमन्यु) ने, हे पृथिवीके स्वामी! सबने अलग अलग शंखोंको बजाया ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां, हृदयानि व्यदारयत् । नभश्च पृथिवीं चैव, तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अर्थ—आकाश और पृथिवी, दोनोंको निश्चय गुंजातेहुए(अपनी प्रतिध्वनिसे भरते हुए) उस अतिडरावने शब्द (सबके शंखोंके मिलेहुए शब्द)ने तुझ धृतराष्ट्रके पुत्रोंके हृदयोंको फाड दिया ॥ १९ ॥

(२) अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः । प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते, धनुः उद्यम्य पाण्डवः ॥१॥

अर्थ—अब तुझ धृतराष्ट्रकेपुत्रोंको यथास्थान खडाहुआ देखकर शस्त्रचलना आरम्भ होनेके समय ध्वजापर वानर(हनुमान्)के चित्रवाले अर्जुनने धनुषको उठाकर ॥ १ ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यम् , इदम् आह महीपते ! । सेनयोः उभयोः मध्ये, रथं स्थापय मेऽच्युत ! ॥ २ ॥

अर्थ—हे पृथिवीके स्वामी ! कृष्णसे तब यह वाक्य कहा । हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीच खडा कर ॥ २ ॥

यावद् एतान् निरीक्षेऽहं, योद्धुकामान् अवस्थितान् । कैः मया सह योद्धव्यम्, अस्मिन् रणसमुद्यमे ३

अर्थ—जबतक मैं इन खडे हुए युद्धकी इच्छावालोंको देखूं । और इस युद्धके उद्योगमें मुझे किनके साथ युद्ध करना है, देखूं ॥ ३ ॥

योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं, ये एते अत्र समागताः।धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः, युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ ४ ॥

अर्थ—और मैं उन युद्धकरनेवालोंको देखूं, जो ये दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्रकेपुत्र दुर्योधनका युद्धमें प्रिय(विजय) करनेकी इच्छावाले हुए यहां इकट्ठे हुए हैं ॥ ४ ॥

---

*हृषीक+ईश=इन्द्रियोंका स्वामी । †धनंजय=धनका जीतनेवाला । ‡वृक+उदर=भेडियेसे पेटवाला ।

एवम् उक्तो हृषीकेशो, गुडाकेशेन भारत ! । सेनयोः उभयोः मध्ये, स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ ५ ॥ भीष्मद्रोणप्रमुखतः, सर्वेषां च महीक्षिताम् । उवाच पार्थ ! पश्य एतान्, समवेतान् कुरून् इति ॥६॥

अर्थ—हे भरतसन्तान! (धृतराष्ट्र!) इसप्रकार निद्राजित अर्जुनसे कहेगये हृषीकेश(कृष्ण)ने दोनों सेनाओंके मध्यमें भीष्म, द्रोणके सामने और सब राजाओंके सामने उत्तम(श्रेष्ठ) रथको खडाकरके यह कहा–हे पार्थ ! (पृथाके पुत्र !) इन इकठ्ठे हुए कुरुवंशियोंको देखें ॥५॥६॥

तत्र अपश्यत् स्थितान् पार्थः, पितॄन् अथ पितामहान् । आचार्य्यान् मातुलान् भ्रातॄन्, पुत्रान् पौत्रान् सखीन् तथा ॥ ७ ॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव, सेनयोः उभयोः अपि । तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः, सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् ॥ ८ ॥

अर्थ—अब वहां अर्जुनने पितरों (भूरिश्रवाआदि)को, पितामहों(भीष्मआदि)को आचार्यों(द्रोणाचार्यआदि)को, मामों (शल्यआदि)को, भाईओंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको और सखाओं(छोटी आयुमें साथ खेलनेवालों)को ॥ ७ ॥

ससुरों (द्रुपदआदि)को और सुहृदों (उपकारियों)को निश्चय दोनों ही सेनाओंमें खडेहुए देखा और उन सब बन्धुओंको खडेहुए देखकर वह कुन्तीका पुत्र ॥ ८ ॥

कृपया परयाऽऽविष्टो, विषीदन् इदम् अब्रवीत् । दृष्ट्वा इमं स्वजनं कृष्ण !, युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥९॥

अर्थ—बडी दयासे भरा हुआ, उदास होताहुआ यह बोला। हे कृष्ण! युद्धकी इच्छावाले, इकठ्ठे होकर खडेहुए, इस अपने बन्धुवर्गको देखकर ॥ ९ ॥

सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं च परिशुष्यति । वेपथुश्च शरीरे मे, रोमहर्षश्च जायते ॥ १० ॥

अर्थ—मेरे अंग ढीले(शिथिल) होते जाते हैं और मुंह सूका जाता है । और मेरे शरीरमें कम्प(कांपा) और रोमाञ्च होता जाता है ॥ १० ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्, त्वक् चैव परिदह्यते । न च शक्नोमि अवस्थातुं, भ्रमति इव च मे मनः ॥ ११ ॥

अर्थ—हाथसे गाण्डीव(धनुष) गिरा जाता है, और त्वचा निश्चय जल रही है । मैं निःसन्देह खडा रहनेको नही समर्थ हूं, और मेरा मन मानों घूम रहा(चक्रसारहा) है ॥ ११ ॥

निमित्तानि च पश्यामि, विपरीतानि केशव ! । न च श्रेयो अनुपश्यामि, हत्वा स्वजनम् आहवे १२

अर्थ—हे केशव ! (कृष्ण !) मैं निश्चय सब लक्षण(चिन्ह) उलटे देखता हूं । और नही अपने बन्धुवर्गको युद्धमें मारकर कल्याण(सुख)को देखता हूं ॥ १२ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण !, न च राज्यं सुखानि च । किं नो राज्येन गोविन्द !, किं भोगैः जीवितेन वा ॥ १३ ॥

अर्थ—हे कृष्ण! मैं विजय नही चाहता हूं और नही राज्य और राज्यसुखोंको चाहता हूं। हे गोविन्द! हमको राज्यसे क्या और राज्यभोगोंसे अथवा जीवन (जीते रहने)से ही क्या होगा ॥ १३ ॥

येषाम् अर्थे कांक्षितं नो, राज्यं भोगाः सुखानि च। ते इमे अवस्थिताः युद्धे, प्राणान् त्यक्त्वा धनानि च ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनकेलिये हमको राज्य, राज्यभोग और राज्यभोगजन्य सुख वाञ्छित है। वे ये प्राणों और सुखके साधन धनोंको छोडकर युद्धमें खडे हैं ॥ १४ ॥

आचार्याः पितरः पुत्राः, तथैव च पितामहाः। मातुलाः श्वशुराः पौत्राः, श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥१५

अर्थ—आचार्य, पितर, पुत्र और वैसे ही पितामह। मामें, ससुरे, पोते, साले, और दूसरे सभी सम्बन्धी हैं ॥ १५ ॥

एतान् न हन्तुम् इच्छामि, घ्नतोऽपि मधुसूदन!। अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः, किं नु महीकृते ॥ १६ ॥

अर्थ—इन मारते हुओंको भी मैं हे मधुहन्ता (कृष्ण!) पृथिवीके राज्यकेलिये तो क्या, त्रिलोकीके राज्यके लिये भी नही मारना चाहता हूं ॥ १६ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः, का प्रीतिः स्यात् जनार्दन!। पापम् एव आश्रयेद् अस्मान्, हत्वा एतान् आततायिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—हे दुष्टजनमर्दन! (कृष्ण!) धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें कौन सुख होगा। हमें इन बडे अपराधिओंको मारकर पाप ही लगेगा ॥ १७ ॥

तस्मात् न अर्हाः वयं हन्तुं, धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्। स्वजनं हि कथं हत्वा, सुखिनः स्याम माधव! ॥ १८ ॥

अर्थ—इसलिये हम अपने बान्धवों धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके योग्य नही (मारना उचित नहि समझते)। क्योंकि अपने बन्धुजनोंको मारकर हे लक्ष्मीपति! हम कैसे सुखी होंगे ॥ १८ ॥

यद्यपि एते न पश्यन्ति, लोभोपहतचेतसः। कुलक्षयकृतं दोषं, मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ १९ ॥

अर्थ—यद्यपि राज्यके लोभसे नष्ट हुए विवेकवाले ये (धृतराष्ट्रके पुत्र) कुलके नाशसे उत्पन्न होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहमें जो पातक है, उसको नही देखते हैं ॥१९॥

कथं न ज्ञेयम् अस्माभिः, पापाद् अस्मात् निवर्तितुम्। कुलक्षयकृतं दोषं, प्रपश्यद्भिः जनार्दन! ॥ २० ॥

अर्थ—तथापि हे जनार्दन! हमें कुलके नाशसे उत्पन्न होनेवाले दोषको देखते हुए इस पापसे निवृत्त होना कैसे (क्यों) न जानना (विचारना) चाहिये ॥ २० ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति, कुलधर्माः सनातनाः। धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम्, अधर्मो अभिभवति उत ॥ २१ ॥

अर्थ—कुलका नाश होनेपर सनातन कुलधर्म नष्ट होजाते हैं। और कुलधर्मोंके

नष्ट होजानेपर सब कुलको(शेष बचेहुए कुलको) अधर्म दबालेता है ॥ २१ ॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण!, प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः। स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय!, जायते वर्णसङ्करः ॥२२॥

अर्थ—अधर्मके दबालेनेसे हेकृष्ण कुलकी स्त्रियां दुष्ट हो जाती हैं। और स्त्रियोंके दुष्ट होजानेपर हेवृष्णिकुलमें उत्पन्न! वर्णसङ्कर (मिश्रितवर्ण) उत्पन्न होता है ॥२२॥

सङ्करो नरकाय एव, कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो हि एषां, लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ २३ ॥

अर्थ—वर्णसङ्कर निश्चय कुलघातियोंके और कुलके नरककेलिये होता है। निःसन्देह इन (कुलघातियों)के पितर, जिनकी पिण्डक्रिया और उदकक्रिया(तर्पणकर्म) लुप्त (बंद) हो गई है, स्वर्गसे गिर पडते हैं ॥२३॥

दोषैः एतैः कुलघ्नानां, वर्णसङ्करकारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः, कुलधर्माः च शाश्वताः ॥ २४ ॥

अर्थ—वर्णसङ्कर करनेवाले इन कुलघातियोंके दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्टहोजाते हैं ॥ २४ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां, मनुष्याणां जनार्दन!। नरके नियतं वासो, भवति इति अनुशुश्रुम ॥ २५ ॥

अर्थ—हे जनार्दन! नष्टहुए जातिधर्मों और कुलधर्मों वाले मनुष्योंका नियमसे नरकमें वास होता है, यह हमने सुना है २५

अहो बत महत् पापं, कर्तुं व्यवसिताः वयम्। यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनम् उद्यताः॥२६॥

अर्थ—हा खेद, हम बडा(घोर) पाप करनेकेलिये पक्के निश्चयवाले होगये। जो राज्यके सुखोंके लोभसे अपने बन्धुजनोंके मारनेको उठ खडे हुए ॥ २६ ॥

यदि माम् अप्रतीकारम्, अशस्त्रं शस्त्रपाणयः। धार्तराष्ट्राः रणे हन्युः, तत् मे क्षेमतरं भवेत्॥२७॥

अर्थ—यदि मुझ न बदलालेनेवाले शस्त्ररहितको हाथमें शस्त्रोंवाले धृतराष्ट्रके पुत्र युद्धभूमिमें मारडालें, तो वह मेरेलिये अति सुखकर(बहुत भला) होगा॥२७॥

एवम् उक्त्वा अर्जुनः संख्ये, रथोपस्थे उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं, शोकसंविग्नमानसः ॥ २८ ॥

अर्थ—ऐसे कहकर अर्जुन बाणसहित धनुषको छोडकर शोकसे गिरेहुए मनवाला हुआ युद्धमें(युद्धभूमिमें) रथके मध्यमें बैठगया॥ २८ ॥ (२।४७)

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमो अध्यायः ॥ १ ॥

अर्थ—श्री(ऐश्वर्य)वाले भगवान्के गाये हुए (कहे हुए) उपनिषद्में आत्मविद्यामें योगशास्त्र(कर्मयोगशास्त्र)में श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, अर्जुनविषाद—योग नाम पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

(१) सञ्जयः उवाच। संजयने कहा।
तं तथा कृपयाऽऽविष्टम्, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। विषीदन्तम् इदं वाक्यम्, उवाच मधुसूदनः॥ १॥

अर्थ—जैसे पीछे कहा है, वैसे दयासे भरे हुए, आंसुओंसे भरपूर और व्याकुल नेत्रोंवाले, उदास होतेहुए उस अर्जुनसे मधुकेहन्ता कृष्णने यह वाक्य कहा॥१॥

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवानने कहा।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं, विषमे समुपस्थितम्। अनार्य्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम् अर्जुन!॥ २॥

अर्थ—हे अर्जुन! न आर्य्योंसे सेवित, स्वर्गकी प्राप्तिका विरोधी, अयशका देनेवाला, यह मोह तुझे असमयमें कहांसे प्राप्त हुआ॥२

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ!, न एतत् त्वयि उपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वा उत्तिष्ठ परंतप!॥ ३॥

अर्थ—हे पृथाके पुत्र! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, यह तुझमें नहीं बनसकती। हे शत्रुओंको तपानेवाले! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको छोडकर खडा हो॥ ३॥

अर्जुनः उवाच। अर्जुनने कहा।
कथं भीष्मम् अहं संख्ये, द्रोणं च मधुसूदन!। इषुभिः प्रतियोत्स्यामि, पूजार्हौ अरिसूदन!॥४॥

अर्थ—हे मधुहन्ता! मैं युद्धमें कैसे बाणोंसे भीष्म और द्रोणके सामने लडूंगा, हे शत्रुनाशन! जो पूजाके योग्य हैं॥ ४॥

गुरून् अहत्वा हि महानुभावान्, श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। हत्वाऽर्थकामान् तु गुरून् इहैव, भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥५

अर्थ—निःसन्देह विशालहृदय वृद्धोंको न मारकर भिक्षाका अन्न खाना भी इस लोकमें श्रेयस्कर है। सबकेलिये अभीष्ट अर्थ(भलाई)की कामनावाले वृद्धोंको मारकर तो मैं यहां ही रुधिरसे लिबडेहुए भोगोंको भोगूंगा॥ ५॥

न चैतद् विद्मः कतरत् नो गरीयः, यद्वा जयेम यदि+वा नो जयेयुः। यानेव हत्वा न जिजीविषामः, तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

अर्थ—दूसरा यह भी हम नहीं जानते दोनोंमेंसे कौन हमारेलिये श्रेयस्कर है, अथवा हम उन्हें जीतें, किंवा वे हमें जीतें। निःसन्देह जिनको मारकर हम नहीं जीना चाहते हैं, वे धृतराष्ट्रके पुत्र सामने (मरने मारनेकेलिये सामने) खडे हैं॥ ६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यत् श्रेयः

स्यात् निश्चितं ब्रूहि तत् मे, शिष्यः
तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

अर्थ—कृपणता(मनकी दुर्बलता) रूपी दोषसे नष्टहुए क्षात्र–स्वभाववाला और कर्तव्य कर्ममें विवेकशून्य हुए मनवाला मैं तुझे पूच्छता हूं । जो मेरेलिये निश्चय श्रेयस्कर हो, वह मुझे कहो, मैं तेरा शिष्य हूं, तू शिष्यभावसे प्राप्तहुए मुझ अर्जुनको शासन(हुक्म) कर ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्,
यत् शोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमौ असपत्नमृद्धं, राज्यं
सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—क्योंकि मैं भूमिपर शत्रुरहित (निष्कण्टक)समृद्ध(धनधान्यसे भरपूर) राज्यको और देवताओंके आधिपत्य (स्वामित्व)को भी प्राप्तकर (पाकर) वह वस्तु नही देखता हूं, जो इन्द्रियोंको सुकानेवाले मेरे शोकको दूर करे ॥ ८ ॥

सञ्जयः उवाच । संजयने कहा ।
एवम् उक्त्वा हृषीकेशं, गुडाकेशः
परन्तप ! । न योत्स्ये इति गोवि-
न्दम्, उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

अर्थ—हे शत्रुतापन ! अर्जुन इसप्रकार कृष्णसे कह कर और 'मैं नही लडूंगा, यह कृष्णसे कहकर चुप हो गया ॥९॥

तम् उवाच हृषीकेशः, प्रहसन् इव
भारत ! । सेनयोः उभयोः मध्ये,
विषीदन्तम् इदं वचः ॥ १० ॥

अर्थ—हे भरतसन्तान ! उस दोनों सेनाओंके मध्यमें उदास होकर चुप बैठे हुए अर्जुनको हंसतेहुए से कृष्णनने तब यह वचन कहा ॥ १० ॥

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवानने कहा ।
अशोच्यान् अन्वशोचः त्वं, प्रज्ञा-
वादांश्च भाषसे । गतासून् अगता-
सूंश्च, नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तू शोकके अयोग्योंका शोक करता है, और बुद्धिकी बातें भी कहता है । बुद्धिमान् मरे हुए और न मरे हुए (जीते), दोनोंका नही शोक करते हैं ॥ ११ ॥

न तु एव अहं जातु नासं, न त्वं
न इमे जनाधिपाः । न च एव न
भविष्यामः, सर्वे वयमतः परम् ॥ १२

अर्थ—देख–न तो मैं निश्चय इससे पहले कभी नही था, न तू और न ये राजा । और नही निश्चय मैं, तू और ये सब इससे पीछे कभी न होंगे ॥ १२ ॥

देहिनो अस्मिन् यथा देहे, कौमारं
यौवनं जरा । तथा देहान्तरप्राप्तिः,
धीरः तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

अर्थ—जैसे इस शरीरमें शरीरके स्वामी आत्माको बचपन, जवानी और बुढापा प्राप्त होता है । वैसेही दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है, बुद्धिमान् उसमें (एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें) नही मोह (अविवेक)को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय !, शीतोष्ण-
सुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽ-
नित्याः, तान् तितिक्षस्व भारत ! १४

अर्थ—हे अर्जुन ! विषयों(पदार्थों)के सम्बन्ध तो सरदी, गरमी, सुख, दुःखके देनेवाले, आनेजानेवाले और अनित्य हैं, हे भरतसन्तान! उनको सहन कर ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्ति एते, पुरुषं पुरुषर्षभ ! । समदुःखसुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अर्थ—हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ! जिस एकजैसे दुःखसुखवाले, बुद्धिमान्, मनुष्यको निश्चय ये विषयोंकेसम्बन्ध नहीं पीडा देते(दुःख-सुखकेहेतु होते)हैं, वह अमरपन(अमर होने)केलिये समर्थ होता है ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तः, तु अनयोः तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अर्थ—असत्का(न रहनेवाले–देहआदिजगत्का) रहना नहीं होता है, और सत्का(रहनेवाले आत्माका) न रहना नहीं होता है। परन्तु इन(असत्, सत्) दोनोंके तत्त्व (असलीयत)को निश्चय तत्त्वदर्शियोंने ही देखा(समझा) है॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद् विद्धि, येन सर्वमिदं ततम् । विनाशम् अव्ययस्य अस्य, न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अर्थ—तू निःसन्देह उसको नाशसे रहित जान, जिस(आत्मा)ने यह सब (देह आदि जगत्) फैलाया है । क्योंकि इस न घटनेवालेका नाश करनेकेलिये कोई भी नहीं योग्य (समर्थ) है ॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहाः, नित्यस्य उक्ताः शरीरिणः । अनाशिनो अप्रमेयस्य, तस्माद् युध्यस्व भारत ! ॥ १८ ॥

अर्थ—नित्य, अविनाशी और न प्रमाणोंके विषय, शरीरके स्वामी आत्माके ये शरीर अन्तवाले(विनाशी) कहे गये हैं, इसलिये हे भारत ! तू युद्ध कर॥ १८ ॥

यः एनं वेत्ति हन्तारं, यश्च एनं मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो, न अयं हन्ति न हन्यते १९

अर्थ—जो इस(आत्मा) को मारनेवाला जानता है और जो इसको मारागया समझताहै । वे दोनों नहीं जानते हैं, क्योंकि न यह मारता है, और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचित्, न अयं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अर्थ—यह (आत्मा) न जन्मता है, और न किसीकालमें भी मरता है, और नहीं यह होकर फिर न होगा । यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरूप और पुरातन(सनातन) है और शरीरके मारा जानेपर नहीं मारा जाता है ॥ २० ॥

वेद अविनाशिनं नित्यं, यः एनम् अजम् अव्ययम् । कथं स पुरुषः पार्थ !, कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१

अर्थ—हे पार्थ ! जो इस (आत्मा)को अजन्मा, अविनाशी, नित्य और अव्यय

जानता है । वह मनुष्य कैसे किसको मरवाता, और कैसे किसको मारता है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि, अन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

अर्थ—जैसे जीर्ण वस्त्रोंको छोडकर मनुष्य दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है । वैसे शरीरका स्वामी आत्मा जीर्ण शरीर छोडकर दूसरे नये शरीर प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

न एनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, न एनं दहति पावकः । न च एनं क्लेदयन्ति आपो, न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अर्थ—इसको शस्त्र नही काटते हैं, इसको अग्नि नही जलाता है, जल इसको नही गीलाकरता है और वायु इसको नही सुकाता है ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयम् अदाह्योऽयम्, अक्लेद्यो अशोष्यः एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुः, अचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अर्थ—यह न काटनेयोग्य है, न जलानेयोग्य है, यह निश्चय न भिगोनेयोग्य है, और न सुकानेयोग्य है । यह नित्य है, सर्वत्र पूर्ण है, अविकारी है, अक्रिय है और सनातन है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम्, अविकार्योऽयमुच्यते । तस्माद् एवं विदित्वैनं, नानुशोचितुमर्हसि २५

अर्थ—यह इन्द्रियोंका अविषय है, यह मनका अविषय है, यह जन्ममरन आदि विकारके अयोग्य कहा जाता है। इसलिये इसको ऐसा जानकर तू नही शोककरने योग्य है२५

अथ च एनं नित्यजातं, नित्यं वा मन्यसे मृतम् । तथापि त्वं महाबाहो !, न एनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अर्थ—और यदि इसको सदा जन्मनेवाला, अथवा सदा मरनेवाला तू समझता है । तो भी हे बडी भुजाओंवाले ! तू नही इसको शोचने (शोक करने)के योग्य है॥२६

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्माद् अपरिहार्य्ये अर्थे, न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अर्थ—क्योंकि जन्मेहुएका मरना अटल है और मरेहुएका जन्मना अटल है । इसलिये तू इस न टालीजासकनेवाली बातमें नही शोक करनेके योग्य है ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! । अव्यक्तनिधनानि एव, तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अर्थ—हे भरतसन्तान ! जब ये जीव, आदि(आरम्भ) में अव्यक्त, मध्य (बीच) में व्यक्त (प्रकट) और निःसन्देह अन्तमें अव्यक्त हैं, तो उसमें विलाप क्या ॥२८॥

आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चिद् एनम्, आश्चर्य्यवद् वदति तथा एव चान्यः । आश्चर्य्यवत् च एनम् अन्यः शृणोति, श्रुत्वाऽपि एनं वेद न च एव कश्चित् ॥ २९ ॥

अर्थ—कोई इस(आत्मा)को आश्चर्यसा (वास्तव स्वरूपका ज्ञान न होनेसे आश्चर्यसरीखा) देखता (समझता) है, और वैसे ही कोई इसको आश्चर्यसा कहता है । और कोई इसको आश्चर्यसा सुनता है, और समझकर, कहकर, सुनकर भी इसको निश्चय कोई नही जानता है ॥ २९ ॥

देही नित्यम् अवध्योऽयं, देहे सर्वस्य भारत!। तस्मात् सर्वाणि भूतानि, न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अर्थ—हे भरतसन्तान! यह शरीरका स्वामी आत्मा सबके शरीरमें सदा अवध्य (न माराजानेके योग्य) है। इसलिये तू सब जीवों(भीष्मआदि सब बन्धुओं)को नहीं शोचने (शोककरने)के योग्य है ॥३०॥

स्वधर्मम् अपि चावेक्ष्य, न विकम्पितुमर्हसि। धर्म्याद् हि युद्धात् श्रेयो अन्यत्, क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

अर्थ—और अपने(क्षत्रियके) धर्मको देखकर भी तू नहीं कांपने(हिम्मतहारने)के योग्य है। क्योंकि क्षत्रियको धर्मयुक्त युद्धसे दूसरा कोई कर्म श्रेयस्कर नहीं है ॥३१॥

यदृच्छया च उपपन्नं, स्वर्गद्वारम् अपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ!, लभन्ते युद्धम् ईदृशम् ॥३२॥

अर्थ—हे पृथाके पुत्र! अपनेआपसे ही प्राप्त, ऐसे खुलेहुए स्वर्गके दरवाजे, युद्धको भाग्यवान् क्षत्रिय लभते हैं ॥ ३२ ॥

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं, सङ्ग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च, हित्वा पापम् अवाप्स्यसि ॥३३॥

अर्थ—अब यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा। तो अपने (क्षत्रियके) धर्म और कीर्ति(यश) को त्यागकर (खोकर) अधर्मको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं च अपि भूतानि, कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। सम्भावितस्य चाकीर्तिः मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ—निःसन्देह न कभी घटनेवाली तेरी अकीर्ति (अपयश)को भी सब लोग कहेंगे। और माननीय मनुष्यको अकीर्ति मरनेसे अधिक होती है ॥ ३४ ॥

भयाद् रणाद् उपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः। येषां च त्वं बहुमतो, भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—महारथी तुझे भयसे युद्धसे निवृत्त हुआ समझेंगे। और जिनका तू बडा समझा हुआ है, उनका बडा समझा हुआ होकर छोटाईको प्राप्त होगा ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादान् च बहून्, वदिष्यन्ति तवाहिताः। निन्दन्तः तव सामर्थ्यं, ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अर्थ—और तेरे शत्रु तेरे पौरुषकी निन्दा करतेहुए अनेक न कहनेयोग्य बातें कहेंगे, उससे अधिक दुःख और क्या होगा ३६

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अर्थ—देख-मारा गया, तो स्वर्गको प्राप्त होगा, जीतकर (जीता) तो, पृथिवीको भोगेगा। इसलिये हे कुन्तीके पुत्र! दृढनिश्चयवाला हुआ युद्धकेलिये खडा हो ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व, न एवं पापम् अवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अर्थ—सुख दुःख, लाभ अलाभ और जय पराजयको एकसा करके(बराबर मानकर) पीछे युद्धकेलिये एकचित्त हो, इसप्रकार तू पापको न प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

(२) एषा ते अभिहिता सांख्ये, बुद्धिः योगे तु इमां शृणु । बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ !, कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ १ ॥

अर्थ—यह तुझे ज्ञानयोगमें करनेयोग्य बुद्धि(निष्ठा=मनकी अचलस्थिति)कही है, अब कर्मयोगमें इस करनेयोग्य बुद्धि को सुन । जिस बुद्धिसे युक्तहुआ तू हे पृथाके पुत्र! कर्मों(पाप, पुण्य) के बन्धनको त्यागेगा (कर्मोंके बन्धनसें छूटेगा) ॥ १ ॥

न इह अभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पम् अपि अस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्॥२

अर्थ—इस(कर्मयोग)में आरम्भका नाश (फलदिये विना आरम्भमात्रका भी नाश) नही है, नही प्रत्यवाय(बीचमें कभी न करनेसे पाप) होता है । इस(कर्मयोग) धर्मका बहुत थोडा आचरण भी बडे भयसे बचाता है ॥ २ ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिः, एका इह कुरुनन्दन ! । बहुशाखाः हि अनन्ताश्च, बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥३॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन ! इस(कर्मयोग) में एक ही निश्चयरूप बुद्धि(मनोवृत्ति) होती है । और जिनका इस(कर्मयोग)में निश्चय नही है, उन अकर्मयोगियोंकी बुद्धियां(मनोवृत्तियां) निःसन्देह अनेक और एक एकमें भी अनेक शाखावाली होती हैं ॥ ३ ॥

याम् इमां पुष्पितां वाचं, प्रवदन्ति अविपश्चितः । वेदवादरताः पार्थ !, न अन्यद् अस्ति इति वादिनः ॥४॥

कामात्मानः स्वर्गपराः, जन्मकर्मफलप्रदाम् । क्रियाविशेषबहुलां, भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ ५ ॥

भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां, तया अपहृतचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः, समाधौ न विधीयते ॥ ६ ॥

अर्थ—हे पृथाके पुत्र ! वेदोंके कर्मकाण्डात्मक वाक्योंमें रत, इससे अधिक दूसरा कुछ नही है, ऐसा कहनेवाले, स्वर्ग हीको परला फल मानेहुए और कामनामय चित्तवाले, अज्ञानी, फूलेहुए वृक्षकी नाईं सुहावनी, जन्ममरनरूपी कर्मोंके फलको देनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्य्य-प्राप्तिके लिये अग्निष्टोम आदि कर्मविशेषों(यज्ञों)की बहुतायतसे भरी हुई जिस इस(कर्मकाण्डात्मक) वेदवाणीको बढकर कहते हैं, उस(वाणी)से खींचेगये चित्तोंवाले और भोग तथा ऐश्वर्य्यमें अत्यन्त फंसेहुए उन अज्ञानियोंको समाधि (असम्प्रज्ञात)में भी निश्चयात्मक बुद्धि नही उत्पन्न होती है ॥ ६ ॥

त्रैगुण्यविषयाः वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! । निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो, निर्योगक्षेमः आत्मवान् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! कर्मकाण्डात्मक वेदवाक्य त्रिगुणप्रकृतिके कार्य्य=जगत्को विषय करते हैं, तू जगत्से ऊपर हो । शीत उष्ण, सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो, सदा सत्त्व गुणमें स्थित हो, अप्राप्त पदार्थोंकी प्राप्ति और प्राप्तोंके संरक्षणसे ऊपर हुआ (बेपरवाह हुआ) आत्मनिष्ठ हो ॥ ७ ॥

यावान् अर्थः उदपाने, सर्वतः संप्लुतोदके । तावान् सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ८ ॥

अर्थ—सब ओर भराहुआ पानी होनेपर मनुष्यको जितना प्रयोजन कुंएंमें रह जाता है, उतना प्रयोजन ब्रह्मनिष्ठ(आत्मनिष्ठ) ज्ञानीको सब वेदों (कर्मकाण्डात्मक वेदवाक्यों)में रहजाता है ॥ ८ ॥

कर्मणि एव अधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुः भूः, मा ते संगोऽस्तु अकर्मणि ॥ ९ ॥

अर्थ—कर्ममें(कर्तव्यबुद्धिसे कर्म करनेमें) ही तेरा अधिकार है, कर्मके फलोंमें किसी कालमें भी नहीं । तू कर्मके फलसे प्रेराहुआ कर्म करनेवाला न हो और नहीं कर्मके न करनेमें तेरा सम्बन्ध हो ॥९॥

योगस्थः कुरु कर्माणि, संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ! । सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योगः उच्यते ॥१०॥

अर्थ—हे धनंजय ! तू कर्मयोगमें स्थित हुआ अर्थात् सम्बन्धको छोडकर और फलकी प्राप्ति तथा अप्राप्तिमें समान(हर्षविषादसे रहित) होकर कर्मोंको कर, फलकी प्राप्ति अप्राप्तिमें समता(एकरसता)को ही कर्मयोग कहते हैं ॥ १० ॥

दूरेण हि अवरं कर्म, बुद्धियोगाद् धनञ्जय ! । बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ, कृपणाः फलहेतवः ॥ ११ ॥

अर्थ—हे धनंजय ! काम्यकर्म समत्वबुद्धियुक्त कर्मसे बहुत ही निकृष्ट(नीचली श्रेणीका) है । तू समत्वबुद्धियुक्त कर्ममें शरण(पनाह)को ढूंढे, क्योंकि फल कर्म करनेमें जिनका प्रेरक है, वे दीन हैं ॥११॥

बुद्धियुक्तो जहाति इह, उभे सुकृतदुष्कृते । तस्माद् योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! समत्वबुद्धिसे युक्त होकर कर्म करनेवाला मनुष्य पुण्यपाप, दोनोंको यहां छोड देता है । इसलिये तू समत्वबुद्धिरूपी कर्मयोगकेलिये एकचित्त हो, कर्मोंमें मनुष्यकी कुशलता(फलनिरपेक्ष निज-कर्मोंमें तत्परता)ही कर्मयोग है ॥ १२ ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ताः हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः, पदं गच्छन्ति अनामयम् ॥ १३ ॥

अर्थ—निःसन्देह समत्वबुद्धिसे युक्त हुए कर्मोंके करनेवाले बुद्धिमान् कर्मजन्य फलको त्याग कर जन्ममरणरूपी बन्धनसे छूटेहुए निर्दुःख पद(ब्रह्म)को प्राप्त होते हैं ॥१३॥

यदा ते मोहकलिलं, बुद्धिः व्यतितरिष्यति । तदा गन्तासि निर्वेदं, श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ १४ ॥

अर्थ—जब तेरी बुद्धि अज्ञानरूपी कालुष्यको अच्छीतरह तर जायगी । तब तू सुने हुए और सुननेयोग्य लोक परलोकके विषयमात्रसे वैराग्य(रागाभाव)को प्राप्त होगा १४

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते, यदा स्थास्यति निश्चला । समाधौ अचला बुद्धिः, तदा योगम् अवाप्स्यसि ॥ १५ ॥

अर्थ—कर्मकाण्डात्मक वेदकी श्रुतियों (वाक्यों)से अनेक वृत्तियोंवाली तेरी बुद्धि जब एकवृत्तिरूपी समाधि(सम्प्रज्ञात)में स्थिर

हुई अडोल खडी हो जायगी, तब तू समत्व-बुद्धिरूपी कर्मयोगको प्राप्त होगा ॥ १५ ॥

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ! । स्थितधीः किं प्रभाषेत, किम् आसीत व्रजेत किम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे लम्बे केशोंवाले ! (कृष्ण !) एकवृत्तिरूपी समाधिवाले स्थितप्रज्ञ(स्थिर-बुद्धि)का लक्षण (चिन्ह) क्या है १ स्थितप्रज्ञ कैसा बोलता(शुभ, अशुभ विषयोंकी प्राप्ति होनेपर हर्ष विषादका प्रकाश करता) है २ कैसा बैठता(विषयोंमें इन्द्रियोंकी बैठकवाला होता) है ३ और कैसा चलता(आचरण करता) है ४ ॥ १६ ॥

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्ने कहा ।

प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् । आत्मनि एव आत्मना तुष्टः, स्थितप्रज्ञः तदोच्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—हे पृथाके पुत्र ! जब मनुष्य मनमें रहनेवाली सब कामनाओंको बिल्कुल त्याग देता है । और आत्मामें ही (अपने आपमें ही, न कि विषयोंमें) आत्मासे (अपने आपसे, न कि विषयोंसे) तृप्त रहता है, तब स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ १७ ॥

दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीः मुनिः उच्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—जो दुःखोंमें उद्वेग(घबराहट)से रहित मनवाला, सुखोंमें दूर हुई तृष्णावाला और दूर हुए आसक्ति, भय तथा क्रोधवाला है, वह आत्मज्ञानी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है॥१८

यः सर्वत्र अनभिस्नेहः, तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता* ॥ १९ ॥

अर्थ—जो सबमें(हर एक वस्तुमें) अतिस्नेह(आसक्ति)से रहित है, और उस उस इष्ट, अनिष्ट (सुख, दुःखके साधन) वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता (अप्रसन्न होता) है, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ १९ ॥

यदा संहरते च अयं, कूर्मोऽङ्गानि इव सर्वशः । इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता† ॥ २० ॥

अर्थ—जैसे कछुवा अपने हाथ, पैर आदि अङ्गोंको सबओरसे खींचलेता है, वैसे जब यह मनुष्य निश्चय अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके अर्थों(शब्द आदि विषयों)से खींचलेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है, जानना चाहिये ॥ २० ॥

विषयाः विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽपि अस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ २१ ॥

अर्थ—आहार छोडे हुए(व्रती अथवा तपस्वी) मनुष्यके विषय, रस(विषयोंकी चाह)को छोडकर, निवृत्त होजाते हैं, इसका रस(विषयरस) निश्चय परले (इन्द्रियोंकी पहुंचसे परले) आत्मा(ब्रह्म)को देखकर (पाकर) निवृत्त होता है ॥ २१ ॥

*दूसरे प्रश्नका उत्तर । †तीसरे प्रश्नका उत्तर ।

यततो हि अपि कौन्तेय !, पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः ॥ २२॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! बुद्धिमान् मनुष्यके यत्न करतेहुए भी प्रबल इन्द्रियां निःसन्देह बलसे मनको विषयोंमें लेजाती हैं ॥२२॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः आसीत मत्परः । वशे हि यस्य इन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता २३

अर्थ—उन सब इन्द्रियोंको अच्छीतरह वशमें करके मुझ ईश्वरमें लगेहुए चित्तवाला होकर समत्वबुद्धिरूपी कर्मयोगसे युक्त हुआ कर्तव्यकर्ममें स्थित होवे(लगा रहे), क्योंकि इन्द्रियां जिसके वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ २३ ॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गः तेषु उपजायते । सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ २४ ॥

अर्थ—विषयोंका चिन्तन करतेहुए मनुष्यका उन(विषयों)में सम्बन्ध(प्रेम) हो जाता है । सम्बन्धसे काम उत्पन्न होता है, और कामसे क्रोध(विषयकामना पूरी न होनेपर क्रोध) उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥२५

अर्थ—क्रोधसे अविवेक(कर्तव्य, अकर्तव्यका विचार न रहना) होता है, अविवेकसे स्मृतिका नाश(शास्त्र और गुरुके उपदेशका विस्मरण), स्मृतिके नाशसे बुद्धिका नाश(कार्य्य, अकार्य्यके अलग करनेमें असामर्थ्य) और बुद्धिके नाशसे आप (मनुष्य) नष्ट हो जाता (मनुष्यपनसे गिर जाता) है ॥ २५ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयान् इन्द्रियैः चरन् । आत्मवश्यैः विधेयात्मा, प्रसादम् अधिगच्छति ॥ २६ ॥

अर्थ—परन्तु राग और द्वेष(प्रेम और घृणा)से रहित, अपने वशमें वर्तनेवाली इन्द्रियोंसे विषयोंको भोगताहुआ स्वाधीन मनवाला मनुष्य, प्रसन्नता(मनकी निर्मलता)को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां, हानिः अस्य उपजायते । प्रसन्नचेतसो हि आशु, बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥ २७ ॥

अर्थ—प्रसन्नता होनेपर इसके सब दुःखोंकी निवृत्ति होजाती है । क्योंकि प्रसन्न मनवालेकी बुद्धि(चित्तवृत्ति) झटति पूर्णरूपसे स्थिर हो जाती है ॥ २६ ॥

नास्ति बुद्धिः अयुक्तस्य, न च अयुक्तस्य भावना । न च अभावयतः शान्तिः, अशान्तस्य कुतः सुखम्

अर्थ—समत्वबुद्धिरूपी योगसेरहितको बुद्धि(स्थिरबुद्धि) नही होती है, और न समत्वबुद्धिरूपी योगसेरहितको आत्मभावना (आत्मामें बुद्धिकी अचलस्थितिरूपी आत्मनिष्ठा) होती है । जो आत्मभावनासे रहित है, उसको शान्ति (दुःखोंकी निवृत्ति) नही और जिसको शान्ति नही, उसको सुख कहांसे होगा ॥ २७ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां, यत् मनो अनुविधीयते । तद् अस्य हरति प्रज्ञां, वायुः नावम् इवाम्भसि॥२८॥

अर्थ—जो मन निश्चय विषयोंमें जाती हुई इन्द्रियोंके पीछे जाता है । वह इसकी बुद्धि(वृत्ति)को खींचलेता है, जैसे वायु जलमें नौकाको खींचलेता है ॥ २८ ॥

तस्माद् यस्य महाबाहो !, निगृहीतानि सर्वशः । इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२९॥

अर्थ—इसलिये हे महाबाहु ! जिसकी सब इन्द्रियां इन्द्रियोंके विषयोंसे रुकी हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ २९ ॥

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥३०॥

अर्थ—जो (निष्कामकर्म) सब लोगोंकी रात है, उसमें अच्छीतरह इन्द्रियोंकोवशमें कियाहुआ स्थिरबुद्धि जागता(वह उसका दिन) है । और जिस(काम्यकर्मरूपी दिन) में सबलोग जागते हैं, वह आत्मदर्शी स्थिरबुद्धि कर्मयोगीकी रात है ॥ ३० ॥

आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं, समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामाः यं प्रविशन्ति सर्वे, स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ॥३१॥

अर्थ—जैसे चारों ओरसे भरेहुए, निश्चलस्थितिवाले समुद्रमें जल(नदियां) प्रवेश करते(लीन होजाते) हैं, वैसे सब कामनायें(इच्छायें) जिसमें प्रवेश करती (लीन हो जाती) हैं, वही शान्तिको प्राप्त होता है, विषयों(पदार्थों)की कामनावाला नही ॥ ३१ ॥

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमान् चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहङ्कारः,स शान्तिम् अधिगच्छति*३२

अर्थ—जो मनुष्य सब विषयोंको छोडकर(विषयासक्तिको त्यागकर) इच्छारहित (फलकी कामनासे रहित), ममतासे रहित और अहङ्कारसे रहित हुआ आचरण(यथाविधि कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान)करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ !, नैनां प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वा अस्याम् अन्तकालेऽपि, ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति

अर्थ—हे पृथाके पुत्र ! यह है ब्राह्मी स्थिति(जगत्कर्ता ब्रह्मकी स्थिति सरीखी स्थितप्रज्ञ कर्मयोगीकी स्थिति), इसको प्राप्त होकर मनुष्य फिर नही मोहको प्राप्त होता है । मृत्युसमयमें भी इस(ब्राह्मी स्थिति) में स्थित होकर ब्रह्ममें लयरूपी मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें सांख्ययोग नाम दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

---

*चौथे प्रश्नका उत्तर ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते, मता बुद्धिः जनार्दन ! । तत् किं कर्मणि घोरे मां, नियोजयसि केशव ! ॥ १ ॥

अर्थ—हे जनार्दन ! यदि तुझे ज्ञान-योग कर्मयोगसे श्रेष्ठ अभिमत है । तो हे केशव ! क्यों युद्धरूपी भयंकर कर्ममें मुझे प्रेरते हो ॥ १ ॥

व्यामिश्रेण इव वाक्येन, बुद्धिं मोहयसीव मे । तद् एकं वद निश्चित्य, येन श्रेयोऽहम् आप्नुयाम् ॥ २

अर्थ—मिलेजुलेसे वाक्यसे (ज्ञानयोगको कहकर कर्मयोग कहनेसे) मानों मेरी बुद्धि (मन) को आप भ्रमाते हो । वह एक (ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग) निश्चय करके कहो, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होवूं ॥ २ ॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवानने कहा ।

लोके अस्मिन् द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ! । ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्मयोगेन योगिनाम्

अर्थ—हे निष्पाप ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा (बुद्धिकी अचलस्थिति) है, जो मैंने पहले (दूसरे अध्यायमें २।११) ज्ञानयोगसे ज्ञानियोंकी और कर्मयोगसे कर्मयोगियोंकी कही २।३९ है ॥ ३ ॥

न कर्मणाम् अनारम्भात्, नैष्कर्म्यं पुरुषो अश्नुते । न च संन्यसनाद् एव, सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

अर्थ—मनुष्य कर्मोंका आरम्भ न करनेसे निष्कर्मता (कर्मबन्धनरहितता) को नहीं प्राप्त होताहै । और नहीं कर्मोंके संन्यास (त्याग) से ही सिद्धि (ब्रह्मनिर्वाण-प्राप्ति) को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

नहि कश्चित् क्षणम् अपि, जातु तिष्ठति अकर्मकृत् । कार्य्यते हि अवशः कर्म, सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः

अर्थ—कोई भी मनुष्य किसीकालमें एक क्षण भी न-कर्म करताहुआ नहीं स्थित होता है । क्योंकि प्रकृतिसे जन्य गुण (राजस, तामस, सात्त्विक गुण) बेबस हुए प्रत्येक मनुष्यसे कुछ न कुछ कर्म करवाते हैं ॥५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, यः आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

अर्थ—जो कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करताहुआ स्थित होता है । वह विवेकसे शून्य मनवाला मिथ्याचारी (दम्भी) कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्तु इन्द्रियाणि मनसा, नियम्य आरभते अर्जुन ! । कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम्, असक्तः स विशिष्यते ७

अर्थ—परन्तु जो मनसे ज्ञानेन्द्रियोंको रोककर हे अर्जुन ! असंग (अहंता-ममता-बुद्धिसे रहित) हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्तव्य-

कर्मका अनुष्ठान करता है, वह सबसे विशेष(श्रेष्ठ) होता है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः । शरीरयात्राऽपि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

अर्थ—तू नियमसे कर्मको कर, क्योंकि कर्म(कर्म करना) अकर्मसे(कर्म न करनेसे) अच्छा है । दूसरा अकर्मसे तेरे शरीरका निर्वाह भी न सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात् कर्मणो अन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय !, मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

अर्थ—यह मनुष्य यज्ञ(अग्निहोत्र आदि सर्वोपकारी कर्ममात्र)के लिये जो कर्म (वेदाध्ययन, गार्हस्थ्यस्वीकार, सन्तानोत्पत्ति, धनोपार्जन आदि कर्म) है, उसके सिवा कर्म(काम्यकर्म)के बन्धनवाला है । तू हे कुन्तीके पुत्र ! आसक्तिसे (अहंता-ममता-बुद्धिसे) रहित हुआ यज्ञके लिये कर्मको कर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वम्, एष वो अस्तु इष्टकामधुक् ॥ १० ॥

अर्थ—आरम्भमें यज्ञके सहित मनुष्योंको उत्पन्न करके प्रजापति(सृष्टिशक्ति परमात्मा)ने कहा । तुम इस(यज्ञ)से वृद्धिको प्राप्त होवो, यह(यज्ञ) तुम्हारी अभीष्ट कामनाओंका पूरा करनेवाला(तुझे वांच्छित पदार्थ देनेवाला) हो ॥ १० ॥

देवान् भावयत अनेन, ते देवाः भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परम् अवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

अर्थ—इस(यज्ञ)से तुम देवताओंको (अग्नि, वायु आदि देवताओंको) बढाओ (प्रसन्न करो), वे देवता तुमको बढायें (प्रसन्न करें) । इस प्रकार एक दूसरेको बढाते हुए (प्रसन्न करतेहुए) तुम परम(ऊंचे) कल्याण(सुख)को प्राप्त होवो ॥ ११ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवाः, दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैः दत्तान् अप्रदाय एभ्यो, यो भुङ्क्ते स्तेनः एव सः ॥ १२ ॥

अर्थ—निःसन्देह यज्ञसे प्रसन्नहुए देवता तुम्हें वाञ्छित भोगों (स्वास्थ्य, वृष्टि आदिके द्वारा सब उपभोग्य पदार्थों)को देंगे । उन(देवताओं)के दियेहुए पदार्थोंको उन्हें न देकर जो भोगता(अपने उपयोगमें लाता) है, वह निश्चय चोर(कृतघ्न) है १२

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते तु अघं पापाः, ये पचन्ति आत्मकारणात्

अर्थ—यज्ञसे बचेहुए अन्नके खानेवाले सत्पुरुष(पुण्यात्मा) सब पापोंसे छूट जातेहैं । वे पापी(पापात्मा) केवल पाप खाते हैं, जो अपनेलिये ही पकाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्याद् अन्नसम्भवः । यज्ञाद् भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अर्थ—अन्नसे प्राणी(सब प्राणी) होते हैं । अन्नकी उत्पत्ति मेघसे होती है । मेघ यज्ञसे होता है, यज्ञ कर्म(वेदाध्ययन, गार्हस्थ्यस्वीकार, धनोपार्जन आदिकर्म)से उत्पत्तिवाला है ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म अक्षर-समुद्भवम् । तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म, नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—कर्मको वेदसे उत्पत्तिवाला और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पत्तिवाला जान । इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा सदा यज्ञमें स्थित है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं, न अनुवर्तयति इह यः । अघायुः इन्द्रियारामो, मोघं पार्थ ! स जीवति ॥ १६ ॥

अर्थ—जो यहां इसप्रकार परमात्माके चलाये हुए कर्मचक्र(संसारचक्र)के नही अनुकूल वर्तता(नही कर्म करता) है । वह हे पार्थ ! पापायु है, इन्द्रियलम्पट है, और वृथा जीता है ॥ १६ ॥

यस्तु आत्मरतिरेव स्याद् , आत्मतृप्तश्च मानवः । आत्मनि एव च सन्तुष्टः, तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥१७॥

अर्थ—परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मामें रमा हुआ और आत्मामें ही तृप्त, और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उसको करनेयोग्य कुछ नही है ॥ १७ ॥

न एव तस्य कृतेन अर्थो, न अकृतेन इह कश्चन । न च अस्य सर्वभूतेषु, कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः॥१८॥

अर्थ—नही निश्चय उसको यहां किये हुए(कर्म)से, और न न कियेहुए(कर्म)से कोई भी प्रयोजन(स्वार्थ) है । और न इसका सब प्राणियोंमेंसे कोई भी प्राणी प्रयोजनका आश्रय(किसी प्राणीके अधीन कोई भी प्रयोजन) है ॥ १८ ॥

तस्माद् असक्तः सततं, कार्य्यं कर्म समाचर । असक्तो हि आचरन् कर्म, परम् आप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

अर्थ—इसलिये(जिसलिये आत्मामें रति, तृप्ति और तुष्टिवाला निष्प्रयोजन होनेपर भी आसक्तिरहित हुआ करनेयोग्य कर्मको करता है, इसलिये) आसक्तिरहित हुआ निरन्तर(लगातार) करनेयोग्य कर्मको अच्छीतरह कर । क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्मको करताहुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कर्मणा एव हि संसिद्धिम्, आस्थिताः जनकादयः । लोकसङ्ग्रहम् एवापि, संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि २०

अर्थ—जनक आदि कर्मसे ही निःसन्देह परमात्माकी प्राप्तिरूपी सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं । तू शिष्टाचारके सिवा लोगोंके सङ्ग्रह(करनेयोग्य कर्मके करनेमें प्रवृत्ति)को देखताहुआ भी निश्चय कर्म करनेके योग्य है ॥ २० ॥

यद् यद् आचरति श्रेष्ठः, तत् तद् एव इतरो जनः । स यत् प्रमाणं कुरुते, लोकः तद् अनुवर्तते ॥२१॥

अर्थ—जो जो कर्म श्रेष्ठ मनुष्य करता है, वह वह निश्चय दूसरा मनुष्य करता है । वह(श्रेष्ठ मनुष्य) जो प्रमाण करता (प्रामाणिक ठहराता) है, मनुष्यमात्र उसका अनुसरण करता(उसीको प्रामाणिक ठहराता) है ॥ २१ ॥

न मे पार्थ! अस्ति कर्तव्यं, त्रिषु लोकेषु किं चन । न अनवाप्तम् अवाप्तव्यं, वर्ते एव च कर्मणि ॥२२॥

अर्थ—हे पृथाके पुत्र ! मेरेलिये तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेयोग्य नहीं है । नहीं कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनेयोग्य है, तोभी मैं निश्चय कर्ममें प्रवृत्त हूं ॥ २२ ॥

यदि हि अहं न वर्तेयं, जातु कर्मणि अतन्द्रितः । मम वर्त्मानुवर्तन्ते, मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः २३

अर्थ—क्योंकि यदि मैं निरालस्य हुआ कभी कर्ममें न प्रवृत्त होवूं (न कर्म करूं) । तो हे पृथाके पुत्र ! सब मनुष्य मेरे मार्गका अनुसरण करेंगे (मेरे पीछे चलेंगे) ॥२३॥

उत्सीदेयुः इमे लोकाः, न कुर्यां कर्म चेद् अहम् । सङ्करस्य च कर्ता स्याम्, उपहन्याम् इमाः प्रजाः २४

अर्थ—मैं यदि कर्म न करूं, तो ये सब लोग नष्ट हो जायेंगे(मेरे पीछे चलकर कर्महीन हुए श्रीहीन हो जायेंगे) । तब मैं वर्णसङ्करका करनेवाला होवूंगा, और इन सबलोगोंको अपने हाथसे मारूंगा २४

सक्ताः कर्मणि अविद्वांसो, यथा कुर्वन्ति भारत ! । कुर्याद् विद्वान् तथाऽसक्तः, चिकीर्षुः लोकसङ्ग्रहम्

अर्थ—हे भरतसन्तान ! जैसे कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानी, कर्म करते हैं । वैसेही लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त करना चाहताहुआ ज्ञानी, आसक्त न होता हुआ कर्म करे २५

न बुद्धिभेदं जनयेद्, अज्ञानां कर्मसंगिनाम् । जोषयेत् सर्वकर्माणि, विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

अर्थ—ज्ञानी, कर्ममें आसक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिका भेदन(कर्म करनेसे हटाना) न करे, प्रत्युत स्वयं समत्वबुद्धिरूपी योगसे युक्त होकर सब कर्मोंको ठीक ठीक करताहुआ उनसे भी प्रसन्नतापूर्वक करवाये ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा, कर्ता अहम् इति मन्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! सब कर्म प्रकृतिके गुणों(सत्व, रज, तम)से कियेजाते हैं । अहंकारसे विवेकशून्य मनवाला मनुष्य 'कर्मका करनेवाला 'मैं हूं', यह मानता है ॥ २७ ॥

तत्त्ववित् तु महाबाहो !, गुणकर्मविभागयोः । गुणाः गुणेषु वर्तन्ते, इति मत्त्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

अर्थ—परन्तु हे महाबाहु ! गुण और कर्मोंके विभाग(भेद)के तत्त्वका(वास्तवरूपका) जाननेवाला (प्रकृतिके गुण आत्मासे भिन्न हैं, वे कारण हैं और हरएक कर्म उनका कार्य्य है, इसप्रकार गुण और कर्मोंके कार्य्यकारण-भावरूपी भेदका जाननेवाला), गुण गुणोंमें(इन्द्रियां भी गुण और विषय भी गुण, इसप्रकार गुण गुणोंमें) प्रवृत्त होते हैं, यह समझकर नहीं आसक्त होता है ॥ २८ ॥

प्रकृतेः गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु । तान् अकृत्स्नविदो मन्दान्, कृत्स्नवित् न विचालयेत् ॥ २९ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! प्रकृतिके गुणोंसे विवेकरहित हुए मनुष्य गुणोंके कर्मोंमें (गुणोंके करायेहुए कर्मोंमें) आसक्त(अहंता—ममता—बुद्धिरूपी बन्धनसे बंधेहुए) होते हैं । उन न पूरा जाननेवाले मन्दबुद्धियोंको पूरा जाननेवाला न विचलित करे(कर्म करनेसे न हटाये) ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि, संन्यस्य अध्यात्मचेतसा । निराशीः निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः ३०

अर्थ—तू अन्तःकरण(मन)से मुझ (परमात्मा) में सब कर्मोंको छोडकर (अर्पणकर), इच्छासे रहित, ममतासे रहित और सन्ताप(शोक)से रहित होकर युद्धको कर ॥ ३० ॥

ये मे मतम् इदं नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति मानवाः । श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो, मुच्यन्ते ते अपि कर्मभिः ३१

अर्थ—हे अर्जुन! जो असूया(झूठी निन्दा) न करतेहुए और श्रद्धावाले हुए मेरे इस मतका सदा अनुष्ठान करते (वर्तावमें लाते) हैं, वे निःसन्देह कर्मोंसे(कर्मोंके बन्धनसे) छूट जाते हैं ॥३१॥

ये तु एतद् अभ्यसूयन्तो, न अनुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्वज्ञानविमूढान् तान्, विद्धि नष्टान् अचेतसः ॥ ३२ ॥

अर्थ—परन्तु जो सब ओरसे झूठी निन्दा करतेहुए मेरे इस मतका नहीं अनुष्ठान करते हैं । उन, सब ज्ञानोंमें(गुण, कर्म तथा आत्माके ज्ञानमें) कुण्ठितबुद्धि, बेसमझोंको नष्ट हुआ जान ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः, प्रकृतेः ज्ञानवान् अपि । प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

अर्थ—सब प्राणी अपनी प्रकृतिकी ओर जाते हैं, ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके सदृश ही चेष्टा (क्रिया) करता है, उसमें रोक थाम, क्या करेगा ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ । तयोः न वशम् आगच्छेत्, तौ हि अस्य परिपन्थिनौ

अर्थ—इन्द्रिय इन्द्रिय(हरएक इन्द्रिय)के विषयमें राग और द्वेष, दोनों रहते हैं । मनुष्य उन(राग, द्वेष)के वशमें न आवे, क्योंकि वे दोनों इसके शत्रु(परमात्माकी प्राप्तिमें विघ्न) हैं ॥ ३४ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अर्थ—सुखसे(आसानीसे) अनुष्ठान किये जानेवाले दूसरेके धर्म(कर्तव्य कर्म)से अपना धर्म(कर्तव्य कर्म) गुणरहित (आसानी आदि गुणोंसे रहित) भी श्रेष्ठ है । अपने धर्ममें मरना(मरनेतक करते रहना) कल्याणका करनेवाला और दूसरेका धर्म विपद् पर विपद्का लानेवाला होता है ३५

अर्जुनः उवाच=अर्जुनने कहा ।

(२) अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः । अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय !, बलाद् इव नियोजितः ॥ १ ॥

अर्थ—अब हे वार्ष्णेय ! यह मनुष्य किससे प्रेराहुआ न चाहता हुआ भी बलसे लगाये गये(धकेले गये)की नाईं पापको करता है, कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान्ने कहा ।

कामः एष क्रोधः एष, रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा, विद्धि एनम् इह वैरिणम् ॥ २ ॥

अर्थ—प्रकृतिके रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला, बडा पेटू(बहुत खानेवाला), बडा

पापी, जो यह काम (विषयाभिलाष), है, जो यही फिर क्रोध है, इसको तू यहां पापमें प्रवृत्त करनेवाला शत्रु जान ॥ २ ॥

धूमेन आव्रियते वह्निः, यथाऽऽदर्शो मलेन च । यथा उल्बेन आवृतो गर्भः, तथा तेन इदम् आवृतम् ३

अर्थ—जैसे अग्नि धूमसे और दर्पण मलसे ढक जाता है । जैसे गर्भ झिल्लीसे ढकाहुआ होता है, वैसेही यह सब (प्राणिवर्ग) इस(काम)से ढकाहुआ है ॥ ३ ॥

आवृतं ज्ञानम् एतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय! दुष्पूरेण अनलेन च ॥ ४ ॥

अर्थ—हे कुन्तीके पुत्र! अग्निरूप और न कभी तृप्त होनेवाले, इस कामरूपी ज्ञानीके सदा वैरीसे मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ४

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः, अस्य अधिष्ठानम् उच्यते । एतैः विमोहयति एष, ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् ५

अर्थ—इन्द्रियां, मन(सङ्कल्पवृत्ति अन्तःकरण) और बुद्धि(निश्चयवृत्ति अन्तःकरण), इस(काम)का आश्रय कहा जाता है । यह इनके द्वारा ज्ञानको ढांपकर मनुष्यको विवेकशून्य करता है ॥ ५ ॥

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाणि आदौ, नियम्य भरतर्षभ !। पाप्मानं प्रजहि हि एनं, ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥६॥

अर्थ—इसलिये तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके हे भरतश्रेष्ठ! निःसन्देह इस ज्ञान (आत्मज्ञान) विज्ञान(विविध पदार्थोंका ज्ञान) के नाशक पापीको मार ॥ ६ ॥

इन्द्रियाणि पराणि आहुः, इन्द्रियेभ्यः परं मनः । मनसः तु परा बुद्धिः, यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥७॥

अर्थ—इन्द्रियोंको विषयोंसे परे कहते हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है । मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे जो परे है, वह आत्मा है ॥ ७ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा, संस्तभ्य आत्मानम् आत्मना । जहि शत्रुं महाबाहो !, कामरूपं दुरासदम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इसप्रकार बुद्धिसे परले आत्माको जानकर और अपने आपसे अपने आपको थामकर, हे महाबाहु! कामरूपी दुर्धर्ष (दुर्जय) शत्रुको मार ॥ ८ ॥ (२।४३)

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें कर्मयोग नाम तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे तृतीयोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान्‌ने कहा

(१) इमं विवस्वते योगं, प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् । विवस्वान् मनवे प्राह, मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् ॥१॥

अर्थ—इस बिना फलदिये न नाश होनेवाले कर्मयोगको आरम्भमें मैंने विवस्वान्‌से कहा । विवस्वान्‌ने मनुसे कहा । और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तम्, इमं राजर्षयो विदुः । स कालेन इह महता, योगो नष्टः परन्तप ! ॥ २ ॥

अर्थ—इसप्रकार परम्परासे प्राप्तहुए, इस कर्मयोगको राजर्षियों(क्षत्रियों)ने जाना । बहुत काल बीतने पर हे शत्रुतापन ! वह कर्मयोग इसलोकमें लुप्त होगया ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य, योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तोऽसि मे सखा च इति, रहस्यं हि एतद् उत्तमम् ॥३॥

अर्थ—वही निश्चय यह पुरातन कर्मयोग, आज मैंने तुझे कहा है । क्योंकि तू मेरी भक्त है और सखा है, और यह निश्चय सबसे ऊंचा रहस्य है ॥ ३ ॥

अर्जुनः उवाच=अर्जुनने कहा ।

अपरं भवतो जन्म, परं जन्म विवस्वतः । कथम् एतद् विजानीयां, त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति ॥ ४ ॥

अर्थ—आपका जन्म वरे और विवस्वान्‌का जन्म परे है । कैसे यह मैं जानूं (समझूं) आरम्भमें इसको आपने कहा है ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान्‌ने कहा ।

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव च अर्जुन ! । तानि अहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परन्तप ! ५॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म व्यतीतहुए(हो चुके) हैं । उन सबको मैं जानता हूं, हे शत्रुतापन ! तूं नहीं जानता है ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन् अव्ययात्मा, भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय, सम्भवामि आत्ममायया ॥ ६ ॥

अर्थ—मैं अजन्मा, अविनाशी आत्मा, हुआ भी और सब प्राणियोंका स्वामी हुआ भी । अपनी जगज्जननी प्रकृतिका अधिष्ठाता(वशी) होकर उसी अपनी—सृष्टिनिर्माणशक्तिसे जन्मलेता हूं ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिः भवति भारत ! । अभ्युत्थानम् अधर्मस्य, तदाऽऽत्मानं सृजामि अहम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे भरतसन्तान ! जब जब निश्चय धर्म(न्याय, नीति, सौजन्य, कर्मयोग आदि चातुर्वर्ण्यधर्म)की हानि और अधर्म(अन्याय,

अनीति, दुष्टता, कर्मत्याग, अंधाधुन्धी आदि अधर्म)की वृद्धि होती है, तब मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

अर्थ—मैं भलोंकी रक्षाकेलिये और दुष्टोंके नाशकेलिये और धर्मकी स्थापनाके लिये, समय समय पर जन्मलेता हूं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यम्, एवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर् जन्म, न एति, माम् एति सोऽर्जुन !

अर्थ—मेरे अद्भुत जन्म और कर्मको जो इसप्रकार वास्तवरूपसे जानता है । वह हे अर्जुन ! शरीरको छोडकर फिर जन्मको नही प्राप्त होता है, किन्तु मुझ(ईश्वर)को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधाः, मन्मयाः माम् उपाश्रिताः । बहवो ज्ञानतपसा, पूताः मद्भावम् आगताः ॥ १० ॥

अर्थ—राग, भय और क्रोधसे रहित, मेरे साथ एकमेक और मुझेही आश्रयण कियेहुए(मेराही सहारा पकडेहुए) अनेक मुमुक्षु ज्ञान और तप(कर्म)से पवित्र होकर मद्रूपता(ब्रह्मरूपता)को प्राप्त हुए हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तान् तथा एव भजामि अहम् । मम वर्त्म अनुवर्तन्ते, मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥ ११ ॥

अर्थ—हे पृथाके पुत्र ! जो मुझे जैसा समझकर प्राप्त होते हैं, उन्हें मैं वैसा ही होकर फल देता हूं । क्योंकि सब मनुष्य अपनी अपनी समझसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते (मेरीही ओर आते) हैं ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं, यजन्ते इह देवताः । क्षिप्रं हि मानुषे लोके, सिद्धिः भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

अर्थ—यहां कर्मोंकी सिद्धि(पुत्र, पशु आदि कर्मजन्य फलकी प्राप्ति) तुरत चाहते हुए चारों वर्ण देवताओंके यज्ञ करते(उस उस देवताके रूपसे मुझे पूजते) हैं । क्योंकि मनुष्यलोकमें देवताओंके यज्ञरूपी कर्मसे जन्य फलकी प्राप्ति झटिति होती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः । तस्य कर्तारम् अपि मां, विद्धि अकर्तारम् अव्ययम् ॥ १३ ॥

अर्थ—चारों वर्णों(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र)को गुणों(सत्वआदि गुणों) और कर्मों(शम, दम आदि कर्मों)के विभागसे मैंनेही अलगअलग किया है । उसका(चारों वर्णोंका) कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशीको तू अकर्ता जान ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफले स्पृहा । इति मां योऽभिजानाति, कर्मभिः न स बध्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—फलका देना, वर्णोंका बनाना आदि कर्म मुझे नही लिपटते(स्पर्श करते) हैं, क्योंकि मुझे कर्मके फलमें इच्छा नही है । जो मुझे ऐसा जानता है, वह भी मेरीनाईं कर्मोंसे नही बंधा हुआ(लिपटा हुआ) होता है ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म, पूर्वैः अपि मुमुक्षुभिः । कुरु कर्म एव तस्मात् त्वं, पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अर्थ—पहले मुमुक्षुओंने भी ऐसे ही जानकर कर्म किया है। इसलिये तू भी ऐसे ही जानकर कर्मको कर, जो बहुत पहला है, और पहलोंसे किया गया है ॥ १५ ॥

किं कर्म किम् अकर्म इति, कवयो अपि अत्र मोहिताः। तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभात् ॥ १६ ॥

अर्थ—कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसमें ऋषिमुनि भी मोह(भूल)को प्राप्त हुए हैं। मैं तुझे वह कर्म और अकर्म, कहूंगा, जिसको जानकर तू कर्मबन्धनसे छूटेगा ॥ १६

कर्मणो हि अपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

अर्थ—निःसन्देह कर्म भी तुझे जानने-योग्य है, और विकर्म(विरुद्धकर्म=लोक-शास्त्रनिषिद्ध कर्म) भी जाननेयोग्य है। और अकर्म(कर्म न करना=कर्मत्याग) भी जाननेयोग्य है, क्योंकि कर्म, विकर्म और अकर्मका ज्ञान बडा कठिन है ॥ १७ ॥

कर्मणि अकर्म यः पश्येद्, अकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो कर्ममें अकर्मको देखता (आसक्ति और फलकी इच्छाके विना यावदायु कर्म करना ही अकर्म मानता) है और जो अकर्ममें कर्मको देखता(कर्म न करना, देश, जाति तथा आत्मा, तीनोंकेलिये हानिकारक होनेसे एकप्रकारका भयङ्कर कर्म समझता) है। वह मनुष्योंमें पण्डित है, वह सब कर्म करताहुआ भी समाहितचित्त (स्थितप्रज्ञ) है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसङ्कल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तम् आहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसके सब कर्म फलके सङ्कल्प-से रहित हैं। उस ज्ञानरूपी अग्निसे दग्ध हुए कर्मोंवालेको समझदार पण्डित कहते हैं ॥ १९

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं, नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मणि अभिप्रवृत्तोऽपि, न एव किञ्चित् करोति सः ॥ २० ॥

अर्थ—जो कर्ममें और फलमें आसक्ति तथा इच्छाको त्यागकर सदा तृप्त है और नही किसी दूसरेका सहारा लियेहुआ है, वह कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी (कर्म करता हुआ भी) निश्चय कुछ नही करता है (उसका कर्म अकर्म है) ॥ २० ॥

निराशीः यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म, कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो इच्छासे रहित है, मन तथा आत्मा(शरीर)को वशमें कियेहुआ है, जिसने अपनी सब सम्पत्तिमें आसक्तिका त्याग किया है, वह इच्छा और आसक्तिसे रहित, शरीरसाध्य कर्ममात्रको करताहुआ दोष(बन्धन)को नही प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धौ असिद्धौ च, कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ २२ ॥

अर्थ—जो, अपने आपसे पदार्थोंकी प्राप्तिमें सन्तुष्ट, हानि लाभ, जय पराजय आदि द्वन्द्वों से परे, मत्सर(डाह=हसद)से रहित

और कर्मके करनेपर फलकी प्राप्ति तथा अप्राप्तिमें समान है, वह कर्मको करके भी नहीं बन्धनको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः । यज्ञाय आचरतः कर्म, समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

अर्थ—जो आसक्ति से रहित है, राग, द्वेष आदिसे छूटा हुआ है, ज्ञान(आत्मज्ञान)में टिकेहुए मनवाला है, और अग्निहोत्र आदि यज्ञ केलिये कर्म(वेदाध्ययन, गार्हस्थ्यस्वीकार, धनोपार्जन आदि नानाविध कर्म) को करता है, उसका कियाहुआ सब कर्म लीन होजाता(अकर्म होजाता) है॥ २३ ॥

ब्रह्म अर्पणं ब्रह्म हविः, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्म एव तेन गन्तव्यं, ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अर्थ—अर्पण(आहुति देना) ब्रह्म है, हवि(हवनसामग्री) ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्निमें ब्रह्मने(यजमान अथवा अध्वर्युरूपी ब्रह्मने) होमा(हवन किया) है । ऐसे ब्रह्मदृष्टिसे अग्निहोत्र आदि कर्ममात्रमें जिसके मनकी एकाग्रता(जो अपने हर एक कर्मको ब्रह्मरूप ही देखता) है, उसको ब्रह्म ही प्राप्त होगा २४

(२) दैवम् एव अपरे यज्ञं, योगिनः पर्युपासते । ब्रह्माग्नौ अपरे यज्ञं, यज्ञेन एव उपजुह्वति ॥ १ ॥

अर्थ—दूसरे कर्मयोगी(पुत्र, पशु आदि फलकी कामनासे कर्म करनेवाले) अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओंके यज्ञको ही सदा करते हैं। दूसरे (ज्ञानी) ब्रह्मार्पणरूपी यज्ञक्रियासे यज्ञको (यज्ञरूपी कर्ममात्रको) ब्रह्मरूपी अग्निमें ही सदा होमते हैं॥ १॥

श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि अन्ये, संयमाग्निषु जुह्वति । शब्दादीन् विषयान् अन्ये, इन्द्रियाग्निषु जुह्वति २

अर्थ—दूसरे कई एक श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको संयमरूपी अग्नियोंमें होमते(इन्द्रियोंको वशमें रखनारूपी होम करते) हैं। दूसरे शब्द आदि विषयोंको इन्द्रियरूपी अग्नियोंमें होमते (इन्द्रियोंसे विषयोंको मर्य्यादाके अन्दर भोगनारूपी होम करते) हैं॥ २ ॥

सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि चापरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ, जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ३ ॥

अर्थ—दूसरे कई एक सब इन्द्रियोंके कर्मों (विषयग्रहणरूपी इन्द्रियोंके व्यापारों) को और प्राणके कर्मों(श्वास, प्रश्वासरूपी प्राणके व्यापारों)को ज्ञानसे प्रचण्डकी हुई, आत्मामें धारणा, ध्यान, समाधिरूपी योगकी अग्निमें सदा होमते हैं ॥ ३ ॥

द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः, योगयज्ञाः तथाऽपरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ ४ ॥

अर्थ—वैसेही दूसरे तीक्ष्ण व्रतों(नियमों)वाले संयमी(अपनेआपको वशमें कियेहुए), द्रव्यरूपी यज्ञके करनेवाले(देश तथा जातिकी भलाईकेलिये धनका दान देनेवाले), तपरूपी यज्ञके करनेवाले(देश तथा जातिकी भलाईकेलिये शीत उष्ण, भूख प्यास आदि द्वन्द्वोंके सहारनेवाले), उद्योगरूपी यज्ञके करनेवाले(देश तथा जातिकी समृद्धि केलिये सदुद्योगोंके करनेवाले) और स्वाध्यायरूपी यज्ञके करनेवाले तथा ज्ञानरूपी यज्ञके करनेवाले (लगातार

अनुसन्धान आदिके द्वारा अनेकप्रकारके ज्ञानको बढानेवाले) हैं ॥ ४ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं, प्राणेऽपानं तथाऽपरे । प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ ५ ॥

अर्थ—दूसरे कई एक प्राण, अपान (सांस, प्रसांस)की गति(क्रिया)को रोककर प्राणायाममें तत्पर हुए अपानमें प्राणको और प्राणमें अपानको होमते(प्राणायामका अभ्यास करते) हैं ॥ ५ ॥

अपरे नियताहाराः, प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । सर्वे अपि एते यज्ञविदो, यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ६ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो*, यान्ति ब्रह्म सनातनम् । न अयं लोकोऽस्ति अयज्ञस्य, कुतो अन्यः कुरुसत्तम !

अर्थ—दूसरे कई एक नियमसे सायं प्रातः परिमित खानेवाले प्राणोंको(प्राणोंकी आहारोंमें लोलुपताको) प्राणोंमें होमते(लीन करते) हैं । ये सब ही यज्ञके लभनेवाले (करनेवाले), यज्ञसे बचेहुए अन्नके खानेवाले, यज्ञसे नष्ट हुए पापोंवाले, सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और जो यज्ञहीन है (कोई भी यज्ञ नही करता है) उसका यही लोक नही(नहीं सा) है, हे कुरुओंमें श्रेष्ठ ! दूसरा(परलोक) कहांसे होगा ॥ ७ ॥

एवं बहुविधाः यज्ञाः, वितताः ब्रह्मणो मुखे । कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान्, एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ८

अर्थ—ऐसे अनेकप्रकारके यज्ञ, वेदके मुखरूपी यजुर्वेदमें विस्तारपाये हुए (विस्तारसे कहे हुए) हैं । उन सबको कर्मसे (वेदाध्ययन, गार्हस्थ्यस्वीकार, धनोपार्जन आदि नानाविध कर्मसे) होनेवाला जान, ऐसे जानकर, कर्तव्यबुद्धिसे करताहुआ भी तू मुक्त हो जायेगा ॥ ८ ॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात्, ज्ञानयज्ञः परन्तप ! । सर्वं कर्म अखिलं पार्थ !, ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—हे परंतप ! द्रव्यप्रधान यज्ञसे (ज्ञानहीन यज्ञमात्रसे) ज्ञानरूपी यज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि हे पृथाके पुत्र ! सब कर्म(हरएक कर्म) पूरा, ज्ञानमें आकर, समाप्त होता है (ज्ञानकेविना अधूरा है) ॥ ९ ॥

तद् विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः ॥ १० ॥

अर्थ—तू उस(ज्ञान)को नम्रभावसे (शिष्यभावसे), बार बार पूछनेसे और सेवासे जान(प्राप्तकर) । तुझे तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी ज्ञानका उपदेश करेंगे (ज्ञानको प्राप्त करायेंगे) ॥ १० ॥

यत् ज्ञात्वा न पुनर् मोहम्, एवं यास्यसि पाण्डव ! । येन भूतानि अशेषेण, द्रक्ष्यसि आत्मनि अथो मयि ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस(ज्ञान)को जानकर (प्राप्तकर) ऐसे(जैसे अब हुआ है, ऐसे) हे पाण्डुके पुत्र ! फिर मोहको न प्राप्त होगा । और जिस(ज्ञान)से, बाकी न छोडकर, सभी प्राणियोंको मुझ परमात्मामें देखेगा ११

*यज्ञशेषम् अन्नम् अमृतं (मनु० ३।२८५)

अपि चेद् असि पापेभ्यः, सर्वेभ्यः पापकृत्तमः । सर्वं ज्ञानप्लवेन एव, वृजिनं संतरिष्यसि ॥ १२ ॥

अर्थ—और यदि तू सब पापियोंसे (पाप करनेवालोंसे) बढकर पाप करनेवाला (बडा पापी) है। तोभी ज्ञानरूपी नौकासे सब पापको(पापके समुद्रको) निश्चय अच्छी-तरह(आसानीके साथ) तर जायगा॥ १२॥

यथा एधांसि समिद्धोऽग्निः, भस्मसात् कुरुते अर्जुन! । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुते तथा १३

अर्थ—हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित हुई अग्नि लकडियोंको भस्म करती है। वैसे ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको भस्म करतीहै१३

नहि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रम् इह विद्यते । तत् स्वयं योगसंसिद्धः, कालेन आत्मनि विन्दति ॥ १४ ॥

अर्थ—यहां ज्ञानके बराबर कोई वस्तु पवित्र नही है। उसको कर्मयोगसे पूरी सिद्धि (योग्यता)को प्राप्त हुआ मनुष्य स्वयं कुछ कालमें आत्मा (मन) में पालेता है॥१४

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्, अचिरेण अधिगच्छति १५

अर्थ—श्रद्धावाला, उसमें(ज्ञानकी प्राप्तिमें) लगा हुआ और इन्द्रियोंको वशमें किया हुआ मनुष्य ज्ञानको लभता है । और ज्ञानको लभकर बहुत जलदी ऊंची शान्ति(परमशान्ति)को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

अज्ञश्च अश्रद्दधानश्च, संशयात्मा विनश्यति।न अयं लोको अस्ति न परो, न सुखं संशयात्मनः ॥ १६॥

अर्थ—और जो बेसमझ है, नही श्रद्धा वाला है और संशयचित्त है, वह नाशको प्राप्त होता (मनुष्यपनसे गिर जाता) है। क्योंकि संशयचित्त मनुष्यका न यह लोक है, न परलोक है और नही उसे कोई सुख है ॥ १६ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं, ज्ञानसंछिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि, निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥ १७ ॥

अर्थ—समत्वबुद्धिरूपी कर्मयोगसे त्याग दिया है कर्मोंको (कर्मफलोंको) जिसने और ज्ञानसे अच्छीतरह कट गये हैं सब संशय जिसके, उस आत्मज्ञानी कर्मयोगीको हे धनंजय ! कर्म नही, बांधते हैं ॥ १७ ॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं, हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः । छित्वा एनं संशयं योगम्, आतिष्ठ उत्तिष्ठ भारत! १८

अर्थ—इसलिये अज्ञानसे उत्पन्नहुए हृदयमें स्थित अपने इस संशय-व्याघ्रको ज्ञानरूपी खड्गसे काटकर कर्मयोगका आश्रयण कर और हे भारत! युद्धकेलिये खडा हो १८

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ज्ञानयोग नाम चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण !, पुनर् योगं च शंससि । यत् श्रेयः एतयोः एकं, तत् मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! तू कर्मोंके संन्यास (त्याग)को और फिर कर्मयोगको कहता है । इन दोनोंमें जो श्रेष्ठ है, वह अच्छीतरह निश्चित एक मुझे कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्‌ने कहा ।

संन्यासः कर्मयोगश्च, निःश्रेयसकरौ उभौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासात्, कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

अर्थ—संन्यास(कर्मोंका त्याग) और कर्मयोग, दोनों मोक्षके देनेवाले हैं । परन्तु उन दोनोंमें कर्मोंके संन्याससे कर्मयोग विशेष(श्रेष्ठ) है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी, यो न द्वेष्टि न कांक्षति । निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो !, सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥३॥

अर्थ—वह(कर्मयोगी) सदा संन्यासी जानने योग्य है, जो न कर्मफलसे द्वेष करता है, न कर्मफलकी इच्छा करता है । क्योंकि इच्छा, द्वेषसे रहित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य हे महाबाहु ! अनायासही कर्मबन्धनसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः, प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकम् अपि आस्थितः सम्यग्, उभयोः विन्दते फलम् ४

अर्थ—संन्यासी बनानेवाले ज्ञानयोगको और कर्मयोगको अलग अलग मूर्ख कहते हैं, पण्डित नहीं । क्योंकि दोनोंमेंसे एकको भी ठीकठीक आश्रयण कियाहुआ मनुष्य दोनोंके फलको पालेता है ॥ ४ ॥

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद् योगैः अपि गम्यते । एकं सांख्यं च योगं च, यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्ञानयोगी जिस स्थानको प्राप्त होते हैं, कर्मयोगी भी उसी स्थानको प्राप्त होते हैं । इसलिये जो ज्ञानयोग और कर्मयोग, दोनोंको एक देखता है, वही ठीक देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो !, दुःखम् आप्तुम् अयोगतः । योगयुक्तो मुनिः ब्रह्म, न चिरेण अधिगच्छति ॥६॥

अर्थ—परन्तु हे महाबाहु ! कर्मोंका त्याग, कर्मयोगके विना प्राप्त होना कठिन है । और कर्मयोगसे युक्त आत्मज्ञानी, कुछ विलम्बसे ब्रह्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन् अपि न लिप्यते ७

अर्थ—कर्मयोगसे युक्त, निर्मलमन, शरीरको जीताहुआ, इन्द्रियोंको जीता हुआ और सब प्राणियोंका आत्माही जिसका आत्मा है, वह कर्मोंको करता हुआ भी नही लिप्त होता है ॥ ७ ॥

न एव किं चित् करोमि इति, युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्, अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥ ८ ॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्, उन्मिषन् निमिषन् अपि। इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु, वर्तन्ते इति धारयन् ॥ ९ ॥

अर्थ—कर्मयोगसे युक्त आत्मतत्त्वका जाननेवाला, देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, सांसलेता हुआ ॥ बोलता हुआ, त्यागता (मल, मूत्र त्यागता) हुआ, पकडता हुआ, आंख खोलता हुआ, मूंदता हुआ भी, इन्द्रियां इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, ऐसा निश्चय करता हुआ, निःसन्देह मैं कुछ भी नही करता हूं, यह मानता (समझता) है ॥९॥

ब्रह्मणि आधाय कर्माणि, संगं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्रम् इवाम्भसा ॥१०॥

अर्थ—जो कर्मोंको ब्रह्ममें रखकर (अर्पण कर) और आसक्ति को छोडकर कर्मको करता है। वह जलसे कमलके पत्रकी नाई पापसे नही लिप्त होता है ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या, केवलैः इन्द्रियैः अपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति, संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

अर्थ—कर्मयोगी शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे और अकेली इन्द्रियोंसे भी आसक्तिको छोडकर आत्मज्ञानकी निर्मलताकेलिये कर्मको करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा, शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण, फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

अर्थ—कर्मयोगसे युक्त, कर्मके फलको छोडकर सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है। और जो कर्मयोगसे युक्त नही, वह कामनासे फलमें आसक्त हुआ बंध जाता है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा, संन्यस्य आस्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही, न एव कुर्वन् न कारयन् ॥ १३ ॥

अर्थ—शरीर, इन्द्रियां और मन, जिसके वशमें है, वह शरीरका स्वामी आत्मा, सब कर्मोंको मनसे ब्रह्ममें रखकर निःसन्देह न करता हुआ, न कराता हुआ-सा, नौ दरवाजोंवाले शरीररूपी नगरमें सुख पूर्वक रहता है ॥ १३ ॥

(२) न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १ ॥

अर्थ—सबका स्वामी परमात्माभी मनुष्यके कर्तापनको नही बनाता है, न कर्मोंको और न कर्मोंके फलके सम्बन्धको बनाता है, किन्तु प्रकृति बनाती है ॥ १ ॥

नादत्ते कस्यचित् पापं, न च एव सुकृतं विभुः। अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥२॥

अर्थ—वह विभूतिवाला (ऐश्वर्यवान्), किसीके पापकर्मको नही ग्रहण करता (निष्फल बनाता)है और न निश्चय पुण्यकर्मको ग्रहण करता है। मनुष्योंका ज्ञान, अज्ञानसे ढंका हुआ है, इसलिये मनुष्य मोहको प्राप्त होते (उलटा समझते) हैं॥ २॥

ज्ञानेन तु तद् अज्ञानं, येषां नाशितम् आत्मनः। तेषाम् आदित्यवत् ज्ञानं, प्रकाशयति तत् परम्॥ ३॥

अर्थ—परन्तु आत्माके ज्ञानसे जिनके उस अज्ञानको परमात्माने नष्ट कर दिया है। उनका ज्ञान 'जगत्को सूर्य्यकी नाईं' उस परले (आत्मा)को प्रकाशता है॥ ३॥

तद्बुद्धयः तदात्मानः, तन्निष्ठाः तत्परायणाः। गच्छन्ति अपुनरावृत्तिं, ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ ४॥

अर्थ—जो उस (परमात्मा)में बुद्धिवाले, उसीमें मनवाले, तथा उसीमें निष्ठावाले हैं और जिनका वही परम आश्रय है, वे आत्माके ज्ञानसे नष्टहुए पापोंवाले पुनरावृत्तिसे रहित मुक्तिको प्राप्त होते हैं॥ ४॥

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि च एव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः॥ ५॥

अर्थ—आत्मज्ञानी कर्मयोगी, विद्या तथा विनयसे युक्त ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, और कुत्तेमें और कुत्तोंके शिक्षक अन्त्यजमें निश्चय समदर्शी होते हैं॥ ५॥

इह एव तैः जितः सर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ ६॥

अर्थ—उन्होंने यहां ही संसार को जीत लिया है, जिनका मन समतामें स्थित है। क्योंकि ब्रह्म निश्चय निर्दोष और सम है, इसलिये वे (समदर्शी) संसारमें स्थित हुए भी ब्रह्ममें ही स्थित हैं॥ ६॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, न उद्विजेत् प्राप्य च अप्रियम्। स्थिरबुद्धिः असंमूढो, ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः

अर्थ—जो प्रिय वस्तुको पाकर नही प्रसन्न होता है और अप्रिय वस्तुको पाकर नही दुःखी होता है। वह स्थिरबुद्धि, अज्ञानसे रहित, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्ममें स्थित है॥ ७॥

बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा, विन्दति आत्मनि यत् सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सुखम् अक्षय्यम् अश्नुते८

अर्थ—बाहरके विषयोंमें न बंधेहुए मनवाला कर्मयोगी, अन्दर आत्मामें जिस अक्षय सुखको लभता(पाता) है। वह ज्ञानयोगमें जुडेहुए मनवाला ज्ञानयोगी भी, उसी अक्षय सुखको प्राप्त होता है॥ ८॥

यो हि संस्पर्शजाः भोगाः, दुःखयोनयः एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय!, न तेषु रमते बुधः॥९॥

अर्थ—बाह्यविषयोंके सम्बन्धसे होनेवाले जो भी भोग (सुख) हैं, वे निःसन्देह परिणाममें दुःखके कारण हैं। और आदि-अन्त-वाले हैं, हे कुन्तीके पुत्र! उन (बाह्य विषयों)में समझदार मनुष्य नहीं रमता(सुखबुद्धिसे प्रवृत्त होता) है॥ ९॥

शक्नोति इह एव यः सोढुं, प्राक् शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं, स युक्तः स सुखी नरः॥१०॥

अर्थ—जो शरीरके छूटनेसे पहले यहां ही काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको (काम, क्रोधकी तेजीको)सहारनेके लिये समर्थ होता है। वह मनुष्य कर्मयोगसे युक्त(सच्चा कर्मयोगी) है, वह सुखी है ॥१०॥

योऽन्तःसुखो अन्तरारामः, तथाऽन्तर्ज्योतिः एव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं, ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ११

अर्थ—जो अन्दर ही(आत्मामें ही) सुखवाला, अन्दर ही रमणेवाला और जो निश्चय अन्दर ही दृष्टिवाला है। वह कर्मयोगी ब्रह्मरूप हुआ ब्रह्मनिर्वाणको (ब्रह्ममें लयरूपी मोक्षको) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्, ऋषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधाः यतात्मानः, सर्वभूतहिते रताः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो नष्टहुए पापोंवाले, कटेहुए (निवृत्त हुए) संशयोंवाले, वशमें कियेहुए शरीर, इन्द्रिय तथा मनवाले और सब प्राणियोंके हित(भलाई)में निमग्न हैं, वे मुनि (कर्मयोगी) ब्रह्मनिर्वाणको लभते हैं १२

कामक्रोधवियुक्तानां, यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं, वर्तते विदितात्मनाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो काम और क्रोधसे रहित हैं, वशमें कियेहुए मनवाले और आत्माको जाने हुए हैं, उन मुनियों(कर्मयोगियों)के सामने ब्रह्मनिर्वाण खडा रहता है ॥ १३ ॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिः बाह्यान्, चक्षुश्च एव अन्तरे भ्रुवोः। प्राणापानौ समौ कृत्वा, नासाभ्यन्तरचारिणौ

यतेन्द्रियमनोबुद्धिः, मुनिः मोक्षपरायणः। विगतेच्छाभयक्रोधो, यः सदा मुक्तः एव सः ॥ १५ ॥

अर्थ—बाहरके विषयोंको बाहर करके (बाह्यविषयोंका चिन्तन छोडकर) और दृष्टिको निश्चय दोनों भवोंके मध्यमें स्थिर करके। नासोंके भीतर चलनेवाले प्राण तथा अपानको बराबर करके (एकजैसा चलाकर) ॥ १४ ॥ जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धिको वशमें किया है, जो मोक्षपरायण है, इच्छा, भय और क्रोध, जिसके निवृत्त होगये हैं, ऐसा जो मुनि (कर्मयोगी) है, वह निःसन्देह सदा मुक्त है ॥ १५ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां, सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां, ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति ॥ १६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! अर्पण किये हुए यज्ञों, तपों, तथा दानोंका भोगनेवाला(स्वीकार करनेवाला), सब लोकोंका बडा ईश्वर(परमेश्वर) और सब प्राणियोंका सुहृद्, जो मैं हूं, उस मुझको जानकर मनुष्य झटिति शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ (२।२९)

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें कर्मसंन्यासयोग नाम पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्‌ने कहा ।

(१) अनाश्रितः कर्मफलं, कार्य्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च, न निरग्निः न चाक्रियः १

अर्थ—जो कर्मफलका न आश्रय लिया हुआ 'मुझे करनाचाहिये, इसबुद्धिसे कर्म (वर्णकर्म और आश्रमकर्म)को करता है । वह निःसन्देह संन्यासी है, वह निश्चय कर्मयोगी है, अग्निहोत्र आदि कर्मोंका त्यागी संन्यासी नहीं और नहीं कर्ममात्रका त्यागी संन्यासी है ॥ १ ॥

यं संन्यासम् इति प्राहुः, योगं तं विद्धि पाण्डव ! । न हि असंन्यस्तसङ्कल्पो, योगी भवति कश्चन २

अर्थ—हे पाण्डव ! जिसको संन्यास (त्याग), ऐसा ज्ञानयोगी कहते हैं, उसको तू कर्मयोग जान । क्योंकि नहीं त्यागा है कर्मफलके सङ्कल्पको जिसने, ऐसा कर्मयोगी कोई भी नहीं होता है ॥ २ ॥

आरुरुक्षोः मुनेः योगं, कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्य एव, शमः* कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—कर्मयोगपर आरूढ होना(पूरा कर्मयोगी होना) चाहतेहुए मुनिकेलिये कर्म (कर्तव्यबुद्धिसे कर्मानुष्ठान) कारण(कर्मयोगपर आरूढ होनेका साधन) कहा जाता है । और कर्मयोगपर आरूढ हुए(पूरा कर्मयोगी हुए) उस ही मुनिकेलिये पुनः कर्मानुष्ठानका हेतु लोकसङ्ग्रहदर्शन कहा जाता है ॥ ३ ॥

यदा हि न इन्द्रियार्थेषु, न कर्मसु अनुषज्जते । सर्वसङ्कल्पसंन्यासी, योगारूढः तदोच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—वह सब सङ्कल्पों (कामनाओं) का त्यागी, जब इन्द्रियोंके विषयोंमें निश्चय नहीं आसक्त होता है और न कर्मोंमें आसक्त होता है, तब योगारूढ(पूरा कर्मयोगी) कहा जाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेद् आत्मना आत्मानं, न आत्मानम् अवसादयेत् । आत्मा एव आत्मनो बन्धुः, आत्मा एव आत्मनो रिपुः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मनुष्य आत्मा(अपने आप)से आत्मा(अपने आप)को ऊपर (उन्नतिकी ओर)ले जाये, कभी आत्माको न नीचे गिराये(अवनतिकीओर जानेके योग्य बनाये) । क्योंकि आत्मा ही आत्माका मित्र और आत्मा ही आत्माका शत्रु है ५

बन्धुः आत्मा आत्मनः तस्य, येन आत्मा एव आत्मना जितः । अ-

*शामयतेः आलोचनकर्मणो घञि रूपम् "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" (अष्टा० ७।३।३४) इति नोपधावृद्धिः ।

नात्मनस्तु शत्रुत्वे, वर्तेत आत्मा एव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—उस आत्माका आत्मा मित्र है, जिस आत्माने निश्चय आत्माको जीता है । और जिसने आत्माको जीता नही, उसकी शत्रुतामें आत्मा ही शत्रुके समान वर्तता (वर्ताव करता) है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य, परम् आत्मा समाहितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसने आत्मा(मन)को जीतलिया है, और जो शान्तिसे भरपूर है, उसका देह आदिसेपरे(असङ्ग) हुआ आत्मा, सरदी, गरमी, सुख तथा दुःखमें और मान (आदर) तथा अपमान(तिरस्कार)में एकाग्र (एकजैसा) रहता है ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः । युक्तः इति उच्यते योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

अर्थ—ज्ञान(आत्मज्ञान)तथा विज्ञान (विविध पदार्थज्ञान)से जिसका आत्मा(मन) तृप्त होगया है, जो इष्ट तथा अनिष्ट विषयोंकी प्राप्तिमें निर्विकार है, इन्द्रियोंको जीता हुआ है, जिसको ढेला, पत्थर और सुवर्ण (सोना) बराबर है, वह कर्मयोगी युक्त (योगारूढ) ऐसा कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुषु अपि च पापेषु, समबुद्धिः विशिष्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—सुहृद्(प्रत्युपकारकी इच्छा न रखकर उपकारकरनेवाला=स्वभावसे शुभचिन्तक), मित्र(स्नेही), अरि(शत्रु), उदासीन(किसीका पक्ष न लेनेवाला), मध्यस्थ(बीचमें पडकर दोनों पक्षोंका भला चाहनेवाला) द्वेष्य(स्वरूपसे द्वेषके योग्य) और ज्ञाती वर्गमें, भलोंमें और बुरोंमें जो निश्चय समबुद्धि है, वह विशेष(सब योगारूढोंमें श्रेष्ठ) है ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततम्, आत्मानं रहसि स्थितः । एकाकी यतचितात्मा, निराशीः अपरिग्रहः ॥ १० ॥

अर्थ—कर्मयोगी अकेला एकान्तमें स्थित होकर मन और शरीरको वशमें किया हुआ, इच्छासेरहित और अपनी सम्पत्तिमें आसक्तिसेरहित हुआ निरन्तर (प्रतिदिन यथावकाश कुछ काल) मनको एकाग्र करे ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरमासनमात्मनः । न अत्युच्छ्रितं न अतिनीचं, चैलाजिनकुशोत्तरम् ११ तत्र एकाग्रं मनः कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्य आसने युञ्ज्याद्, योगम् आत्मविशुद्धये १२

अर्थ—न बहुत ऊंचा, न बहुत नीचा, वस्त्र, मृगचर्म और कुशा, जिसमें एक दूसरेके ऊपर है, ऐसा अपना न हिलनेवाला आसन शुद्ध स्थानपर, स्थापन करके ॥११॥ और उस आसनपर बैठकर मनको एकाग्र करके, मन और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें कियाहुआ, कर्मयोगी, आत्माकी विशेष शुद्धि(मनकी ऊंची निर्मलता)केलिये योग(समाधियोग)को करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं, धारयन् अचलं स्थिरः। सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं, दिशश्च अनवलोकयन् ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चित्तो युक्तः आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

अर्थ—शरीर(धड) सिर और गर्दनको सीधा स्थिर रखकर (मूलाधारसे मूर्द्धातक सीधा रहकर), दृढ हुआ, और दायें, बायें, सामने, न देखता हुआ, अपनी नासों (नाक)के अगलेभागपर ठीक दृष्टि रखकर रागद्वेष आदिसे रहित मनवाला, निडर, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित(ऋतुकालमें स्त्री गामी), मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे आश्रय हुआ समाधिस्थ होकर बैठे ॥१४॥

युञ्जन् एवं सदाऽऽत्मानं, योगी नियतमानसः। शान्तिं निर्वाणपरमां, मत्संस्थाम् अधिगच्छति ॥ १५ ॥

अर्थ—इसप्रकार प्रतिदिन मनको समाधिस्थ करता हुआ निरुद्ध मनवाला हुआ योगी(कर्मयोगी) मुझमें रहनेवाली परली निर्वाणरूपी शान्तिको प्राप्त होता है ॥१५॥

न अत्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न च एकान्तम् अनश्नतः। न च अतिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो न एव चार्जुन!

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन! बहुत खानेवालेको योग(समाधियोग) नही प्राप्त होता है, और न अत्यन्त(बिल्कुल) न खानेवालेको। और न बहुत सोनेके स्वभाववालेको और न निश्चय बहुत जागनेवालेको योग प्राप्त होता है ॥ १६॥

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

अर्थ—आहार (खाना) और विहार (चलना फिरना) जिसका युक्त (परिमित) है, कर्मोंमें चेष्टा (प्रवृत्ति, निवृत्ति) जिसकी युक्त है। सोना और जागना जिसका युक्त है, उसको दुःखों(विक्षेपों)का नाशक योग प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तम्, आत्मनि एव अवतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो, युक्त इति उच्यते तदा१८

अर्थ—जब सब ओरसे निरुद्ध हुआ मन, आत्मामें ही स्थिर हो जाता है। तब सब पदार्थोंसे निरिच्छ हुआ योगी युक्त (योगसम्पन्न) ऐसा कहा जाता है ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो, न इङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य, युञ्जतो योगम् आत्मनः॥१९॥

अर्थ—जैसे वायुरहित स्थानमें रखा-हुआ दीपक(दीपककी ज्योति) नही डोलता है, ठीक वह उपमा, आत्माके योगको करते हुए योगीके निरुद्धमनकी कही गई है १९

यत्र उपरमते चित्तं, निरुद्धं योगसेवया। यत्र च एव आत्मना आत्मानं, पश्यन् आत्मनि तुष्यति२०

अर्थ—जिस अवस्थामें मन योगाभ्याससे निरुद्ध हुआ निर्व्यापारस्थित होता है। और जिस मनकी अवस्थाविशेषमें योगी आत्मासे आत्माको देखता हुआ आत्मामें ही सन्तुष्ट होता है ॥ २० ॥

सुखम् आत्यन्तिकं यत् तद्, बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम् । वेत्ति यत्र न च एव अयं, स्थितः चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस मनकीअवस्थाविशेषमें आत्माके वास्तवरूपमें स्थित हुआ यह योगी, उस अन्तको उलांघेहुए(अनन्त) सुखको अनुभव करता है, जो इन्द्रियोंकी पहुंचसे परे और आत्मानुभवगम्य है, और फिर निश्चय आत्माके वास्तवरूपसे नही गिरता है ॥२१॥

यं लब्ध्वा च अपरं लाभं, मन्यते न अधिकं ततः । यस्मिन् स्थितो न दुःखेन, गुरुणाऽपि विचाल्यते २२

अर्थ—और जिस(आत्मा)को लभकर उससे अधिक दूसरा लाभ नही समझता है । और जिसमें स्थितहुआ भारी दुःखसे भी नही गिराया(हिलाया) जाता है २२

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् । स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

अर्थ—उस दुःखोंके सम्बन्धका वियोग (नाश) करनेवाले मनकी अवस्थाविशेषको योग–नामवाला(योग) जाने । वही योग न उदास होनेवाले मनसे सदा दृढताके साथ अभ्यास करने योग्य है ॥ २३ ॥

सङ्कल्पप्रभवान् कामान्, त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः । मनसा एव इन्द्रियग्रामं, विनियम्य समन्ततः २४

अर्थ—मनके सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर । और मनसे निश्चय इन्द्रियोंके समूह(सब इन्द्रियों)को चारों ओरसे रोककर ॥२४॥

शनैः शनैः उपरमेद्, बुद्ध्या धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किंचिद् अपि चिन्तयेत् ॥२५॥

अर्थ—धृति(धैर्य्य)से पकडी हुई बुद्धिसे धीरे धीरे उपराम(निर्व्यापार-स्थितिवाला) होवे । और मनको आत्मामें अच्छीतरह स्थित करके कुछ भी न चिन्तन करे ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति, मनः चञ्चलम् अस्थिरम् । ततस्ततो नियम्य एतद्, आत्मनि एव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

अर्थ—स्वभावसे चंचल और न टिकनेवाला मन, जिस जिस ओरसे(जिस जिस इन्द्रियके द्वारा) बाहर जाता है । उस उस ओरसे इसको रोककर आत्मामें ही वशमें लाये(लगाये) ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं हि एनं, योगिनं सुखमुत्तमम् । उपैति शान्तरजसं, ब्रह्मभूतम् अकल्मषम् ॥ २७ ॥

अर्थ—इस अच्छीतरह शान्त हुए मनवाले, निवृत्तहुए रजोगुणवाले, पापोंसे रहित, और ब्रह्मरूपहुए योगी(कर्मयोगी)को निःसन्देह सबसे ऊंचा सुख प्राप्त होता है२७

युञ्जन् एवं सदाऽऽत्मानं, योगी विगतकल्मषः । सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

अर्थ—इसप्रकार सदा मनको समाहित (एकाग्र) करता हुआ, निवृत्त हुए पापोंवाला योगी, सुख (आसानी)से ब्रह्मसम्बन्धी अनन्त सुखको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थम् आत्मानं, सर्वभूतानि च आत्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

अर्थ—योगसे समाहित हुए मनवाला योगी (कर्मयोगी) सबमें समदर्शी हुआ आत्माको सब भूतोंमें स्थित और सब भूतोंको आत्मामें स्थित देखता है ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति। तस्य अहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

अर्थ—जो मुझ (आत्मा)को सब भूतोंमें देखता है, और सब भूतोंको मुझमें देखता है। उसको मैं नहीं अदृश्य होता हूं, और वह मुझसे नहीं अदृश्य होता है ३०

सर्वभूतस्थितं यो मां, भजति एकत्वम् आस्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि, स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो मुझ सबभूतोंमें स्थितको एकताका आश्रयण किया हुआ (सब भूतोंमें मुझ एकको ही मानता हुआ) भजता है। वह कर्मयोगी सब प्रकारसे (हिंसाकर्मसे अथवा अहिंसाकर्मसे) वर्तमान हुआ भी मुझमेंही रहता (मुझसे अलग नहीं होता) है ॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन!। सुखं वा यदि+वा दुःखं, स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो अपने दृष्टान्तसे चाहे सुखको चाहे दुःखको सबमें एक जैसा देखता है। वह कर्मयोगी सबसे श्रेष्ठ मुझे अभिमत (स्वीकृत) है ॥ ३२ ॥

अर्जुनः उवाच। अर्जुनने कहा।

(२) योऽयं योगः त्वया प्रोक्तः, साम्येन मधुसूदन!। एतस्य अहं न पश्यामि, चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे मधुसूदन! जो यह समताबुद्धिवाला कर्मयोग तू ने कहा है। मैं मनकी चपलताके कारण इस (योग)की अचल स्थिति नहीं देखता हूं ॥ १ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण!, प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्य अहं निग्रहं मन्ये, वायोः इव सुदुष्करम् ॥२॥

अर्थ—हे कृष्ण! मन निश्चय चपल है, शरीर और इन्द्रियोंको अच्छीतरह मथने (क्षुब्ध करने)वाला है, बलवान् और हठी है। मैं उस (मन)का रोकना वायुके रोकनेकी नाई बडा दुष्कर(मुश्किल) समझता हूं ॥२॥

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

असंशयं महाबाहो!, मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय!, वैराग्येन च गृह्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—हे महाबाहु! निःसन्देह मन दुःखसे(मुश्किलसे) रुकनेवाला और स्वभावसे चञ्चल है। परन्तु हे कौन्तेय! अभ्याससे (बार बार ठहरानेके यत्नसे) और वैराग्य (पदार्थोंमें अनासक्ति)से रोका जाता (वशमें किया जाता) है ॥ ३ ॥

असंयतात्मना योगो, दुष्प्रापः इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुम् उपायतः ॥ ४ ॥

अर्थ—न वशमें कियेहुए मनवालेको योग (कर्मयोग) दुःखसे प्राप्त होने योग्य है, यह मेरी समझ है। परन्तु उपाय (अभ्यास और वैराग्य)से वशमें किये हुए मनवाले यत्नशीलको प्राप्त होना शक्य (सुखसे प्राप्त होनेयोग्य) है ॥ ४ ॥

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो, योगात् चलितमानसः । अप्राप्य योगसंसिद्धिं, कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ॥५॥

अर्थ—हे कृष्ण ! न वशमें किये हुए मनवाला, श्रद्धासे युक्त और योग (कर्मयोग)से हटे हुए मनवाला, योग (कर्मयोग)की ठीक ठीक सिद्धिको न प्राप्त होकर (योगारूढ न होकर) किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ५ ॥

कच्चित् न उभयविभ्रष्टः, छिन्नाभ्रम् इव नश्यति । अप्रतिष्ठो महाबाहो !, विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ६ ॥

अर्थ—क्या दोनों ओरसे(लोक, परलोकसे) भ्रष्ट हुआ छिन्नभिन्न मेघकी नांई नहीं नष्ट(पतित) होता है ? । हे महाबाहु ! जो वह अविवेकी ब्रह्मके (ब्रह्मप्राप्तिके) मार्ग (कर्मयोग)में अप्रतिष्ठित(ठीक ठीक सिद्धिको अप्राप्त) है ॥ ६ ॥

एतत् मे संशयं कृष्ण !, छेत्तुम् अर्हसि अशेषतः । त्वद् अन्यः संशयस्य अस्य, छेत्ता न हि उपपद्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! तू मेरे इस संशयको निःशेष रूपसे काटने(निवृत्त करने) योग्य है । तुझसे भिन्न दूसरा इस संशयका काटनेवाला निःसन्देह नहीं होसकता है ७

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्ने कहा ।

पार्थ ! न एव इह नामुत्र, विनाशः तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥८॥

अर्थ—हे पार्थ ! न इसलोकमें न उसलोक(परलोक)में निश्चय उसका नाश होता है । क्योंकि हे तात ! शुभकर्मका करनेवाला कोई भी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है ८

प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान्, उषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ९ ॥

अर्थ—पुण्यकर्म करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होकर, वहां बहुत वर्ष रहकर योगभ्रष्ट (कर्मयोगपर पूरा पूरा न पहुंचा हुआ) शुद्धाचारी श्रीमानोंके घरमें उत्पन्न होता है९

अथवा योगिनाम् एव, कुले भवति धीमताम् । एतद् हि दुर्लभतरं, लोके जन्म यद् ईदृशम् ॥ १० ॥

अर्थ—अथवा ज्ञान(आत्मज्ञान)वाले कर्मयोगियोंके कुलमें ही उत्पन्न होता है । निःसन्देह लोकमें यह बडा दुर्लभ है, जो इस प्रकारका जन्म है ॥ १० ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं, लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः, संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥ ११ ॥

अर्थ—वहां(श्रीमानों अथवा कर्मयोगियोंके कुलमें) पहले देहमें होनेवाले उस कर्मयोगकी बुद्धिके सम्बन्धको लभता है । और फिर उससे आगे कर्मयोगकी पूरी सिद्धिकेलिये हे कुरुनन्दन ! यत्न करता है ११

पूर्वाभ्यासेन तेन एव, ह्रियते हि अवशो अपि सः । जिज्ञासुः अपि योगस्य, शब्दब्रह्म अतिवर्तते॥१२॥

अर्थ—उस पहले अभ्यास(कर्मयोगके अभ्यास)से ही वह(श्रीमानों अथवा कर्म॰

योगियोंके कुलमें जन्माहुआ योगभ्रष्ट) निःसन्देह न स्वतन्त्र हुआ भी, कर्मयोगकी ओर खींचा जाता (बलपूर्वक लाया जाता) है। पहले जन्ममें योग(कर्मयोग)के जाननेकी इच्छावाला हुआ भी अगले(वर्तमान) जन्ममें स्वर्गआदि कर्मफलके प्रतिपादक वेद वचनोंको उलांघ जाता(दृष्टितले न रखता हुआ कर्मयोगमें लग जाता) है ॥ १२ ॥

प्रयत्नाद् यतमानस्तु, योगी संशुद्धकिल्बिषः । अनेकजन्मसंसिद्धः, ततो याति परां गतिम् ॥ १३ ॥

अर्थ—और प्रयत्नसे प्रयत्न करता हुआ (लगातार प्रयत्न करता हुआ) निवृत्त हुए पापोंवाला कर्मयोगी, अनेकजन्मोंमें ठीकठीक सिद्धिको प्राप्त हुआ पश्चात् परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

तपस्विभ्यो अधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्च अधिको योगी, तस्माद् योगी भव अर्जुन ! ॥ १४ ॥

अर्थ—कर्मयोगी, तपस्वियोंसे अधिक और कर्मको त्यागे हुए आत्मज्ञानियोंसे भी अधिक और कर्मियों(फलकी कामनासे कर्म करनेवालों)से भी अधिक (श्रेष्ठ) माना गया है, इसलिये हे अर्जुन ! तू कर्मयोगी हो ॥ १४ ॥

योगिनाम् अपि सर्वेषां, मद्गतेन अन्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां, स मे युक्ततमो मतः॥१५॥

अर्थ—सब कर्मयोगियोंमें भी जो नित्य श्रद्धावाला हुआ मुझमें लगेहुए मनसे मुझे भजता(सबमें आत्मा-रूपसे विद्यमान देखता) है, वह सबसे बढकर योगयुक्त मुझसे माना गया है ॥१५॥ (२।४७)

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें आत्मसंयमयोग नाम छेटा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

(१) मयि आसक्तमनाः पार्थ!, योगं युञ्जन् मदाश्रयः। असंशयं समग्रं मां, यथा ज्ञास्यसि तत् शृणु ॥ १ ॥

अर्थ—हे पार्थ! मुझमें लगेहुए मनवाला, मेरा आश्रय लिया हुआ, कर्मयोगको करता हुआ तू मुझे निश्चय पूरा पूरा जैसे जानेगा, वह सुन ॥ १ ॥

ज्ञानं ते अहं सविज्ञानम्, इदं वक्ष्यामि अशेषतः। यत् ज्ञात्वा न इह भूयोऽन्यत्, ज्ञातव्यम् अवशिष्यते ॥ २ ॥

अर्थ—मैं तुझे पदार्थज्ञानके सहित यह ज्ञान पूर्णरूपसे कहता हूं। जिसको जानकर (प्राप्त कर) फिर यहां दूसरा कुछ जानने योग्य नहीं बाकी रहता है ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धये। यतताम् अपि सिद्धानां, कश्चित् मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

अर्थ—मनुष्योंके बीच हजारोंमेंसे कोई एक ज्ञानप्राप्तिकेलिये यत्न करता है। यत्न करनेवाले ज्ञानियोंमें भी कोई एक मुझे वास्तवरूपसे जानता है ॥ ३ ॥

भूमिः आपोऽनलो वायुः, खं मनो बुद्धिः एव च। अहङ्कारः इतीयं मे, भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा ॥ ४ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, इस प्रकार निश्चय आठ प्रकारके भेदोंवाली यह मेरी प्रकृति (सृष्टिनिर्माण शक्ति) है ॥४॥

अपरा इयम् इतस्तु अन्यां, प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! यया इदं धार्यते जगत् ॥५॥

अर्थ—यह (आठ भेदोंवाली) मेरी अपरा (वरली) प्रकृति है, इससे भिन्न दूसरी निश्चय मेरी जीवरूपी परा(परली) प्रकृतिको हे महाबाहु! तू जान, जिसने यह सब जगत् धारणकिया हुआ (थामा हुआ) है ५

एतद्योनीनि भूतानि, सर्वाणि इति उपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः, प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

इन दोनों कारणोंवाले (इन दोनों प्रकृतियोंसे बनेहुए) सब चराचर भूत हैं, और मैं सब जगत्का उत्पत्तिस्थान तथा प्रलयस्थान हूं, यह तू निश्चय जान ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्, किं चिद् अस्ति धनञ्जय!। मयि सर्वम् इदं प्रोतं, सूत्रे मणिगणाः इव ॥ ७ ॥

अर्थ—हे धनंजय! मुझसे बढकर श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है। यह सब तागेमें मोतियोंके दानोंके समान मुझमें प्रोया हुआ (गुंथा हुआ) है ॥ ७ ॥

रसोऽहम् अप्सु, कौन्तेय!, प्रभा अस्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु, शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

अर्थ—हे कौन्तेय! जलमें रस मैं हूं, चन्द्र और सूर्य्यमें प्रकाश मैं हूं। सब वेदोंमें ओङ्कार, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पौरुष(पराक्रम) मैं हूं ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च, तेजश्च अस्मि विभावसौ। जीवनं सर्वभूतेषु, तपश्च अस्मि तपस्विषु ॥९॥

अर्थ—पृथिवीमें पवित्र गन्ध (सुगन्धि) और अग्निमें निश्चय तेज मैं हूं। सब भूतोंमें जीवन मैं हूं और सब तपस्वियोंमें तप मैं हूं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां, विद्धि पार्थ! सनातनम्। बुद्धिः बुद्धिमताम् अस्मि, तेजः तेजस्विनाम् अहम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे पार्थ! तू मुझे सब भूतोंका सनातन बीज जान। मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूं ॥ १० ॥

बलं बलवताम् अस्मि, कामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ! ॥ ११ ॥

अर्थ—स्त्रियोंकी इच्छा और पदार्थोंकी तृष्णासे रहित बलवानोंका बल मैं हूं। हे भरतश्रेष्ठ! प्राणियोंमें स्त्रीधर्म(ऋतुधर्म)से अविरुद्ध(ऋतुकालसे भिन्न कालमें न होनेवाला) काम(सन्तान उत्पन्न करनेका उद्योग) मैं हूं ॥ ११ ॥

ये च एव सात्त्विकाः भावाः, राजसाः तामसाश्च ये। मत्तः एव इति तान् विद्धि, न तु अहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

अर्थ—और जो(आध्यात्मिक अथवा आधिभौतिक) निश्चय सात्त्विक पदार्थ हैं, राजस पदार्थ हैं और जो तामस पदार्थ हैं। वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, यह जान, परन्तु मैं उनके आश्रय (सहारे) नहीं, वे मेरे आश्रय हैं १२

त्रिभिः गुणमयैः भावैः, एभिः सर्वम् इदं जगत्। मोहितं न अभिजानाति, माम् एभ्यः परम् अव्ययम् १३

अर्थ—गुणोंसे बनेहुए, इन तीनों (सात्त्विक, राजस और तामस) पदार्थोंसे मोह (अविवेक)को प्राप्त हुआ यह सब जगत् (प्राणीमात्र) इनसे परले मुझ अविनाशीको नहीं जानता है ॥ १३ ॥

दैवी हि एषा गुणमयी, मम माया दुरत्यया। माम् एव ये प्रपद्यन्ते, मायाम् एतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अर्थ—निःसन्देह यह तीन गुणोंवाली मेरी अद्भुत माया दुस्तर है। परन्तु जो मुझको निश्चय प्राप्त होते(शरण बनाते) हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः, प्रपद्यन्ते नराधमाः। मायया अपहृतज्ञानाः, आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—पाप कर्मोंवाले, अविवेकी, मनुष्योंमें नीच, मायासे नष्टहुए ज्ञानवाले, असुरोंके स्वभावको आश्रयण कियेहुए, मुझे नहीं प्राप्त होते (शरण बनाते) हैं ॥ १५ ॥

चतुर्विधाः भजन्ते मां, जनाः सुकृतिनोऽर्जुन! । आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ! ॥१६॥

अर्थ—हे अर्जुन! मुझे चार प्रकारके

सुकर्मी मनुष्य भजते(स्मरण करते) हैं । दुःखी, जिज्ञासु, पदार्थोंकी इच्छावाले और हे भरतोंमें श्रेष्ठ ! ज्ञानी ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः, एकभक्तिः विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनो अत्यर्थम्, अहं स च मम प्रियः १७

अर्थ—उन चारोंमें ज्ञानी, सदा कर्तव्य-बुद्धिसे कर्मोंमें लगा हुआ और एक मुझमें भक्तिवाला, होनेसे विशेष(श्रेष्ठ)है । निःसन्देह ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्यारा हूं और वह मुझे अत्यन्त प्यारा है ॥ १७ ॥

उदाराः सर्वे एव एते, ज्ञानी तु आत्मा एव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा, माम् एव अनुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

अर्थ—ये सब निश्चय उत्तम(ऊंची कक्षाके)हैं, परन्तु ज्ञानी निश्चय मेरा स्वरूप है, यह मेरा मत है । क्योंकि कर्मोंमें कर्तव्य-बुद्धिसे लगेहुए मनवाला वह मुझ सबसे ऊंची गतिको ही आश्रयण कियाहुआ है १८

बहूनां जन्मनाम् अन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वम् इति, स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अर्थ—अनेक जन्मोंके बीतनेपर 'सब परमात्मा है,' ऐसे ज्ञानवाला हुआ जो ज्ञानी मुझे प्राप्त होता(भजता) है, वह विशाल-हृदय अतिदुर्लभ है ॥ १९ ॥

(२) कामैः तैः तैः हृतज्ञानाः, प्रपद्यन्ते अन्यदेवताः । तं तं नियमम् आस्थाय, प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ १ ॥

अर्थ—उन उन कामनाओंसे नष्टहुए ज्ञानवाले, अपनी प्रकृतिसे बंधेहुए अनेक मनुष्य उस उस 'देवताभक्तिके नियमको आश्रयण करके दूसरे देवताओंको (भजते) हैं १

यो यो यां यां तनुं भक्तः, श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति । तस्य तस्य अचलां श्रद्धां, ताम् एव विदधामि अहम् २

अर्थ—उनमेंसे जो जो भक्त जिस जिस देवताव्यक्तिको श्रद्धासे पूजना (भजना) चाहता है । उस उस भक्तकी निश्चय उस श्रद्धाको मैं अचल करता हूं ॥ २ ॥

स तया श्रद्धया युक्तः, तस्य आराधनमीहते । लभते च ततः कामान्, मया एव विहितान् हि तान् ३

अर्थ—वह उस अचल श्रद्धासे युक्त हुआ उस देवता-व्यक्तिविशेषका भजन करता है । और उससे 'मुझसे ही दीगईं, उन अपनी कामनाओंको लभता है ॥ ३ ॥

अन्तवत् तु फलं तेषां, तद् भवति अल्पचेतसाम् । देवान् देवयजो यान्ति, मद्भक्ताः यान्ति माम् अपि ४

अर्थ—परन्तु उन अल्पबुद्धिवालोंका लभा हुआ वह फल अन्तवाला होता है । निःसन्देह देवताओंके पूजनेवाले देवताओंको (देवताओंके अनुग्रहको) प्राप्त होते हैं, और मेरे भक्त मुझको(मेरे अनुग्रहको) प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं, मन्यन्ते माम् अबुद्धयः । परं भावम् अजानन्तो, मम अव्ययमनुत्तमम् ॥५॥

अर्थ—अज्ञानी मेरे परले सर्वोत्तम अविनाशी स्वरूपको न जानतेहुए मुझ अव्यक्तको व्यक्तिमें आयाहुआ मानते हैं ॥ ५ ॥

न अहं प्रकाशः सर्वस्य, योगमाया-समावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति, लोको माम् अजमव्ययम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अयोगके योगको बनानेवाली मायासे ढंपा हुआ मैं सबको प्रकट नही हूं। इसलिये यह विवेकशून्य सब जगत् मुझ अजन्मा अविनाशीको नही जानता है॥६॥

वेद अहं समतीतानि, वर्तमानानि च अर्जुन!। भविष्याणि च भूतानि, मां तु वेद न कश्चन ॥ ७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! मैं निश्चय बीतेहुए, वर्तमान और आगे होनेवाले सब प्राणियोंको जानता हूं, परन्तु मुझे कोई भी नही जानता है ॥ ७ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन भारत!। सर्वभूतानि संमोहं, सर्गे यान्ति परन्तप! ॥ ८ ॥

अर्थ—हे भारत! सृष्टिमें सब प्राणी रागद्वेषसे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्वोंके मोहसे (मोहरूपी कारणसे) हे शत्रुतापन! गाढे मोह (अविवेक)को प्राप्त होते है ॥ ८ ॥

येषां तु अन्तगतं पापं, जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः, भजन्ते मां दृढव्रताः ॥९॥

अर्थ—परन्तु जिन पुण्यकर्मी जनोंका पाप नाशको प्राप्त हुआ है। वे द्वन्द्वोंके मोहसे छूटे हुए दृढव्रत हुए, मुझे भजते हैं९

जरामरणमोक्षाय, माम् आश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नम्, अध्यात्मं कर्म चाखिलम्

अर्थ—जो बुढापे और मरनेसे छूटनेके लिये मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं। वे पूर्णरूपसे उस सर्वात्मा ब्रह्मको, सर्वात्मा ब्रह्मके आश्रय रहनेवाले सृष्टिकारणको और उसके सृष्टिरचनारूपी कर्मको निःशेषरूपसे जानते हैं ॥ १० ॥

साधिभूताधिदैवं मां, साधियज्ञं च ये विदुः। प्रयाणकालेऽपि च मां, ते विदुः युक्तचेतसः ॥११॥(२।३०)

अर्थ—जो मुझे अधिभूतके सहित, अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित जानते हैं। वे मरणकालमें भी निश्चय समाहितचित्तहुए मुझे जानते हैं ॥११॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ज्ञानविज्ञानयोग नाम सातवां अध्याय समाप्त हुआ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

(१) किं तद् ब्रह्म किम् अध्यात्मं, किं कर्म पुरुषोत्तम ! । अधिभूतं च किं प्रोक्तम्, अधिदैवं किमुच्यते १

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, और अधिभूत क्या कहा गया है, अधिदैव क्या कहा जाता है ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र, देहे अस्मिन् मधुसूदन ! । प्रयाणकाले च कथं, ज्ञेयो असि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अर्थ—हे मधुसूदन ! यहां इस देहमें अधियज्ञ क्या और कैसा है । और मरण-कालमें वशमें कियेहुए मनवालों (एकाग्र मनवालों)से तू कैसे जाननेयोग्य है॥२॥

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवानने कहा ।

अक्षरं ब्रह्म परमं, स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते । भूतभावोद्भवकरो, विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अर्थ—सबसे ऊंचा, अविनाशी परमात्मा, ब्रह्म १ उसकी निजीय पदार्थनिर्माणशक्ति महामाया प्रकृति अध्यात्म २ और प्राणी, अप्राणी, पदार्थोंको प्रकट करनेवाला सृष्टि-रचनारूपी विसृष्टिनामक कर्म, कर्मनामवाला (कर्म) कहाजाता है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः, पुरुषश्च अधिदैवतम् । अधियज्ञोऽहम् एव अत्र, देहे देहभृतां वर ! ॥ ४ ॥

अर्थ—विनश्वर पदार्थमात्र अधिभूत और उसका भोक्ता पुरुष(जीवात्मा) देवताओं(इन्द्रियों)का अधिपति होनेसे अधिदैवत है । हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ ! यहां इस शरीरमें 'मैं ही 'यज्ञ आदि कर्मोंके फलका दाता होनेसे' अधियज्ञ हूं ॥ ४ ॥

अन्तकाले च माम् एव, स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति स मद्भावं, याति न अस्ति अत्र संशयः ॥५॥

अर्थ—और अन्तकालमें मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीरको छोडकर जो जाता है, वह मद्रूपता (ब्रह्मरूपता)को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं, त्यजति अन्ते कलेवरम् । तं तम् एव एति कौन्तेय !, सदा तद्भावभावितः॥६॥

अर्थ—निःसन्देह जिस जिस पदार्थका चिन्तन करता हुआ मनुष्य निश्चय अन्त-कालमें शरीरको छोडता है । हे कौन्तेय ! सदा (जन्मभर) उसके चिन्तनसे उसका रूप हुआ (उसके रंगसे रंगा हुआ), उस उस पदार्थको ही प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु, माम् अनुस्मर

युध्य च। मयि अर्पितमनोबुद्धिः, माम् एव एष्यसि असंशयम् ॥७॥

अर्थ—इसलिये तू सब कालोंमें मुझे स्मरणकर और युद्ध कर। मुझमें लगाये हुए मन बुद्धिवाला तू निश्चय मुझे ही प्राप्त होगा ७

अभ्यासयोगयुक्तेन, चेतसा न अन्यगामिना। परमं पुरुषं दिव्यं, याति पार्थ! अनुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे पार्थ! वारंवार चिन्तनरूपी योगमें लगेहुए, न दूसरेमें जानेवाले(एकाग्र) मनसे चिन्तन(स्मरण) करता हुआ मनुष्य, सबसे श्रेष्ठ अद्भुत पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कविं पुराणम् अनुशासितारम्, अणोः अणीयांसमनुस्मरेद् यः। सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥ प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन च एव। भ्रुवोर् मध्ये प्राणम् आवेश्य सम्यक्, स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

अर्थ—जो मनुष्य मरणकालमें निश्चल मनसे, भक्ति और निश्चय समाधिबलसे युक्त हुआ प्राणको भौंवोंके मध्यमें (सुषुम्ना नाडी द्वारा दोनों भौंवोंके मध्य आज्ञाचक्रमें) ठीकठीक स्थापनकरके सर्वज्ञ, सनातन, शासक (नियन्ता), सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म, सबके धारक, अचिन्त्यमहिम, सूर्यकी नाईं देदीप्यमान, अन्धकार(मायामय संसार)से परेका स्मरण करता है, वह उस अद्भुत परं पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यद् अक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः। यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

अर्थ—हे अर्जुन! वेदके जाननेवाले जिसको अक्षर(अविनाशी) कहते हैं, निवृत्त हुई आसक्तिवाले कर्मयोगी जिसमें प्रवेश करते हैं। जिसको चाहते हुए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य्य करते हैं, वह परम–पद अब मैं तुझे संक्षेपसे कहता हूं ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्नि आधाय आत्मनः प्राणम्, आस्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥ ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् माम् अनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अर्थ—सब द्वारों(इन्द्रियरूपी दरवाजों) को बन्द करके, मनको हृदयमें रोक करके और अपने प्राणको मूर्धा(ब्रह्मरन्ध्र)में स्थापन करके, समाधियोगकी धारणा(स्थिरता)को आश्रयण किया हुआ ॥ १२ ॥ ओम्, इस ब्रह्मके नाम एक अक्षर (वर्ण)का उच्चारण करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो शरीरको छोडकर जाता है, वह परम पदको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं, यो मां स्मरति नित्यशः। तस्य अहं सुलभः पार्थ!, नित्ययुक्तस्य योगिनः १४

अर्थ—हे पार्थ! जो न दूसरेमें मनवाला हुआ प्रतिदिन निरन्तर मुझे स्मरण करता (मेरी आज्ञा पालता) है, मैं उस सदा मुझमें

लगे हुए मनवाले कर्मयोगीको सुख(आसानी)से प्राप्त होनेवाला हूं ॥ १४ ॥

माम् उपेत्य पुनर् जन्म दुःखालयम् अशाश्वतम् । न आप्नुवन्ति महात्मानः, संसिद्धिं परमां गताः १५

अर्थ—मुझे प्राप्त होकर सबसे ऊंची पूरी सिद्धि(मुक्ति)को प्राप्त हुए महात्मा फिर दुःखोंके घर, अस्थिर, जन्मको नहीं प्राप्त होते(जन्ममरण चक्रमें नही आते) हैं॥१५॥

आ-ब्रह्मभुवनात् लोकाः, पुनरावर्तिनो अर्जुन ! । माम् उपेत्य तु कौन्तेय !, पुनर् जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्माके लोक महत्तत्त्व-पर्यन्त, सबलोक पुनर्जन्मवाले हैं । परन्तु हे कौन्तेय ! मुझे प्राप्तहोकर फिर जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्य्यन्तम्, अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः । रात्रिं युगसहस्रान्तां, तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

अर्थ—हजार युगों(कृत, त्रेता, द्वापर और कलि, इन चारों युगोंका एक महायुग होता है, ऐसे हजार महायुगों)के बराबर ब्रह्माके दिनको जो जानते हैं । और हजार युगोंके बराबर ब्रह्माकी रातको जो जानते हैं, वे मनुष्य दिनरातके जाननेवाले हैं ॥१७॥

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः, प्रभवन्ति अहरागमे । रात्र्यागमे प्रलीयन्ते, तत्र एव अव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

अर्थ—दिनके(ब्रह्माके दिनके) आनेपर अव्यक्तनामी कारणसे सब व्यक्तियां (चराचर भूत) प्रकट होती हैं । और रात के आने पर उस अव्यक्तनामी कारणमें ही लीन होजाती हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं, भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्र्यागमे अवशः पार्थ !, प्रभवति अहरागमे ॥ १९ ॥

अर्थ—हे पार्थ ! वह यह चराचर-भूतोंका समूह निश्चय परवश हुआ उत्पन्न होकर उत्पन्न होकर रातके आने पर लीन होता है और दिनके आने पर प्रकट होता है ॥१९॥

परः तस्मात् तु भावोऽन्यः, अव्यक्तो अव्यक्तात् सनातनः । यः स सर्वेषु भूतेषु, नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अर्थ—परन्तु उस अव्यक्त–नामी कारण (प्रकृति)से परे जो एक दूसरा सनातन अव्यक्त तत्त्व(आत्मा) है, वह सब भूतों (कारण सहित सब चराचर भूतों)के नष्ट होते हुए भी, नहीं नष्ट होता है ॥ २० ॥

अव्यक्तो अक्षरः इति उक्तः, ताम् आहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते, तद् धाम परमं मम २१

अर्थ—वह अव्यक्त तत्त्व 'अक्षर' ऐसा कहा गया है, उसीको परम गति कहते हैं । वही मेरा सबसे ऊंचा स्थान है, जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते हैं ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ !, भक्त्या लभ्यः तु अनन्यया । यस्य अन्तःस्थानि भूतानि, येन सर्वम् इदं ततम् २२

अर्थ—हे पार्थ ! वह सबसे परला पुरुष अनन्य भक्तिसे ही प्राप्तकरने योग्य है । जिसके अन्दर ठहरे हुए सब चराचर भूत हैं, और जिसने इस सबको फैलाया है२२

(२) यत्र काले तु अनावृत्तिम्, आवृत्तिं च एव योगिनः। प्रयाताः यान्ति तं कालं, वक्ष्यामि भरतर्षभ!

अर्थ—अब मैं हे भरतश्रेष्ठ! जिस कालमें मरे हुए ज्ञानयोगी निश्चय अपुनरावृत्तिको और कामनावाले कर्मयोगी पुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं, उस कालको कहता हूं॥ १॥

अग्निः ज्योतिः अहः शुक्लः, षण्मासाः उत्तरायणम्। तत्र प्रयाताः गच्छन्ति, ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२॥

अर्थ—अग्नि (अग्निहोत्रका समय प्रभातवेला), ज्योति (उदय हुई सूर्य ज्योतिवाला प्रातःकाल), दिन, शुक्लपक्ष और छे महीने उत्तरायण। उसमें मरे हुए ब्रह्मके जाननेवाले मनुष्य ब्रह्मको(अपुनरावृत्तिको) प्राप्त होते हैं २

धूमो रात्रिः तथा कृष्णः, षण्मासाः दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिः, योगी प्राप्य निवर्तते॥ ३॥

अर्थ—धूम (धूआंधार सायंकाल), रात, कृष्णपक्ष और छे महीने दक्षिणायन। उसमें मराहुआ कामनवाला कर्मयोगी, चन्द्रमाकी ज्योति(चन्द्रमाके प्रकाशकेतुल्य आनन्दके देनेवाले स्वर्गलोक) को प्राप्त होकर लौट आता (पुनरावृत्तिको पाता) है॥ ३॥

शुक्लकृष्णे गती हि एते, जगतः शाश्वते मते। एकया याति अनावृत्तिम्, अन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥४॥

अर्थ—निःसन्देह ये शुक्ल (प्रकाशमय) और कृष्ण(अन्धकारमय) दो मार्ग जगत्के अनादि माने गये हैं। जिनमें एकसे अनावृत्ति (न लौटने) को प्राप्त होता है और दूसरेसे लौटता है॥ ४॥

न एते सृती पार्थ! जानन्, योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात् सर्वेषु कालेषु, योगयुक्तो भव अर्जुन!॥ ५॥

अर्थ—हे पार्थ! इन दोनों मार्गोंको जानता हुआ कोई भी कर्मयोगी नही मोहको प्राप्त होता(आवृत्ति, अनावृत्तिके फन्देमें नही आता) है। इसलिये तू हे अर्जुन! सब कालोंमें कर्मयोगमें जुडा हुआ हो॥५॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु च एव, दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा, योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ ६॥

अर्थ—वेदों के पढनेपढाने में, यज्ञोंके करनेकराने में, तपोंके निश्चय तपनेमें और दानोंके देनेमें जो पुण्यफल कहा गया है। वह सब 'पुनरावृत्तिवाला है' यह जानकर कर्मयोगी उलांघ जाता (दृष्टितले न लाता हुआ कर्मयोगमें युक्त होता) है और सबसे ऊंचे मूल स्थानको (मेरे परम धामको) प्राप्त होता है॥ ६॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः॥ ७॥(२१२८)

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें अक्षर ब्रह्मयोग नाम आठवां अध्याय समाप्त हुआ॥८॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः।

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

(१) इदं तु ते गुह्यतमं, प्रवक्ष्यामि अनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं, यद् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

अर्थ—अब मैं तुझ न निन्दा करनेवालेसे यह सबसे बढकर गोपनीय ज्ञान (आत्मज्ञान) विज्ञान(पदार्थज्ञान)के सहित, कहता हूं, जिसको जानकर(प्राप्त कर) तू पापकर्मके बन्धनसे छूट जायेगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं, पवित्रम् इदम् उत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं, सुसुखं कर्तुम् अव्ययम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह(ज्ञान), सब विद्याओंका-राजा, सब गोपनीयोंका राजा, सबसे ऊंचा, पवित्रोंका पवित्र, प्रत्यक्ष जाना जानेवाला, पुण्योंसे प्राप्त होनेवाला, प्राप्त करनेमें बडा सुखाला(आसान) और फलमें अविनाशी है २

अश्रद्धधानाः पुरुषाः, धर्मस्य अस्य परन्तप!। अप्राप्य मां निवर्तन्ते, मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अर्थ—हे परन्तप! जो मनुष्य इस ज्ञानरूपी परमधर्ममें नही श्रद्धावाले हैं, वे मुझे न प्राप्त होकर जन्ममरणरूपी संसार-मार्गमें सदा रहते हैं ॥ ३ ॥

मया ततम् इदं सर्वं, जगद् अव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च अहं तेषु अवस्थितः ॥ ४ ॥

अर्थ—मैं अव्यक्त स्वरूपने ही यह सब जगत् व्यक्त किया है। जड, चेतन सबभूत मुझमें (मेरे सहारे) ही ठहरे हुए हैं, परन्तु मैं उनमें(उनके सहारे) ठहरा हुआ नही॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगम् ऐश्वरम्। भूतभृत् न च भूतस्थो, मम आत्मा भूतभावनः॥५॥

अर्थ—मुझमें ठहरे हुए सबभूत हैं और मैं उनमें ठहरा हुआ नही, इसका कारण मेरा ईश्वरीय सामर्थ्य जान। निःसन्देह मेरा आत्मा(अपना आप) भूतोंका उत्पन्न-करनेवाला और भूतोंका धारण करनेवाला है और भूतोंमें स्थित (ठहरा हुआ) नही है॥५॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं, वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि, मत्स्थानि इति उपधारय ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे सब जगह जानेवाला, सबभूतोंसे बडा, वायु सदा आकाशमें स्थित है, वैसे सब भूत मुझमें स्थित हैं, यह तू निश्चय जान ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय!, प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनः तानि, कल्पादौ विसृजामि अहम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! कल्पके अन्तमें (ब्रह्माके दिनकी समाप्तिमें) सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते (मेरी प्रकृतिमें लीन होते) हैं, उन सबको मैं कल्पके आरम्भमें फिर उत्पन्न करता हूं ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य, विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम्, अवशं प्रकृतेः वशात् ॥ ८ ॥

अर्थ—मैं अपनी प्रकृतिको थामकर (हाथमें लेकर) प्रकृतिके वशमें आजानेसे विवश हुए इस सब भूतोंके समूहको बार बार उत्पन्न करता हूं ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि, निबध्नन्ति धनञ्जय ! । उदासीनवद् आसीनम्, असक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

अर्थ—परन्तु हे धनंजय ! वे बारबार उत्पन्न करना आदि कर्म मुझे नहीं बांधते (लिपटते) हैं । क्योंकि मैं उन कर्मोंमें आसक्त नही और निर्पक्षकी नाईं स्थित हूं ९

मया अध्यक्षेण प्रकृतिः, सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय !, जगद् विपरिवर्तते ॥ १० ॥

अर्थ—हे कौन्तेय! मुझ अधिष्ठाता(वशी) के आश्रयसे प्रकृति(मेरी सृष्टिनिर्माणशक्ति महामाया प्रकृति) सम्पूर्ण जड चेतन जगत्को उत्पन्नकरती है । और इसी प्रकृतिरूपी कारणसे सब जगत् भिन्नभिन्न रूपसे चक्र लगता (उत्पन्न होता और लय होता) है १०

अवजानन्ति मां मूढाः, मानुषीं तनुम् आश्रितम् । परं भावम् अजानन्तो, मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अर्थ—अज्ञानी मनुष्य, मेरे इस सबसे ऊंचे स्वरूपको न जानते हुए, मनुष्यके शरीरमें स्थित हुए मुझ सबभूतोंके बडे ईश्वरकी अवज्ञा करते (पूजनीय नही समझते) हैं ११

मोघाशा मोघकर्माणो, मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीम् आसुरीं च एव, प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

अर्थ—वे व्यर्थ(निष्फल) आशाओं (उम्मीदों) वाले, व्यर्थ कर्मोंवाले, व्यर्थ विचारोंवाले, क्षुद्र-हृदय(छोटे मनवाले) निःसन्देह मोह(बेसमझी)में डालनेवाली तामसी और राजसी प्रकृति (स्वभाव)को आश्रयण किये हुए हैं ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ !, दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः । भजन्ति अनन्यमनसो, ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम्

अर्थ—उदारहृदय(बडे मनवाले) तो हेपार्थ! सात्विकी प्रकृतिको आश्रयण कियेहुए, मुझ अविनाशीको सब भूतोंका आदिकारण जानकर अनन्यचित्त हुए भजते हैं ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां, यतन्तश्च दृढव्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या, नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

अर्थ—और दृढनियमोंवाले वे, निरन्तर (रात, दिन) मुझे गाते हुए शरीर, इन्द्रिय तथा मनके निग्रहमें प्रयत्न करतेहुए और सदा कर्मयोगमें युक्त हुए, सायंप्रातः भक्तिसे मन्त्र बोलबोलकर नमस्कार करते हुए मुझे उपासते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन च अपि अन्ये, यजन्तो

माम् उपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन, बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

अर्थ—और दूसरे भी कई एक अभेद-भावसे, भेदभावसे, अनेक प्रकारसे ज्ञान-रूपी-यज्ञके द्वारा मुझ सबओर मुखवाले (सबओर सामने स्थित)को पूजतेहुए (पूजनीय समझतेहुए) उपासते हैं ॥ १५ ॥

(२)अहं क्रतुः अहं यज्ञः, स्वधा अहम् अहम् औषधम् । मन्त्रोऽहम् अहम् एव आज्यम्, अहम् अग्निः अहं हुतम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं ही क्रतु (सोमयज्ञ) मैं ही यज्ञ(दर्शपूर्णमास यज्ञ) मैं ही स्वधा (सोमरस, दूध, दहीं), मैं ही औषध (व्रीहि, जौ, गेहूं=चरु पुरोडाश), मैं ही मंत्र, मैं ही निश्चय घृत, मैं ही अग्नि और मैं ही हवन हूं ॥ १ ॥

पिताऽहम् अस्य जगतो, माता धाता पितामहः । वेद्यं पवित्रम् ओ-ङ्कारः, ऋक् साम यजुः एव च ॥२॥

अर्थ—मैं ही इस चराचरजगत्का पिता, माता, विधाता(कर्मफलदाता)और पितामह (पिताका पिता) हूं। मैं ही जाननेयोग्य पवित्र वस्तु, मैं ही प्रणव, मैं ही ऋग्वेद, साम-वेद और मैं ही निश्चय यजुर्वेद हूं ॥ २ ॥

गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं, निधानं बीजम् अव्ययम् ॥ ३ ॥

अर्थ—परमगति, पालक, स्वामी, साक्षी (प्रत्यक्ष देखनेवाला), निवासस्थान, आश्रय और सुहृद् मैं ही हूं । मैं ही उत्पत्तिका कारण, प्रलयका कारण, स्थितिका कारण, मैं ही बडा भण्डार (खजाना) और मैं ही अव्यय(अनखुट्ट) बीज हूं ॥ ३ ॥

तपामि अहम् अहं वर्षं, निगृह्णामि उत्सृजामि च । अमृतं च एव मृ-त्युश्च, सद् असत् च अहम् अर्जुन ॥

अर्थ—मैं ही तपाता हूं, मैं ही वर्षाको रोकता(थामता) हूं और छोडता हूं । अमृत(जीवन) और मृत्यु(मरण), दोनों निश्चय मैं हूं, मैं ही सत्(व्यक्त) और मैं ही हे अर्जुन ! असत्(अव्यक्त) हूं ॥ ४ ॥

त्रैविद्याः मां सोमपाः पूतपापाः, यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अ-श्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥

अर्थ—ऋग्, यजु और साम, तीनों वेदोंके जाननेवाले, यज्ञशेष सोमके पीनेवाले, मुझे सोमयज्ञोंसे पुजकर निष्पाप हुए स्वर्गमें जाना चाहते हैं । वे पुण्यसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गलोकको प्राप्त होकर स्वर्गलोकमें होने-वाले अद्भुत देवभोगोंको भोगते हैं ॥ ५ ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्नाः गतागतं कामकामाः लभन्ते ॥ ६ ॥

अर्थ—वे उस विस्तृत स्वर्गलोकको (स्वर्गलोकके सुखको) भोगकर पुण्य क्षीण (नष्ट) होजाने पर वापस मनुष्यलोकमें प्रवेशकरते(आते) हैं । इसप्रकार तीनों वेदोंमें कहेहुए यज्ञरूपी धर्मका अनुष्ठान किये-हुए विषयोंकी कामनावाले मनुष्य, जानेआने (यातायात)को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

अनन्याः चिन्तयन्तो मां, ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां, योगक्षेमं वहामि अहम् ॥ ७ ॥

अर्थ—परन्तु जो मनुष्य मेरे सिवा दूसरे सब सहारोंको छोडे हुए मुझे स्मरण करते हुए, उपासते(मेरी आज्ञानुसार चलते) हैं, मैं उन सदा कर्मयोगमें युक्तोंके योग(अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम(प्राप्त के संरक्षण)को उठाता(अपने ऊपर लेता) हूं ॥ ७ ॥

ये च अपि अन्यदेवताभक्ताः, यजन्ते श्रद्धया अन्विताः । ते अपि माम् एव कौन्तेय!, यजन्ति अविधिपूर्वकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—और जो कोई भी मुझसे भिन्न दूसरे देवताओंको श्रद्धासे युक्तहुए पूजते (भजते) हैं। वे भी हे कौन्तेय ! शास्त्राज्ञाके विपरीत मुझे ही पूजते हैं ॥ ८ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां, भोक्ता च प्रभुः एव च। न तु माम् अभिजानन्ति, तत्त्वेन अतः च्यवन्ति ते॥९॥

अर्थ—क्योंकि मैं ही सब यज्ञों(यज्ञ आदि कर्मों)का पालक(फलदाता) और मैं ही निश्चय स्वामी हूं। परन्तु मूर्खलोग मुझे वास्तवरूपसे नही जानते हैं, इसलिये वे परम पुरुषार्थसे गिरते (तुच्छ पदार्थोंके लिये दूसरे देवताओंकी शरण लेते) हैं॥९॥

यान्ति देवव्रताः देवान्, पितॄन् यान्ति पितृव्रताः । भूतानि यान्ति भूतेज्याः, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ १० ॥

अर्थ—निःसन्देह देवताओंके पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंके पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं । भूतोंके पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे पूजनेवाले मुझे प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तद् अहं भक्त्युपहृतम्, अश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो शुद्धमन हुआ, पत्र पुष्प, फल, जल, कोई भी वस्तु, मुझे भक्ति(प्रेम)-से देता(अर्पण करता) है । उस शुद्धमनवालेका भक्तिसे दिया हुआ वह सब मैं खाता(प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता)हूं॥११॥

यत् करोषि यद् अश्नासि, यद् जुहोषि ददासि यत् । यत् तपस्यसि कौन्तेय!, तत् कुरुष्व मदर्पणम् १२

अर्थ—हे कौन्तेय ! तू जो करता है, जो खाता है, जो होमता है, जो देता है । जो तपता(तप करता) है, वह मेरे अर्पण कर ॥ १२ ॥

शुभाशुभफलैः एवं, मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः । संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो माम् उपैष्यसि ॥ १३ ॥

अर्थ—ऐसा करनेसे तू भले बुरे फलवाले कर्मरूपी बन्धनोंसे छूट जायेगा । और मुझमें कर्मोंको त्यागकर (अर्पण कर) कर्मयोगमें जुडे हुए मनवाला तू जीवन्मुक्त हुआ मुझे ही प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु, न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या, मयि ते तेषु च अपि अहम् १४

अर्थ—मैं सब प्राणियोंमें सम हूं, मुझे कोई अप्यारा नहीं है, न कोई प्यारा है। परन्तु जो मुझे भक्तिसे भजते हैं, वे मुझमें और मैं निश्चय उनमें हूं॥ १४॥

अपि चेत् सुदुराचारो, भजते माम् अनन्यभाक्। साधुः एव स मन्तव्यः, सम्यग्व्यवसितो हि सः॥१५

अर्थ—यदि कोई पहले बडा दुराचारी हुआ भी अब न मुझसे भिन्न किसी दूसरेका भजनेवाला हुआ मुझे भजता है। तो वह निःसन्देह भला मानने योग्य है, क्योंकि अब उसने ठीक निश्चय किया है ॥१५॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वत् शान्तिं निगच्छति। कौन्तेय! प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति१६

अर्थ—वह शीघ्र धर्मात्मा होजाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है। हे कौन्तेय! निश्चय जान, मेरा भक्त कभी नहीं नष्ट होता (जन्ममरण चक्रमें पडता) है॥१६॥

मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य, ये अपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः, ते अपि यान्ति परां गतिम्॥ १७॥

अर्थ—हे पार्थ! जो कोई भी, कोल भील आदि नीचयोनि हैं, और जो गृहकार्योंमें फंसीहुई स्त्रियां, व्यापारमें निमग्न वैश्य तथा विद्यासे शून्य शूद्र हैं, वे भी निश्चय मुझे आश्रयण करके (मेरे भक्त होकर) परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥१७॥

किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्याः, भक्ताः राजर्षयः तथा। अनित्यम् असुखं लोकम्, इमं प्राप्य भजस्व माम् १८

अर्थ—क्या फिर स्वाध्याय आदि पुण्यकर्मोंवाले ब्राह्मण और देशरक्षा आदि पवित्रकर्मोंवाले क्षत्रिय भक्तिमान् हुए [न परम गतिको प्राप्त होंगे]। इसलिये न सदा रहनेवाले और क्षणिक सुखवाले इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर मुझे भज॥ १८॥

मन्मनाः भव मद्भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु। माम् एव एष्यसि युक्त्वा एवम्, आत्मानं मत्परायणः॥१९॥

अर्थ—मुझमें मनवाला हो, मुझमें भक्तिवाला हो, मेरा पूजनेवाला (सत्कार करनेवाला) हो और मुझे ही नमस्कार कर। इसप्रकार अपने आपको मुझमें जोडकर मेरे आश्रय हुआ निश्चय मुझे प्राप्त होगा॥१९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥ (२३४)

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें राजविद्याराजगुह्ययोग नाम नवां अध्याय समाप्त हुआ।

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः।

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

(१) भूयः एव महाबाहो!, शृणु मे परमं वचः। यत् ते अहं प्रीयमाणाय, वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१॥

अर्थ—हे महाबाहु! फिर भी मेरे उत्तम वचनको सुन। जो मैं तुझ प्रसन्न होनेवाले (सुननेमें रुचिवाले)को भलाईकी कामनासे कहता हूं॥ १॥

न मे विदुः सुरगणाः, प्रभवं न महर्षयः। अहम् आदिः हि देवानां, महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

अर्थ—देवताओंके समूह मेरे प्रभाव (सामर्थ्य)को नही जानते हैं और न महर्षि (मन्त्रद्रष्टा ऋषि) जानते हैं। क्योंकि मैं सब देवताओंका और महर्षियोंका आदि (कारण) हूं॥ २॥

यो माम् अजम् अनादिं च, वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असंमूढः स मर्त्येषु, सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

अर्थ—जो मुझ अजन्मा, अनादि और सबलोकोंके वडे ईश्वरको जानता है। वह मनुष्योंमें मोह(अविवेक)से रहित हुआ सब पापोंसे छूट जाता है॥ ३॥

बुद्धिः ज्ञानम् असंमोहः, क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं दुःखं भवोऽभावो, भयं च अभयम् एव च ४ अहिंसा समता तुष्टिः, तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावाः भूतानां, मत्तः एव पृथग्विधाः॥ ५॥

अर्थ—बुद्धि (पदार्थोंके ठीकठीक जाननेका सामर्थ्य), ज्ञान(पदार्थोंका ठीक ठीक जानना), अभ्रान्ति(अविवेकरहितता), क्षमा(सहिष्णुता) सत्य, दम (इन्द्रियोंको वशमें रखना), शम(मनकी विषयोंसे निवृत्ति)। सुख, दुःख, जन्म, मरण और भय और निश्चय अभय॥ ४॥ अहिंसा (किसीको द्वेषबुद्धिसे पीडा न देना) समता (रागद्वेषशून्यता), सन्तोष, तप, दान, यश, अयश, इत्यादि नानाप्रकारके मनुष्योंके धर्म मुझसे ही होते हैं॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे,* चत्वारो मनवः‡ तथा। मद्भावाः मानसाः जाताः, येषां लोके इमाः प्रजाः॥ ६॥

अर्थ—पहले (आरम्भमें होनेवाले) सातों (गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, तथा कश्यप) मूलगोत्र ऋषि और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—वर्णके

*(ऋ० १०।१३०।५,७)। ‡ मनवः मनुष्याः (ऋ० ५।२।१२) (ऋ० १०।४९।९)।

चारों (चार प्रकारके) मनुष्य, मेरे कर्मयोगरूपी धर्मवाले मेरे सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी लोकमें ये सब प्रजायें हैं ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च, मम यो वेत्ति तत्त्वतः । सोऽविकम्पेन योगेन, युज्यते न अत्र संशयः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मेरी इस विभूति और अयोगका योग बनानेवाले अद्भुत सामर्थ्यको वास्तव रूपसे जानता है । वह अचल कर्मयोगसे युक्त होता है, इसमें संशय नही ७

अहं सर्वस्य प्रभवो, मत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां, बुधाः भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अर्थ—मैं ही सबका उत्पन्न करनेवाला हूं, मुझसे ही सब अपनेअपने कार्यमें प्रवृत्त होता है । ऐसा जानकर समझदार मनुष्य प्रेमसे युक्त हुए मुझे भजते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः, बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं, तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

अर्थ—जो मुझमें लगेहुए मनवाले, मुझमें अर्पण कियेहुए प्राणों(जीवन)वाले, एक दूसरेको समझाते हुए और मुझे ही कहते हुए (मेरे गुणोंको बखानते हुए) सदा प्रसन्न होते(सुख, दुःख, हानि, लाभ, जय, पराजय आदिमें एकरस रहते) हैं और निश्चय रमते(खुशीके खेल खेलते) हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां, भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं, येन माम् उपयान्ति ते ॥ १० ॥

अर्थ—मैं उन प्रेमपूर्वक भजतेहुए सदा मुझमें लगेहुए कर्मयोगियोंको । उस समत्वबुद्धिरूपी योगको देता हूं, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषाम् एव अनुकम्पार्थम्, अहम् अज्ञानजं तमः। नाशयामि आत्मभावस्थो, ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

अर्थ—मैं निश्चय उनके अनुग्रहके लिये, आत्माके भवन (हृदयमन्दिर)में स्थित हुआ, अतिचमकनेवाले ज्ञानके दीपकसे अविवेकसे उत्पन्न होनेवाले अन्धकार(अहंता–ममता बुद्धि)को नाश करता हूं ॥ ११ ॥

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

(२) परं ब्रह्म परं धाम, पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्, आदिदेवम्, अजं विभुम् ॥ १ ॥ आहुः त्वाम् ऋषयः सर्वे, देवर्षिः नारदस्तथा। असितो देवलो व्यासः, स्वयं च एव ब्रवीषि मे ॥ २ ॥

अर्थ—आप सबसे ऊंचा ब्रह्म हैं, सबसे ऊंचा स्थान(आश्रय)है और सबसे ऊंची पवित्र वस्तु हैं । सब ऋषि और देवर्ऋषि नारद, असित, देवल और व्यास, तुझे अद्भुत अनादि पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभूतिवाला कहते हैं और तू स्वयं भी मुझे कहता है ॥ २ ॥

सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये, यत् मां वदसि केशव! । न हि ते भगवन्! व्यक्तिं, विदुः देवाः न दानवाः

अर्थ—यह सब मैं सत्य मानता हूं, जो कुछ मुझे हे केशव ! तू कहता है । क्योंकि हे भगवन्! तेरे स्वरूपको न देवता जानते हैं, न असुर जानते हैं ॥ ३ ॥

स्वयम् एव आत्मना आत्मानं, वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम!। भूतभावन! भूतेश!, देवदेव! जगत्पते! ॥ ४ ॥

अर्थ—तू आप ही अपनेसे अपनेको जानता है हे पुरुषोत्तम! हे चराचर भूतोंके उत्पन्न करनेवाले! हे चराचर भूतोंके नियन्ता! हे देवोंके देव! हे सब जगत्के स्वामी! ॥ ४ ॥

वक्तुम् अर्हसि अशेषेण, दिव्याः हि आत्मविभूतयः। याभिः विभूतिभिः लोकान्, इमान् त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ ५ ॥

अर्थ—तू उनको सम्पूर्ण रूपसे कहने योग्य है, जो निःसन्देह आपके ऐश्वर्य अद्भुत हैं। और जिन ऐश्वर्योंसे इन सब लोकोंको व्यापकर तू स्थित है ॥ ५ ॥

कथं विद्याम् अहं योगिन्! त्वां सदा परिचिन्तयन्!। केषु केषु च भावेषु, चिन्त्योऽसि भगवन्! मया

अर्थ—हे अयोगका योग बनानेवाली अद्भुत शक्तिवाले! कैसे सदा चिन्तन करता हुआ मैं तुझे जानूं। और हे भगवन्! किन किन पदार्थों (वस्तुओं) में तू मुझसे चिन्तन करने योग्य है ॥ ६ ॥

विस्तरेण आत्मनो योगं, विभूतिं च जनार्दन!। भूयः कथय तृप्तिः हि, शृण्वतो न अस्ति मेऽमृतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे जनार्दन! अपने अयोगका योग बनाने वाले अद्भुत सामर्थ्यको और ऐश्वर्यको विस्तारसे फिर कहो, क्योंकि आपके अमृत वचनको सुनतेहुए मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्‌ने कहा।

हन्त ते कथयिष्यामि, दिव्याः हि आत्मविभूतयः। प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ!, न अस्ति अन्तो विस्तरस्य मे

अर्थ—अच्छा मैं तुझे निश्चय अद्भुत अपने ऐश्वर्योंको प्रधान रूपसे (चुनचुनकर) कहूता हूं, क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरे इस फैलेहुए ऐश्वर्यका अन्त नही है ॥ ८ ॥

अहम् आत्मा गुडाकेश!, सर्वभूताशयस्थितः। अहम् आदिश्च मध्यं च, भूतानाम् अन्तः एव च ॥ ९ ॥

अर्थ—हे गुडाकेश! सब भूतोंके हृदयमें स्थित आत्मा मैं हूं। और सब भूतोंका आदि तथा मध्य और निश्चय अन्त मैं हूं ॥९॥

आदित्यानाम् अहं विष्णुः, ज्योतिषां रविः अंशुमान्। मरीचिः मरुताम् अस्मि, नक्षत्राणाम् अहं शशी

अर्थ—सूर्य्योंमें मध्यान्ह कालका सूर्य्य मैं हूं, ज्योतियों (प्रकाशों) में किरणोंवाला सूर्य्य मैं हूं। मरुतों (वर्षालानेवाले वायुओं)- में मरीचि (बिजलियोंवाली मरुत्) और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा मैं हूं ॥ १० ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि, देवानाम् अस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि, भूतानाम् अस्मि चेतना ॥११॥

अर्थ—वेदोंमें सामवेद मैं हूं, देवताओं- में इन्द्र मैं हूं। इन्द्रियोंमें मन मैं हूं, और प्राणियोंमें जीवन (प्राणअपान क्रिया) मैं हूं ॥ ११ ॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि, वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। वसूनां पावकश्चास्मि, मेरुः शिखरिणाम् अहम् ॥ १२ ॥

अर्थ—रुद्रोंमें शङ्कर मैं हूं और यक्षों तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर मैं हूं। वसुओंमें अग्नि और ऊंचे पर्वतोंमें मेरु मैं हूं

पुरोधसां च मुख्यं मां, विद्धि पार्थ! बृहस्पतिम्। सेनानीनाम् अहं स्कन्दः, सरसाम् अस्मि सागरः॥१३॥

अर्थ—हे पार्थ! पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति निश्चय मुझे जान। मै सेनापतियोंमें स्कन्द और सरोंमें समुद्र मैं हूं॥ १३॥

महर्षीणां भृगुः अहं, गिराम् अस्मि एकम् अक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ १४॥

अर्थ—वैदिक ऋषियोंमें मैं भृगु और वाणियोंमें एक अक्षर (ओम्) मैं हूं। यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिरोंमें हिमालय मैं हूं १४

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां, देवर्षीणां च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः, सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ १५॥

अर्थ—सब वृक्षोंमें पीपल और देवऋषियोंमें नारद मैं हूं। गायकोंमें चित्ररथ और ज्ञानसिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूं १५

उच्चैःश्रवसम् अश्वानां, विद्धि मां अमृतोद्भवम्। ऐरावतं गजेन्द्राणां, नराणां च नराधिपम्॥ १६॥

अर्थ—घोडोंमें जलसे (समुद्रसे) निकला हुआ उच्चैःश्रवा। राजाहाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा मुझे जान॥१६॥

आयुधानाम् अहं वज्रं, धेनूनाम् अस्मि कामधुक्। प्रजनश्च अस्मि कन्दर्पः, सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः

अर्थ—शस्त्रोंमें वज्र (तलवार) मैं हूं, गौओंमें कामधेनु मैं हूं। प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम मैं हूं और सर्पोंमें वासुकि मैं हूं।

अनन्तश्च अस्मि नागानां, वरुणो यादसाम् अहम्। पितॄणाम् अर्यमा चास्मि, यमः संयमताम् अहम् १८

अर्थ—नागोंमें शेषनाग और जलचरोंमें वरुण मैं हूं। पितरोंमें अर्य्यमा और दण्डदेनेवालोंमें यम मैं हूं॥ १८॥

प्रह्लादश्च अस्मि दैत्यानां, कालः कलयताम् अहम्। मृगाणां च मृगेन्द्रो अहं, वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ १९॥

अर्थ—दैत्योंमें प्रह्लाद और गिननेवालोंमें काल मैं हूं। मृगों (वन पशुओं)में मृगराज (सिंह) और पक्षियोंमें निश्चय गरुड मैं हूं।

पवनः पवताम् अस्मि, रामः शस्त्रभृताम् अहम्। झषाणां मकरश्चास्मि, स्रोतसाम् अस्मि जान्हवी॥ २०॥

अर्थ—पवित्रकरनेवालोंमें वायु मैं हूं, शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूं। मछलियोंमें मगर मैं हूं, तथा प्रवाहोंमें गङ्गा मैं हूं॥२०॥

सर्गाणाम् आदिः अन्तश्च, मध्यं च एव अहमर्जुन!। अध्यात्मविद्या विद्यानां, वादः प्रवदताम् अहम् २१

अर्थ—हे अर्जुन! सृष्टियोंका आदि और अन्त और मध्य निश्चय मैं हूं। विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और अच्छी बातचीत करनेवालोंमें वाद* नामकी बातचीत मैं हूं २१

*बातचीतके तीन भेद हैं—वस्तुनिर्णयके लिये बातचीतका नाम–वाद, एक दूसरेको हरानेके लिये बातचीतका नाम–जल्प, केवल दूसरेकी बातको काटना–वितण्डा।

अक्षराणाम् अकारोऽस्मि, द्वन्द्वः सामासिकस्य च। अहम् एव अक्षयः कालो, धाताऽहं सर्वतोमुखः ॥२२॥

अर्थ—अक्षरों(वर्णों)में अकार(अ)मैं हूं, और समासोंके समूहमें द्वन्द्व समास मैं हूं। मैं ही अक्षय काल और मैं ही सब ओर-मुखवाला विधाता(ब्रह्मा) हूं ॥ २२ ॥

मृत्युः सर्वहरः चाहम्, उद्भवश्च भविष्यताम्। कीर्तिः श्रीः वाक् च नारीणां, स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा

अर्थ—सबका संहार करनेवाला मृत्यु निश्चय मैं हूं और मैं ही आगे होनेवालोंका उत्पन्न करनेवाला हूं। स्त्रियोंमें कीर्ति(गुणोंसे ख्याति) श्री(शरीरका ऐश्वर्य) वाणी (मीठी बाणी) स्मृति, मेधा (धारणशक्ति) धृति और क्षमा मैं हूं ॥ २३ ॥

बृहत् साम तथा साम्नां, गायत्री छन्दसाम् अहम्। मासानां मार्गशीर्षोऽहम्, ऋतूनां कुसुमाकरः २४

अर्थ—गानोंमें बृहत्‡ नामका गाना और छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं हूं। महीनोंमें अगहन और ऋतुओंमें बसन्त मैं हूं २४

द्यूतं छलयताम् अस्मि, तेजः तेजस्विनाम् अहम्। जयो अस्मि व्यवसायोऽस्मि, सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम्

अर्थ—छलनेवालोंमें जुआ मैं हूं, तेजस्वियोंमें तेज मैं हूं। विजयिओंमें विजय मैं हूं, उद्यमियोंमें उद्यम और साहसवालोंमें साहस (दलेरी) मैं हूं ॥२५॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि, पाण्डवानां धनञ्जयः। मुनीनाम् अपि अहं व्यासः, कवीनाम् उशना कविः २६

अर्थ—यादवोंमें कृष्ण और पाण्डवोंमें अर्जुन मैं हूं। वेदवेत्ता मुनियोंमें कृष्ण-द्वैपायन और कवियों (नीतिरूपी सूक्ष्मार्थके देखनेवालों) में शुक्र कवि मैं हूं ॥ २६ ॥

दण्डो दमयताम् अस्मि, नीतिः अस्मि जिगीषताम्। मौनं च एव अस्मि गुह्यानां, ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम् ॥ २७ ॥

अर्थ—दमन करनेवालों(दबानेवालों)में दण्ड मैं हूं, विजय चाहनेवालोंमें नीति मैं हूं। गोप्यों (गुप्त रखने योग्यों)में निश्चय मौन और ज्ञानवालोंमें ज्ञान मैं हूं २७

यत् चापि सर्वभूतानां, बीजं तद् अहम् अर्जुन!। न तद् अस्ति विना यत् स्यात्, मया भूतं चराचरम्

अर्थ—और जो निश्चय सब भूतोंका बीज(कारण) है, हे अर्जुन! वह मैं हूं। क्योंकि वह कोई चराचर भूत नहीं है, जो मेरे विना हो सके ॥ २८ ॥

न अन्तो अस्ति मम दिव्यानां, विभूतीनां परन्तप!। एष तु उद्देशतः प्रोक्तो, विभूतेः विस्तरो मया २९

अर्थ—हे परंतप! मेरे अद्भुत ऐश्वर्योंका अन्त नहीं है। यह केवल संक्षेपसे अपने ऐश्वर्यका फैलाव मैंने कहा है ॥ २९ ॥

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं, श्रीमद् ऊर्जितमेव वा। तत् तद् एव अवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्

‡"त्वामिद्धि हवामहे" (ऋ० ६।४६।१) ऋचा पर गाया जानेवाला गाना।

अर्थ—जो जो प्राणी ऐश्वर्यवाला है, शारीरिक अथवा आत्मिक श्री(ऐश्वर्य)वाला है, अथवा केवल सुखसम्भोगसम्पन्न है। उस उसको तू निःसन्देह मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुआ जान ॥ ३० ॥

अथवा बहुना एतेन, किं ज्ञातेन तव अर्जुन! । विष्टभ्य अहम् इदं कृत्स्नम्, एकांशेन स्थितो जगत् ॥ ३१ ॥

अर्थ—अथवा इस बहुत जानेहुए से हे-अर्जुन! तुझे क्या। मैं ही इस समस्त जगत्को एक अंशसे थामकर स्थित हूं ३१

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ (२४२)

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें विभूतियोग नाम दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

मदनुग्रहाय परमं, गुह्यम् अध्यात्मसंज्ञितम्। यत् त्वया उक्तं वचः तेन, मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्थ—मुझपर अनुग्रह(दया)के लिये जो तूने अध्यात्म-नामी (आत्मज्ञान तथा पदार्थज्ञान-सम्बन्धी) परम गुह्य वचन कहा है, उससे मेरा यह(युद्धकर्मसे हटानेवाला) मोह(अविवेक) दूर होगया है ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां, श्रुतौ विस्तरशो मया। त्वत्तः कमलपत्राक्ष!, माहात्म्यम् अपि च अव्ययम् ॥२॥

अर्थ—हे कमलपत्रके समान विशाल नेत्रोंवाले! मैंने निःसन्देह तुझसे भूतों (चराचर भूतों)के उत्पत्ति और प्रलय, विस्तारसे सुने हैं और आपका अक्षय महत्त्व भी सुना है ॥ २ ॥

एवम् एतद् यथाऽऽत्थ त्वम्, आत्मानं परमेश्वर! । द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम्, ऐश्वरं पुरुषोत्तम! ॥३॥

अर्थ—हे परमेश्वर! यह ऐसा ही है, जैसा तू अपने आपको कहता है। हे पुरुषोत्तम! अब मैं तेरा ईश्वरीय रूप (स्वरूप) देखना चाहता है ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तत् शक्यं, मया द्रष्टुम् इति प्रभो! । योगेश्वर! ततो मे त्वं, दर्शय आत्मानमव्ययम् ४

अर्थ—हे स्वामी! यदि तू यह समझता है कि मैं आपका वह रूप देखनेको समर्थ (देख सकता) हूं। तो हे योगेश्वर! (अयोगका योग बनानेवाले अद्भुत सामर्थ्यके स्वामी!) तू मुझे अपने अक्षय स्वरूप को दिखा ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा॥

पश्य मे पार्थ! रूपाणि, शतशो अथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि, नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

अर्थ—हे पार्थ! मेरे सैंकडे और हजारों अद्भुत रूपोंको देख, जो अनेकप्रकारके और अनेक रङ्गो तथा आकारों (शकलों)वाले हैं ॥ ५ ॥

पश्य आदित्यान् वसून् रुद्रान्, अश्विनौ मरुतस्तथा। बहूनि अदृष्टपूर्वाणि, पश्य आश्चर्याणि भारत! ६

अर्थ—देख आदित्योंको, वसुओंको, रुद्रोंको, अश्वियोंको और मरुतोंको। हे भारत! पहले न देखे हुए अनेक अद्भुत रूपोंको देख ॥ ६ ॥

इह एकस्थं जगत् कृत्स्नं, पश्य अद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश!, यत् च अन्यद् द्रष्टुम् इच्छसि ॥७॥

अर्थ—हे गुडाकेश! आज यहां मेरे शरीरमें चराचरके सहित सम्पूर्ण जगत्को एक जगह स्थित देख और दूसरा जो कुछ तू देखना चाहता है, देख ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्, अनेन एव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः, पश्य मे योगम् ऐश्वरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—परन्तु तू मुझे इस अपने नेत्रसे निश्चय नही देख सकता है। इसलिये मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूं; तू उस दिव्य नेत्रसे मेरे ईश्वरीय सामर्थ्यको देख ॥ ८ ॥

सञ्जयः उवाच। संजयने कहा।

एवम् उक्त्वा ततो राजन्!, महायोगेश्वरो हरिः। दर्शयामास पार्थाय, परमं रूपम् ऐश्वरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—हे राजा (धृतराष्ट्र)! इसप्रकार कहकर तब महायोगेश्वर कृष्णने पार्थको अपना सर्वोत्तम ईश्वरीय रूप दिखाया ॥९॥

अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम्। अनेकदिव्याभरणं, दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

अर्थ—अनेक मुखों और नेत्रोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाला। अनेक अद्भुत भूषणोंवाला, अनेक उठाये हुए अद्भुत शस्त्रोंवाला ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यगन्धानुलेपनम्। सर्वाश्चर्यमयं देवम्, अनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अर्थ—अद्भुत मालायें और वस्त्र धारण किया हुआ, अद्भुत गन्धोंको लगाया हुआ। सब ओरसे आश्चर्यमय, प्रकाशस्वरूप, अन्तसे रहित और सब ओर मुखवाला ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य, भवेद् युगपद् उत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद्, भासः तस्य महात्मनः १२

अर्थ—यदि आकाशमें हजार सूर्योंका प्रकाश एककालमें उत्पन्न हो, तो वह उस महान् आत्माके प्रकाशके सदृश शायद हो

तत्र एकस्थं जगत् कृत्स्नं, प्रविभक्तम् अनेकधा। अपश्यद् देवदेवस्य, शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

अर्थ—हे राजा! तब अर्जुनने उस देवाधिदेवके शरीरमें अनेकप्रकारसे विभाग पायेहुए (बटे हुए) सम्पूर्ण जगत्को एक जगह स्थित देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो, हृष्टरोमा धनञ्जयः। प्रणम्य शिरसा देवं, कृताञ्जलिः अभाषत ॥ १४ ॥

अर्थ—उस(देखने)के पीछे वह आश्चर्यसे भरा हुआ और खिले हुए रोमोंवाला हुआ अर्जुन सिरसे प्रणाम करके देवाधिदेवसे हाथ जोडेहुए यह बोला ॥ १४ ॥

अर्जुनः उवाच। अर्जुनने कहा।

पश्यामि देवान् तव देव! देहे, सर्वान् तथा भूतविशेषसङ्घान्। ब्रह्माणम् ईशं कमलासनस्थम्, ऋषीन् च सर्वान् उरगान् च दिव्यान्

अर्थ—हे देव! मैं तेरे शरीरमें सब देवताओंको तथा भिन्नभिन्न जातिके प्राणियोंके समूहोंको देखता हूं। कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माको और सब ऋषियोंको, शंकरको और अद्भुत सर्पोंको देखता हूं १५

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं, पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। न अन्तं न मध्यं न पुनः तव आदिं, पश्यामि विश्वेश्वर! विश्वरूप! ॥ १६ ॥

अर्थ—मैं तुझे अनके भुजाओं, अनेक उदरों(पेटों), अनेक मुखों और अनेक नेत्रोंवाला देखता हूं, सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूं। हे विश्वके स्वामी! हे विश्वरूप! तेरी न अन्त देखता हूं, न मध्य, न फिर तेरी आदि देखता हूं ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च, तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्। पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्, दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् ॥ १७ ॥

अर्थ—मुकुटवाला, गदावाला, चक्रवाला, तेजका पुञ्ज और सब ओरसे प्रकाशवाला, देखनेको अशक्य, सबओरसे प्रदीप्त अग्नि और सूर्यकी नाईं चमकवाला तथा अपरंपार तुझे देखता हूं ॥ १७ ॥

त्वम् अक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम्। त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनः त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८

अर्थ—तू जाननेयोग्य, सर्वोत्तम अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) है, तू इस चराचर जगत् का परला भण्डार है। तू अखुट्ट है, सनातन धर्म(न्याय, नीति, सौजन्य, कर्मयोग आदि चातुर्वर्ण्य धर्म)का रक्षक है, तू मुझसे सनातन पुरुष माना गया है १८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्, अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं, स्वतेजसा विश्वम् इदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अर्थ—मैं तुझे आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्तशक्ति, अनन्त भुजाओंवाला, चन्द्रसूर्यनेत्रोंवाला, प्रज्वलित अग्निरूपी मुखवाला, अपने तेजसे इस सब जगत्को तपाता हुआ देखता हूं ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योः इदम् अन्तरं हि, व्याप्तं त्वया एकेन दिशश्च सर्वाः। दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपम् उग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्! ॥ २० ॥

अर्थ—द्युलोक और पृथिवीलोकके इस अन्तराल(वीचला भाग)को और सब दिशाओंको निःसन्देह तुझ एकने व्याप्त (भरपूर) किया है। तेरे इस अद्भुत और तेजस्वियोंके तेजस्वी (भयङ्कर) रूपको देखकर हे महात्मा! तीनों लोक भयसे पीडित(दुःखी) हो रहे हैं ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घाः विशन्ति, केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति। स्वस्ति इति उक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः, स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अर्थ—ये निश्चय देवताओंके समूह तुझमें प्रवेश कररहे हैं, कई भयभीत हुए हाथ जोडेहुए स्तुतिकर रहे हैं। स्वस्ति, स्वस्ति, यह कहकर महर्षि और सिद्धोंके समूह बडीबडी स्तुतियोंसे तेरी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्याः वसवो ये च साध्याः, विश्वे अश्विनौ मरुतश्च ऊष्मपाश्च। गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः, वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्च एव सर्वे ॥ २२ ॥

अर्थ—रुद्र, आदित्य, वसु और जो साध्य, विश्वेदेव, दोनों अश्वी और मरुत तथा पितर हैं, वे और गन्धर्व, यक्ष, असुर तथा सिद्धोंके समूह, सब ही निश्चय विस्मित हुए तुझे देख रहे हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं, महाबाहो! बहुबाहूरुपादम्। बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं, दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः तथाऽहम् ॥ २३ ॥

अर्थ—हे महाबाहु! बहुत मुखों और नेत्रोंवाले, बहुत भुजा, उरु(रान) और पैरोंवाले, बहुत उदरों(पेटों)वाले, बहुत भयङ्कर दाढोंवाले, तेरे बहुतबडे स्वरूपको देखकर सब लोक भयसे पीडित हो रहे हैं और मैं भी भयसे पीडित हो रहा हूं ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तम् अनेकवर्णं, व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्। दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा, धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो! ॥ २४ ॥

अर्थ—हे विष्णु! तुझे चमकता हुआ, आकाशको छुआ हुआ, अनेकप्रकारके रंगोवाला, चमकते हुए विशाल नेत्रोंवाला और खुले हुए मुखोंवाला देखकर निश्चय मैं भयसे पीडितहुए मनवाला धैर्य और शान्तिको नही लभता हूं ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि, दृष्ट्वा एव कालानलसंनिभानि। दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥ २५ ॥

अर्थ—और तेरे प्रलयकालकी अग्निके तुल्य अत्यन्त प्रकाशवाले, भयङ्कर दाढोंवाले, मुखोंको निश्चय देखकर मैं पूर्व-पश्चिमादि दिशाओंको नही जानता हूं और न कोई आश्रय (जाय पनाह) पाता हूं, हे देवताओंके देवता! हे जगत्के निवासस्थान! (रहनेकी जगह) तू प्रसन्न हो ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः, सर्वे सह एव अवनिपालसङ्घैः। भी-

ष्मो द्रोणः सूतपुत्रः तथाऽसौ, सह अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणाः विशन्ति, दंष्ट्राकरालानि भयानकानि । केचिद् विलग्नाः दशनान्तरेषु, संदृश्यन्ते चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

अर्थ—और निश्चय पृथिवीपालों (राजों) के समूहोंके सहित ये सब धृतराष्ट्रके पुत्र और हमारे मुख्य योधाओंके सहित भीष्म, द्रोण और वह सूतका पुत्र(कर्ण), तेरीओर जलदी जलदी आतेहुए तेरे डरावनी दाढोंवाले भयानक मुखोंमें प्रवेशकर रहे हैं। कई दान्तोंके अन्तरालों(बीचके छेदों)में चूरा चूरा हुए सिरोंके सहित लगे हुए (लटकते हुए) दिखाई दे रहे हैं ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः, समुद्रम् एव अभिमुखाः द्रवन्ति । तथा तवामी नरलोकवीराः, विशन्ति वक्त्राणि अभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

अर्थ—जैसे नदियोंके अनेक जलोंके प्रवाह समुद्रके सामने मुख किये हुए निश्चय दौडते हैं । वैसे ये (भीष्मादि) मनुष्यलोकके वीर तेरे सबओरसे जलतेहुए (धधकते हुए) मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः, विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः । तथा एव नाशाय विशन्ति लोकाः, तव अपि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

अर्थ—जैसे पतंगे अपने नाशके लिये पूरे वेगवाले हुए(पूरे वेगके साथ) जलतीहुई अग्निमें प्रवेश करते हैं । वैसे ही सब लोक भी अपने नाशके लिये पूरे वेगवालेहुए तेरे मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्, लोकान् समग्रान् वदनैः ज्वलद्भिः । तेजोभिः आपूर्य जगत् समग्रं, भासः तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो! ३०

अर्थ—हे विष्णु ! तू जलते हुए मुखोंसे सब लोकोंको सब ओरसे निगलताहुआ चाट रहा है । और तेरी महातेजस्वी प्रभायें (प्रकाश)समूचे जगत्को तेजोंसे भरकर बडा तपा रही हैं ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो, नमोऽस्तु ते देववर! प्रसीद । विज्ञातुम् इच्छामि भवन्तम् आद्यं, न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ३१

अर्थ—आप महातेजस्वी स्वरूप कौन हैं? मुझे कहो, तुझे नमस्कार हो, हे श्रेष्ठदेव ! प्रसन्न हो । मैं आप आदि(सबके कारण) को जानना चाहता हूं, मैं निश्चय तेरी प्रवृत्तिको नहीं जानता हूं ॥ ३१ ॥

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्ने कहा ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो, लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः । ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे, येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ३२

अर्थ—मैं लोगोंका क्षय करनेवाला बढा हुआ काल हूं, यहां लोगोंको समेटने (संहारने)केलिये प्रवृत्त हुआ हूं । तेरे विना भी (तेरे युद्ध न करने पर भी) ये

सब न होंगे (न जीते रहेंगे), जो योधे आमने सामनेकी सेनाओंमें खडे हुए हैं ३२

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशो लभस्व, जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्। मया एव एते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्! ३३

अर्थ—इसलिये तू उठ, यशको प्राप्तकर, शत्रुओंको जीतकर धनधान्यसे भरेहुए राज्यको भोग। मैंने निश्चय पहले ही ये सब मारे हुए हैं, हे बांयें हाथसे भी बाणके चलानेवाले! तू निमित्तमात्र हो ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च, कर्णं तथाऽन्यान् अपि योधवीरान्। मया हतान् त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः, युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ३४

अर्थ—द्रोणको और भीष्मको और जयद्रथको और कर्णको और दूसरे वीरयोधाओंको भी मुझसे मारे हुओंको तू मार, मत दुःखी हो, युद्ध कर, तू युद्धमें शत्रुओंको जीतेगा ॥ ३४ ॥

सञ्जयः उवाच। संजयने कहा।

(२) एतत् श्रुत्वा वचनं केशवस्य, कृताञ्जलिः वेपमानः किरीटी। नमस्कृत्वा भूयः एव आह कृष्णं, सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ १ ॥

अर्थ—कृष्णके इस वचनको सुनकर मुकुटवाला अर्जुन कांपताहुआ हाथजोडे हुए झुककर नमस्कार करके डरता डरता गद्गद वाणीसे फिर निश्चय कृष्णसे बोला ॥१॥

स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या, जगत् प्रहृष्यति अनुरज्यते च। रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति, सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥२॥

अर्थ—हे हृषीकेश! यह ठीक है—तेरे भक्तिपूर्वक कीर्तनसे जगत् प्रसन्न होता है और अनुरागको प्राप्त होता है। राक्षस डरते हुए चारों दिशाओंमें भाग जाते हैं और सब सिद्धोंके समूह नमस्कार करते हैं ॥२॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्!, गरीयसे ब्रह्मणोऽपि आदिकर्त्रे। अनन्त! देवेश! जगन्निवास! त्वम् अक्षरं सद् असत् तत् परं यत् ॥३॥

अर्थ—और हे महात्मा! क्यों वे तुझ गुरुओंके गुरु, ब्रह्माके भी आरम्भकर्ता (जन्मदाता)को न नमस्कार करें। हे-अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! तू अविनाशी है, व्यक्त है, अव्यक्त है और वह है, जो व्यक्त अव्यक्तसे परे है ॥३॥

त्वम् आदिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम्। वेत्ता असि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप! ॥ ४ ॥

अर्थ—तू आदिदेव है, पुरातन पुरुष है, तू इस विश्वका बडा भण्डार है। तू जाननेवाला और जानने योग्य है और सबसे ऊंचा स्थान है, हे अनन्तरूप! तुझसे ही सब विस्तार पाया हुआ है ॥ ४ ॥

वायुः यमोऽग्निः वरुणः शशाङ्कः, प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। नमो नमस्ते अस्तु सहस्रकृत्वः, पुनश्च भूयो अपि नमो नमस्ते ॥ ५ ॥

अर्थ—तू वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, सूर्य और पूज्य पितामह(पिताका पिता) है। तुझे नमस्कार हो, हजार-वार नमस्कार हो और फिर भी निश्चय तुझे नमस्कार पर नमस्कार हो, ॥ ५ ॥

नमः पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस्ते, नमो अस्तु ते सर्वतः एव सर्व! । अनन्तवीर्य! अमितविक्रमस्त्वं, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ६ ॥

अर्थ—तुझे आगेसे नमस्कार और पीछेसे नमस्कार हो, हे सर्वरूप! तुझे सब ओरसे निश्चय नमस्कार हो। हे अनन्तवीर्य! तू अपरिमित पराक्रमवाला और सबमें ठीकठीक व्याप्त है, उसीसे सब है ॥ ६ ॥

सखा इति मत्वा प्रसभं यद् उक्तं, हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति । अजानता महिमानं तवेदं, मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि ॥ ७ ॥

अर्थ—तेरे इस महत्वको न जानतेहुए मैंने 'तू मेरा सखा है,' ऐसा समझकर, अथवा प्रमाद(असावधानी)से, अथवा प्रेमसे भी जो यह तिरस्कारपूर्वक कहा है— अरे कृष्ण ! ओ यादव ! भो सखा ! ॥७॥

यच्चावहासार्थम् असत्कृतोऽसि, विहारशय्यासनभोजनेषु । एकोऽथवा अपि अच्युत! तत्समक्षं, तत् क्षामये त्वाम् अहम् अप्रमेयम् ॥ ८ ॥

अर्थ—और जो खेलने, लेटने, बैठने तथा खाने पीनेमें उपहास(दिल्लगी)के निमित्त, उन सब मित्रोंके सामने अथवा अकेले भी तू अपमान किया गया है, हे अच्युत! वह सब मैं तुझ अचिन्तनीयसे क्षमा करवाता हूं ८

पिता असि लोकस्य चराचरस्य, त्वम् अस्य पूज्यश्च गुरुः गरीयान् । न त्वत्समो अस्ति अभ्यधिकः कुतो अन्यः, लोकत्रये अपि अप्रतिमप्रभाव! ॥ ९ ॥

अर्थ—हे अतुलप्रतापवाले! तू इस चराचर जगत्का पिता है, तू पूज्य गुरु है, और सबसे बढकर गुरु है। तीनों लोकोंमें निःसन्देह दूसरा कोई तेरे बराबर नहीं है, अधिक कहांसे होगा ॥ ८ ॥

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं, प्रसादये त्वाम् अहम् ईशमीड्यम् । पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः, प्रियः प्रियाय अर्हसि देव! सोढुम् १०

अर्थ—इसलिये मैं शरीरको झुकाकर प्रणाम करके तुझ स्तुतिकेयोग्य ईश्वरको प्रसन्न करता हूं। पिता जैसे पुत्रकी, सखा जैसे सखाकी भूलचूक सहारता है, हे-देव ! वैसे तू मेरा प्यारा मुझ प्यारेकेलिये सहारने योग्य है ॥ १० ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितो अस्मि दृष्ट्वा, भयेन च प्रव्यथितं मनो मे । तद् एव मे दर्शय देव! रूपं, प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥ ११ ॥

अर्थ—न पहले देखेहुए रूपको देखकर हर्षको प्राप्त हुआ हूं और साथही मेरा मन भयसे बडा दुःखी हो रहा है। हे देव ! निश्चय वही (पहला) रूप मुझे दिखा, हे-देवेश ! हे जगन्निवास! प्रसन्न हो ॥ ११ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्, इच्छा-

मि त्वां द्रष्टुम् अहं तथैव। तेन एव* रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्रबाहो! भव विश्वमूर्ते! ॥ १२ ॥

अर्थ— मैं तुझे वैसे(पहलेकी नाईं) ही मुकुटवाला, गदावाला और हाथमें चक्रवाला देखना चाहता हूं। हे अनन्त भुजाओंवाले! हे विश्वरूप! निश्चय उसी रूपसे वर्तमान हो, इस चारों ओर भुजाओंवाले रूपसे नहीं ॥ १२ ॥

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

मया प्रसन्नेन तव अर्जुन इदं, रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात्। तेजोमयं विश्वम् अनन्तम् आद्यं, यत् मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! प्रसन्नहुए मैंने अपने अद्भुत सामर्थ्यसे यह सबसे ऊंचा रूप तुझे दिखाया है। जो मेरा रूप निरा तेज (प्रकाश); विश्वके आकार, अन्तसे रहित और सबसे श्रेष्ठ हैं और तुझसे भिन्न किसी दूसरेने नहीं पहले देखा है ॥ १३ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः, न च क्रियाभिः न तपोभिः उग्रैः। एवंरूपः शक्यो अहं नृलोके, द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर! ॥ १४ ॥

अर्थ—हे कुरुओंमें श्रेष्ठ! मनुष्यलोकमें ऐसे रूपवाला मैं, न वेदोंके पढनेसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न दानोंसे, न दूसरे कर्मोंसे और न घोर तपोंसे, तुझसे भिन्न किसी दूसरेको देखनेकेलिये शक्य हूं ॥ १४

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो, दृष्ट्वा रूपं घोरम् ईदृक् ममेदम्। व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं, तद् एव मे रूपम् इदं प्रपश्य ॥ १५ ॥

अर्थ—यह ऐसा मेरा भयङ्कर रूप देखकर तुझे भयसे पीडा न हो और न विवेकशून्यता हो। तू दूर हुए भयवाला और प्रसन्न हुए मनवाला फिर निश्चय मेरा यह वह (पहला) रूप देखें ॥ १५ ॥

सञ्जयः उवाच। संजयने कहा।

इति अर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा, स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः। आश्वासयामास च भीतम् एनं, भूत्वा पुनः सौम्यवपुः महात्मा ॥ १६ ॥

अर्थ—इसप्रकार अर्जुनसे तथाऽस्तु कहकर कृष्णने फिर अपना पहला रूप दिखाया। और इस डरेहुए(अर्जुन)को उस महात्मा (कृष्ण)ने फिर सौम्य शरीर हो कर धैर्य दिया ॥ १६ ॥

अर्जुनः उवाच। अर्जुनने कहा।

दृष्ट्वा इदं मानुषं रूपं, तव सौम्यं जनार्दन!। इदानीम् अस्मि संवृत्तः, सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ १७ ॥

*अन्ययोगव्यवच्छेदार्थोऽत्र एवकारः, तेन नञः प्रयोगाभावेऽपि 'न चतुर्भुजेन' इति अर्थात् लभ्यते। चतुर्षु दिक्षु भुजाः यस्य रूपस्य, इति चतुर्भुजशब्दार्थः, असङ्ख्येयभुजरूपस्य प्रकृतत्वात्, न 'चत्वारो भुजाः यस्य रूपस्य' इति। अप्रकृतत्वात्। "दृष्ट्वा इदं मानुषं रूपम्" इति वक्ष्यमाणमानुषरूपदर्शनोक्तिविरोधाच्च। नहि मानुषे रूपे क्वचित् केन चत्वारो भुजाः दृश्यन्ते। अर्जुनेन भागवते मानुषे रूपे अदर्शिषत इति चेत्? तदा कथमसौ "करीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्, इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव" इत्यवोचत्, कथं च "करीटिनं गदिनं चक्रहस्तं, त्वां पद्मिनं शङ्खकरं तथैव" इति नाब्रवीत्। "तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण" इति अन्वयस्तु कल्पनामात्रमूलत्वात् न सम्यग् इति अलं बहुना।

अर्थ—हे जनार्दन ! मैं अब तेरे इस प्यारे मनुष्यके रूपको देखकर । प्रसन्नचित्त हुआ हूं और अपनी प्रकृतिको प्राप्त हुआ(स्वस्थ हुआ) हूं ॥ १७ ॥

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्ने कहा ।

सुदुर्दर्शम् इदं रूपं, दृष्टवान् असि यत् मम । देवाः अपि अस्य रूपस्य, नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ १८ ॥

अर्थ—मेरा यह रूप बहुत ही देखनेको अशक्य(कठिन) है, जो तू ने देखा है । देवता भी इस रूपके सदा दर्शनाभिलाषी हैं ।

न अहं वेदैः न तपसा, न दानेन न च इज्यया । शक्यः एवंविधो द्रष्टुं, दृष्टवान् असि मां यथा ॥ १९ ॥

अर्थ—मैं न वेदों(वेदोंके पढनेसे)से, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इसप्रकारका देखनेको शक्य(देखनेमें आसकता) हूं, जैसा मुझे तूने देखा है ॥१९॥

भक्त्या तु अनन्यया शक्यो, अहम् एवंविधो अर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन, प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥ २० ॥

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन ! अनन्य भक्तिसे इसप्रकारका मैं वास्तवरूपसे जानने और देखनेको और हे शत्रुतापन ! प्रवेश करने (अभेदरूपसे मिलने)को शक्य हूं ॥ २० ॥

मत्कर्मकृत् मत्परमो, मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु, यः स माम् एति पाण्डव ! ॥ २१ ॥

अर्थ—हे पाण्डव ! जो मेरे लिये कर्म करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिसे रहित है । सब प्राणियोंमें निर्वैर है, वह मुझे प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ (२५५)

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें विश्वरूपदर्शन योग नाम ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ११ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

(१) एवं सततयुक्ताः ये, भक्ताः त्वां पर्युपासते । ये च अपि अक्षरम् अव्यक्तं, तेषां के योगवित्तमाः १

अर्थ—इसप्रकार (जैसे आपने कहा है, ऐसे) सदा कर्मयोगमें युक्त हुए जो भक्त तुझे (तुझ व्यक्त स्वरूपको) उपासते हैं । और जो निश्चय अव्यक्त अक्षर (अविनाशी ब्रह्म)को उपासते हैं, उनमेंसे (उन दोनों प्रकारके कर्मयोगियोंमेंसे) बढकर योगको पाये हुए (योगयुक्त) कौन हैं ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्ने कहा ।

मयि आवेश्य मनो ये मां, नित्ययुक्ताः उपासते । श्रद्धया परया उपेताः, ते मे युक्ततमाः मताः २

अर्थ—जो मुझमें मनको लगाकर सदा योग (कर्मयोग)में लगे हुए, परम श्रद्धासे युक्त हुए मुझे उपासते हैं, वे मुझसे बढकर योगयुक्त (योगी) माने गये हैं ॥ २ ॥

ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम्, अव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च, कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

संनियम्य इन्द्रियग्रामं, सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति माम् एव, सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

अर्थ—परन्तु जो सबमें (सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय आदिमें) एक जैसी बुद्धिवाले, सब प्राणियोंके हितमें निमग्न, इन्द्रियोंके समूहको (सब इन्द्रियोंको) रोककर अविनाशी, अकथनीय, सर्वव्यापी, अचिन्तनीय, अपरिणामी, अचल और अटल अव्यक्त ब्रह्मको उपासते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते (उपासते) हैं ॥ ४ ॥

क्लेशो अधिकतरस्तेषाम्, अव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिः दुःखं, देहवद्भिः अवाप्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—उन अव्यक्तकी उपासनामें लगेहुए मनवालोंको अव्यक्तमें मनकी स्थितिके लिये परिश्रम बहुतअधिक होता है । क्योंकि शरीरधारियोंको, अव्यक्तमें मनकी पहुंच, दुःखसे (बडी कठिनतासे) प्राप्त होती है ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि, मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येन एव योगेन, मां ध्यायन्तः उपासते ॥ ६ ॥

अर्थ—परन्तु जो सब कर्मोंको मुझमें त्याग (अर्पण) कर मेरे आश्रय हुए निश्चय अनन्य भक्तियोगसे मेरा चिन्तन करते हुए मुझे उपासते हैं ॥ ६ ॥

तेषाम् अहं समुद्धर्ता, मृत्युसंसारसागरात् । भवामि नचिरात् पार्थ !, मयि आवेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उन मुझमें लगे हुए मनवालोंका जन्ममरणरूपी संसारसागरसे उद्धार (पार) करनेवाला हे पार्थ! मैं शीघ्र ही होता हूं ७

मयि एव मनः आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मयि एव, अतः ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अर्थ—मुझमें ही मनको ठहरा, मुझमें ही बुद्धिको लगा। इसके पीछे तू मुझमें ही निवास करेगा, संशय नहीं ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं, न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो माम्, इच्छ आप्तुं धनञ्जय! ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि तू मुझमें मनको अचल ठहरानेके लिये नहीं समर्थ है। तब वारंवार अचल ठहरानेके प्रयत्नरूपी योगसे हे धनंजय मुझे प्राप्त होनेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥

अभ्यासे अपि असमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थम् अपि कर्माणि, कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि १०

अर्थ—यदि अभ्यासमें भी तू असमर्थ है, तो मेरेलिये कर्मोंके करनेमें तत्पर हो। मेरेलिये कर्मोंको करताहुआ भी तू मोक्षको प्राप्त होगा ॥ १० ॥

अथ एतद् अपि अशक्तोऽसि, कर्तुं मद्योगम् आश्रितः। सर्वकर्मफलत्यागं, ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अर्थ—यदि यह भी करनेको तू असमर्थ है, तो मेरे भक्तियोगका आश्रय लिया हुआ (मेरा भक्त हुआ) और वशमें किये हुए मनवाला हुआ सब कर्मोंके फलका त्याग कर

श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासात्, ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात् कर्मफलत्यागः, त्यागात् शान्तिः अनन्तरम् ॥ १२ ॥

अर्थ—निःसंदेह अभ्याससे (अज्ञानपूर्वक मनके ठहरानेके वारंवार प्रयत्नसे) ज्ञान (आत्मज्ञान) श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान (ज्ञानपूर्वक आत्मामें मनकी अचल स्थिति) और ध्यानसे कर्मोंके फलका त्याग (फलको त्याग कर कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका करना) विशेष (बढकर) है, क्योंकि त्यागसे शान्ति तुरत होती है ॥ १२ ॥

(२) अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुणः एव च। निर्ममो निरहङ्कारः, समदुःखसुखः क्षमी ॥ १ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी, यतात्मा दृढनिश्चयः। मयि अर्पितमनोबुद्धिः, यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ २ ॥

अर्थ—सब प्राणियोंमें द्वेषसेरहित, मित्रतावाला और निश्चय करुणा(दया)वाला। ममतासेरहित, अहङ्कारसेरहित, एक जैसे सुख दुःखवाला, क्षमावाला ॥ १ ॥ सन्तोषी, सदा कर्मयोगमें युक्त, वशमें किये-हुए मनवाला, दृढ निश्चयवाला, मुझमें अर्पण किये हुए मन और बुद्धिवाला, जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ॥ २ ॥

यस्मात् न उद्विजते लोको, लोकात् न उद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैः, मुक्तो यः, स च मे प्रियः

अर्थ—जिससे कोई प्राणी नहीं उद्वेग (अशान्ति)को प्राप्त होता है और जो किसी प्राणीसे नहीं उद्वेगको प्राप्त होता है।

जो हर्ष, अमर्ष(असहिष्णुता), भय और उद्वेगसे छूटा हुआ मेरा भक्त है, वह निश्चय मुझे प्यारा है ॥ ३ ॥

अनपेक्षः शुचिः दक्षः, उदासीनो गतव्यथः । सर्वारम्भपरित्यागी, यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ ४ ॥

अर्थ—निस्पृह(बेपरवाह), पवित्र, कुशल (होश्यार), पक्षपातशून्य, दूरहुए क्लेशोंवाला। सब काम्यकर्मोंका परित्यागी जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ॥ ४ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न कांक्षति । शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो न सुख प्राप्त होनेपर हर्ष करता है, न प्राप्तहुए दुःखसे द्वेष करता है, न शोक करता है, न इच्छा करता है। जो शुभ, अशुभ कर्मफलका त्यागी है, भक्तिमान् है, वह मुझे प्यारा है ॥ ५ ॥

समः शत्रौ च, मित्रे च, तथा मानापमानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः सङ्गविवर्जितः ॥ ६ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी, सन्तुष्टो येन केनचित् । अनिकेतः स्थिरमतिः, भक्तिमान् मे प्रियो नरः ७

अर्थ—जो शत्रु और निश्चय मित्रमें सम है, तथा मान और अपमानमें सम है। सरदी, गरमी, सुख और दुःखमें सम है, आसक्तिसे रहित है ॥ ६ ॥ जिसको निन्दा और स्तुति तुल्य है, मितभाषी है, जिस किसी भी प्राप्त हुए कर्मफलसे सन्तुष्ट है। घरमें आसक्तिसे रहित है, अचलमति है, भक्तिमान् है, वह मनुष्य मुझे प्यारा है ॥ ७ ॥

ये तु धर्म्यामृतम् इदं, यथोक्तं पर्युपासते । श्रद्दधानाः मत्परमाः, भक्ताः ते अतीव मे प्रियाः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो भक्त निश्चय श्रद्धा करतेहुए, मुझे परम प्रमाण कियेहुए, इस धर्मसेयुक्त वचनामृतको जैसे कहा गया है वैसे अनुष्ठानमें लाते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं॥८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ (२।२०)

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें भक्तियोग नाम बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्ने कहा ।

(१) इदं शरीरं कौन्तेय!, क्षेत्रम् इति अभिधीयते । एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः, क्षेत्रज्ञः इति तद्विदः १

अर्थ—हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र, ऐसा कहा जाता है । जो इस(शरीर)को मेरा, ऐसा जानता है, उसके जाननेवाले उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं च अपि मां विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु भारत!। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञानं, यत् तद् ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

अर्थ—हे भारत! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी निश्चय मुझे जान। और क्षेत्र, क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वह ज्ञान है, यह मेरा मत जान ॥ २ ॥

तत् क्षेत्रं यत् च यादृक् च, यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च, तत् समासेन मे शृणु ३

अर्थ—वह क्षेत्र निश्चय जो है, जैसा (जिन धर्मोंवाला) है और जिन विकारोंवाला है, जिससे उत्पन्न होता है और जो जो है। और वह (क्षेत्रज्ञ) जो है तथा जिस सामर्थ्यवाला है, वह सब मुझसे संक्षेपसे सुन ॥ ३ ॥

ऋषिभिः बहुधा गीतं, छन्दोभिः विविधैः पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैश्च एव, हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अर्थ—ऋषियोंने उसको अनेकप्रकारसे अनेक प्रकारके मन्त्रोंसे अलगअलग गाया है। और मन्त्रार्थको ठीक ठीक निश्चित (मनन) किये हुए मुनियोंने हेतुओं(युक्तियों)वाले, ब्रह्मसूत्ररूपी वाक्योंसे निश्चय गाया है ॥४॥

महाभूतानि अहङ्कारो, बुद्धिः अव्यक्तम् एव च । इन्द्रियाणि दश एकं च, पञ्च च इन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं, संघातः चेतना धृतिः। एतत् क्षेत्रं समासेन, सविकारम् उदाहृतम् ॥ ६ ॥

अर्थ—महाभूत, अहङ्कार, महत्तत्त्व, और निश्चय अव्यक्त (मूल प्रकृति) । दस इन्द्रियां और एक मन और पांच इन्द्रियोंके विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, जीवन(प्राण, अपानक्रिया) और धारण (जीवनका हेतु प्रयत्न), यह विकारोंके सहित (विकारों तथा धर्मोंके सहित) क्षेत्र, संक्षेपसे कहा गया है ॥ ५ ॥ ६ ॥

अमानित्वम् अदम्भित्वम् , अहिंसा क्षान्तिः आर्जवम् । आचार्योपासनं शौचं, स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः ॥७॥

अर्थ—मानरहितता, दम्भरहितता,

अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, अनहङ्कारः एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयोंमें रागका अभाव और निश्चय अहङ्काररहितता । जन्म, मरण, जरा, रोग और दुःखोंमें दोषोंका अनुसन्धान ॥ ८ ॥

असक्तिः अनभिष्वङ्गः, पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वम्, इष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

अर्थ—कर्मोंमें अनासक्ति, पुत्र, स्त्री और घर आदिमें लम्पटताका अभाव और इष्ट, अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा एकसी चित्तकी वृत्ति ९

मयि च अनन्ययोगेन, भक्तिः अव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वम्, अरतिः जनसंसदि ॥ १० ॥

अर्थ—और मुझमें अभेदभावसे न बदलनेवाली(अटल) भक्ति । एकान्त देशका सेवन, लोगोंके जमावमें (मेले, तमाशेमें) अप्रीति ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतद् ज्ञानम् इति प्रोक्तम्, अज्ञानं यद् अतोऽन्यथा ११

अर्थ—आत्माके ज्ञानमें नित्यता(तत्परता) और आत्मादि प्रत्येक वस्तुके तत्त्वज्ञान(यथार्थ ज्ञान) केलिये शास्त्रोंका पर्यालोचन, यह ज्ञान, ऐसा कहा गया है और जो इससे उलटा (मानित्व, दम्भित्व आदि) है, वह अज्ञान कहा गया है ॥११॥

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि, यद् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते । अनादिमत् परं ब्रह्म, न सत् तत् न असद् उच्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—अब जो ज्ञेय (जानने योग्य) है, वह मैं कहताहूं, जिसको जानकर मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है । वह आदिवाला नहीं, वह सबसेऊंचा ब्रह्म है, वह न व्यक्त कहा जाता है न अव्यक्त ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतो अक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमत् लोके, सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ॥१३॥

अर्थ—वह सबओर हाथपाओंवाला है, सबओर आंख, सिर और मुखवाला है । वह सबओर कानोंवाला है और लोकमें सबको घेरकर स्थित है ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृत् च एव, निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

अर्थ—सब इन्द्रियोंके विषयोंका प्रकाशनेवाला है, सब इन्द्रियोंसे रहित है । असङ्ग है और निश्चय सबका धारनेवाला (आधार) है, गुणोंसे (त्रिगुणमय संसारसे) परे है और गुणोंका स्वामी है ॥१४॥

बहिः अन्तश्च भूतानाम्, अचरं चरम् एव च । सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयं, दूरस्थम् अन्तिके च तत् १५

अर्थ—सबभूतों(चर, अचर वस्तुओं)के बाहर और अन्दर है, वह निश्चय चर और अचर, दोनों है । वह सूक्ष्म होनेसे सबके लिये जाननेयोग्य नही, वह दूरमें स्थित है और समीपमें भी स्थित है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तम् इव च स्थितम् । भूतभर्तृ च तद् ज्ञेयं, ग्रसिष्णु च प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अर्थ—वह न अलग हुआ भी निश्चय सब भूतोंमें अलगकी नाईं स्थित है । वह निःसन्देह सब भूतोंका पालनेवाला, लय करनेवाला और निश्चय उत्पन्न करनेवाला जाननेयोग्य है ॥ १६ ॥

ज्योतिषाम् अपि तद् ज्योतिः, तमसः परम् उच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं, हृदि सर्वस्य विष्ठितम्

अर्थ—वह ज्योतियोंका भी ज्योति है, अन्धकार(प्रकृति)से परे कहा जाता है । ज्ञान है, ज्ञेय है, ज्ञान(अमानित्व, अदम्भित्व आदि)से जाननेयोग्य है, सबके हृदयमें बैठा हुआ है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं, ज्ञेयं च उक्तं समासतः । मद्भक्तः एतद् विज्ञाय, मद्भावाय उपपद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—यह क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय, संक्षेपसे कहा गया है । मेरा भक्त इसको जानकर मेरा रूप (ब्रह्मरूप) होनेकेलिये समर्थ होता है ॥ १८ ॥

(२) प्रकृतिं पुरुषं च एव, विद्धि अनादी उभौ अपि । विकारान् च गुणान् च एव, विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष, दोनोंको भी निश्चय तू अनादि जान । और विकारों (शरीर, इन्द्रिय आदि विकारों) तथा गुणों(सुख, दुःख आदि गुणपरिणामों)को निश्चय प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जान ॥ १ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः प्रकृतिः उच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां, भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते ॥ २ ॥

अर्थ—शरीर और इन्द्रियोंके बनानेमें कारण प्रकृति कही जाती है । और सुख तथा दुःखोंके भोगनेमें कारण (भोक्ता) पुरुष कहा जाता है ॥ २ ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि, भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं गुणसङ्गो अस्य, सदसद्योनिजन्मसु ॥ ३ ॥

अर्थ—पुरुष प्रकृति(प्रकृतिके कार्य शरीर)में स्थित हुआ निश्चय प्रकृतिजन्य गुणों(सुख, दुःख आदि)को भोगता है । और गुणोंमें आसक्ति ही इसके भली, बुरी योनियोंमें होनेवाले जन्मोंका कारण है ३

उपद्रष्टा अनुमन्ता च, भर्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मा इति च अपि उक्तो, देहे अस्मिन् पुरुषः परः ४

अर्थ—जो इस शरीरमें समीपसे (साक्षीरूपसे) प्रकृतिके गुणोंका देखनेवाला, अनुमोदन करनेवाला(प्रकृतिके गुणोंको प्रकृतिके ही गुण होनेमें अनुमतिवाला) बढानेवाला और भोगनेवाला है, वह महेश्वर, ऐसा कहा गया है, परमात्मा, ऐसा कहा गया है, और प्रकृतिसे परला पुरुष, ऐसा भी कहा गया है ॥ ४ ॥

यः एवं वेत्ति पुरुषं, प्रकृतिं च गुणैः सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि, न सः भूयोऽभिजायते ॥ ५ ॥

अर्थ—जो इसप्रकार पुरुषको और गुणों(सुख, दुःख आदि)के सहित प्रकृतिको जानता है । वह सबप्रकारसे (हिंसा-

कर्म अथवा अहिंसाकर्मसे) वर्तमान हुआ भी फिर नही जन्मता है ॥ ५ ॥

ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति, केचिद् आत्मानम् आत्मना। अन्ये सांख्येन योगेन, कर्मयोगेन चापरे ॥ ६ ॥

अर्थ—कई एक ध्यानयोगसे शरीरमें मनसे आत्माको देखते हैं, उनसे भिन्न दूसरे ज्ञान योगसे और सबसे परले (ऊंची मति-वाले) कर्मयोगसे देखते हैं ॥ ६ ॥

अन्ये तु एवम् अजानन्तः, श्रुत्वा अन्येभ्यः उपासते। तेऽपि च अतितरन्ति एव, मृत्युं श्रुतिपरायणाः

अर्थ—परन्तु ऐसे न जानते हुए जो दूसरे दूसरोंसे सुनकर उपासते हैं। वे भी निःसन्देह सुने हुएमें तत्पर हुए अवश्यमेव मृत्युको तर जाते हैं ॥ ७ ॥

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्, तद् विद्धि भरतर्षभ! ॥ ८ ॥

अर्थ—जितना कोई स्थावर, जंगम प्राणी उत्पन्न होता है। हे भरतश्रेष्ठ! उसको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुआ जान ॥ ८ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु, तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्सु अविनश्यन्तं, यः पश्यति स पश्यति ॥ ९ ॥

अर्थ—सब चर अचर भूतोंमें एकसा स्थित होतेहुए। और उन नष्ट होते हुओंमें न नष्ट होते हुए परमात्माको जो देखता है, वह देखता है ॥ ९ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम्। न हिनस्ति आत्मना आत्मानं, ततो याति परां गतिम्

अर्थ—क्योंकि सब भूतोंमें सम रूपसे स्थित परमेश्वरको सम देखता हुआ, अपने आत्मासे बन्धु अबन्धु किसी आत्माको भी नही मारता (मरने मारनेके मोहमें पडता) है और उससे (मारता हुआ भी मोहमें न पडनेसे) सबसे ऊंची गतिको प्राप्त होता है

प्रकृत्या एव च कर्माणि, क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथाऽऽत्मानम्, अकर्तारं स पश्यति ११

अर्थ—जो सब कर्मोंको निश्चय प्रकृतिसे ही किये जातेहुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वह देखता है

यदा भूतपृथग्भावम्, एकस्थम् अनुपश्यति। ततः एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १२ ॥

अर्थ—जब मनुष्य, स्थावर जंगम-भूतोंके अलग अलगरूपसे अस्तित्वको एक आत्मामें स्थित देखता है। और उस एक आत्मासे ही उनके अलग अलग रूपसे विस्तारको देखता है, तब परमात्मा (सब-से ऊंचा आत्मा) होता है ॥ १२ ॥

अनादित्वात् निर्गुणत्वात्, परमात्मा अयम् अव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय!, न करोति न लिप्यते १३

अर्थ—हे कौन्तेय ! यह परमात्मा अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे अविनाशी है। और शरीरमें स्थितहुआ भी न कुछ करता(सब कुछ करता हुआ भी न कुछ करता) है, न लिप्त होता है ॥१३॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद्, आकाशं न उपलिप्यते । सर्वत्र अवस्थितो देहे, तथाऽऽत्मा न उपलिप्यते १४

अर्थ—जैसे सब जगह स्थित आकाश सूक्ष्म (असंग) होनेसे नहीं लिप्त होता है। वैसे हर एक शरीरमें स्थित आत्मा सूक्ष्म होनेसे नहीं लिप्त होता है ॥ १४ ॥

यथा प्रकाशयति एकः, कृत्स्नं लोकम् इमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं, प्रकाशयति भारत! ॥१५॥

अर्थ—हे भारत ! जैसे अकेला सूर्य इस सब जगत् (हरएक वस्तु)को प्रकाशता है । वैसे अकेला क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र(हर-एक क्षेत्र) को प्रकाशता है ॥ १५ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः एवम्, अन्तरं ज्ञानचक्षुषा । भूतप्रकृतिमोक्षं च, ये विदुः यान्ति ते परम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इसप्रकार ज्ञानरूपी नेत्रसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जो जानते हैं और भूतोंकी प्रकृति(मूलप्रकृति)से छूटनेके उपायको जो जानते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥ (२।३४)

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें क्षेत्र क्षेत्रज्ञ (प्रकृति, पुरुष) विभागयोग नाम तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

श्रीभगवान् उवाच । श्रीभगवान्ने कहा ।

(१) परं भूयः प्रवक्ष्यामि, ज्ञानानां ज्ञानम् उत्तमम् । यद् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे, परां सिद्धिम् इतो गताः ॥१॥

अर्थ—फिर मैं तुझे सब ज्ञानोंमें श्रेष्ठ और ऊंचा ज्ञान कहताहूं । जिस(ज्ञान)को ज्ञानकर(प्राप्तकर) सब ऋषि यहांसे परम सिद्धि (मोक्ष)को प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य, मम साधर्म्यम् आगताः । सर्गेऽपि न उपजायन्ते, प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

अर्थ—इस ज्ञानको प्राप्त करके मेरी समानधर्मता(एकरूपता)को प्राप्त हुए(मेरा रूप हुए)सृष्टिकालमें भी नहीं उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें दुःखी होते (मरते) हैं ॥ २ ॥

मम योनिः महद् ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधामि अहम्। सम्भवः सर्वभूतानां, ततो भवति भारत!॥ ३॥

अर्थ—हे भारत! महद् ब्रह्म (महत्तत्त्व आदि कार्योंकी जननी होनेसे महत्, और मुझ ब्रह्मकी अपरा शक्ति होनेसे ब्रह्म) अर्थात् प्रकृति, मेरी योनि (सृष्टिसङ्कल्परूपी बीज डालनेकी जगह) है, उसमें मैं गर्भ (चराचर सृष्टिगर्भ)को धारण करता हूं। उससे सब भूतों चराचर भूतोंकी उत्पत्ति होती है॥ ३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय!, मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद् योनिः, अहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

अर्थ—हे कौन्तेय! मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं। उन सबकी जन्मदात्री मातास्थानी योनि महद् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति है और मैं बीजदाता पिता हूं॥ ४॥

सत्त्वं रजः तमः इति, गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। निबध्नन्ति महाबाहो!, देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

अर्थ—हे महाबाहु! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले (साम्यावस्थाको छोडकर विषमावस्थासे प्रकट होनेवाले) सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण शरीरमें अविनाशी आत्माको बांधते हैं॥ ५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्, प्रकाशकम् अनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति, ज्ञानसङ्गेन चानघ!॥ ६॥

अर्थ—उन (तीनों गुणों)मेंसे सत्त्वगुण स्वच्छ होनेसे प्रकाशक (प्रकाश करनेवाला) और अनामय (आरोग्यका देनेवाला) है। वह अनामय होनेसे सुखके संगसे और प्रकाशक होनेसे ज्ञानके संगसे हे निष्पाप! बांधता है॥ ६॥

रजो रागात्मकं विद्धि, तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तत् निबध्नाति कौन्तेय!, कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

अर्थ—रजोगुणको तू राग (इच्छा)-रूप जान, उससे तृष्णा और आसक्तिकी उत्पत्ति होती है। वह हे कौन्तेय! काम्य कर्मके संगसे आत्माको बांधता है॥ ७॥

तमस्तु अज्ञानजं विद्धि, मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिः, तत् निबध्नाति भारत!॥ ८॥

अर्थ—परन्तु तमोगुणको तू अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला और सब शरीरधारियोंको मोहमें डालनेवाला जान। वह हे भारत! प्रमाद (अवश्य कर्तव्यका न करना), आलस्य और निद्राके संगसे बांधता है॥ ८॥

सत्त्वं सुखे संजयति, रजः कर्मणि भारत!। ज्ञानम् आवृत्य तु तमः, प्रमादे संजयति उत॥ ९॥

अर्थ—हे भारत! सत्त्वगुण सुखमें, और रजोगुण कर्ममें लगाता है। परन्तु तमोगुण ज्ञानको ढांपकर प्रमादमें आलस्यमें और निद्रामें लगाता है॥ ९॥

रजस्तमश्च अभिभूय, सत्त्वं भवति भारत!। रजः सत्त्वं तमश्च एव, तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

अर्थ—हे भारत! रजोगुण तथा तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त होता है। और सत्त्वगुण तथा तमोगुणको दबाकर

रजोगुण और सत्त्वगुण तथा रजोगुणको दबाकर निश्चय तमोगुण वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्, प्रकाशः उपजायते । ज्ञानं यदा तदा विद्याद्, विवृद्धं सत्त्वम् इति उत ॥ ११ ॥

अर्थ—जब इस देहमें सब ज्ञानेन्द्रियरूपी द्वारोंमें ज्ञानरूपी प्रकाश उत्पन्न होता है, तब निश्चय सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त हुआ, यह जाने ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिः आरम्भः, कर्मणाम् अशमः स्पृहा । रजसि एतानि जायन्ते, विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥ १२ ॥

अर्थ—लोभ, प्रवृत्ति (कर्मोंमें लगे रहना), नये नये कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति और तृष्णा, ये सब रजोगुणके बढनेपर हे भरतश्रेष्ठ ! उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च, प्रमादो मोहः एव च । तमसि एतानि जायन्ते, विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥ १३ ॥

अर्थ—ज्ञानरूपी प्रकाशका अभाव तथा प्रवृत्तिका आभाव, प्रमाद और निश्चय अविवेक । ये सब तमोगुणके बढनेपर हे—कुरुनन्दन ! उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु, प्रलयं याति देहभृत् । तदा उत्तमविदां लोकान्, अमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—जब यह देहधारी सत्त्वगुण बढा हुआ होनेपर निश्चय मृत्युको प्राप्त होता है । तब सबसे ऊंचे परमात्माके जाननेवाले कर्मयोगियोंके निर्मल (मोह, प्रमाद, आलस्य आदि मलोंसेरहित) शरीरोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा, कर्मसङ्गिषु जायते । तथा प्रलीनः तमसि, मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

अर्थ—बढेहुए रजोगुणमें मृत्युको प्राप्त होकर काम्यकर्मके साथियोंमें उत्पन्न होता है। और तमोगुणमें मरा हुआ विवेकशून्य निकृष्ट मनुष्योंकी योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्य आहुः, सात्त्विकं निर्मलं फलम् । रजसस्तु फलं दुःखम्, अज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

अर्थ—सात्त्विक कर्मका फल निर्मल शान्त सुख कहते हैं । राजस कर्मका फल निश्चय दुःख और तामस कर्मका फल अज्ञान (मूढता) कहते हैं ॥ १६ ॥

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं, रजसो लोभः एव च । प्रमादमोहौ तमसो, भवतो अज्ञानम् एव च ॥ १७ ॥

अर्थ—सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निश्चय लोभ उत्पन्न होता है । प्रमाद, मोह और अज्ञान निश्चय तमोगुणसे उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्थाः, अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

अर्थ—सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं, रजोगुणमें स्थित मध्यमें रहते अर्थात् मध्यमगतिको प्राप्त होते हैं । और तमोगुणके स्वभावमें स्थित तामस मनुष्य नीचगतिको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

न अन्यं गुणेभ्यः कर्तारं, यदा द्रष्टा अनुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति, मद्भावं सो अधिगच्छति ॥ १९ ॥

अर्थ—जब विवेकी मनुष्य गुणोंसे भिन्न दूसरेको कर्ता नही देखता(गुणोंको ही कर्ता देखता) है। और आत्माको गुणोंसे परे जानता है, तब वह मद्रूपता (ब्रह्मरूपता)को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन्, देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैः, विमुक्तो अमृतम् अश्नुते ॥ २० ॥

अर्थ—वह देहका स्वामी देहकी उत्पत्तिके कारण इन तीनों गुणोंको उलांघकर जन्म, मरण, जरा और दुःखोंसे अत्यन्त छूटा हुआ मुझ अमृतको प्राप्त होता है २०

अर्जुनः उवाच। अर्जुनने कहा।

(२) कैः लिङ्गैः त्रीन् गुणान् एतान्, अतीतो भवति प्रभो!। किमाचारः कथं च एतान्, त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ॥ १ ॥

अर्थ—हे स्वामी ! इन तीनों गुणोंको उलांघा हुआ मनुष्य किन चिन्होंसे जाना जाता है। तथा किस आचारवाला होता है और कैसे इन तीनों गुणोंको उलांघता है

श्रीभगवान् उवाच। श्री भगवान्ने कहा।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च, मोहम् एव च पाण्डव!। न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि, न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २ ॥

अर्थ—हे पाण्डव ! गुणातीत मनुष्य प्रवृत्तहुए प्रकाश(सत्त्व गुणके कार्य प्रकाश) और प्रवृत्ति(रजोगुणके कार्य प्रवृत्ति), दोनोंसे और निश्चय मोह(तमोगुणके कार्य मोह)से नही द्वेष करता है और नही निवृत्तहुओंकी इच्छा करता है ॥ २ ॥

उदासीनवद् आसीनो, गुणैः यो न विचाल्यते। गुणाः वर्तन्ते इति एव, योऽवतिष्ठते न इङ्गते ॥ ३ ॥

अर्थ—पक्षपातशून्यकी नाई स्थित हुआ जो गुणोंसे नही हिलाया जाता है। गुण अपने कार्य्योंमें प्रवृत्त होते हैं, ऐसा निश्चय जानकर जो स्थिर रहता है, नही डोलता है

समदुःखसुखः स्वस्थः, समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरः, तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ४ ॥

अर्थ—तुल्य (एकसा) जिसको दुःख और सुख है, अपने आपमें स्थित है, एकसा जिसको ढेला, पत्थर और सोना है। तुल्य जिसको प्रिय और अप्रिय वस्तु है, धैर्यवाला है, तुल्य जिसको अपनी निन्दा और स्तुति है ॥ ४ ॥

मानापमानयोः तुल्यः, तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी, गुणातीतः स उच्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—मान और अपमानमें जो तुल्य है, मित्रपक्ष और शत्रुपक्षमें जो एकसा है, सब काम्यकर्मोंको त्यागा हुआ है, वह(ऐसे आचरणवाला) गुणातीत कहा जाता है ॥ ५ ॥

मां च यो अव्यभिचारेण, भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्य एतान्, ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो मुझे न बदलनेवाले भक्तियोगसे भजता है। वह इन गुणोंको उलांघकर ब्रह्मरूप होनेकेलिये समर्थ होता है॥६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्, अमृतस्य अव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्य ऐकान्तिकस्य च ॥ ७ ॥

अर्थ—क्योंकि कभी न मरनेवाले और कभी न खुटने(खतम होने) वाले ब्रह्मकी और उसकी प्राप्तिके साधन सनातन धर्मकी और उसके फल सदा एकरस रहनेवाले सुखकी परा काष्ठा(परली हद) मैं हूं ॥७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ (२२७)

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें गुणत्रयविभागयोग नाम चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

(१) ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम्, अश्वत्थं प्राहुः अव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित्

अर्थ—अनेकविध कर्मके प्रतिपादक वेदवाक्य जिसके पत्ते हैं, ऊपर(ब्रह्म) जिसका मूल (जड) और नीचे जिसकी शाखा हैं, ऐसे इस संसाररूपी पीपलको तत्त्ववेत्ता अव्यय(न खतम होनेवाला) कहते हैं, जो उसको जानता है, वह वेदका जाननेवाला है ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः, गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः । अधश्च मूलानि अनुसन्ततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अर्थ—उस(संसाररूपी पीपलके वृक्ष)की उपशाखायें नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, जो सत्त्वादि गुणोंसे पुष्ट की हुई और शब्दादि विषयरूपी कोपलोंवाली हैं । उसके उपमूल (छोटी जडें) निश्चय नीचे फैले हुए हैं, जो इस मनुष्यलोकमें जीवोंके कर्मोंसे बंधे हुए हैं ॥ २ ॥

न रूपम् अस्य इह तथोपलभ्यते, न अन्तो न च आदिः, न च सम्प्रतिष्ठा । अश्वत्थम् एनं सुविरूढमूलम्, असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं, यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः । तम् एव च आद्यं पुरुषं प्रपद्ये*, यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

---

*प्रपद्येत, आर्षः पुरुषव्यत्ययः ।

अर्थ—यहां इस(संसाररूपी वृक्ष)का वैसा(जैसा ऊपर कहा है, वैसा) स्वरूप नहीं जाना जाता है और न इसका अन्त, न आदि और न स्थिति जानी जाती है । इस अत्यन्त जमेहुए उपमूलोंवाले संसाररूपी पीपलके वृक्षको बडे तीखे आसक्तिके अभावरूपी कुल्हाडेसे काटकर । उसके पीछे वह स्थान ढूंढने योग्य (प्राप्तकरने योग्य) है, जिसमें पहुंचे हुए फिर नहीं लौटते हैं । उसकी प्राप्तिकेलिये मनुष्य निश्चय उस ही मूल पुरुषको प्राप्त होवे(शरण बनाये), जिससे यह अनादि संसारवृक्षका फैलाव फैला है ॥ ४ ॥

निर्मानमोहाः जितसङ्गदोषाः, अध्यात्मनित्याः विनिवृत्तकामाः । द्वन्द्वैः विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः, गच्छन्ति अमूढाः पदम् अव्ययं तत् ॥५॥

अर्थ—मान(अभिमान) और मोहको छोडे हुए, आसक्तिरूपी दोषको जीतेहुए, आत्मामें सदा स्थितिवाले, निवृत्त हुई कामनाओंवाले । सुख दुःखनामी द्वन्द्वोंसे छूटे हुए विद्वान(शरणागत विवेकी पुरुष) उस अक्षय स्थानको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद् भासयते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः । यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद् धाम परमं मम ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस(पद)को प्राप्त होकर वे फिर नहीं लौटते हैं, उसको न सूर्य्य प्रकाशता है, न चन्द्रमा और न अग्नि, वही मेरा सबसे ऊंचा स्थान है ॥ ६ ॥

(२) मम एव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि, प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१॥

अर्थ—मेरा ही सनातन अंश शरीरमें जीव रूपसे वर्तमान हुआ अपने स्वभावमें स्थित छीवें मनकेसहित पांचो ज्ञानेन्द्रियोंको भोगकेलिये विषयोंमें खींचता है ॥१॥

शरीरं यद् अवाप्नोति, यत् च अपि उत्क्रामति ईश्वरः । गृहीत्वा एतानि संयाति, वायुः गन्धान् इव आशयात् ॥ २ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियोंका स्वामी जिस शरीरको प्राप्त होता अर्थात् जिस शरीरमें जाता है और जिस शरीरसे निश्चय निकलता है । वहांसे इनको साथ लेकर जाता है, जैसे वायु, गन्धोंके स्थानसे गन्धोंको साथ लेकर जाता है ॥ २ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च, रसनं घ्राणम् एव च । अधिष्ठाय मनश्च अयं विषयान् उपसेवते ॥ ३ ॥

अर्थ—यह (जीवात्मा) कान, नेत्र और त्वचा, रसना और निश्चय नासा और मन, इनका अधिष्ठाता(नियन्ता)होकर विषयोंको भोगता है ॥ ३ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि, भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढाः नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥४॥

अर्थ—शरीरसे निश्चय निकलते हुए, अथवा शरीरमें स्थितहुए, अथवा विषयोंको भोगते हुए, इन्द्रियोंसे युक्त इस मेरे अंश आत्माको ज्ञानके नेत्रोंवाले देखते हैं, अज्ञानी नहीं देखते हैं ॥ ४ ॥

यतन्तो योगिनश्च एनं पश्यन्ति,

आत्मनि अवस्थितम् । यतन्तोऽपि अकृतात्मानो न एनं पश्यन्ति अचेतसः ॥ ४ ॥

अर्थ—निःसन्देह यत्न करतेहुए शुद्ध मनवाले कर्मयोगी शरीरमें स्थित इस आत्माको देखते हैं । और यत्न करतेहुए भी अशुद्धमनवाले, न कर्मोंमें कर्तव्य बुद्धिवाले अविवेकी इसको नहीं देखते हैं ॥ ५ ॥

यदादित्यगतं तेजो, जगद् भासयतेऽखिलम् । यत् चन्द्रमसि यत् चाग्नौ, तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! शरीरमें स्थित आत्माकी नाईं सूर्यमें स्थित जो तेज सब जगत्को प्रकाशता है । जो चन्द्रमामें और जो अग्निमें तेज है, उस तेजको तू मेरा जान ६

गाम् आविश्य च भूतानि, धारयामि अहम् ओजसा । पुष्णामि च ओषधीः सर्वाः, सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ ७ ॥

अर्थ—मैं ही पृथिवीमें प्रवेश करके (प्रविष्ट हुआ) निश्चय बलसे सबभूतोंको धारण करता हूं । और रसमय (जलप्रधान) चन्द्रमा होकर सब ओषधियों(अन्नों और वनस्पतियों)को पुष्ट करता हूं ॥ ७ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा, प्राणिनां देहम् आश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः, पचामि अन्नं चतुर्विधम् ॥ ८ ॥

अर्थ—मैं वैश्वानर(जाठर अग्नि) होकर प्राणियोंके शरीरमें स्थित हुआ । प्राण, अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके* अन्नको पकाता हूं ॥ ८ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । वेदैश्च सर्वैः अहम् एव वेद्यो, वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम् ॥ ९ ॥

अर्थ—मैं निश्चय सबके हृदयमें स्थित हूं, मुझसे ही स्मृति और ज्ञान तथा उनका नाश होता हैं । निःसन्देह सब वेदोंसे मैं ही जानने योग्य हूं, मैं ही वेदका जाननेवाला और वेदसिद्धान्तका फैलानेवाला हूं ॥ ९ ॥

द्वौ इमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्च अक्षरः एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थो अक्षरः उच्यते ॥ १० ॥

अर्थ—लोकमें यह दो पुरुष(पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये होनेसे पुरुष) जानने योग्य हैं, एक क्षर और दूसरा निश्चय अक्षर । सब भूत(उत्पन्न और नष्ट होनेवाले सब पदार्थ) क्षर और उनमें कारण रूपसे अचलकी नाईं स्थित प्रकृति अक्षर कहा जाता है ॥ १० ॥

उत्तमः पुरुषस्तु अन्यः, परमात्मा इति उदाहृतः । यो लोकत्रयम् आविश्य, बिभर्ति अव्ययः ईश्वरः ११

अर्थ—परन्तु उत्तम पुरुष, इन दोनोंसे भिन्न है जो परमात्मा, ऐसा कहा गया है । और जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रवेशकरके उनका धारण तथा पोषण करता है

यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम्, अक्षरादपि च उत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च, प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसलिये मैं क्षरको उलांघा-

*भक्ष्य=रोटी आदि१ भोज्य=दूध आदि२ लेह्य=चटनी आदि ३ चोष्य=गन्ना आदि ४ ।

हुआ और अक्षरसे भी उत्तम हूं। इसलिये लोक और वेदमें पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूं

यो माम् एवम् असंमूढो, जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद् भजति मां, सर्वभावेन भारत! ॥ १३ ॥

अर्थ—हे भारत! जो विवेकी इसप्रकार मुझ पुरुषोत्तमको जानता है। वह सबका जाननेवाला सर्वरूपसे मुझे भजता है १३

इति गुह्यतमं शास्त्रम्, इदम् उक्तं मयाऽनघ! । एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च भारत! ॥ १४ ॥

अर्थ—हे निष्पाप! इसप्रकार जो यह गुह्यसे गुह्य शास्त्रका सार मैंने कहा है। इसको जानकर मनुष्य हे भारत! ज्ञानवान् और कृतकृत्य होता है ॥ १४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ (२।२०)

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें पुरुषोत्तमयोग नाम पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः।

श्री भगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

(१) अभयं सत्त्वसंशुद्धिः, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायः तपः आर्जवम् ॥ १ ॥

अर्थ—भयका अभाव (निर्भयता) मनकी शुद्धि, ज्ञानयोगमें दृढस्थिति। दान और इन्द्रियोंका दमन, यज्ञ और स्वाध्याय, तप और सरलता ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यम् अक्रोधः, त्यागः शान्तिः अपैशुनम्। दया भूतेषु अलोलुप्त्वं, मार्दवं ह्रीः अचापलम् ॥२॥

अर्थ—अहिंसा, सत्य, क्रोधका अभाव, त्याग, शान्ति, चुगलीका अभाव। प्राणियोंपर दया, लालचका अभाव, नरमी, लज्जा, चञ्चलताका अभाव ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचम्, अद्रोहो न अतिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीम्, अभिजातस्य भारत! ॥३॥

अर्थ—प्रगलभता(रुअब दाब), क्षमा, धैर्य, शौच, द्रोह(दगा)का अभाव, न अतिमानी होना। ये सब हे भारत! दैवी

सम्पत्ति(सम्पदा)के साथ उत्पन्न हुए पुरुषके होते हैं ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यम् एव च । अज्ञानं च अभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अर्थ—दम्भ(ढोंग) दर्प(धन, जन, विद्या आदिका गर्व) अभिमान और क्रोध और निश्चय कठोरता और अज्ञान, ये सब हे पार्थ ! आसुरी सम्पत्तिके साथ उत्पन्न-हुए पुरुषके होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद् विमोक्षाय, निबन्धाय आसुरी मता । मा शुचः सम्पदं दैवीम् , अभिजातो असि पाण्डव!

अर्थ—दैवी सम्पदा मोक्षके लिये और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिये मानी गई है । हे पाण्डव ! न शोक कर, तू दैवी सम्पदाके साथ उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् , दैवः आसुरः एव च । दैवो विस्तरशः प्रोक्तः, आसुरं पार्थ ! मे शृणु ॥ ६ ॥

अर्थ—इस लोकमें प्राणियोंकी सृष्टि दोप्रकारकी है– दैवी और निश्चय आसुरी । दैवी विस्तारसे कही गई है, अब आसुरीको हे पार्थ ! मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, जनाः न विदुः आसुराः । न शौचं न अपि च आचारः, न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना), दोनोंको नही जानते हैं । उनमें न पवित्रता, न निश्चय आचार और न सत्य होता है ॥ ७ ॥

असत्यम् अप्रतिष्ठं ते, जगद् आहुः अनीश्वरम् । अपरस्परसम्भूतं, किम् अन्यत् कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—वे जगत्को विनश्वर, निराधार और ईश्वरसे रहित कहते हैं । और क्या, वे जगत्को एक दूसरके संयोगसे (स्त्रीपुरुषके सम्बन्धसे) उत्पन्न हुआ केवल कामकारणवाला कहते हैं ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य नष्टात्मानो अल्पबुद्धयः । प्रभवन्ति उग्रकर्माणः, क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

अर्थ—इस दृष्टि (ख्याल)को थामकर (इस दृष्टिका सहारा लेकर) वे नष्टहुए मनवाले, थोडी समझवाले, भयङ्कर कर्मोंवाले, लोकहितसे रहित, जगत्(प्राणीमात्र)के नाशकेलिये उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

कामम् आश्रित्य दुष्पूरं, दम्भमानमदान्विताः । मोहाद् गृहीत्वा असद्ग्राहान् , प्रवर्तन्ते अशुचिव्रताः १०

अर्थ—वे न कभी पूरा होनेवाली इच्छाको आश्रयण करके, दम्भ, मान और मदसे युक्त हुए । अविवेकसे झूटे निश्चयोंको पकडकर अपवित्र व्रतोंवालेहुए कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

चिन्ताम् अपरिमेयां च, प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः । कामोपभोगपरमाः, एतावद् इति निश्चिताः ॥ ११ ॥

आशापाशशतैः बद्धाः, कामक्रोधपरायणाः । ईहन्ते कामभोगार्थम् , अन्यायेन अर्थसंचयान् ॥ १२ ॥

अर्थ—प्रलयमें समाप्त होनेवाली निश्चय सीमासेरहित चिन्तामें लगेहुए, विषयोंके

भोगको सबसे ऊंचा समझे हुए, बस इतना ही सार है, इस निश्चयवाले । आशारूपी सैंकडे फांसोंसे बंधेहुए, काम और क्रोधमें तत्परहुए, वे विषयोंके भोगकेलिये अन्यायसे पदार्थोंके संचयोंको चाहते हैं ॥ १२ ॥

इदम् अद्य मया लब्धम्, इमं प्राप्स्ये मनोरथम् । इदम् अस्ति, इदम् अपि मे, भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

अर्थ—यह (वस्तु) आज मैंने प्राप्त किया है, इस मनोरथको कल प्राप्त करूंगा। यह (धन) मेरा है और यह भी धन मेरा फिर होगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुः, हनिष्ये च अपरान् अपि। ईश्वरोऽहम् अहं भोगी, सिद्धोऽहं बलवान् सुखी

अर्थ—वह शत्रु मुझसे मारा गया है, दूसरोंको भी मैं निश्चय मारूंगा । मैं ईश्वर हूं, मैं भोगोंवाला हूं, मैं सहायकोंवाला हूं, बलवाला हूं और सुखी हूं ॥

आढ्यो अभिजनवान् अस्मि, को अन्योऽस्ति सदृशो मया । यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये, इति अज्ञानविमोहिताः ॥१५॥ अनेकचित्तविभ्रान्ताः, मोहजालसमावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु, पतन्ति नरकेऽशुचौ १६

अर्थ—मैं धनाढ्य (अमीर) हूं, कुलवाला (कुलीन) हूं, कौन दूसरा मेरे बराबर है । मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, आनन्दित हूंगा, इसप्रकार अज्ञानसे विवेकशून्य हुए । अनेक प्रकारके सङ्कल्पोंसे विक्षिप्त हुए (घबराये हुए) मोहजालसे घिरे हुए, विषयोंके भोगोंमें फंसेहुए वे अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धाः, धनमानमदान्विताः। यजन्ते नामयज्ञैः ते, दम्भेन अविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अर्थ—अपनेको बडा माने हुए, अनम्र, धनके अहङ्कार और मदसे युक्त हुए वे विना शास्त्रविधिके केवल दम्भसे नाममात्रके यज्ञोंको करते हैं ॥ १७ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं, कामं क्रोधं च संश्रिताः । माम् आत्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तो अभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अर्थ—वे अहङ्कार, बल, गर्व, काम और क्रोधको आश्रयण कियेहुए अपने और दूसरोंके शरीरोंमें वर्तमान मुझ ईश्वरसे द्वेष करते हुए भारी निन्दक होते हैं ॥ १८ ॥

तान् अहं द्विषतः क्रूरान्, संसारेषु नराधमान् । क्षिपामि अजस्रम् अशुभान्, आसुरीषु एव योनिषु ॥१९॥

अर्थ—मैं उन द्वेषकरनेवाले, अत्यन्त हिंसकों, पापियों और मनुष्योंमें नीचोंको लगातार जन्ममरणरूपी संसारोंमें निश्चय आसुरी योनियोंमें डालता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिम् आपन्नाः, मूढाः जन्मनि जन्मनि । माम् अप्राप्य एव कौन्तेय !, ततो यान्ति अधमां गतिम् ॥ २० ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! आसुरी योनिको प्राप्त हुए वे मूर्ख जन्म जन्ममें निश्चय मुझे न प्राप्त होकर उससे भी नीच गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

(२) त्रिविधं नरकस्य इदं, द्वारं नाशनम् आत्मनः । कामः क्रोधः तथा लोभः, तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत् १

अर्थ—हे अर्जुन ! काम, क्रोध और लोभ, यह तीनप्रकारका नरकका द्वार आत्माके नाशका कारण है । इसलिये मनुष्य इन तीनोंको त्यागे ॥ १ ॥

एतैः विमुक्तः कौन्तेय !, तमोद्वारैः त्रिभिः नरः । आचरति आत्मनः श्रेयः, ततो याति परां गतिम् ॥२॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! इन तीनों अन्धकार(नरक)के द्वारोंसे छूटा हुआ मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है और उससे परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य, वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिम् अवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य शास्त्रकी विधि(आज्ञा)को छोडकर अपनी इच्छासे कर्मोंमें प्रवृत्त होता है । वह न सिद्धि(वाञ्छित फलकी प्राप्ति)को प्राप्त होताहै, न सुखको और न परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं, कर्म कर्तुम् इह अर्हसि ॥ ४ ॥

अर्थ—इसलिये करनेयोग्य और न करनेयोग्य कर्मोंकी व्यवस्था (निर्णय)केलिये तुझे शास्त्र प्रमाण है । और तू यहां शास्त्रके विधिवाक्यसे कहा हुआ जानकर प्रत्येक कर्म करनेके योग्य है ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें दैवासुरसम्पद्विभागयोग नाम सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥ (२।२४)

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

(१) ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य, यजन्ते श्रद्धया अन्विताः । तेषां निष्ठा तु का कृष्ण !, सत्त्वम् आहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! जो शास्त्रकी विधिको

छोड़कर श्रद्धासे युक्तहुए यज्ञ आदि कर्म करते हैं। उनकी निष्ठा(मनकी स्थिति) निश्चय क्या है—सत्त्वप्रधान(सात्त्विकी) है, रजःप्रधान(राजसी) है, अथवा तमः-प्रधान(तामसी) है ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

त्रिविधा भवति श्रद्धा, देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी च एव, तामसी च इति तां शृणु ॥२॥

अर्थ—मनुष्योंकी श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी और निश्चय तामसी, इस भेदसे तीनप्रकारकी होती है और वह प्रकृति-जन्य है, उसको तू सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य, श्रद्धा भवति भारत!। श्रद्धामयो अयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे भारत! प्रकृतिके सत्त्व आदि गुणोंके अनुसार सबकी श्रद्धा होती है। और यह पुरुष श्रद्धारूप(श्रद्धाका पुतला) है, इसलिये जो जिस श्रद्धावाला है, वह निश्चय वह (सात्त्विकी श्रद्धावाला सात्त्विक, राजसी श्रद्धावाला राजस और तामसी श्रद्धावाला तामस) है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विकाः देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान् भूतगणांश्च अन्ये, यजन्ते तामसाः जनाः ॥४॥

अर्थ—सात्त्विक(सात्त्विकी श्रद्धावाले) मनुष्य देवताओंको पूजते हैं, राजस यक्षों और राक्षसोंको और दूसरे तामस मनुष्य प्रेतों और भूतोंके समूहोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं, तप्यन्ते ये तपो जनाः। दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः, कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं, भूतग्रामम् अचेतसः। मां च एव अन्तःशरीरस्थं, तान् विद्धि आसुरनिश्चयान् ॥६॥

अर्थ—दम्भ और अहंकारसे युक्त हुए, विषयोंमें राग(आसक्ति)के बलसे भरेहुए, जो अविवेकी मनुष्य शरीरमें स्थित पृथिवी आदिभूतोंके समूहको और निश्चय भीतर शरीरमें स्थित मुझ आत्माको कृष(दुर्बल) करतेहुए न शास्त्रसे आज्ञा कियेहुए घोर (भयङ्कर) तपको तपते हैं, उनको तू असुरोंके निश्चयवाला जान ॥ ६ ॥

आहारस्तु अपि सर्वस्य, त्रिविधो भवति प्रियः। यज्ञः तपस्तथा दानं, तेषां भेदम् इमं शृणु ॥ ७ ॥

अर्थ—और आहार(खुराक) भी सबको तीनप्रकारका प्यारा होता है। यज्ञ, तप और दान भी तीनप्रकारका होता है, उनके इस भेदको सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः, आहाराः सात्त्विकप्रियाः ८

अर्थ—आयु, बुद्धि, बल, अरोगता, हर्ष(खुशी) और प्रीति(रुचि)के बढानेवाले, स्वादु, चिकने, स्थायी फलवाले (पुष्टिकारक) हृदयंगम(मनोरम) आहार, सात्त्विक मनुष्योंको प्यारे होते हैं ॥ ८ ॥

कटु+अम्ल-लवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहाराः राजसस्य इष्टाः, दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अर्थ—कडवे, खट्टे, खारे(नमकीन),

अतिगरम, तीखे, रूखे और दाहक आहार जो दुःख, शोक और रोगोंके देनेवाले हैं, राजस मनुष्योंको प्यारे होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टम् अपि चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अर्थ—जो बीतेहुए पहर, अर्धपहरवाला (देरका बना हुआ), दूरहुए स्वादवाला, दुर्गन्धवाला और बासी है । जो जूठा और निश्चय अपवित्र है, वह आहार तामस मनुष्योंको प्यारा होता है ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिः यज्ञो, विधिदृष्टो यः इज्यते । यष्टव्यम् एव इति मनः, समाधाय सः सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो यज्ञ शास्त्रविधिसे जाना हुआ है और निश्चय यज्ञ करना चाहिये, ईसप्रकार मनको एकाग्र करके न फलकी आकांक्षावाले पुरुषोंसे किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं, दम्भार्थम् अपि च एव यत् । इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

अर्थ—परन्तु जो फलको लक्ष्य करके और जो निश्चय दम्भ (ढोंग)के लिये भी किया जाता है, हे भरतोंमें श्रेष्ठ ! उसको तू राजस यज्ञ जान ॥ १२ ॥

विधिहीनम् असृष्टान्नं, मन्त्रहीनम् अदक्षिणम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

अर्थ—शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे हीन, मन्त्रसे हीन, दक्षिणासे रहित और श्रद्धासे रहित यज्ञको तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचम् आर्जवम् । ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च, शारीरं तपः उच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—देवता (माता, पिता), वेदवेत्ता (ब्राह्मण), गुरु और ज्ञानियोंका पूजन; पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा; शरीरका तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं च एव, वाङ्मयं तपः उच्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जो वचन (बोलना) उद्वेग (अशान्ति) उत्पन्न करनेवाला (बुरा लगनेवाला) नहीं और जो सत्य, प्रिय और हितकर है। और जो निश्चय स्वाध्यायका अभ्यास है, वह वाणीका तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौनम् आत्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिः इति एतत्, तपो मानसम् उच्यते ॥१६॥

अर्थ—मनकी प्रसन्नता (निर्मलता), सौम्यता (नरम दिली), मनन (सूक्ष्म तत्त्वों का समझना), मनोनिग्रह (मनका रोकना), भावना (नीयत)की शुद्धि, बस यह मनका तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं, तपः तत् त्रिविधं नरैः । अफलाकांक्षिभिः युक्तैः, सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

अर्थ—परम श्रद्धाके साथ फलकी कामनासेरहित, कर्मयोगसे युक्त मनुष्योंसे कियेहुए उस तीनप्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं, तपो दम्भेन

च एव यत् । क्रियते तद् इह प्रोक्तं, राजसं चलम् अध्रुवम् ॥ १८ ॥

अर्थ—और जो तप निश्चय दम्भसे सत्कार(आदर) मान(प्रशंसा) और पूजाकेलिये किया जाता है, वह चञ्चल, न टिकनेवाला तप यहां राजस कहा गया है ॥१८॥

मूढग्राहेण आत्मनो यत्, पीडया क्रियते तपः । परस्य उत्सादनार्थं वा, तत् तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अर्थ—मूढताके आग्रह(दुराग्रह)से अपने आपको दुःखी करके जो तप किया जाता है । अथवा दूसरेके उखाडने(सताने) के लिये किया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

दातव्यम् इति यद् दानं, दीयतेऽनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च, तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

अर्थ—'देना चाहिये, इस बुद्धिसे जो दान न बदला देनेवालेको दिया जाता है । और देश, काल तथा पात्रमें (देश, काल और पात्रके विचारसे) दिया जाता है, वह दान सात्त्विक माना गया है ॥ २० ॥

यत् तु प्रत्युपकारार्थं, फलम् उद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्लिष्टं, तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

अर्थ—और जो प्रत्युपकार(बदलेमें लाभ उठाने)के लिये, अथवा जो फिर फलको लक्ष्य करके दिया जाता है । और क्लेशपूर्वक(तंग होकर) दिया जाता है, वह दान राजस माना गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद् दानम्, अपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतम् अवज्ञातं, तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अर्थ—जो दान विना देश और कालका विचार किये दिया जाता है और अपात्रोंको दिया जाता है । विना सत्कार किये और अवज्ञा(अनादर) पूर्वक दिया जाता है, वह तामस माना गया है ॥ २२ ॥

(२) ओं तत् सद् इति निर्देशो, ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः । ब्राह्मणाः तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः पुरा

अर्थ—ओं, तत् और सत्, यह तीन प्रकारका परमात्माका नाम माना गया है । जिस उस(परमात्मा)ने आरम्भमें शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण, तथा वेद और यज्ञ बनाये हैं ॥ १ ॥

तस्माद् ओम् इति उदाहृत्य, यज्ञदानतपःक्रियाः । प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः, सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२॥

अर्थ—इसीलिये परमात्माके माननेवालोंके वेदोक्त यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म सदा 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके ही प्रवृत्त होते (किये जाते) हैं ॥ २ ॥

तद् इति अनभिसन्धाय, फलं यज्ञतपःक्रियाः । दानक्रियाश्च विविधाः, क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥३॥

अर्थ—'तत्' यह कहकर मोक्षकी इच्छावाले, फलको न लक्ष्य करके, अनेक प्रकारकी यज्ञ और तपरूपी क्रियायें (कर्म) तथा दानरूपी क्रियायें करते हैं ॥ ३ ॥

सद्भावे साधुभावे च, सद् इति एतत् प्रयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते ॥४॥

अर्थ—सत्ता अर्थमें और साधुता(भलाई) अर्थमें 'सत्, बस यह प्रयोग (उच्चारण) किया जाता है। और अच्छे कर्ममें हे पार्थ! 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है ४

यज्ञे तपसि दाने च, स्थितिः सद् इति च उच्यते। कर्म च एव तदर्थीयं, सद् इति एवाभिधीयते ॥ ५ ॥

अर्थ—यज्ञ, तप और दानमें मनकी स्थिरता निश्चय 'सत्, ऐसे कही जाती है। और उनकी सिद्धिकेलिये जो निश्चय धनोपार्जन आदि कर्म किया जाता है, वह भी निश्चय 'सत्, ऐसे कहा जाता है ॥ ५ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपस्तप्तं कृतं च यत्। असद् इति उच्यते पार्थ!, न च तत् प्रेत्य नो इह ॥ ६ ॥

अर्थ—अश्रद्धासे होमा हुआ, दिया हुआ, तप तपा हुआ और जो किया हुआ कर्म है। हे पार्थ! वह असत्, ऐसे कहा जाता है, वह न मरकर(मरनेके पीछे) फलीभूत होता है और नही यहां होता है

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें श्रद्धात्रयविभाग योग नाम सत्तरहवां अध्याय समाप्त हुआ॥(२१२८)

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः।

अर्जुनः उवाच। अर्जुनने कहा।

(१) संन्यासस्य महाबाहो! तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम्। त्यागस्य च हृषीकेश!, पृथक् केशिनिषूदन! ॥ १ ॥

अर्थ—हे महाबाहु! मैं संन्यासका और हे हृषीकेश! हे केशिहन्ता! मैं त्यागका वास्तवरूप अलग अलग जानना चाहता हूं १

श्रीभगवान् उवाच। श्रीभगवान्ने कहा।

काम्यानां कर्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं, प्राहुः त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

अर्थ—काम्य कर्मोंके संन्यास (छोडने) को दूरदर्शी संन्यास जानते (समझते) हैं। और सब कर्मोंके फलके त्यागको विवेकके नेत्रोंवाले त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवद् इति एके, कर्म प्राहुः मनीषिणः। यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यम् इति चापरे ॥ ३ ॥

अर्थ—हिंसा आदि दोषवाला होनेसे सब कर्म त्यागने योग्य है, यह कई एक बुद्धिमान् कहते हैं। यज्ञ, दान तथा तपरूपी कर्म त्यागने योग्य नही, यह निश्चय दूसरे कहते हैं॥३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र, त्यागे भरतसत्तम! । त्यागो हि पुरुषव्याघ्र! त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे भरतोंमें श्रेष्ठ! उस त्यागमें मेरे निश्चयको सुन। क्योंकि हे मनुष्योंमें बाघ! त्याग तीनप्रकारका कहा गया है ४

यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्च एव, पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्यागने योग्य नहीं, वह निःसन्देह करनेयोग्य है। क्योंकि यज्ञ, दान और तप, बुद्धिमानोंके मनको निश्चय पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

एतानि अपि तु कर्माणि, संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानि इति मे पार्थ!, निश्चितं मतमुत्तमम् ६॥

अर्थ—परन्तु हे पार्थ! ये सब कर्म भी आसक्ति और फलोंको त्यागकर करने योग्य हैं, यह मेरा निश्चित उत्तम मत है ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः, कर्मणो न उपपद्यते। मोहात् तस्य परित्यागः, तामसः परिकीर्तितः॥ ७ ॥

अर्थ—जो निश्चय अवश्यकर्तव्य कर्म है, उसका त्याग कदापि नहीं युक्त है। और अविवेक(बेसमझी)से किया हुआ उसका त्याग तामस कहा गया है ॥ ७ ॥

दुःखम् इति एव यत् कर्म, कायक्लेशभयात् त्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं, न एव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

अर्थ—जो मनुष्य दुःख है, यह समझकर ही शरीरके क्लेशके भयसे कर्मको त्याग देता है। वह राजस त्यागको करके त्यागके फलको निश्चय नहीं लभता है ॥ ८ ॥

कार्यम् इति एव यत् कर्म, नियतं क्रियते अर्जुन!। सङ्गं त्यक्त्वा फलं च एव, स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

अर्थ—हे अर्जुन! करने योग्य है, इस बुद्धिसे निश्चय जो अवश्य कर्तव्य कर्म, आसक्ति और निश्चय फलको त्यागकर किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक माना गया है ॥ ९ ॥

न द्वेष्टि अकुशलं कर्म, कुशले न अनुषज्जते। त्यागी सत्त्वसमाविष्टो, मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

अर्थ—कटे हुए सब संशयोंवाला, सत्त्वगुणसे व्याप्त(सात्त्विक), आसक्ति और फलका त्यागी बुद्धिमान् न दुःखदायी कर्मसे द्वेष करता है, न सुखदायी कर्ममें अनुषक्त (प्रीतिवाला) होता है ॥ १० ॥

नहि देहभृता शक्यं, त्यक्तुं कर्माणि अशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी, स त्यागी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

अर्थ—कोई देहधारी सब कर्मोंको नहीं त्याग सकता है। इसलिये जो कर्मोंके फलका त्यागी है, वही त्यागी, ऐसे कहा जाता है

अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च, त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवति अत्यागिनां प्रेत्य, न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अर्थ—दुःख, सुख और मिश्रित (सुख दुःख मिला हुआ) यह तीनप्रकारका कर्मका फल है। वह, जो नहीं त्यागी हैं, उनको मरकर होता है और त्यागियोंको कहीं भी (यहां वा मरकर) नहीं होता है १२

पञ्च एतानि महाबाहो !, कारणानि निबोध मे । सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि, सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अर्थ—हे महाबाहु ! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये सांख्य सिद्धांतमें ये पांच कारण कहे हैं, उनको मुझसे जान (समझ) १३

अधिष्ठानं तथा कर्ता, करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक् चेष्टाः, दैवं च एव अत्र पञ्चमम् ॥१४॥

अर्थ—स्थान(शरीर) तथा कर्ता (आत्मा) और अनेक प्रकारका साधन (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि) और अनेक प्रकारकी अलग अलग कर्ताकी क्रियायें (व्यापार) और इसमें पांचवां निश्चय दैव(दैवी शक्ति) कारण है ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिः यत्, कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा, पञ्च एते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

अर्थ—मनुष्य शरीर, बाणी और मनसे, चाहे उचित, चाहे अनुचित, जो कर्म करता है, उसके कारण ये पांच होते हैं ॥१५॥

तत्र एवं सति कर्तारम्, आत्मानं केवलं तु यः । पश्यति अकृतबुद्धित्वात्, न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अर्थ—इसप्रकार प्रत्येक कर्ममें उन पांचों कारणोंके होनेपर जो अकेले आत्माको ही करनेवाला (कारण) देखता है, वह मन्दमति असंस्कृत(अस्वच्छ) बुद्धि होनेसे नहीं ठीक देखता है ॥ १६ ॥

यस्य न अहङ्कृतो भावो, बुद्धिः यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमान् लोकान्, न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अर्थ—मैंने किया, ऐसा सङ्कल्प (ख्याल) जिसके नहीं है और जिसकी बुद्धि(मन) मेरा कर्म, इसप्रकार कर्ममें नहीं लिप्त(आसक्त) होती है । वह इन सब लोगोंको मारकर भी नहीं मारता है और न बांधा जाता है ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता, त्रिविधा कर्मचोदना । करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ—ज्ञान (जानना), ज्ञेय (जाननेकी वस्तु) और ज्ञाता (जाननेवाला), यह तीन प्रकारकी कर्मकी प्रेरणा (कर्ममें प्रवृत्तिका हेतु) है । करण(कर्मका साधन) कर्म और कर्ता (कर्म करनेवाला), यह तीन प्रकारका कर्मसङ्ग्रह (क्रियाका साधक) है १८

ज्ञानं कर्म च कर्ता च, त्रिधा एव गुणभेदतः । प्रोच्यते गुणसंख्याने, यथावत् शृणु तानि अपि ॥ १९ ॥

अर्थ—ज्ञान तथा कर्म और कर्ता, सत्त्व आदि गुणोंके भेदसे, गुणोंके कहनेवाले सांख्य शास्त्रमें निश्चय तीनप्रकारके कहे जाते हैं, उनको भी जैसे हैं वैसे सुन १९

सर्वभूतेषु येन एकं, भावम् अव्ययम् ईक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु, तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

अर्थ—जिस ज्ञानसे 'मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भेदसे भिन्न भिन्न सब प्राणियोंमें, अभिन्न एक अविनाशी तत्त्व(हस्ती)को देखता है, उस ज्ञानको तू सात्विक जान २०

पृथक्त्वेन तु यद् ज्ञानं, नानाभावान् पृथग्विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु, तद् ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

अर्थ—और जिस ज्ञानसे, अलग अलग रूपसे स्थित सब प्राणियोंमें अलग अलग धर्मोंसे युक्त अनेक आत्माओंको जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान॥ २१ ॥

यत् तु कृत्स्नवद् एकस्मिन्, कार्ये सक्तम् अहैतुकम्। अतत्त्वार्थवद् अल्पं च, तत् तामसमुदाहृतम् २२

अर्थ—परन्तु जो ज्ञान एक कार्य वस्तु (शरीर अथवा किसी दूसरे पदार्थ)में परिपूर्णकी नाई बंधा हुआ(बस इतना ही है आत्मा, अथवा परमात्मा, इस दुराग्रहसे जकडा हुआ) है, युक्तिसे रहित है, असत्य विषयवाला है और थोडा(सङ्कुचित) है, वह तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितम्, अरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म, यत् तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—जो कर्म अवश्य कर्तव्य है, फल न चाहनेवालेसे विना राग तथा द्वेषके किया गया है और आसक्तिसेरहित है, वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥

यत् तु कामेप्सुना कर्म, साहङ्कारेण वा पुनः। क्रियते बहुलायासं, तद् राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अर्थ—परन्तु जो कर्म फल चाहनेवालेसे अथवा अहङ्कारवालेसे किया जाता है, और बहुत परिश्रमवाला है, वह राजस कहा गया है ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसाम्, अनपेक्ष्य च पौरुषम्। मोहाद् आरभ्यते कर्म, तत् तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

अर्थ—परिणाम, धनका व्यय, परपीडा और अपने सामर्थ्यकी अपेक्षा (परवाह) न करके केवल अविवेकसे जो कर्म किया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥२५॥

मुक्तसङ्गो अनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः, कर्ता सात्त्विकः उच्यते २६

अर्थ—जो छोडी हुई आसक्तिवाला, न अहङ्कारकी बात कहनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा फलकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें हर्ष शोकरूपी विकारसे रहित है, वह कर्ता सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुः, लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता, राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अर्थ—जो विषयोंमें प्रीतिवाला, कर्मफलके पानेकी इच्छावाला, लोभी(लालची), दूसरोंकी पीडामें मनवाला(सबको तंग करनेवाला), अपवित्र और फलकी प्राप्तिमें हर्षसे तथा अप्राप्तिमें शोकसे युक्त होता है, वह कर्ता राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः, शठो नैष्कृतिकोऽलसः। विषादी दीर्घसूत्री च, कर्ता तामसः उच्यते ॥ २८ ॥

अर्थ—कर्तव्य कर्ममें न जुडे हुए मनवाला (असावधान), असभ्य(गंवार), अनम्र (उजड्ड), छली(ठग), विश्वासघाती, आलसी। निराश(गिरे हुए मनवाला) और दीर्घसूत्री(दिनका काम महीनेमें भी न करनेवाला) कर्ता, तामस कहा जाता है ॥२८॥

बुद्धेः भेदं धृतेश्चैव, गुणतः त्रिविधं शृणु। प्रोच्यमानम् अशेषेण, पृथक्त्वेन धनञ्जय! ॥ २९ ॥

अर्थ—हे धनंजय! अब पूर्णरूपसे अलग अलग कहे हुए बुद्धि और धृतिके निश्चय गुणोंसे तीन प्रकारके भेदको सुन २९

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये भयाभये। बन्धमोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ! सात्त्विकी ॥ ३० ॥

अर्थ—प्रवृत्तिके विषय धर्मको और निवृत्तिके विषय अधर्मको, तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा कारणसहित बन्ध और मोक्षको जो बुद्धि जानती है, हे पार्थ! वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्मम् अधर्मं च, कार्यं च अकार्यमेव च। अयथावत् प्रजानाति, बुद्धिः सा पार्थ! राजसी ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिससे धर्म और अधर्मको, तथा कर्तव्य और निश्चय अकर्तव्यको जैसे है वैसे नहीं, जानता है, हे पार्थ! वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्मम् इति या, मन्यते तमसाऽऽवृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा पार्थ! तामसी ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो (बुद्धि) तमोगुणसे ढंपी हुई अधर्मको धर्म, ऐसा समझती है और ऐसे ही सब पदार्थोंको उलटा (जैसे अनित्यको नित्य, अपवित्रको पवित्र) समझती है, हे पार्थ! वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते, मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेन अव्यभिचारिण्या, धृतिः सा पार्थ! सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस न बदलनेवाली धृति (चित्तकी दृढता) से, मनुष्य आसक्ति और फलके त्यागरूपी योगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओं (व्यापारों) को धारण करता (मर्यादाके अन्दर रखता) है, हे पार्थ! वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्, धृत्या धारयते अर्जुन!। प्रसङ्गेन फलाकांक्षी, धृतिः सा पार्थ! राजसी ॥ ३४ ॥

अर्थ—और हे अर्जुन! जिस धृतिसे फलकी इच्छावाला हुआ मनुष्य आसक्तिके साथ धर्म, काम (विषयभोग) और अर्थों (विषयभोगके साधन पदार्थों) को धारण करता (पुष्ट करता—बढाता) है, हे पार्थ! वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं, विषादं मदम् एव च। न विमुञ्चति दुर्मेधाः, धृतिः सा पार्थ! तामसी ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिस धृतिसे दुष्टबुद्धि मनुष्य, निद्रा, भय, शोक, निराशता और मदको निश्चय नहीं छोडता है, हे पार्थ! वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं तु इदानीं त्रिविधं, शृणु मे भरतर्षभ!। अभ्यासाद् रमते यत्र, दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

अर्थ—हे भरतोंमें श्रेष्ठ! अब तू निश्चय मुझसे तीनप्रकारके सुखको सुन। जिसमें मनुष्य अभ्यास (पुनः पुनः अनुभव) से प्रीतिको प्राप्त होता है और दुःखोंके अन्तको पहुंच जाता है ॥ ३६ ॥

यत् तद् अग्रे विषम् इव, परिणामे अमृतोपमम्। तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्, आत्मबुद्धिप्रसादजम् ३७

अर्थ—जो वह आरम्भमें विषकी नाईं

और परिणाममें अमृतके तुल्य है। और अपनी बुद्धिकी स्वच्छतासे उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्, यत् तद् अग्रे अमृतोपमम्। परिणामे विषम् इव, तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो वह आरम्भमें अमृतके तुल्य और परिणाममें विषकी नाईं है और विषयों तथा इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होता है, वह सुख राजस माना गया है ॥३८॥

यद् अग्रे च अनुबन्धे च, सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थं, तत् तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो सुख आरम्भमें और निश्चय परिणाममें आत्माको मोहमें डालनेवाला और निद्रा,आलस्य तथा प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला है, वह तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

न तद् अस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं, यद् एभिः स्यात् त्रिभिः गुणैः

अर्थ—हे अर्जुन! अधिक क्या, वह प्राणी निश्चय पृथिवीमें, आकाशमें और दूसरे देवलोकोंमें भी नही है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंसे छूटाहुआ हो ॥ ४० ॥

(२) ब्राह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च परन्तप!। कर्माणि प्रविभक्तानि, स्वभावप्रभवैः गुणैः ॥ १ ॥

अर्थ—हे परंतप! ऐसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्वादिगुणोंसे अलग अलग बांटे गये हैं ॥ १ ॥

शमो दमः तपः शौचं, क्षान्तिः आर्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥

अर्थ—शम(मनोनिग्रह) दम(बाह्येन्द्रियनिग्रह) तप, पवित्रता, क्षमा और निश्चय सरलता। आत्मज्ञान, विविध पदार्थज्ञान और आस्तिकता, यह प्रकृतिजन्य ब्राह्मणका कर्म है ॥ २ ॥

शौर्यं तेजो धृतिः दाक्ष्यं, युद्धे चापि अपलायनम्। दानम् ईश्वरभावश्च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥३॥

अर्थ—शूरता(पराक्रम), तेज(प्रगल्भता), धैर्य(दृढता), कुशलता(फुर्ती) और युद्धमें निश्चय न भागना, दान (उदारता) और ईश्वरता(नियमनशक्ति), यह प्रकृतिजन्य क्षत्रियका कर्म है ॥ ३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं, वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४ ॥

अर्थ—कृषि(खेति), गौओंकी रक्षा, वाणिज्य, यह प्रकृतिजन्य वैश्यका कर्म है। और सेवारूपी कर्म निश्चय शूद्रका प्रकृतिजन्य है ॥ ४ ॥

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः, संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं, यथा विन्दति तत् शृणु ॥ ५ ॥

अपने अपने कर्ममें लगा हुआ हर एक मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है। वह अपने कर्ममें लगा हुआ जैसे मोक्षको प्राप्त होता है, अब उसको सुन ॥ ५ ॥

यतः प्रवृत्तिः भूतानां, येन सर्वम्

इदं ततम् । स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस(परब्रह्म परमात्मा)से प्राणी, अप्राणी सब भूतोंकी अपने अपने कर्ममें प्रवृत्ति है, जिसने यह सब जगत्-जाल फैलाया है । उसको अपने कर्मसे पूजकर मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है ॥६॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वनुष्ठितात् । स्वभावनियतं कर्म, कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम् ॥७॥

अर्थ—सुखसे(आसानीसे) अनुष्ठान किये जानेवाले दूसरेके कर्मसे अपना कर्म, गुणरहित(अनुष्ठानमें आसानी आदि गुणों-से रहित) भी श्रेष्ठ है । क्योंकि प्रकृतिसे मिले हुए अपने कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय!, सदोषम् अपि न त्यजेत् । सर्वारम्भाः हि दोषेण, धूमेन अग्निः इवावृताः ॥ ८ ॥

अर्थ—हे कौन्तेय! मनुष्य अपना स्वाभाविक कर्म दोषोंवाला होनेपर भी न त्यागे । क्योंकि धूमसे अग्निकी नाईं सब कर्म दोषसे घिरे हुए हैं ॥ ८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र, जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां, संन्यासेन अधिगच्छति ॥ ९ ॥

अर्थ—सबमें(हरएक वस्तुमें) आसक्तिसे रहित बुद्धिवाला, जीतेहुए मनवाला, दूर हुई विषयोंकी इच्छावाला मनुष्य, कर्ममें आसक्ति और फलके त्यागरूपी संन्याससे सबसे ऊंची निष्कर्मता(कर्मरहितता) रूपी सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म, तथाऽऽप्नोति निबोध मे । समासेन एव कौन्तेय !, निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ १० ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! निष्कर्मतारूपी सिद्धिको प्राप्त हुआ मनुष्य जैसे ब्रह्मको प्राप्त (ब्रह्मरूप) होता है, वैसे मुझसे निश्चय संक्षेपसे समझ, जो(ब्रह्मप्राप्ति) ज्ञानकी सबसे परली निष्ठा(अचल स्थिति) है ॥ १० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो, धृत्या आत्मानं नियम्य च । शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ११ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी, यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं, वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ १२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं, कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो, ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १३ ॥

अर्थ—सात्त्विक बुद्धिसे युक्त हुआ, सात्त्विक धृतिसे मनको निश्चय रोककर, शब्द आदि विषयोंको त्यागकर और राग द्वेषको परे फैंककर ॥ ११ ॥ एकान्तसेवी, मिताहारी, वशमें कियेहुए मन, बाणी और शरीरवाला, सदा ध्यान(ब्रह्मचिन्तन)रूपी योगसे युक्त, वैराग्यको आश्रयण किया हुआ ॥ १२ ॥ अहङ्कार, हठ, गर्व, काम, क्रोध और लोभको छोडकर ममतासे रहित शान्ति(विक्षेपनिवृत्ति)वाला हुआ, ब्रह्मरूप होनेके योग्य होता है ॥ १३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा, न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १४ ॥

अर्थ—ब्रह्मरूप "होनेके योग्य" हुआ प्रसन्नमनवाला न शोक करता है, न इच्छा करता है । और सब प्राणियोंमें सम हुआ सबसे ऊंची मेरी भक्तिको प्राप्त होता है १४

भक्त्या माम् अभिजानाति, यावान् यश्च अस्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम् १५

अर्थ—और उस भक्तिसे मुझे वास्तव रूपसे जानता है, मैं जितना हूं और जो हूं । और मुझे वास्तवरूपसे जानकर उसके पीछे(प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जानेपर) मुझ ब्रह्ममें प्रवेश करता(मिल जाता) है ॥

सर्वकर्माणि अपि सदा, कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादाद् अवाप्नोति, शाश्वतं पदम् अव्ययम् १६

अर्थ—सदा सब कर्मोंको करता हुआ भी मेरे आश्रय हुआ मनुष्य मेरे अनुग्रहसे सनातन अविनाशी पदको(ब्रह्मको) प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि, मयि संन्यस्य मत्परः । बुद्धियोगम् उपाश्रित्य, मच्चित्तः सततं भव ॥ १७ ॥

अर्थ—मनसे सब कर्मोंको मुझमें त्याग कर(अर्पणकर) मेरे परायण हुआ । समत्वबुद्धिरूपी योगका आश्रयण करके मुझमें चित्तवाला सदा हो ॥ १७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि, मत्प्रसादात् तरिष्यसि । अथ चेत् त्वम् अहङ्कारात् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि १८

अर्थ—मुझमें चित्तवाला हुआ मेरे अनुग्रहसे सब सङ्कटोंको तर जायगा । और यदि अहङ्कारसे तूं मेरा कहा न सुनेगा, तो नाशको प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

यद् अहङ्कारम् आश्रित्य, न योत्स्ये इति मन्यसे । मिथ्या एष व्यवसायः ते, प्रकृतिः त्वां नियोक्ष्यति

अर्थ—जो तू मोहसे अहंकारको आश्रय करके मैं नहीं युद्ध करूंगा, ऐसा मानता (कहता) है । यह तेरी युद्ध न करनेका निश्चय(मानना) झूठा है, प्रकृति तुझे बलसे युद्धमें जोडेगी ॥ १९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय !, निबद्धः स्वेन कर्मणा । कर्तुं न इच्छसि यत् मोहात्, करिष्यसि अवशो ऽपि तत् ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! मोहसे जो कर्म तू नहीं करना चाहता है, अपने स्वाभाविक कर्मसे बंधाहुआ होनेसे विवश (बेबस) हुआ वह कर्म भी करेगा ॥ २० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां, हृद्देशे अर्जुन ! तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि मायया ॥२१॥

अर्थ—हे अर्जुन ! प्रकृतिरूपी यन्त्रपर चढे हुए सब प्राणियोंको अपनी अद्भुत सामर्थ्यसे घुमाता हुआ ईश्वर सब प्राणियोंके हृदय देशमें स्थित है ॥ २१ ॥

तम् एव शरणं गच्छ, सर्वभावेन भारत ! । तत्प्रसादात् परां शान्तिं, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—हे भारत ! तू सब प्रकारसे (मन, वाणी और शरीरसे) निश्चय, उस ईश्वररूपी अद्वितीय आश्रय (सहारे)को प्राप्त हो । उसके अनुग्रहसे परम शान्तिको और सनातन धाम(ब्रह्म)को प्राप्त होगा ॥ २२ ॥

इति ते ज्ञानम् आख्यातं, गुह्याद् गुह्यतरं मया । विमृश्य एतद् अशेषेण, यथा इच्छसि तथा कुरु २३

अर्थ—यह गुह्यसे अति गुह्य ज्ञान तुझे मैंने कहा है । इसको पूर्णरूपसे विचारकर जैसा चाहता है, वैसा कर ॥ २३ ॥

(३) सर्वगुह्यतमं भूयः, शृणु मे परमं वचः । इष्टोऽसि मे दृढम् इति, ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ १ ॥

अर्थ—सब गुह्योंसे बढकर गुह्य फिर मेरा उत्तम वचन सुन । तू मेरा बडा (डाढा) प्यारा है, बस इसीलिये तेरे हितको कहता हूं ॥ १ ॥

मन्मनाः भव मद्भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु । माम् एव एष्यसि सत्यं ते, प्रतिजाने प्रियोऽसि मे

अर्थ—मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा यजन (पूजन) करनेवाला हो, मुझे नमस्कार कर । इससे तू मुझे ही प्राप्त होगा, मैं तेरेलिये सच्ची (यथार्थ) प्रतिज्ञा करता हूं, क्योंकि तू मेरा प्यारा है ॥२॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य, माम् एकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ३ ॥

अर्थ—सब (वर्णों और आश्रमोंके साधारण तथा असाधारण सब) धर्मोंको (सब धर्मोंके आश्रयको) छोडकर मुझ अद्वितीय आश्रयको प्राप्त हो (एक मेरा आश्रय ले) । मैं तुझे सब पापोंसे छुडाऊंगा, मत शोक कर ॥ ३ ॥

इदं ते नातपस्काय, नाभक्ताय कदाचन । न च अशुश्रूषवे वाच्यं, न च मां यो अभ्यसूयति ॥ ४ ॥

अर्थ—यह (ज्ञान) तुझे कभी तपसे रहितको न कहना चाहिये, न गुरु तथा ईश्वरमें भक्तिरहितको और न मैं सुनना चाहते हुएको और न उसको जो मुझे निन्दता (मेरी निन्दा करता) है ॥ ४ ॥

यः इदं परमं गुह्यं, मद्भक्तेषु अभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा, माम् एव एष्यति असंशयः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो इस परम गुह्य (गीतारूपी ज्ञान)को मेरे भक्तोंमें कहेगा । वह मुझमें इस सबसे ऊंची भक्तिको करके निश्चय संशयरहित हुआ मुझे प्राप्त होगा ॥ ५ ॥

न च तस्मात् मनुष्येषु, कश्चित् मे प्रियकृत्तमः । भविता न च मे तस्माद्, अन्यः प्रियतरो भुवि ॥६॥

अर्थ—मनुष्योंमें उससे (गीताके प्रचारकसे) भिन्न दूसरा कोई भी मेरा बढकर प्रिय करनेवाला नही है । और न मुझे उससे भिन्न दूसरा कोई पृथिवीमें बढकर प्यारा होगा ॥ ६ ॥

अध्येष्यते च यः इमं, धर्म्यं संवादम् आवयोः । ज्ञानयज्ञेन तेनाहम्, इष्टः स्याम् इति मे मतिः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो कोई हम दोनोंके इस धर्मयुक्त संवादको निश्चय पढेगा । उससे मैं ज्ञानरूपी यज्ञसे पूजाहुआ हूंगा, यह मेरा निश्चय है ॥ ७ ॥

श्रद्धावान् अनसूयश्च, शृणुयाद् अपि यो नरः । सोऽपि मुक्तः शुभान् लोकान्, प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ८

अर्थ—जो मनुष्य श्रद्धावाला और असूयासे रहित हुआ केवल सुनेगा । वह भी पापोंसे मुक्तहुआ पुण्यकर्मियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

कच्चिद् एतत् श्रुतं पार्थ ! त्वया एकाग्रेण चेतसा । कच्चिद् अज्ञानसंमोहः, प्रनष्टः ते धनञ्जय ! ॥ ९ ॥

अर्थ—क्या हे पार्थ ! तू ने यह एकाग्र चित्तसे सुना है ? । क्या हे धनंजय ! तेरा अज्ञानरूपी मोह अच्छीतरह नष्ट होगया है ९

अर्जुनः उवाच । अर्जुनने कहा ।

नष्टो मोहः स्मृतिः लब्धा, त्वत्प्रसादात् मयाऽच्युत ! । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव १०

अर्थ—हे अच्युत ! तेरी कृपासे मेरा मोह नष्ट होगया है और मैंने अपने धर्मकी स्मृति(याद) प्राप्त की है । मैं निःसंशय हुआ खडा हूं और तेरा कहा करूंगा

संजयः उवाच । संजयने कहा ।

(४)इति अहं वासुदेवस्य, पार्थस्य च महात्मनः, । संवादम् इमम् अश्रौषम्, अद्भुतं रोमहर्षणम् ॥१॥

अर्थ—हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार मैंने श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुनका यह अद्भुत और रोमाञ्च करनेवाला संवाद सुना है१

व्यासप्रसादात् श्रुतवान्, एतद् गुह्यम् अहं परम् । योगं योगेश्वरात् कृष्णात्, साक्षात् कथयतः स्वयम्

अर्थ—मैंने व्यासकी कृपासे आप साक्षात् कहते हुए योगमायाके स्वामी श्रीकृष्णसे यह परम गुह्य कर्मयोग सुना है २

राजन् ! संस्मृत्य संस्मृत्य, संवादम् इमम् अद्भुतम् । केशवार्जुनयोः पुण्यं, हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस अद्भुत और पुण्यके जनक संवादको स्मरण करके स्मरण करके बार बार हर्षित (खुश) होता हूं ॥ ३ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य, रूपम् अत्यद्भुतं हरेः । विस्मयो मे महान् राजन् !, हृष्यामि च पुनः पुनः ॥४॥

अर्थ—और श्रीकृष्णके उस अतिअद्भुत रूप (विश्वरूप)को स्मरण करके स्मरण करके हे राजा ! मुझे बडा विस्मय (आश्चर्य) होता है और फिर फिर हर्षित (प्रसन्न) होता हूं

यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीः विजयो भूतिः, ध्रुवा नीतिः मतिर्मम ॥ ५ ॥

अर्थ—जहां योगमायाका स्वामी श्रीकृष्ण है और जहां धनुर्धारी अर्जुन है । वहां राज्यलक्ष्मी(राज्य-ऐश्वर्य) विजय, विभूति(सबप्रकारका ऐश्वर्य) और नीति अटल है, यह मेरा निश्चय है ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(४।७८) (१८।३८।७००)

अर्थ—श्रीवाले भगवान्के गायेहुए उपनिषद्में आत्मविद्यामें कर्मयोगशास्त्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें मोक्षसंन्यास योग नाम अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ

इति स्वाध्यायसंहितायां गीताकाण्डे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इति स्वाध्यायसंहिता ।

स्वाध्यायसंहिता ।

अथ उपसंहाराध्यायः ।

अथ हिन्दुसङ्घोद्देशाः ।

हिन्दुओंमें स्वदेशभाषाके द्वारा धर्म, नीति, कृषि, वाणिज्य तथा शिल्पआदि अनेकविध विद्याओंका प्रचार करना, प्रचारकेलिये उपयुक्त साहित्य तेयार करना और हिन्दुओंको हरएक प्रकारसे कर्मण्य अर्थात् हाथसे काम करनेके योग्य, बनाना ॥ १ ॥

हिन्दुओंमें स्वदेशीय वस्तुओंकी प्रीति बढाना और उनकी धनसम्बन्धी स्थिति-की उन्नति करना ॥ २ ॥

हिन्दुओंकी शारीरिक तथा आत्मिक अवस्थाको ठीक करना और उनमें देशसेवा तथा जातिसेवाका भाव भरना ॥ ३ ॥

हिन्दुओंकी संख्याको घटनेसे बचाना तथा बढानेका यथोचित उपाय अनुष्ठानमें लाना और विपत्कालमें यथाशक्ति सहायता करना ॥ ४ ॥

हिन्दुओंकी सामाजिकअवस्थाका सुधार करना और उनको सङ्घके योग्य बनाना ५

अथ उद्देशभाष्यम् ।

ओम् ईश्वरं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामि ।

सङ्घाधीनां श्रियं प्राहुः, सङ्घाधीनं च गौरवम् । जातिदेशप्रतिष्ठां च, सङ्घाधीनां मनीषिणः ॥ १ ॥

नात्मानम् अवमन्येत, पूर्वाभिः असमृद्धिभिः । आ मृत्योः श्रियम् अन्विच्छेत्, नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ २ ॥

मनुष्यकी श्री, उसके देश तथा जातिकी प्रतिष्ठा और उसका गौरव, जो सांसारिक सुखका एक प्रधान अंग है, केवल उसकी वैयक्तिक शक्ति पर ही निर्भर नहीं, वह बहुत अंशोंमें उनकी(मनुष्योंकी) सङ्घशक्ति पर भी अवलम्बित है। हिन्दुओंमें वैयक्तिक शक्तिका कदाचित् सद्भाव होनेपर भी सङ्घशक्तिका सर्वथा अभाव है। उसको पुनरुज्जीवित करना समयाभिज्ञ हिन्दुओंका मुख्य कर्तव्य है। परन्तु इस कर्तव्यका पालन तबतक नहीं होसकता, जबतक सङ्घके सामने कोई उद्देश न हो और वह(सङ्घ) नियमबद्ध न हो। बस यही विचार कर जातिकी सामयिक आवश्यकताके अनुसार पांच उद्देशों और बाईस नियमोंका उल्लेख किया गया है।

भिन्न २ स्वभाव तथा भिन्न २ शक्तिवाली अनेक व्यक्तियोंके नियमबद्ध समुदाय विशेषका नाम यहां सङ्घ(संगठन) विवक्षित है। ऐसा सङ्घविशेष ही प्रायः लोकमें अपने उद्देशोंके ठीकठीक सिद्धकरनेमें सब प्रकारसे पर्याप्त समझा और माना जाता है। जैसे भिन्न २ स्वभाव तथा भिन्न २ शक्तिवाले पृथिवि, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांचों भूतोंका समुदायविशेष शरीररूपीसंघ जीवनरूपीउद्देशविशेषके सिद्धकरनेमें सब प्रकारसे समर्थ हैं, वैसे भिन्न २ स्वभाव तथा भिन्न २ शक्तिवाले ब्राह्मणसे अन्त्यज पर्यन्त–शैव, वैष्णव, जैन, सिक्ख, ब्राह्मसमाजी, आर्यसमाजी आदि, सब हिन्दुओंका समुदायविशेषरूपी सङ्घभी अपने उद्देशोंके सिद्धकरनेमें सब प्रकारसे समर्थ होसकता है, इसमें निराश होनेकी कोई जगह नहीं।

पहले उद्देशके आरम्भमें लिखे गये धर्मपदसे कोई साम्प्रदायिक धर्मविशेष विवक्षित नहीं, किन्तु मनुस्मृतिके छटे अध्यायमें सङ्ग्रहरूपसे कथन कियाहुआ साधारण धर्म ही यहां धर्मपदसे अभिप्रेत है। मनुस्मृतिके साधारणधर्मविषयक सङ्ग्रहश्लोकका आकार इसप्रकार है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीः विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम्॥ ९२॥

अर्थ–धृति(विपद् उपस्थितहोनेपर अपने स्वभावमें पर्वतके समान अचल रहना) १ क्षमा(अपनेसे निर्बलके कियेहुए अपमानको सह लेना) २ दम (मनको अपने वशमें रखना) ३ अस्तेय(चोरी न करना) ४ शौच(सब प्रकारसे पवित्ररहना) ५ इन्द्रियनिग्रह(अपनी इन्द्रियोंको निषिद्ध विषयोंमें जानेसे रोकना) ६ धी(प्रत्येक कर्मके आरम्भमें उसके परिणाम तथा अपनी शक्तिका वारंवार चिन्तन अर्थात् एकाग्र मनसे विचार करना) ७ विद्या(धार्मिक, नैतिक तथा शिल्प आदि अनेकविध विद्याओंका सम्पादन करना) ८ सत्य(देखे तथा सुने अनुसार कहना) ९ अक्रोध(क्रोधका निमित्त उपस्थित होनेपर भी क्रोध न करना) १० यह दश साधारण धर्म हैं॥ ९२॥

जो कार्य धार्मिकदृष्टिसे लाभकारी होता है, वही नैतिकदृष्टिसे हानिकारक होता है। जो जातियां धर्म और नीतिके भेदको नहीं जानतीं, वे कदाचित् ऐसा कार्य कर बैठती हैं, जिससे उनको लाभके स्थानमें अत्यन्त हानि उठानी पडती है। हिन्दुजातिको भी कदाचित् यह भुक्तान भुक्तना न पडे, इसलिये उद्देशमें धर्मसे अलग नीतिका ग्रहण किया है।

धर्म और नीतिका यथासमय यथावत् अनुष्ठान तबतक कोई जाति (मनुष्यजाति) नहीं कर सकती, जबतक उसके सामने धनके उपार्जनका कोई स्वतन्त्र उपाय (साधन) विद्यमान न हो। अर्थशास्त्रमें धनोपार्जनके स्वतन्त्र और परतन्त्र अनेक उपाय लिखे हैं, उनमें कृषि, वाणिज्य और नानाप्रकारका शिल्प, ये तीन उपाय ही सबसे उत्तम धनोपार्जनके स्वतन्त्र उपाय हैं। जो जातियां इन तीनों उपायोंसे धनके उपार्जनमें रात्रिन्दिवा(दिनरात) प्रयत्नशील

रहती हैं, वे ही यथासमय धर्म और नीतिका यथावत् अनुष्ठान कर सकती हैं। हिन्दुजाति भी धनोपार्जनके सबसे उत्तम तथा स्वतन्त्र उपायोंमें प्रयत्नशील हुई धर्म और नीतिका यथावत् अनुष्ठान कर सके, इसलिये उद्देशमें धर्म और नीतिके पीछे कृषि, वाणिज्य और अनेकविध शिल्पका उल्लेख किया है।

कृषि, वाणिज्य और नानाप्रकारका शिल्प, धनोपार्जनके सर्वोत्तम तथा स्वतन्त्र उपाय अवश्य हैं, परन्तु उनसे यथेष्ट लाभ वे ही जातियां उठा सकती हैं, जो कृषिविद्या, वाणिज्यविद्या तथा शिल्पविद्यामें निपुण होती हैं। हिन्दुजाति धनोपार्जनके सर्वोत्तम तथा स्वतन्त्र उक्त तीनों उपायोंको जानती हुई भी उनकी विद्याओंमें निपुण नहीं है। यही कारण है कि वह धनोपार्जनके उक्त तीनों उपायोंमें रत न होकर धनोपार्जनके निषिद्ध, परतन्त्र और बहुत आयासवाले उपायोंमेंही अधिकतर रत है। किसी जातिका किसी विद्यामें निपुण होना उसके (विद्याके) प्रचार पर निर्भर है। हिन्दुजातिमें जैसे धर्मविद्या तथा नीतिविद्याका प्रचार नहीं है, वैसे कृषिविद्या, वाणिज्यविद्या और नानाविध शिल्पविद्याका प्रचार भी नहीं है। और यदि कहीं है भी, तो वह विदेशी भाषाके द्वारा होता है, स्वदेशभाषाके द्वारा नहीं। हिन्दुजातिमें स्वदेशभाषाके द्वारा ही प्रचारका होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीको लक्ष्यमें रखकर "हिन्दुओंमें स्वदेशभाषाके द्वारा धर्म, नीति, वाणिज्य तथा शिल्प आदि अनेकविध विद्याओंका प्रचार करना"

लिखा है। स्वदेशभाषासे राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय, दोनों भाषा अभिप्रेत हैं। राष्ट्रीयभाषासे हिन्दीभाषा और प्रान्तीयभाषासे पंजाबी, गुजराती, मराठी, तामल, बंगला आदि सब भाषायें विवक्षित हैं।

हिन्दुजातिमें विद्याका प्रचार दो प्रकारसे होसकता है—एक मौखिक व्याख्यानोंके द्वारा, दूसरा उपयुक्त पुस्तकोंके निर्माणद्वारा। दोनोंमें उपयुक्त पुस्तकोंके निर्माणद्वारा किया हुआ प्रचार ही चिरस्थायी होनेसे विशेषतया लाभकारी है, मौखिक व्याख्यानोंके द्वारा किया हुआ प्रचार विस्मरण होजानेके कारण विशेषतया लाभकारी नहीं। इसीसे "हिन्दुओंमें अनेकविध विद्याओंके प्रचारके लिये उपयुक्त साहित्य तैयारकरना" उद्देशमें कहाहै।

विद्यावती हुई जाति तबतक अपने वाञ्छित फलको नहीं प्राप्त कर सकती, जबतक वह अपनी विद्याके अनुसार हाथसे कर्म न करे, क्योंकि विद्याका स्वभाव वाञ्छित फलके सम्पादनका प्रकार बतलाना और उसकी प्राप्तिके सुगमसे सुगम मार्गका ज्ञान कराना मात्र है, वाञ्छित फलका प्राप्त कराना नहीं। वाञ्छित फलकी प्राप्ति निःसन्देह विद्यानुकूल कर्म करनेसे ही होती हैं, यह ध्रुव नियम है। उपयुक्त पुस्तकोंके निर्माणद्वारा प्रचारसे विद्यावती हुई हिन्दुजाति अपने वाञ्छित फलको अवश्य प्राप्त करे, इसीको दृष्टिगोचर करके "और हिन्दुओंको हरएक प्रकारसे कर्मण्य अर्थात् हाथसे काम करनेके योग्य बनाना" उद्देशके अन्तमें लिखा है ॥ १ ॥

मनुष्यजाति विद्यावती हुई कितना ही अपने हाथोंसे काम करनेवाली क्यों न हो, तबतक धनाढ्य नहीं हो सकती, जबतक उसका स्वदेशीय वस्तुओंमें अत्यन्त प्रेम न हो और वह उस प्रेमके वशीभूत हुई अधिकसे अधिक मूल्यवान् होनेपर भी उन्हींको अपने वर्तनेमें न लाये। हिन्दुजातीमें सनातनसे स्वदेशीय वस्तुओंका प्रेम होने परभी अत्यन्त प्रेम नहीं है। यही कारण है कि वह स्वदेशीय वस्तुओंमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाली दूसरी जातियोंके समान धनाढ्य नहीं है। हिन्दुसङ्घका कर्तव्य है कि वह हिन्दुजातिको धनाढ्य बनानेके लिये उसमें स्वदेशीय वस्तुओंका अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करे, जिससे वह उसके(प्रेमके) वशीभूत हुई अधिकसे अधिक मूल्यवान् होने परभी उन्हींको अपने वर्तनेमें लाये और अपनी स्वदेशीय वस्तुओंमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाली दूसरी जातियोंके समान धनाढ्य हो जाये, क्योंकि उसके धनाढ्य होनेसे ही उसकी तथा उसके देशकी महिमा और प्रतिष्ठा जैसी सर्वत्र चाहिये वैसी हो सकती है। इसीको ध्यानमें सदा अटल रखनेकेलिये "हिन्दुओंमें स्वदेशीय वस्तुओंकी प्रीति बढाना और उनकी धनसम्बन्धी स्थितिकी उन्नति करना" दूसरे उद्देशमें कहा है। अपने देशमें उत्पन्न हुई और अपने देशमें ही अपने हाथोंसे तैयार की गई वस्तुओंमें सने सने(शनैः शनैः) प्रेम बढाते बढाते अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करना उद्देशके प्रथम भागका अर्थ है। विदेशीय वस्तुओं और मादक द्रव्योंके क्रय(खरीदने) में हिन्दुओंके धनका व्यय न होने देना, उद्देशके दूसरे भागका अर्थ है और इसीको हिन्दुओंकी धनसम्बन्धी स्थितिकी उन्नति करना कहते हैं ॥ २ ॥

मनुष्य विद्यावान् हो, धनवान् हो, यदि उसमें शारीरिक बल नहीं, आत्मिक बल नहीं, तो उसको सांसारिक सुखका यथोचित उपभोग कदापि नहीं हो सकता और नहीं उससे जाति तथा देशकी प्रतिष्ठा बढ सकती है और नहीं वह कहीं विद्वानों तथा धनाढ्योंकी गोष्ठी(सभा) में कुछभी गौरव प्राप्त कर सकता है, यह सर्वानुभवसिद्ध बात है, इसमें तर्क वितर्ककी कोई जगह नहीं। इसलिये विद्या और धनके साथ साथ शरीर तथा आत्माका बलवान् होना भी लोकमें परम उपयोगी होनेसे अत्यन्त आवश्यक है। इसीको लक्ष्यमें रखकर हिन्दुसङ्घके तीसरे उद्देशमें "हिन्दुओंकी शारीरिक तथा आत्मिक अवस्थाको ठीक करना" लिखा है। इसका अभिप्रेत अर्थ यह है कि सङ्घ विद्या और धनके साथ साथ हिन्दुओंके शरीरों तथा आत्माओंको भी बलवान् बनानेका प्रयत्न करे। यथाविधि ब्रह्मचर्यका पालन करना, मादक द्रव्योंका सेवन न करना, रस्य, स्निग्ध, पुष्टिकारक तथा हित मित पदार्थोंका नियत समयमें यथारुचि खाना और स्वच्छ वायुमें सायं प्रातः अनेक प्रकारके व्यायाम करना, ये सब शारीरिक बलके और प्रतिदिन नियमपूर्वक स्वाध्याय करना(धार्मिक, नैतिक तथा आर्थिक पुस्तक पढना), प्राचीन तथा अर्वाचीन जातिनायकोंके जीवनचरि-

त्रोंको सुनना अथवा पढना और नानाविध स्वदेशीय तथा विदेशीय इतिहास ग्रन्थोंका यथावसर अवलोकन करना, योगविद्या और अध्यात्मविद्याका उपदेश लेना, ये सब आत्मिक बलके सर्वमान्य साधन हैं। इन सबके यथाविधि अनुष्ठानमें समस्त हिन्दुयोंकी रुचिको उत्पन्नकरना ही उनकी शारीरिक तथा आत्मिक अवस्थाको ठीक करना है।

प्रायः देखा जाता है कि अनेक बलवान् भद्रपुरुष प्रथम तो अपने बलको उपयोगमें लाते ही नहीं और यदि लाते हैं, तो ऐसे कार्योंके लिये, जिनका उनके आत्माओं को छोडकर जातिसेवा तथा देशसेवाके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यह स्वार्थभरा बलोपयोग लोकगर्हित तथा शास्त्रनिषिद्ध है। सङ्घको चाहिये कि वह हिन्दुओंको बलवान् बनाकर उनमें जातिसेवा तथा देशसेवाका ऐसा दृढ और अटूट भाव भरे कि वे समय समयपर जातिसेवा तथा देशसेवाके लिये अपने बलको उपयोगमें लानेसे भूलकर भी विमुख न हों, प्रत्युत "**जातिसेवा परो धर्मो, राष्ट्रसेवा तथैव च। क्रियेते शुद्धभावेन, यैस्ते देवोपमा नराः**" ॥ १ ॥ को बारंवार रटतेहुए और मैं पहले, मैं पहले, उच्चारण करतेहुए तन, मन तथा धनसे जातिसेवा और देशसेवामें निमग्न हो जायें। इसी आशयको लेकर "और उनमें जातिसेवा तथा देशसेवाका भाव भरना" उद्देशके अन्तमें कहा है ॥ ३ ॥

हरएक मनुष्यजातिका यह स्वभाव है कि जबतक उसकी संख्याकी वृद्धि, उसमें विद्या, कर्मण्यता तथा धनकी समृद्धि, (बहुतायत) और जातिसेवा तथा देशसेवाके भावकी प्रतिदिन उन्नति होती जाती है, तबतक दूसरी जातियोंकी दृष्टिमें उसकी महिमा और प्रतिष्ठा भी प्रतिपल उन्नतिको प्राप्त होती जाती है और वह बडे आदरके साथ एक सुशिक्षित तथा सभ्य जाति मानी जाती और उसका आचरण तथा शासन, बडी उत्सुकतासे माननीय तथा अनुकरणीय समझा जाता है। और जब अविद्या तथा अकर्मण्यता और जातिसेवा तथा देशसेवाके भावकी निद्रित अवस्थासे और आपसमें घृणाकी मात्राकी प्रतिदिन बढतीसे उसकी संख्या घटने लगती है, तब उसकी सब महिमा और प्रतिष्ठा धूरमें मिलजाती और सब गुण, अवगुण हो जाते हैं, उसके आचरण और शासनके अनुकरणको पाप समझा जाता है और वह एक असभ्य जाति तथा प्रायः सर्वत्र तिरस्करणीय समझी जाती है। इस समय हिन्दुजातिकी सचमुच यही दशा है। इसीको सामने रखकर चौथे उद्देशके आरम्भमें "हिन्दुओंकी संख्याको घटनेसे बचाना तथा बढानेका यथोचित उपाय अनुष्ठानमें लाना" लिखा है।

हिन्दुओंकी संख्याके घटनेके मुख्य कारण तीन हैं, एक पचास बरससे नीचेकी आयुके अनेक स्त्रीपुरुषोंका अविवाहित रहना, दूसरा विवाहित होनेपर चिरजीवी सन्तान उत्पन्न न करना, तीसरा घृणाकी मात्रा अधिक बढजानेके कारण अनेक हिन्दुओंका खिन्नचित्त होकर हिन्दुधर्मको छोड देना और दूसरे धर्मोंमें जा मिलना। इन्हीं तीन कारणोंके दूर करनेका प्रबन्ध करना हिन्दुओंकी

संख्याको घटनेसे बचाना है । संख्या बढानेके उपाय मुख्य दो हैं—एक हिन्दुधर्मको छोड कर दूसरे धर्मोंमें चलेगये हुए अपने भाईओंको उनकी इच्छाके अनुकूल पुनः हिन्दुधर्ममें यथाविधि लाना और लाये गयोंसे प्रेमभरा वर्ताव करना । दूसरा अस्पृश्य जातियोंको स्पर्शके योग्य बनाना और आवश्यक तथा उचित अधिकार देकर उनकी प्रसन्नताको ज्योंका त्यों बनाये रखना । इन्हीं दो परमपवित्र तथा परमावश्यक उपायोंको हिन्दुओंकी संख्या बढानेका यथोचित उपाय कहते हैं । इन्हीं द्विविध यथोचित उपायोंके निरन्तर अनुष्ठानके अधीन ही हिन्दुजातिका गौरव और अस्तित्व है । इसलिये हिन्दुओंको या यों कहो कि उनके प्रतिनिधि हिन्दुसङ्घको इन परमावश्यक तथा परमपवित्र दोनों उपायोंके अनुष्ठानसे आ प्रलयान्त कदापि विमुख न होना चाहिये, यही चौथे उद्देशके आरम्भिक वाक्योंका हार्दिक अर्थ है । हिन्दुओंकी संख्याको घटनेसे बचाने और बढानेका यथोचित उपाय यावज्जीव अनुष्ठानमें लानेके अतिरिक्त एक और बात है जो हिन्दुओंके सङ्गठनको दृढ करती और आपसमे भ्रातृभावके सम्बन्धको अभिव्यक्त करके समस्त हिन्दुजातिको अछेद्य तथा अभेद्य बनाती है । वह है विपत्कालमें हिन्दुओंकी यथाशक्ति सबप्रकारसे सहायता करना । जिस जातिमें अपने भाईओंकी सहायता करनारूपी उच्चतम भाव सदा जागृत रहता है, उसकी शक्ति इतनी बढजाती है कि फिर कोई दूसरी जाति उसपर बलप्रयोग करनेका साहस नहीं कर सकती । इस समय हिन्दुजातिमें इस उच्चतम भावके पुनः जागृत करनेकी बडी आवश्यकता है । इसीको मनमें रखकर उद्देशके अन्तमें "और विपत्कालमें यथाशक्ति सहायता करना" लिखा है ॥ ४ ॥

वेद, स्मृति तथा पुराणोंके पढनेसे विदित होता है कि हिन्दुओंमें समयानुसार अनेक बार सामाजिक अवस्थाका सुधार हुआ है । इस समय भी उसका सुधार परमावश्यक है । क्योंकि हिन्दुओंकी अवनतिका मुख्य कारण उसका बिगाड है। बाल्यविवाह तथा वृद्धविवाह करना, विवाहके योग्य विवाहकी इच्छा रखनेवाली विधवाओंका विवाह न करना, अपने लडकोंको आरम्भमें धर्मशिक्षा न दिलवाकर दूसरोंके स्कूलोंमें भेजना, अपनी लडकियोंको अपनी दृष्टिके अन्दर पाठशालाओंमें स्त्रीगुणसम्पन्न सुयोग्य अध्यापिकाओंसे शिक्षा न दिलवाना और अपनी दृष्टिसे अतिदूर दूसरोंके स्कूलोंमें भेजना और उनकी देख भाल न रखना, अपने देश तथा जातिके अनाथ लडकी लडकोंके पालनपोषणपर विशेष ध्यान न देना, बिना समझे बूझे अन्धाधुन्ध अन्नक्षेत्र तथा सदावर्त खोलकर भीखमंगोंकी संख्या बढाना, इत्यादि अनेक कारण हैं, जो हिन्दुओंकी सामाजिक अवस्थाको बिगाडते हैं । इन्हीं सब कारणोंकी सने सने समूल निवृत्तिको हिन्दुओंकी सामाजिक अवस्थाका सुधार करना कहते हैं, यही हिन्दुसङ्घके पांचवें उद्देशके पूर्वार्धका आशय है, जिसका स्वरूप एवंरूप है "हिन्दुओंकी सामाजिक अवस्थाका सुधार करना" ।

हिन्दुओंकी सामाजिक अवस्थाके सुधर जानेसे हिन्दुसङ्घके कार्यक्षेत्रका विस्तृत होजाना अतिसम्भावित है और उसके सुप्रबन्धके लिये अनेक सुयोग्य सदस्योंकी आवश्यकता है, क्योंकि विद्याप्रचारसे लेकर सामाजिक अवस्थाके सुधार पर्यन्त अनेकविध कार्योंका साङ्गोपाङ्ग ठीक ठीक प्रबन्ध सुयोग्य हिन्दुओंके विना कदापि नहीं हो सकता। और योग्यता क्वचित् स्वभावसिद्ध होनेपर भी प्रायः शिक्षा और उपदेशपर निर्भर है। इसी अभिप्रायसे उद्देशके उत्तरार्धमें "उनको सङ्घके योग्य-बनाना" लिखा है ॥ ५ ॥

नमो नमो निखिलार्थवित्, सूक्ष्मस्थूल-स्वरूप। न्यायशील करुणार्द्रहृद्, निर्वि-कार सद्रूप ॥ १ ॥

अब निर्बल सबविध हुई, हिन्दुजाति तव नाथ ! । निज तनुबल नहि उठसके, देहि अनुग्रहहाथ ॥ २ ॥

अथ हिन्दुसङ्घनियमाः ।

(१) हिन्दुओंके इस समुदायविशेषका नाम हिन्दुसंघ होगा।

(२) अठारह वर्षसे ऊपर आयुका प्रत्येक हिन्दु इस सङ्घका सदस्य बन सकता है।

(३) प्रत्येक सदस्यको वार्षिक तीन रुपया ३) चन्दा देना होगा। और जिसको किसी योग्यता–विशेषके कारण अन्तरङ्गसभा स्वयं सदस्य बना ले, उसको देनेकी आवश्य-कता नहीं।

(४) सङ्घके प्रत्येक सदस्यको सम्मति देनेका अधिकर होगा। परन्तु जिसने वर्षके आरम्भमें चन्दा न दिया हो, उसको नहीं।

(५) सदस्य बननेके लिये प्रार्थनापत्र* लिखकर मन्त्रीको देना होगा। और उसमें अपना नाम, आयु, निवासस्थान, व्यवसाय (पेशा) और भाषाविज्ञान (मैं अमुक अमुक भाषा लिखनी पढनी जानता हूं) लिखना होगा।

(६) प्रार्थनापत्र स्वीकार करनेका अधि-कार अन्तरङ्गसभाको होगा।

(७) हिन्दुसङ्घके अधिकारी प्रधान, उप-प्रधान, मन्त्री, कोषाध्यक्ष और पुस्तकाध्यक्ष, ये पांच होंगे।

(८) अधिकारियोंका वरण(चुनाव)प्रति-वर्ष सङ्घके वार्षिक अधिवेशनमें सदस्य किया करेंगे।

(९) सङ्घके सदस्योंके अनेक उपसङ्घ (अ-वान्तर सङ्घ) होंगे। उनमेंसे प्रत्येक उपस-ङ्घका एकएक सदस्य अन्तरङ्ग सभाका सभ्य हुआ करेगा। उपसङ्घोंकी संख्या समयानुसार नियत हुआ करेगी।

(१०) सङ्घके जो अधिकारी होंगे, वे ही अन्तरङ्ग सभाके भी अधिकारी होंगे। परन्तु आवश्यकता होने पर सहायक अधिकारी अन्तरङ्गसभा स्वयं बना लिया करेगी।

(११) सब प्रकारका प्रबन्ध अन्तरङ्गस-भाके हाथमें रहेगा।

* मैं प्रसन्नतापूर्वक हिन्दुसंघके उद्देशोंके अनकूल आचरण करना स्वीकार करता हूं। मेरा नाम हिन्दुसंघके सदस्योंमें लिख लें।

(१२) सङ्घका साधारण अधिवेशन प्रतिसप्ताह, विशेष अधिवेशन प्रतिवर्ष और अन्तरङ्गसभाका विशेषाधिवेशन प्रतिमास अवश्य हुआ करेगा। प्रतिवर्ष सङ्घका विशेषाधिवेशन उत्सव मनाने, वर्षका वृत्तान्त सुनने, अधिकारियोंके चुनने तथा विशेष विशेष विषयोंके निर्णयके लिये और अन्तरङ्गसभाका प्रतिमास विशेषाधिवेशन केवल विशेष विशेष विषयोंके निर्णयके लिये ही हुआ करेगा।

(१३) सदस्योंके पंचम भागकी प्रार्थनासे, अथवा प्रधान, वा उपप्रधान, वा मन्त्रीकी विशेष प्रेरणासे अन्तरङ्गसभाका किसी अत्यन्त आवश्यक विषयविशेषके निर्णयके लिये बीचबीचमें भी विशेषाधिवेशन हो जाया करेगा।

(१४) सङ्घके अधिवेशनका चौदह १४ दिन पहले और अन्तरङ्गसभाके अधिवेशनका तीन दिन पहले विज्ञापन दिया जायगा। और दोनोंके अधिवेशनोंमें निर्णेतव्य विषयोंके नामका उल्लेख विज्ञापनमें किया जायगा।

(१५) किसी विशेषविषयके निर्णयकालमें सङ्घ और सभा(अन्तरङ्ग सभा)की पूर्णता(कोरम) एक चौथाई सदस्यों तथा सभ्योंकी उपस्थिति पर समझी जायगी।

(१६) सङ्घके वार्षिक अधिवेशनसे पूर्व, सभ्यों वा अधिकारियोंके रिक्तस्थानकी पूर्ति अन्तरङ्गसभा स्वयं किया करेगी।

(१७) वार्षिक व्ययका व्योरा(वजट) प्रतिवर्ष सङ्घ स्वीकार किया करेगा।

(१८) अन्तरङ्गसभा उपनियम बनायेगी और सङ्घसे उनकी स्वीकृति लेगी।

(१९) अन्तरङ्गसभाको भिन्न भिन्न कार्योंके सुप्रबन्धके लिये अपने अधीन अवसङ्घो(सब कमेटियों) के बनानेका अधिकार होगा, जिनमें सङ्घ और सभा, दोनोंके सदस्य रहेंगे।

(२०) व्ययका विवरण(हिसाब) समय समय पर अन्तरङ्गसभामें और प्रतिवर्ष सङ्घमें उपस्थित हुआ करेगा।

(२१) दो अथवा दोसे अधिक सङ्घ मिलकर अपना एक प्रतिनिधिसङ्घ बना सकेंगे। इसीप्रकार प्रदेशभरके सङ्घोंका एक प्रादेशिक प्रतिनिधिसङ्घ भी बनसकेगा। अपने अपने उपनियम, वे सब सङ्घ स्वयं बनायेंगे।

(२२) नियम और उपनियमोंका परिवर्तन तीन चौथाई सङ्घके सदस्योंकी सम्मति और एक मासके पीछे विचारपूर्वक दी गई पुनःसम्मतिसे हो सकेगा॥

इति हिन्दुसङ्घनियमाः।

इति स्वाध्यायसंहितायां उपसंहाराध्यायः।

अथ स्वाध्यायसंहितायाः शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध ।
२	२५	योग्यतासे	[३]योग्यतासे ।
५	२	प्रँाप्त होता है	प्राप्त होता है ।
५	३	फलता है	फँलता है ।
६	२२	पूषा	पूँषा ।
९	२९	[१]शं [२]नो	[११]शं [१२]नो ।
१०	२२	[८]शं	[१८]शं ।
१५	१३	[११]एति	[११]ऐति ।
१६	२८	अज्ञानदृष्टिसे	भोग्यदृष्टिसे
२९	२४	(ज्ञानी, सत्य महात्मा)	(ज्ञानी, सन्त्य महात्मां) ।
३५	६	[१४]अश्नते	[१४]अश्नुते ।
६२	२३	(अश्नीतारे)	(द्युलोक और पृथिवीलोक, दोनोंके निवासी देवता और मनुष्य) ।
६७	२७	[२]स्वित्	[२]स्विद् ।
८५	१७	[४]उपदेशानुसार योगसाधनकरके	[४]अनुग्रहसे(उपदेशानुसार योगसाधनसे) ।
९३	२७	[१३]बोलो	[१२]वचनको [१३]बोलो ।
१३८	१९	[५]शरीरं	[५]शरीरे ।
१५४	१८	[१४]प्रियदर्शन !	हे [१४]प्रियदर्शन ! ।
१७६	२५	नेत्रका नेत्र है	नेत्रका नेत्र अर्थात् सबका प्रेरक है ।
२६५	२१	(अलग मार्गोंवाला)	(अलग अलग मार्गोंवाला) ।
२६७	१०	सब रङ्गोंवाला	[११]सब रंगोंवाला ।
२६८	११	विश्वरूप वायु	वायु ।
३६०	१९	सत्य, महात्मा-	सन्त्य महात्मा ।
३९२	३१	सभी	अर्थात् सब ।

शक्तियें–शक्तियां, स्त्रियें–स्त्रियां, नदियें–नदियां, ओषधियें–ओषधियां, स्तुतियें–स्तुतियां, किरणें–किरणां, उसको कहा–उससे कहा, उसको पूछा–उससे पूछा, घरमें पहुंच गया–घर पहुंच गया, इसप्रकारका भाषासंशोधन अब इस आवृत्तिमें नही हो सकता । स्वाध्यायशील स्वयं इसकेलिये यथोचित प्रयत्न करें ।